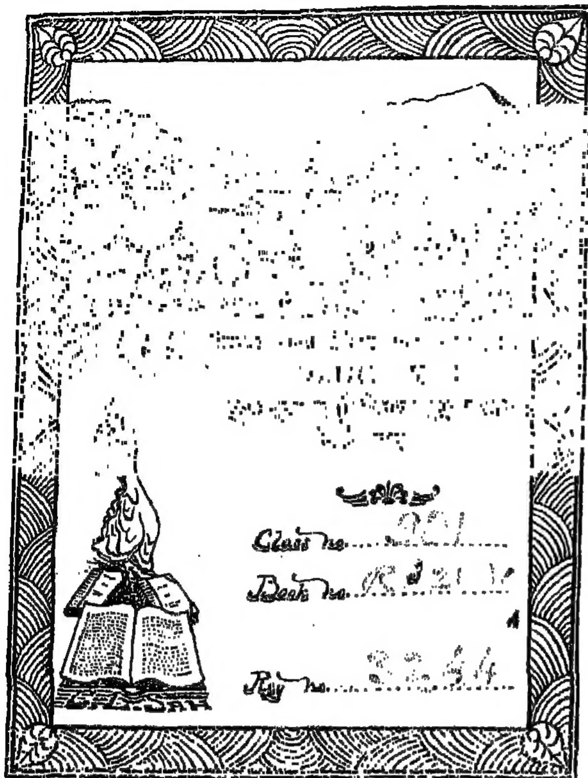


विश्व सभ्यता का संक्षिप्त इतिहास

लेखक

राम नगीना त्रिपाठी

तथा

ओम प्रकाश मालवीय

—:o:—

सेंट्रल बुक डिपो

इलाहाबाद

प्रकाशक
सेन्ट्रल बुक डिपो
इलाहाबाद ।

मुद्रक
वैनगार्ड प्रेस,
इलाहाबाद ।

भूमिका

वर्तमान युग में विश्व इतिहास का अध्ययन अत्यन्त उपादेय और आवश्यक है। विश्व इतिहास के सम्बन्ध में पाठकों के मस्तिष्क में कोई भ्रान्त धारणा नहीं रहना चाहिये। इसका उद्देश्य विश्व की समस्त राजनीतिक घटनाओं और उनके कारणों-परिणामों पर विचार करना नहीं है वरन् मानव सभ्यता के विकास-क्रम से पाठकों को अवगत कराना है। विश्व इतिहास का अभिप्राय युग-युगों में मानव सभ्यता के विकास का इतिहास है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर पुस्तक का नाम "विश्व सभ्यता का संक्षिप्त इतिहास" रक्खा गया है। मानव सभ्यता का अध्ययन पाठकों के दृष्टिकोण को विशाल और उदार बना सकता है और उनके हृदयों से संकीर्ण देशभक्ति के भावों को निकाल कर विश्व बन्धुत्व के भाव उत्पन्न कर सकता है। आज का संसार बड़ी तेजी से अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द की ओर अग्रसर हो रहा है, यद्यपि राजनीतिज्ञों और शासकों के दृष्टिकोण पूर्णतया उदार और निस्वार्थ नहीं होने पाये हैं। प्रजातन्त्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीयता इस युग की प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं जिनको हृदयंगम करने में मानव-सभ्यता के इतिहास का अध्ययन सहायक होगा। युग की माँग को देखते हुये विश्व इतिहास का अध्ययन प्रत्येक सुशिक्षित व्यक्ति के लिये अनिवार्य है।

हिन्दी में विश्व इतिहास की उपयुक्त पुस्तकों का अभाव है। प्रस्तुत पुस्तक की रचना उस अभाव की पूर्ति के उद्देश्य से की गई है। हम अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल हुये हैं, इसका निर्णय पाठक स्वयं करेंगे। इस पुस्तक की रचना में अङ्गरेजी के अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों की सहायता ली गई है। उन समस्त लेखकों और विद्वानों के प्रति हम अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं जिनके विचार इस ग्रन्थ में उद्धृत किये गये हैं। श्री एच० जी० वेल्स और डा० विल डूरेन्ट के हम विशेष रूप से आभारी हैं जिनके ग्रन्थों से हमें बहुत अधिक सहायता प्राप्त हुई है।

पुस्तक में कमियाँ अवश्य ही होंगी, क्योंकि किसी भी पुस्तक का सभी दृष्टि से दोषहीन होना असम्भव नहीं तो कष्ट साध्य अवश्य है। सुधी समालोचकों और सहृदय पाठकों से अनुरोध है कि वे अपने सत्परामर्श हमें अवश्य दें जिससे अगले संस्करण में हम पुस्तक के संशोधन और परिवर्द्धन में उनको यथोचित स्थान दे सकें। यदि इस पुस्तक के अध्ययन से पाठकों के हृदयों में मानव-बन्धुता के विचार उत्पन्न हों तो हम अपने प्रयास को सफल मानेंगे।

राम नगीना त्रिपाठी
ओम प्रकाश मालवीय

विषय-सूची

पहला अध्याय

विश्व सभ्यता का संक्षिप्त इतिहास

प्रागैतिहासिक काल की मानव सभ्यता

आज हम मानव सभ्यता का जो सुविशाल भवन देख रहे हैं उसका शिलान्यास आज से सहस्त्राब्दियों पूर्व सुदूर अतीत में हो चुका था। मनुष्य की सभ्यता एक सरिता की भांति विकास-पथ पर अग्रसर होती गई और यद्यपि इसके ऊपर कभी कभी अनेक बाधायें आईं तथापि यह प्रगति के मार्ग में जाकर शुष्क नहीं होने पाई। विश्व के विभिन्न स्थानों पर समय समय पर इसने अपने चमत्कार प्रदर्शित किये हैं और रुकावटों तथा अपदाओं का सामना करते हुये इसने अपनी जीवनी शक्ति और विकासोन्मुखी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध कवि अल्फ्रेड टेनीसन के झरने के शब्दों में मानव सभ्यता यह कहती हुई प्रतीत होती है कि "मनुष्य की सहस्रों पीढ़ियाँ आयेंगी और चली जायेंगी परन्तु मैं सतत चलती रहूँगी"। इसके इस सतत चलते रहने की कहानी बड़ी ही मनोरंजक है। मानव सभ्यता के विकास क्रम का अध्ययन करते हुये हम देखेंगे कि यह किसी जाति विशेष की एकाधिकारिणी सम्पत्ति नहीं है, अपितु इसके संरक्षण एवं संवर्धन में संसार की विभिन्न जातियों ने अपना अपना योग दिया है। आज हम इसे जिस रूप में देख रहे हैं वह किसी काल विशेष की उत्पत्ति नहीं है वरन् मनुष्य के युग युगों के प्रयत्नों का प्रतिफल है और है उसकी सुदीर्घकालीन चेष्टा और चेतना का परिणाम।

पाठकों के मस्तिष्क में यह प्रश्न उठना सहज और स्वाभाविक है कि किन किन पद-चिन्हों का अनुसरण करके आज का मनुष्य अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त कर सका है। बहुत दिनों तक हमें मनुष्य की सभ्यता के विकास क्रम का कोई सुनिश्चित विवरण ज्ञात न था, किन्तु उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों [illegible] उत्खनन कर्ताओं के प्रशंसनीय उद्योगों ने हमारे नेत्रों के सम्मुख उस युग का चित्र रखा है जि[illegible] की संज्ञा देते हैं। इस युग की सभ्यता ही वह आधार शिला थी जिस पर बाद की सभ्यताओं का भवन निर्मित किया गया। मनुष्य की सभ्यता का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिये उसकी प्रागैतिहासिक सभ्यता के विषय में जानना अत्यन्त आवश्यक है। विद्वानों ने मनुष्य की प्रागैतिहासिक सभ्यता को सुविधा की दृष्टि से विकास क्रम के आधार पर तीन भागों में विभाजित किया है (१) प्रारंभिक पाषाण युग, (२) पूर्व पाषाण युग और (३) उत्तर पाषाण युग। प्रत्येक युग के हथियार एवं औजारों के आधार पर ही उस पर प्रकाश पड़ता है और उन्हीं के आधार पर ही उनका नामकरण किया गया है। अतः हम प्रत्येक युग की सभ्यता का अलग अलग वर्णन करते हुए उसके विकासक्रम का निर्देश करेंगे।

प्रारंभिक पाषाण युग के विषय में हमारा ज्ञान बहुत अधिक सीमित है क्योंकि इस युग की स्थिति पर प्रकाश डालने वाले औजार और हथियार हमें प्राप्त नहीं होते। कदाचित् वे लोग अनगढ़ पत्थर के औजारों का प्रयोग करते थे। अन्य औजारों को भी वे काम में लाते रहे होंगे, किन्तु उनके विषय में हमारी धारणा आनुमानिक ही है। प्रारम्भिक पाषाण युग के मनुष्य विभिन्न प्रकार की लकड़ी के हथियारों का प्रयोग करते रहे होंगे। शायद उन्होंने वस्तुओं की आकृतियों का भी कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया था और बाद में इस ज्ञान का उपयोग उन्होंने पाषाण के औजारों को बनाने में किया होगा। लेकिन पाषाण के कोई औजार हमें प्राप्त नहीं होते। हम उनके विषय में केवल अनुमान एवं

कल्पना कर सकते हैं। इस युग के लोग गुफाओं में निवास करते थे। किन्तु वर्ष के अधिकांश महीनों में वे घूम फिर कर पशुओं का आखेट करते थे, और जाड़े में जब तुषार वृष्टि के कारण सारी पृथ्वी आच्छादित हो जाती थी और घूमना फिरना कष्टप्रद हो जाता था, उस समय अपनी गुफाओं में ही रहा करते थे। उनकी गुफायें पर्याप्त सुविधाजनक होती थी। वे अग्नि का प्रयोग करना जानते थे। इस युग के मनुष्य प्रायः छोटे पशुओं का शिकार करते थे। किन्तु कभी कभी वे विशालकाय पशुओं को मार कर उनका मांस खाते थे। इन मनुष्यों के लिये नदी अथवा जल-स्रोत के निकट रहना अत्यन्त आवश्यक था, क्योंकि उनके पास जल लाने के लिये पात्र न थे। वे मनुष्यों की खाल को सुखा कर उसी को अपना आवरण बनाते थे। वे मछली, पशु, मांस तथा पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले फलों को अपना आहार बनाते थे। ये लोग छोटे छोटे समूहों में रहते थे, और प्रत्येक समूह का एक अध्यक्ष होता था, जो अपने समूह का सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्ति होता था। उसकी शक्ति क्षीण हो जाने पर या उसके वृद्ध हो जाने पर कोई शक्तिशाली युवक उसे पदच्युत कर स्वयं सरदार बन बैठता था। प्रारम्भिक पाषाण युग का सबसे महत्वपूर्ण आविष्कार था अग्नि का प्रयोग। अग्नि की सहायता से ही इस युग का मनुष्य अपने भोज्य पदार्थों को, विशेषकर पशुओं के मांस को, भूनता था और अग्नि के प्रकाश से अपने प्रबल शत्रु भयंकर पशुओं को भयभीत रखता था। वह दो चकमक पत्थरों को सूखी पत्तियों के बीच रगड़ कर आग उत्पन्न करता था, और स्त्रियाँ तथा बच्चे उस आग को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते थे। प्रारम्भिक पाषाण युग का मानव आग की सहायता से अपने को भयंकर पशुओं से बचा सका और सृष्टि का स्वामी बन गया। कालान्तर में वे ही पशु जिनसे वह सदैव त्रसित और भयग्रस्त रहा करता था उसके दास बन गये।

प्रारम्भिक पाषाण युग

वह युग लगभग तीस हजार वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ और लगभग पन्द्रह हजार वर्ष पूर्व समाप्त हो गया। इस युग में भी मनुष्य शिकार द्वारा ही अपनी उदर पूर्ति करता था और गुफाओं में रहता था। इस समय उसने पत्थरों के औजार बनाना सीख लिया था। मुट्ठी वाली कुल्हाड़ी उसका प्रमुख औजार थी। यह बादाम के शक्ल की ५ इंच चौड़ी और ३ इंच मोटी होती थी और इसकी धार बहुत तेज होती थी। बाद में पूर्व पाषाण युग में मनुष्य ने हड्डियों और सींगों से भी औजार बनाना प्रारम्भ किया।

पूर्व पाषाण युग

उसकी मुट्ठी वाली कुल्हाड़ी जिसे आज कूप दि पोइंग (Coup-de-poing) नाम दिया गया है, इस युग के मनुष्य के लिये हथौड़ा, नेहन्नी, चाकू, आरी और खुरचने के हथियार का काम देती थी। बाद में वे लोग चाकू, आरी और अन्य औजारों को अलग अलग से भी बनाने लगे। हड्डियाँ, लकड़ी और हाथीदांत तथा पत्थर की सहायता से वह विविध हथियारों और औजारों का निर्माण करता था। [illegible] वाले औजार कुल्हाड़ियाँ, [illegible] और अन्य बहुत से औजारों को इस युग का [illegible] और कुछ गुफाओं के निर्माण में [illegible] लेखक का कथन है कि बाद की गुफायें, [illegible] उत्कृष्ट हैं। [illegible] विकासक [illegible] है।

पूर्व पाषाण युग के मनुष्य ने सफलता [illegible] है कि उसके द्वारा [illegible] पशुओं के सजीव चित्र [illegible] दीवालों पर अथवा औजारों या हथियारों पर इस युग के मानव द्वारा [illegible] अंकित [illegible] पूर्व पाषाण युग में मनुष्य को पशुओं की आकृतियों के चित्रण में विशेष सफलता प्राप्त हुई है। [illegible], घोड़े और [illegible] इत्यादि पशुओं के वह चित्र खींचता था। कभी कभी पशुओं के शरीर में भाले चुभे हुये दिखाये गये हैं। इन चित्रों को चित्रकार इसलिये खींचता था कि इनके द्वारा वह पशुओं को अपने वश में कर लेने की आशा रखता था। ऐसा

प्रतीत होता है कि इस युग का कलाकार सौन्दर्योपासना एवं आनन्दानुभूति से प्रेरित किये जाने पर इन चित्रों को खींचता था। उसके द्वारा चित्रित ये "चित्र कोमलता शक्ति और निपुणता से इतने परिपूर्ण हैं कि उनको देखकर यह दुखद विचार उत्पन्न होता है कि कला ने कम से कम इस क्षेत्र में मानव इतिहास के सुदीर्घकाल में अधिक उन्नति नहीं की है"।[1]

इन चित्रों की सजीवता सचमुच विस्मयकारिणी है और इनको देखकर दर्शक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि कला उन्नति नहीं करती वरन् अपना रूप परिवर्तित कर देती है। जब हम यह विचार करते हैं कि इस प्रकार के चित्र इस युग में बनाये गये सम्पूर्ण चित्रों के अत्यन्त लघु अंश ही है तब हमारा आश्चर्य बहुत अधिक बढ़ जाता है। यह सम्भव है कि इस युग में कुछ ऐसे भी चित्र बनाये गये होंगे जो अब मिलते तो नहीं किन्तु वे उन चित्रों की अपेक्षा अधिक रमणीक और आकर्षक रहे होंगे जो आज हमें गुफाओं की दीवालों पर मिलते हैं। शायद इस युग का मानव स्थापत्य से भी परिचित रहा होगा। बाद में कलाकार मानव कृतियों का चित्रण भी करने लगे। पुरुष चित्रों में बिलकुल नग्न प्रदर्शित किये गये हैं, किन्तु स्त्रियां पशु चर्म के आवरण धारण किये हुये चित्रित की गई हैं। इन चित्रों के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य के अन्दर कलात्मक प्रवृत्ति का विद्यमान होना सहज और स्वाभाविक है और इस काल का मनुष्य सृजन की वह शक्ति प्राप्त कर चुका था जिसके द्वारा वह अपने विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान कर सकता था।

पूर्व पाषाण युग का मनुष्य केवल चित्रकला में निपुण ही न था अपितु उसमें इतनी उदारता थी कि वह हमें अपने जीवन विषय में ज्ञान प्रदान करने के लिये कब्रों में कुछ सामग्रियाँ छोड़ गया है। वह अपने मृतकों को गाड़ता था और बहुधा आभूषणों, हथियारों और भोज्य पदार्थों को भी कब्रों में रख देता था। वह मृतकों को गाड़ने में एक प्रकार के रंग का भी उपयोग करता था। वह अपने शरीर को रंगता था। इस युग में मनुष्य अपने शरीर को रंगने पर बहुत अधिक ध्यान देता था क्योंकि वह इसे अपने जीवन के लिए बहुत महत्वपूर्ण समझता था। वह अपनी चित्रकारी में काले, भूरे, लाल, पीले और सफेद रंगों का प्रयोग करता था। फ्रान्स और स्पेन में गुफाओं की दीवालों पर जो चित्र मिले हैं उनके रंग आज भी धुले नहीं हैं।

यद्यपि पूर्व पाषाण युग का मनुष्य मिट्टी के प्रयोग से परिचित था, और वह मिट्टी [illegible] था, तथापि इस युग में लोगों को मिट्टी के बर्तन बनाने की कला मालूम नहीं थी। यद्यपि उसके पास चकमक पत्थर और हड्डी के भाँति भाँति के औजार थे, तथापि वह अपने लिये [illegible] निवासस्थान का निर्माण नहीं कर सका। कदाचित् वह तम्बुओं अथवा झोपड़ों का निर्माण करना भी नहीं जानता था [illegible] कि तम्बू वह बना लेता था। यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा [illegible] कि वह [illegible] से परिचित था। बाद को पूर्व पाषाण युग वाली कैस्पियन संस्कृति में लोग धनुष का प्रयोग [illegible] था। पूर्व पाषाण युग [illegible] जानता था और [illegible] भी पूर्व पाषाण युग की [illegible] मनुष्य ने आग और [illegible] अपनी [illegible] पर [illegible] की [illegible] अपने [illegible] आभूषणों के निर्माण में भी उसने अपनी कलात्मक प्रवृत्ति और [illegible] जीवन को [illegible] किया। [illegible] इस युग में कुछ [illegible] और [illegible] का निर्माण किया [illegible] किसी प्रकार की [illegible] नहीं। उसने हथियारों का निर्माण करना [illegible]। अपने [illegible] और [illegible] भी [illegible] था। [illegible] इस युग में सामाजिक जीवन, [illegible] धर्म और [illegible] के विषय में [illegible] हुये और [illegible] प्रकार की विचार धाराओं का विकास हुआ।

[1] Our Oriental Heritage, Page 97, By Dr. Will Durant.

उत्तर पाषाण युग पूर्व पाषाण युग की समाप्ति अर्थात् पन्द्रह हजार वर्षों से भी कुछ पहले आरम्भ हो चुका था। इस युग की सभ्यता का अध्ययन प्रारम्भ करते ही हमारा एक महत्त्वपूर्ण आविष्कार से साक्षात्कार होता है, जिसके ऊपर बहुत दिनों तक सभ्यता आधारित रही। यह आविष्कार था कृषि। डा० सुरेन्द्र के कथनानुसार एक प्रकार से सम्पूर्ण मानवीय इतिहास दो क्रान्तियों की धूल पर ही घूमता है : उत्तर पाषाण युग में आखेट से कृषि की ओर मनुष्य का गमन और आधुनिक युग में कृषि से उद्योग-धन्धों की ओर गमन। कदाचित सभ्यता के विकास में ये दो आविष्कार जितने महत्वपूर्ण थे उतने महत्वपूर्ण कोई भी आविष्कार न थे। इस युग के मनुष्य ने अपने पूर्ववर्ती मनुष्यों के अनुभवों का पूरा-पूरा लाभ उठाया और अपने मौलिक आविष्कारों से उसने सभ्यता को सम्पन्न बनाने की चेष्टा की। इस युग में भी मनुष्य आखेट करता था किन्तु धनुष बाण के प्रयोग से उसे इस कार्य में काफी सरलता और सुविधा होती थी। एच० जी० वेल्स के अनुसार उत्तर पाषाण युग निम्नलिखित विशेषताओं से युक्त था।

उत्तर पाषाण युग

१—इस युग में पाषाण के औजार काफी चमकदार थे, विशेषकर पत्थर की कुल्हाड़ी जिसमें लकड़ी की मुठिया लगी होती थी। बाद में इस औजार का प्रयोग लड़ाई झगड़ों के लिये नहीं अपितु लकड़ी काटने आदि कार्यों में ही किया जाने लगा। चमकीले औजारों का पाया जाना इस सम्भावना का निराकरण नहीं करता कि इस युग में बिना चमक के हथियार बहुत बड़े परिमाण में थे। लेकिन उत्तर पाषाण युग के चमकहीन औजारों की बनावट में काफी अन्तर है।

२—कृषि का प्रारम्भ और बीजों तथा पौधों का प्रयोग किया जाना—लेकिन इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि उत्तर पाषाण युग में भी आखेट काफी महत्वपूर्ण था। पहले मनुष्य ने स्थिर होकर कृषि करना आरम्भ नहीं किया, बल्कि वह कभी-कभी फसलें उत्पन्न कर लेता था, बल्कि यों कहना चाहिये कि सबसे पहले उसकी स्त्री ने जंगली बीजों का संग्रह किया। बाद में कदाचित जब वह शिकार करने में संलग्न रहा करता था, वह उन बीजों को बो दिया करती थी। स्थायी जीवन व्यतीत करना उसने बाद में प्रारम्भ किया।

३—मिट्टी के बर्तन तथा अन्य सामानों का बनाया जाना और भोजन पकाने की उचित व्यवस्था। अब घोड़े का भक्षण नहीं किया जाता था।

४—पशु पालन—कुत्ता बहुत पहले ही पाला जाने लगा। उत्तर पाषाण युग का मनुष्य भेड़ों, बकरों, सुअरों और अन्य पशुओं को पालता था। जिन पशुओं का वह पहले आखेटक था उन्हीं का अब वह पालक हो गया।

५—सोने व चाँदी का मुलम्मा चढ़ाना और बुनना।

उत्तर पाषाण युग की सभ्यता का प्रसार आज से लगभग बारह हजार या उससे कुछ अधिक वर्षों पहले योरप, उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया में हो चुका था। ऊपर इस युग की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है उनका वर्णन कुछ अधिक विस्तार के साथ किया जायगा। उत्तर पाषाण युग के [illegible] प्रमुख औजार थे अपनी कुल्हाड़ी तथा चाकू और बाण। बाणों के फल [illegible] पत्थर के बने होते थे, [illegible] अपनी लकड़ी से पकड़ा रहता था। इस युग के मनुष्य ने बड़ी-बड़ी कुल्हाड़ियाँ और [illegible] तथा [illegible] पत्थर के [illegible] बनाना आरम्भ किया। उसने अनेक नवीन औजारों और यन्त्रों का आविष्कार भी किया। उसके द्वारा [illegible] औजारों और यन्त्रों में छिदनी, छेकनी, छेदनी, [illegible], कुल्हाड़ियाँ, आरियाँ, [illegible], [illegible], करघे, [illegible] और, [illegible] के औजार तथा बर्फ पर चलने वाले पहिये, सुइयाँ तथा पिन आदि वस्तुयें मुख्य थीं। उत्तर पाषाण युग में मनुष्य ने पहिये जैसी महत्वपूर्ण वस्तु का आविष्कार किया। इसकी सहायता से उसने बड़े बड़े और कठोर पत्थरों को काट कर उनको चिकना और चमकदार बनाना सीख लिया।

उत्तर पाषाण युग में मनुष्य झीलों के निकट रहता था और खेती करना भली भाँति जानता था। इस युग के अवशेषों को देखने से यह ज्ञात होता है कि वह गेहूँ, बाजरा, जौ, रुई आदि खाता था तथा एक सौ बीस प्रकार के फल तथा तरकारियाँ उत्पन्न करता था। इस युग के हल हमें प्राप्त नहीं हुये हैं, जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि इस समय काठ के हलों का ही प्रयोग किया जाता रहा होगा, क्योंकि धातुओं (सोने और चाँदी) के प्रयोग से मनुष्य परिचित न था। लेकिन इस बात के प्रमाण मिले हैं कि हल को चलाने के लिये उसमें दो बैल ही जोते जाते थे। यह आविष्कार भी सभ्यता के विकास की दृष्टि से बहुत अधिक महत्व का था। कृषि के अलावा इस युग का मनुष्य पशु-पालन भी करने लगा। शायद पशुपालन का आरम्भ उत्तर पाषाण युग के पूर्व ही हो चुका था किन्तु इस युग में यह काफी बड़े पैमाने पर होने लगा। इस युग में मनुष्य, गाय और बकरियों को दुहकर दूध प्राप्त करता था। पहले पूर्व पाषाण युग में मनुष्य घोड़े का शिकार ही करता था, किन्तु अब उसने इस बुद्धिमान और परिश्रमी पशु को अपना सहायक मित्र तथा आज्ञाकारी अनुचर बना लिया। कुत्ता मनुष्य का सबसे प्राचीन सहचर है।

इस युग में मनुष्य ने पशु चर्म के आवरण से ही संतोष नहीं किया वरन् रेशे से अपने लिये वस्त्र तैयार करने लगा। वह बुनने की कला जानता था और सन से वह वस्त्र बुनता था। सन के वस्त्र अवशेष रूप में पाये गये हैं। उसने सन द्वारा ही अपने लिये जाल भी बुन लिया था जिसका उपयोग वह मछलियों को पकड़ने के लिये करता था। भू-गर्भ से प्राप्त होने वाली धातुओं अथवा वृक्ष के रेशों से रंग तैयार किया जाता था और वस्त्रों को रंगा जाता था। रंगे हुये वस्त्र बहुमूल्य समझे जाते थे। दूसरे तरीकों से भी वस्त्रों को सजाने और सुन्दर बनाने का ध्यान रक्खा जाता था। सुई के द्वारा स्त्रियाँ वस्त्र सिला भी करती थीं। टेकुआ, करघे तथा बुनने के अन्य औजार भी पाये गये हैं। उनसे यह सिद्ध हो जाता है कि उत्तर पाषाण युग का मनुष्य बड़ी ही सजगतापूर्वक ऐतिहासिक सभ्यताओं के विकसित औद्योगिक जीवन के लिये रास्ता तैयार कर रहा था।

उत्तर पाषाण युग में एक अन्य महत्वपूर्ण कुटीर उद्योग होने का आविष्कार हुआ। हम पीछे देख चुके हैं कि पूर्व पाषाण युग का मनुष्य मिट्टी के प्रयोग को जानता हुआ भी मिट्टी के सामान बनाने की कला से अनभिज्ञ था। लेकिन इस युग में मनुष्य ने मिट्टी के बर्तन बनाना प्रारम्भ कर दिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय कारीगर कुम्भकार के चक्र से अपरिचित था परन्तु वह अपने हाथ से ही मिट्टी के सुन्दर और उपयोगी बर्तन बनाता था और उनको साधारण तरीकों से अलंकृत बनाने का प्रयास भी करता था। शुरू में ही इस उद्योग को कारीगर की चेष्टा ने एक सुन्दर कला का रूप प्रदान करने की प्रवृत्ति दिखलाई थी। बाद में चीन वालों ने सचमुच इस छोटे से उद्योग को एक अत्यन्त उत्कृष्ट कला में परिणत कर दिया। हम उत्तर पाषाण युग में ही भवन [illegible] देखते हैं। इसके पहले मनुष्य कन्दराओं में ही रहता था। किन्तु इस युग में उसने भवन नि[illegible] [illegible] [illegible], [illegible] और [illegible] का आविष्कार किया। उत्तर पाषाण युग के लोग बढ़ईगीरी [illegible] पहिये और [illegible] की सहायता से सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचा देते थे। [illegible] से बनाये जाते थे और झील के निकट ही गाँव बसाये जाते थे। पहले गाँवों को बसा[illegible] प्रयोग [illegible] इस कार्य के लिये [illegible] होने लगा। [illegible] के सा[illegible] जिनकी सहायता से जल मार्ग द्वारा आना जाना [illegible] होता था। प्रागैतिहासिक [illegible] दूसरे से काफी दूर-दूर रहते थे, काफी निकट का [illegible] था। यहाँ भी हम [illegible] ऐतिहासिक सभ्यताओं की नींव कितनी कुशलता और [illegible] से डाली जा रही थी।

उत्तर पाषाण [illegible] पूर्व पाषाण युग के मनुष्य से आगे बढ़ा नहीं हुआ था। वह कदाचित् [illegible] मिट्टी की वस्तुएँ बनाना ही उत्तर पाषाण युग [illegible] भी। लेकिन [illegible] विकास था जिसकी सहायता से उसने पत्थर के

काफी विशालकाय भवन बनाये थे। इनके अवशेष स्टोनहेन्ज और गारनिहन नामक स्थानों में पाये गये हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये अवशेष मन्दिरों अथवा वेदिकाओं के हैं। यदि यह अनुमान सत्य है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युग में एक सुदृढ़ धार्मिक चेतना उत्पन्न हो चुकी थी जिससे अनुप्राणित होने पर मनुष्य न केवल अपने देवताओं की पूजा आराधना करता था, बल्कि उनको स्वनिर्मित मन्दिरों में प्रतिष्ठापित भी करने के लिये सचेष्ट था। इस युग का मनुष्य कदाचित सूर्य और चन्द्र को अपना सब से प्रधान देवता मानता था। उसका यह विश्वास था कि चन्द्रमा पृथ्वी पर काफी प्रभाव डालता है। इस समय लोगों में धार्मिक संस्कार और उत्सवादि भी प्रचलित रहे होंगे, जिनके लिये वे सदा एक ही स्थान पर एकत्र होते रहे होंगे।

उत्तर पाषाण युग में मनुष्य के अन्दर सामाजिकता के भाव पहले से अधिक पुष्ट हुये क्योंकि गाँवों में रहने के कारण लोगों में साहचर्य और पारस्परिक सहयोग की भावना उत्पन्न हो गई थी। उर्वर भूमियों पर मनुष्यों के काफी बड़े-बड़े समुदाय रहते थे। गाँव में जो खेत होते थे उनमें जुताई और बोवाई इत्यादि सब लोग मिल कर करते थे। इस विकसित सामाजिक जीवन ने एक राजनीतिक संगठन को जन्म दिया। सारा कबीला दो भागों में विभक्त होता था। प्रत्येक भाग में चार वंश होते थे और कई मातृ सत्तात्मक परिवारों को मिला कर एक वंश का निर्माण होता था। कबीले का शासन एक सरदार करता था और विभिन्न कबीलों के सरदार किसी पारस्परिक संगठन का निर्माण होने पर अपने-अपने कबीलों का नेतृत्व करते थे। इस युग की सभ्यताओं का ज्ञान हमें स्विटजरलैण्ड, स्कैन्डेनेविया, स्काटलैण्ड तथा आयरलैण्ड के अवशेषों द्वारा होता है।

प्रागैतिहासिक सभ्यताओं की संक्षिप्त समीक्षा कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। ऊपर उनकी जो विवेचना की गई है, उससे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि हमारी सभ्यता का मूल स्रोत उस अतीत में है जिसका साक्षात्कार करने के लिये हमें अपने कल्पना चक्षुओं की सहायता ग्रहण करनी पड़ती है। लेकिन यह भय है कि हमारी कल्पना हमें प्रस्तुत साक्ष्यों द्वारा प्राप्त होने वाले ज्ञान से कुछ अधिक न बता दे। प्रागैतिहासिक मनुष्य की सभ्यता को क्या देन थी इसका निर्धारण करने के लिये हमें अपने साक्ष्यों द्वारा प्राप्त ज्ञान का ही सहारा लेना चाहिये। हम अपने इस ज्ञान के आधार पर ही कह सकते हैं कि सभ्यता के लगभग प्रत्येक अंग की नींव हमारे प्रागैतिहासिक पूर्वज के द्वारा डाली जा चुकी थी। पूर्व पाषाण युग की कला के विषय में हम पढ़ चुके हैं। उत्तर पाषाण युग में यद्यपि स्थायी जीवन का पूर्ण रूपेण प्रारम्भ नहीं हुआ था, क्योंकि अभी भी शिकार द्वारा भोज्य सामग्री प्राप्त करने की प्रवृत्ति प्रचुरता से प्रचलित थी, लेकिन इस स्थायी जीवन का महत्त्व काफी अंशों में समझा जा चुका था। कृषि, पशुपालन, बुनाई, मिट्टी के बर्तन बनाने की कला, भवन-निर्माण कला, गमना-गमन के साधन, धार्मिक विश्वास, संगीत और मनोरंजन के साधन, जिन्हें सभ्यता के प्रमुख अंग कहा जाता है, इस समय विद्यमान न थे। इस समय तक आकर मनुष्य ने अपने प्रयत्नों द्वारा उत्तप्त वसुधा को अपने निवास योग्य बना लिया था, उसने केवल धातुओं, लेखन कला तथा राज्य का आविष्कार नहीं किया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन तीन आविष्कारों के अभाव में सभ्यता को पूर्ण नहीं कहा जा सकता। किन्तु शायद प्रागैतिहासिक काल के मनुष्य ने अपने उत्तराधिकारियों के लिये इन तीनों का आविष्कार छोड़ दिया था। अन्य मार्गों में उसने उनके लिये सरल और सुलभ मार्ग प्रस्तुत कर दिया था। [illegible] ऐतिहासिक काल के मनुष्य का काम था।

धातु युग

उत्तर पाषाण युग के बाद धातु युग का सूत्रपात हुआ परन्तु संसार के भिन्न-भिन्न भागों में धातुओं का प्रचलन भिन्न-भिन्न समयों में हुआ। यदि यह कह जाय कि धातुओं ने ही ऐतिहासिक सभ्यता के युग का सूत्रपात किया तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। सब से पहले ताँबा प्रयोग में आया फिर काँसा और बाद में लोहे का प्रयोग होने लगा। लोहे का प्रयोग काफी बाद में हुआ। धातुओं का प्रचलन सभ्यता के विकास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कदम था क्योंकि इसके द्वारा मनुष्य ने अपनी सृजनात्मक [illegible] शक्ति

का परिचय दिया। उसे पत्थरों के औजार बनाने में किसी विशेष सोच विचार की आवश्यकता न थी, यद्यपि ये औजार भी काफी महत्वपूर्ण थे लेकिन धातुओं के औजार बनाने में उसे पहले धातुओं के पिघलाने और औजारों का आकार निश्चित करने के लिये पहले से ही सोचना पड़ता था। इसीलिये अत्यन्त प्राचीन काल में सुनारों और लुहारों को विशेष शक्ति सम्पन्न समझा जाता था।

ताँबे के युग के बाद कांस्य युग की सभ्यता का आरम्भ होता है। काँसे को बनाने के लिये काफी चतुराई की आवश्यकता थी। तांबे और टीन को मिला कर कांसा बनाया जाता था। परन्तु इनके औजार इतने मजबूत नहीं होते थे जितने मजबूत केवल तांबे के औजार होते थे। एशिया की सभ्यता को कांस्यकालीन सभ्यता कहते हैं। तांबे के बाद लोहे का आविष्कार हुआ। लोहे का प्रयोग करना सब से पहले हिट्टाइट लोगों ने ही संसार को सिखाया। बाद में एसीरिया वालों ने लोहे का प्रयोग समस्त पश्चिमी एशिया में फैला दिया। फिर कुछ दिनों बाद सम्पूर्ण सभ्य संसार लोहे से परिचित हो गया। हम आज जिस युग में रह रहे हैं वह लौह युग कहा जा सकता है। धातुओं का प्रयोग जान लेने के बाद प्रागैतिहासिक मनुष्य ने जो औजार और हथियार बनाये थे उनमें सुधारजनक परिवर्तन अठारहवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति के बाद किये गये, इसी बात से हम धातु युग का महत्व समझ सकते हैं।

अभी तक हमने प्रागैतिहासिक मनुष्य की भौतिक सभ्यता पर ही विचार किया है किन्तु हमें उसके मानसिक-विचार, उसकी भावनाओं तथा उसके रीति रिवाजों का भी अध्ययन कर लेना चाहिये।

प्रागैतिहासिक मनुष्य के विचार और रीति रिवाज

हमें पुरातत्व पंडितों के उत्खनन कार्य द्वारा प्रागैतिहासिक मनुष्य के जो शस्त्रास्त्र उपलब्ध हुये हैं उनके सम्यक् परीक्षण से हम उनकी भौतिक सभ्यता का विवरण जान सके हैं। ऊपर हमने प्रागैतिहासिक सभ्यता पर जो विचार किया है वह इसी आधार पर। किन्तु आज के सभ्य मानव से उसका कोई ऐसा मनोवैज्ञ [illegible] नहीं दिखाई पड़ता, जिससे हम प्रागैतिहासिक मनुष्यों की विचारधाराओं तथा उनके [illegible] हमारे अध्ययन का आधार केवल यही हो सकता है कि हम आज असभ्य मानव [illegible] अध्ययन करें और यह स्वीकार कर लें कि इस प्रकार के सभी मनुष्यों की विचारध[illegible] भी संसार के भिन्न भिन्न भागों में ऐसे अनेक असभ्य मनुष्य रहते हैं जो अपने प्रागैतिहासिक पूर्वज से अनेक बातों में मिलते हैं। [illegible] जीवन की [illegible] लगभग वे ही हैं जो [illegible] [illegible] मनुष्यों के जीवन को ले सकते हैं। [illegible] [illegible] करता था। इसी आधार [illegible] [illegible] [illegible] डालता है।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

के बाद मनुष्य ने भाषा को जन्म दिया। प्राथमिक भाषाओं का शब्द कोष हमारी आधुनिक भाषाओं के शब्द कोषों की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल और विशाल है। एक ही वस्तु को सूचित करने के लिये जितने अधिक शब्द प्राथमिक भाषाओं में मिलते हैं उतने आधुनिक भाषाओं में नहीं मिलते। हमारी आधुनिक भाषाओं के लिंग भेद कदाचित असभ्य मानवों की भाषा से ग्रहण किये गये हैं।

जिस प्रकार मनुष्य में आहारनिद्राभयमैथुन की प्रवृत्ति मूलतः विद्यमान रहती है उसी प्रकार मनोरंजन तथा आनन्द प्राप्ति की कामना भी मनुष्य के लिये स्वाभाविक है। वाणी का वरदान प्राप्त करने के पहले ही वह मूक अभिनयों द्वारा अपने आनन्द की अभिव्यक्ति करता रहा होगा। इस प्रकार नृत्य की उत्पत्ति हुई। इसी तरह गायन और वादन द्वारा भी उसने अपने हृदय के हर्षोल्लास को प्रकट करने की चेष्टा की होगी। आज के भी असभ्य मानव

संगीत और नृत्य

संगीत तथा नृत्य के प्रति अतिशय अनुराग रखते हैं। यह सत्य है कि प्रागैतिहासिक मानवों के संगीत में लय इत्यादि का प्राधान्य नहीं था। जितने वेग से गायन या वादन में कोलाहल उत्पन्न किया जाता था उसे वह उतना ही अधिक रुचिकर प्रतीत होता था। उसका संगीत नृत्य के साथ अन्योन्याश्रित रूप से सम्बन्धित रहता था। यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य ने सब से पहले किस प्रकार के वाद्य यन्त्र का प्रयोग करना सीखा।

मनुष्य के लिये सौन्दर्यानुराग की भावना भी नैसर्गिक है। हम पूर्व पाषाण युग में मनुष्य की कलात्मक प्रवृत्ति के सम्बन्ध में यह देख चुके हैं कि वह किस प्रकार अपने अवकाश के क्षणों में अपनी तूलिका द्वारा पशुओं के सजीव

कला और अलंकार

चित्र उतारता था। उत्तर पाषाण युग का मनुष्य केवल मिट्टी की वस्तुयें बना कर ही नहीं सन्तुष्ट रहा अपितु उसने उन वस्तुओं को अलंकृत करने की ओर भी ध्यान दिया। इसी प्रकार उसने अपने वस्त्राभूषणों को भी सुन्दरता प्रदान करने का प्रयत्न किया। अपने को सजाने और आकर्षक बनाने की भावना से ही प्रेरित होकर कदाचित पूर्व पाषाण युग का मनुष्य अपने सम्पूर्ण शरीर को रंगता था। प्रागैतिहासिक युग का कारीगर अपनी कलात्मक प्रवृत्ति द्वारा प्रत्येक उद्योग को कला का गौरव प्रदान करना चाहता था। आज भी हम असभ्य मानवों में कला और अलंकरण के प्रति एक अनुराग भावना का दर्शन करते हैं। उनके समाज में प्रायः प्रत्येक व्यक्ति कला की उपासना करता है जिनको सभ्य राष्ट्र अपनी व्यावहारिक और वैज्ञानिक सफलताओं की ऊँचाई से दिन प्रतिदिन व्यर्थ की अभिरुचि समझने लगे हैं। प्रागैतिहासिक कलाओं में उपयोगिता और सुन्दरता के समन्वय की जो चेष्टा दिखलाई देती है वह सभ्य मानव के पूर्वजों की कलाप्रियता और व्यावहारिकता का स्पष्ट निदर्शन करती है।

मनुष्य में सामाजिक संगठन के भाव सदैव से वर्तमान रहे हैं। कदाचित समुदाय में रहने की प्रवृत्ति मनुष्य की शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं के अनुकूल है। प्रागैतिहासिक युग में मनुष्य के सामाजिक और राजनीतिक संगठन की इकाई परिवार था। [illegible] बदल गये हैं किन्तु हमारा सामाजिक संगठन प्रायः वैसा ही है जैसा प्रागैतिहासिक काल में था। [illegible] का विकास उसके जन्म के साथ ही हो चुका था। जिस समय वह अपनी क्षुधानिवृत्ति के लिये [illegible]

सामाजिक संगठन

किया करता था उस समय भी वह एक [illegible] जीवन [illegible] था। [illegible] समाज में प्रत्येक युग में विवाह प्रथा का अस्तित्व रहा है और [illegible] मनुष्य प्रायः एक पत्नीव्रत का पालन करता था। [illegible] लोगों का विश्वास है कि [illegible] होने पर भी आदि मानव के वैवाहिक सम्बन्ध इतने उन्नत हैं कि सभ्य [illegible] युग को [illegible] आदर्श बतायेगा। इसी सम्बन्ध में यह जान लेना भी आवश्यक है कि इस दिन मनुष्यों को [illegible] और [illegible]

संज्ञा देते हैं वे मानवीय गुणों में हम से पीछे नहीं है। अतिथि सत्कार को वे अपना प्रधान कर्त्तव्य समझते हैं और पारस्परिक सहयोग तथा स्नेह उनके समाज की आधार शिला है। हम वायु में उड़ सकते हैं और सागर के अथाह जल में गोते भी लगा सकते हैं। हमने अपने इन्द्रिय सुखों के साधनों में अत्यधिक अभिवृद्धि भी कर ली है किन्तु आज भी हम तृतीय महायुद्ध की आशंका को निर्मूल नहीं कर सके हैं। साहित्य की उन्नति हो रही है, कला का प्रचार बढ़ रहा है, मानव भ्रातृत्व की भावना का उपदेश भी दिया जा रहा है किन्तु आज भी संसार में संशय, घृणा, मात्सर्य और हिन्सा का साम्राज्य है। जब तक हम अपने को महात्मा बुद्ध या ईसा या कन्फ्यूशियस या अन्य किसी महात्मा का सच्चा अनुयायी नहीं बना लेते और मनसा वाचा कर्मणा उनके सदुपदेशों का पालन नहीं करते तब तक हम अपने को सभ्य तथा शिष्ट और आदि मानव को बर्बर नहीं कह सकते। वह उपर्युक्त महात्माओं का शिष्य नहीं है किन्तु एक ही एटम बम्ब से सम्पूर्ण हीरोशिमा के ध्वस्त होने की बात सुनकर उसका चित्त दुखी हो जायगा।

आदि मानव के परिवार का अध्यक्ष पुरुष ही होता था स्त्री नहीं, क्योंकि स्त्री के जीवन में अनेक बाधायें थीं। वह सदैव बन्धनों में जकड़ी रहती थी और शारीरिक दृष्टि से भी पुरुष की अपेक्षा वह अधिक रक्षणीय थी। लेकिन परिवार के सभी सदस्य मिल जुलकर काम करते थे और अपनी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। परिवार के बाद मनुष्य का दूसरा सामाजिक संगठन वंश और कबीला होता था। धर्म ने प्रागैतिहासिक मानवों में सामाजिकता की भावना उत्पन्न की। लोग मेलों में एकत्र होते थे और एक दूसरे के साथ अपने सामाजिक सम्बन्धों का अनुभव करते थे। विभिन्न कबीलों में समय-समय पर जो युद्ध हुआ करते थे उनके द्वारा भी सामाजिक चेतना उत्पन्न होने में सहायता मिली। समाज में जो रीति रिवाज प्रचलित थे उनको प्रायः सभी लोग आदर की दृष्टि से देखते थे। ये रीति रिवाज बहुत कम बदला करते थे।

राजनीतिक संगठन सामाजिक संगठन ने एक राजनीतिक संगठन को जन्म दिया। पहले तो परिवार का सबसे बड़ा बूढ़ा पुरुष ही राजनीतिक अध्यक्ष का कार्य सम्पादित करता था। फिर बाद में प्रत्येक कबीले का नेतृत्व करता था और समाज की सम्पत्ति पर नियन्त्रण रखता था तथा लोगों की ओर से समस्त धार्मिक क्रियायें करता था। वास्तव में मनुष्य की आवश्यकताओं ने एक राजनीतिक संगठन के लिये प्रेरणा दी। ऐतिहासिक कालों के पूर्व भी हमें एक अविकसित राजनीतिक संगठन दिखाई पड़ता है। कुछ लोगों का विश्वास है कि सबसे अधिक [illegible] समाज के ऊपर [illegible] लिया और इस प्रकार एक राजनीतिक संगठन की उत्पत्ति हुई। [illegible] संगठन के विषय में दैवी विचारधारा ने इसे पुष्टि प्रदान की है। यह [illegible] समझा जाता रहा है। मिस्र में फरोह को देवता [illegible] ईश्वर का पुत्र समझा जाता था। इसी प्रकार अन्य देशों में भी राजा [illegible] था या कहीं-कहीं बराबर समझा जाता था। मनुष्य के प्रागैतिहासिक समाज में कोई [illegible] प्रकार का प्रतिनिधि शासन प्रचलित था।

[illegible] पर आधारित था। [illegible] प्रागैतिहासिक [illegible] कानून में [illegible]

मनुष्य उदर पोषण मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं रह सकता। अपनी रोटी के बाद सब से अधिक स्नेह वह अपने धार्मिक विश्वासों से ही करता है। आदि मानव के लिये तो धर्म उसके जीवन का एक अविभाज्य अंग था, उसके समस्त कार्य धर्म द्वारा अनुप्राणित थे। अपने उद्योग धन्धों में वह धार्मिक भावनाओं का समावेश करता था। किसान के लिये केवल खेती करना ही आवश्यक न था वरन् वह अपनी फसल की रक्षा के लिये जादू टोने का आश्रय ग्रहण करता था और देवताओं को सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न करता था। राजा के समस्त कार्यों को पुरोहित दैवी अनुमति प्रदान करता था। राजा अपनी प्रजा के हृदय में यह विश्वास उत्पन्न कराता था कि उसके सभी कार्य दैवी प्रेरणा द्वारा ही किये जाते हैं।

धर्म

मनुष्य के हृदय में सबसे पहले धार्मिक भावनाओं का उदय भय द्वारा हुआ, कृतज्ञता अथवा श्रद्धा द्वारा नहीं। उसे भयंकर पशुओं से सदैव डर बना रहता था और आकाश में बिजली की चमक, तूफान या उल्कापात उसके हृदय में भय का संचार कर देते थे। सब आपत्तियों से बचने के लिये उसने कुछ शक्तियों की कल्पना कर डाली जिनको वह संतुष्ट रखने का प्रयत्न करने लगा। वह विरोधी शक्तियों से कभी कभी लड़ने का भी साहस करता था। वह इन सभी शक्तियों को, चाहे वह हितकारिणी रही हों या विनाशकारिणी, अपनी शक्ति से बहुत अधिक समझता था इसलिये इनके संतुष्टीकरण के लिये वह किसी ऐसे व्यक्ति की सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न करता था जो जादू टोने द्वारा इन शक्तियों को अपने वश में कर लेने की क्षमता रखने का दावा करता रहा हो। जादू टोने में विश्वास ही धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप था। यह विश्वास किया जाता था कि किसी पदार्थ विशेष को प्राप्त कर लेने से मनुष्य को अतिमानवीय शक्ति प्राप्त हो सकती है। इसी विश्वास के अनुसार सिंह का बाल मनुष्य को साहस प्रदान करता था। उसकी आँखों का बाल मनुष्य को दृष्टि प्रदान करता था। चीते का पंजा प्राप्त कर लेने पर मनुष्य में भयंकर पशुओं से लड़ने की शक्ति आ जाती थी। इन सब वस्तुओं का हमारी दृष्टि में जो कुछ भी महत्त्व हो लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि ये आदि मानव को आत्म-विश्वास प्रदान करती थीं।

भविष्य जीवन के विषय में लोग कल्पनायें करते थे और भविष्यवाणियों द्वारा मनुष्य अपने जीवन की घटनाओं को जानने के लिये उत्सुक रहा करता था। आप यह पहले पढ़ चुके हैं कि प्रागैतिहासिक मानव अपने मृतकों को किस प्रकार गाड़ता था। मृत पुरुषों के साथ उनके जीवन की आवश्यक सामग्रियों को गाड़ने की प्रथा लगभग समस्त प्राचीन सभ्यताओं में प्रचलित थी। समाज में उन लोगों का काफी सम्मानपूर्ण स्थान था जो लोगों के भावी जीवन के विषय में बतला सकते थे अथवा जो जादू टोने की शक्ति द्वारा देवताओं को वश में कर लेने का दावा करते थे।

कालान्तर में मनुष्य ने देवताओं की कल्पना की। प्रकृति की शक्तियों को ही देवताओं का रूप प्रदान किया गया, अब पूजा का भी प्रचलन हुआ। मनुष्य ने अब प्रकृति के हितकारी कार्यों को समझ करके पूजा द्वारा विभिन्न देवताओं के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना आरम्भ किया। देवताओं की संख्या बहुत अधिक थी। उनके लिये मन्दिर भी बनवाये गये। हम देख चुके हैं कि प्रागैतिहासिक काल के मन्दिरों के ध्वंसावशेष भी हमें प्राप्त हुए हैं। मनुष्य पूजोपासना के अतिरिक्त धार्मिक उत्सवादि भी मनाया करता था। आज भी आदि मानवों के समाज में अनेक धार्मिक उत्सव प्रचलित हैं। अपने देवताओं के सम्बन्ध में मनुष्य ने पौराणिक कथायें भी रच डालीं। [illegible] की उत्पत्ति के विषय में बड़ी मनोरंजक कल्पनायें हैं।

आदि मानव के धर्म की इस संक्षिप्त समीक्षा के आधार पर हम [illegible] एकेश्वरवाद के सिद्धान्तों को छोड़कर बाकी अन्य ने सभी बातें ली हैं जिनको [illegible] ने ग्रहण कर लिया है। हम आगे देखेंगे कि प्रागैतिहासिक काल के धर्म का स्वरूप सभी ऐतिहासिक सभ्यताओं में कुछ न कुछ अवश्य विद्यमान था। अब हम नदी तटों पर उदय होने वाली सभ्यताओं का अध्ययन करेंगे।

दूसरा अध्याय

नदी तटों पर सभ्यताओं का उदय

पिछले अध्याय में प्रागैतिहासिक युग की सभ्यताओं का जो वर्णन किया गया है उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि मानव सभ्यता की नींव उसी युग में डाली जा चुकी थी। किन्तु सच्चे अर्थों में मनुष्य प्रगति पथ का राही उस समय बना जब उसने नदी तटों पर रह कर स्थायी जीवन बिताना आरम्भ किया। नदी के तट पर उसे जो सुख सुविधायें प्राप्त हुईं वे अभी तक उसके लिये अलभ्य थीं। यहां उसके जीवन की आवश्यकतायें सरलतया पूरी होने लगीं। उसे पीने के लिये सुस्वादु जल प्राप्त होने लगा, वास स्थान बनाने के लिये मिट्टी ईंट तथा पत्थर मिल गये, उसने अपना शिकारियों का जीवन त्याग दिया और अपने साथियों के साथ नदियों के कगारों को छोड़ कर नदी के निकटवर्ती प्रदेश में रहने लगा। यहीं से उसके सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन का सूत्रपात हुआ। वह अब गावों में रहने लगा और नौकाओं द्वारा जल मार्गों से व्यापार करने लगा। इस प्रकार पारस्परिक सहयोग की भावना अधिक बढ़ने लगी और मनुष्य के सभ्य जीवन का श्रीगणेश हुआ। यह कोई विस्मय का कारण नहीं है कि मनुष्य की प्राचीनतम सभ्यताओं का उदय नदियों के तट पर ही हुआ। संसार की सब से प्राचीन सभ्यतायें दजला और फरात, नील नदी, सिन्धु नदी और यांगटीसीक्यांग तथा ह्वांगहो की घाटियों में उत्पन्न हुईं और फली फूलीं।

दजला और फरात नदियों की तटवर्तिनी सभ्यतायें

(क) सुमेरिया

दजला और फरात नदियों के तट पर आज से लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व एक [illegible] हो चुका था। आधुनिक अनुसन्धानों ने इस सभ्यता के अवशेषों को एकत्र कर हमारे लिये [illegible] कि हम इसके स्वरूप पर विचार कर सकें। इस प्रदेश की सब से प्राचीन सभ्यता को सुमेरिया की सभ्यता कहते हैं। साधारणतया विद्वानों का यह मत है कि सुमेरीय भाषा को बोलने वाले लोगों ने न केवल एक लिपि का ही विकास किया [illegible] के लिये [illegible] अधिकांश [illegible] गये थे। [illegible] सुमेर था [illegible] जो [illegible] नदियों के मुहानों पर [illegible]। यहीं पर सुमेरीय जाति के लोगों ने [illegible] शुरू किया और कृषि-योग्य बनाया। [illegible] जिनके चिन्ह अब भी वर्तमान हैं। [illegible] और [illegible] कि [illegible] नदी की घाटी के उनके समकालीन निवासी इन वस्तुओं से अनभिज्ञ थे।

[illegible] नहीं है कि सुमेरीय लोग कहाँ से आये अथवा वे किस जाति के थे। यह निश्चित है कि वे सेमेटिक जाति के नहीं थे। [illegible] से पांच हजार वर्ष पहले ईरान [illegible] अथवा भारत से [illegible] के पूर्व [illegible] सुमेर के उत्तर [illegible] में पहुँचे होंगे। वहां पहुंच कर

सुमेरीय जाति

इन लोगों को [illegible] उत्तर में [illegible] और पूर्व में एलम, [illegible] की जातियों से [illegible] करना पड़ा। [illegible] और [illegible] के थे।

सुमेरीय लोगों ने जिस शासन व्यवस्था को जन्म दिया उसे हम नगर राज्य की संज्ञा दे सकते हैं । उनके प्रमुख नगर राज्य ये थे: उर (Ur) निप्पर (Nippur) उरुक (Uruk) लास्सा (Lassa) लगश (Lagash) और उम्मा (Umma) । प्रत्येक राज्य का शासक पटेसी कहलाता था, जो प्रमुख तथा मुख्य पुरोहित था । वह देवता को कर देने वाला कृषक था और प्रति वर्ष जब देवता के सम्मान में कोई पर्व होता था, तो उसका राज्याधिकार पुनर्स्वीकृत हो जाता था । राजा का कर्तव्य था कि वह प्रजा से कर वसूल करे और उपहार ग्रहण करे, व्यापार के लेनदेनों की स्वीकृति प्रदान करे और बाह्य आक्रमण से नगर की रक्षा करे । वह केवल एक महान व्यक्ति था । न्याय का वह स्रोत नहीं था, वरन् उसका पालन करने वाला सेवक था और लोगों से उसका पालन करवाने के लिये वह देवता के प्रति उत्तरदायी था । सुमेरिया की शासन व्यवस्था में व्यक्ति के अधिकारों की सम्यक् रक्षा होती थी, जिससे शासन-पद्धति को विस्तार और सन्तुलन प्राप्त होता था । नगर राज्यों में परस्पर युद्ध होना सुमेरिया के राजनीतिक जीवन की एक साधारण बात थी । व्यापारिक मार्गों तथा जल मार्गों के मामलों पर खुल कर लड़ाई होती थी । अक्काद के राजा मनिश्तुसु ने स्पष्टतया यह घोषणा की कि वह "एलम की चांदी की खानों पर अधिकार करने के लिये और पत्थर प्राप्त कर अपनी मूर्ति का निर्माण कर अपने को अमर करने के लिये एलम पर आक्रमण कर रहा है" । पराजित लोगों को गुलाम बनाकर बेच दिया जाता था अथवा जब यह लाभप्रद न समझा जाता था तो वे युद्धस्थल में ही तलवार के घाट उतार दिये जाते थे । कभी-कभी पड़ोसी खानाबदोशों के आक्रमणों से रक्षा करने के लिये ये नगर-राज्य संयुक्त हो जाते थे परन्तु वे आत्मघाती पारस्परिक द्वन्दों में ही व्यस्त रहते थे जो अन्ततोगत्वा उनके विनाश का कारण सिद्ध हुआ ।

शासन पद्धति

सुमेरीय लोग बड़े परिश्रमी थे । उनके दे[illegible] वस्था में थी । विशाल शस्य क्षेत्रों और शाक भाजियों की उपजों से देश की वसुन्धरा हरी-भरी [illegible] सिंचाई का प्रबन्ध अधिक उन्नत दशा में था । बड़ी-बड़ी नहरों का निर्माण कराया जाता था, जिनमें बांध बने होते थे । सुमेरिया के निवासी जिस हल का प्रयोग करते थे, उसमें बीज भी रक्खा जा सकता था और भूमि जोतने के साथ ही साथ बीज-वपन भी हो जाता था । हलों में बैल जोते जाते थे । सुमेरीय लोगों की मुख्य उपज गेहूं, जौ, दाल और खजूर थी । कृषि के साथ-साथ पशुपालन भी उनका प्रमुख व्यवसाय था । रथों तथा गाड़ियों को गधे तथा बैल खींचते थे । भेड़, बकरे, सुअर तथा कुत्ते और गाय [illegible] सुमेरिया में [illegible] जीवों का रहना इस बात का द्योतक है कि अन्न की मात्रा पर्याप्त थी । [illegible] कृषि की [illegible] निवासियों को भोजन प्राप्त होता था ।

कृषि

उद्योग सुमेरिया निवासी [illegible] और [illegible] सुन्दर वस्त्र बनाना जानते थे । धातुओं के औजारों का प्रयोग [illegible] भली-भांति [illegible] लोहे के बड़े-बड़े औजार भी बना लेते थे, परन्तु लोहा बहुत कम होता था । [illegible] के होते थे । कुछ औजार [illegible] [illegible] बहुमूल्य वस्तुएं हड्डियों से बनती थीं । बुनाई का काम बहुत [illegible] होता था और इसके निरीक्षण [illegible] राजा की ओर से अफसर नियुक्त होते थे । सुमेरिया के स्वर्णकार सोने चांदी के सुन्दर [illegible] बनाते थे ।

उद्योग

सुमेरिया के लोग अपने मकान धूप में सुखाई ईंटों से बनाते थे । नगरों के चारों ओर ईंट की दीवाल बनी हुई होती थी । नगर के मध्य में मन्दिर बने होते थे, जिनके पास मीनारें भी बनी होती थीं जो [illegible] थीं । मुहरों का निर्माण सुमेरियावासियों की [illegible] थी । इनसे हमें सुमेरिया की सभ्यता के विषय में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है । मेहराब, गुम्बज और [illegible] का निर्माण सर्वप्रथम सुमेरिया में ही हुआ और कालान्तर में यूनान वालों ने इनका निर्माण इन्हीं लोगों से सीखा । सुमेरिया

कला

लोग मूर्ति कला में भी सिद्धहस्त थे। यद्यपि इनकी मूर्तियों में सौन्दर्य और कलात्मकता का प्रायः अभाव है तथापि अपनी विशालता और सौन्दर्य के लिये वे विख्यात हैं। मन्दिरों में देवताओं, वीरों और पशुओं की मूर्तियाँ रखी होती थीं। निप्पर का विशाल मन्दिर कुछ-कुछ मिस्र के पिरैमिड के आकार से मिलता है। परन्तु सुमेरिया के अधिकांश घर भद्दे और कच्चे बने होते थे। यहाँ की स्थापत्य कला मिस्र की तुलना में निकृष्ट है।

वाणिज्य

सुमेरिया में पत्थर, स्वर्ण, चाँदी और ताँबा आदि नहीं पाये जाते थे इसलिये उन्हें बाहर से मँगाना पड़ता था। इस प्रकार उत्तर-पूर्व और पश्चिम में रहने वाली जातियों में व्यापार बढ़ा। सुमेरिया के लोग अपनी आवश्यकता की वस्तुयें बाहर से मँगाते थे और उनके बदले में अपनी औद्योगिक वस्तुयें यथा ऊनी और सूती कपड़े, चमड़े के सामान तथा भोजन की सामग्रियाँ निर्यात करते थे। सुमेरिया के मन्दिरों में अनाज एकत्र रखे रहा करते थे, जहाँ से छोटा कृषक बीज के लिये अन्न उधार ले सकता था और जहाँ से राजा सार्वजनिक कार्यों के लिये अन्न ले सकता था। जो बहुत से सील और मिट्टी के तख्ते पाये गये हैं उनमें से अधिकांश व्यापार सम्बन्धी पत्रों के रूप में हैं। ये तख्ते और मन्दिरों का आर्थिक प्रयोग इस बात को सूचित करते हैं कि इतने प्राचीन और प्रमुखतया कृषि-प्रधान समाज में भी व्यापार काफी उन्नति की अवस्था में था। कृषकों के साथ-साथ सुमेरिया के समाज में सौदागर भी थे, जो अन्न तथा औद्योगिक वस्तुओं के क्रय-विक्रय द्वारा जीवनोपार्जन करते थे। यद्यपि व्यापार के लिये विनिमय (Barter) ही प्रधान माध्यम था, तथापि कालान्तर में अनाज के दाने के आकार के सोने चाँदी भी इस कार्य के लिये प्रयुक्त किये जाने लगे। सुमेरिया के लोगों में ऋण देने और लेने की रीति प्रचलित थी। ऋण की दर १५ से ३३ प्रतिशत थी।

लिपि का विकास

लिपि का विकास सुमेरिया जाति की सभ्य जगत को एक बहुमूल्य देन है। संसार में लेखन-कला का ज्ञान सर्वप्रथम सुमेरीय लोगों को ही हुआ। प्रारम्भ में सुमेरिया वासियों की लिपि चित्रात्मक थी। परन्तु कालान्तर में चित्रों से अक्षरों का बोध भी किया जाने लगा और इस प्रकार अक्षरों का भी विकास हुआ। ये अक्षर मिट्टी के तख्तों पर लिखे जाते थे, सुमेरिया में उत्खनन से अनेक मिट्टी के [illegible] पाये गये हैं जिनमें लेख कीलाक्षरों में दायें से बायें लिखे गये हैं। सुमेरीय लिपि को क्यूनी फार्म (Cuneiform) कहते हैं।

धर्म

कतिपय आधुनिक इतिहासकारों का मत है कि सुमेरीय लोग मूल रूप में एकेश्वरवादी थे। बहुदेववाद का प्रवेश वहाँ [illegible] (२८००) इतिहासकारों के अनुसार [illegible] अवस्था में एकेश्वरवाद में विश्वास करती थी। बहुत से [illegible] कि सुमेरीय [illegible] ईश्वर में ही विश्वास करते थे, बाद में [illegible] देवताओं की उपासना करने लगे। प्रत्येक नगर के विभिन्न देवता थे। उनके देवताओं में [illegible] अधिष्ठाता [illegible] समान थे। [illegible] और [illegible] पृथ्वी [illegible] की आराधना [illegible] प्रमुख देवता थे। [illegible] इस प्रकार [illegible] किया था। वे ऐसा मानते [illegible] देवता में विश्वास नहीं करते थे। उनका विश्वास था कि इनके [illegible] कतिपय बुरी आत्मायें [illegible] रहती थीं। इन बुरी आत्माओं से [illegible] उन्हें पराजित करने में वे विश्वास करते थे। इनकी पूजा नहीं की जाती थी। सुमेरिया के देवता मन्दिरों में निवास करते थे और उनकी सेवा हेतु पुरोहित नियुक्त कर दिये जाते थे। प्रमुख पुरोहित ही राजा हो जाता था। इसके अतिरिक्त तीन प्रकार के पुरोहित और होते थे। [illegible] जादू इत्यादि जानने वाले और भविष्य वाणी करने वाले। पुरोहित कुछ शकुनों द्वारा, जैसे चिड़ियों के

उड़ने से, भविष्य जीवन के विषय में जान लेने का दावा करते थे। इसी प्रकार वे एक सफेद कुत्ते को भवन में घुसते हुये देखकर यह विश्वास कर लेते थे कि शीघ्र ही शत्रु घेरा डालने वाले हैं। स्वप्नों द्वारा घटना-क्रमों का विवरण प्राप्त होता था और ज्योतिषियों का कथन था कि वे भविष्यवाणी कर सकते थे।

देवताओं को प्रसन्न करने के लिये मन्दिरों में बलि चढ़ाई जाती थी। कभी-कभी नर बलि भी होती थी। लोगों का विश्वास था कि बलि-प्रदान किये जाने पर देवता पर्याप्त वृष्टि करेंगे और अत्यधिक बाढ़ को रोकेंगे। भविष्य जीवन के विषय में सुमेरीय लोगों की के धारणा अत्यन्त अस्पष्ट थी। परन्तु वे नरक अथवा स्वर्ग में विश्वास नहीं करते थे। वे मृतकों को गाड़ते समय उनके प्रिय पदार्थों को भी गाड़ देते थे। उनकी धारणा थी कि ऐसा करने से मृत व्यक्ति प्रसन्न होगा। ऐसा विश्वास किया जाता था कि यदि मृतक की आत्मा असन्तुष्ट रही तो वह घर के ऊपर चक्कर लगायेगी और उसमें रहने वालों को परेशान करेगी। प्रेतात्मा के लिये वे कब्र अथवा मकबरे नहीं बनवाते थे।

सुमेरिया का समाज तीन प्रमुख वर्गों में विभाजित था (१) उच्च वर्ग, (२) मध्यम वर्ग, (३) निम्न वर्ग।

समाज की रचना

उच्च वर्ग :—में राज-वंश के सदस्य उच्च पदाधिकारी एवं पुरोहित लोग थे। द्वितीय वर्ग में सामन्त और व्यापारी थे और तृतीय वर्ग में कृषक तथा दास सम्मिलित थे। इसके अतिरिक्त समाज में सैनिक, विद्वान और कारीगर थे। दासों और स्वतन्त्र लोगों में बहुत कम अन्तर था किन्तु धनिकों और दीनों का भेद अत्यन्त स्पष्ट था। समाज में पुरोहित का पर्याप्त सम्मान था। वे प्राचीन ब्राह्मणों की भाँति विद्या, बुद्धि और ज्ञान के स्रोत समझे जाते थे। वे जनता को शिक्षा भी दिया करते थे। मन्दिरों से सम्बन्धित कुछ विद्यालय हुआ करते थे जिनका प्रबन्ध वे ही किया करते थे। विवाह-प्रथा स्थिर हो चुकी थी और समाज में स्त्री की अवस्था सन्तोषजनक थी। सुमेरिया के समाज में नारी को जो अधिकार प्राप्त थे वे बहुत बाद ही उन्नत यूनानी सामाजिक व्यवस्था में न थे। विवाह में जो दहेज प्राप्त होता था उसकी वह स्वामिनी होती थी और पति अथवा सयानों पुत्रों के अभाव में वह अपने परिवार का पूरा प्रबन्ध करती थी। साधारणतया पुरुष और स्त्री का एक ही विवाह होता था। कर्ज अदा करने के लिये पुरुष को अपनी स्त्री और बच्चों को बेच देने का अधिकार प्राप्त था।

विज्ञान के क्षेत्र में सुमेरीय लोगों ने महत्त्वपूर्ण प्रगति की। उनकी वैज्ञानिक प्रगति प्राचीन यूनान वासियों की शास्त्रीय विचार-पद्धति की उत्पत्ति न थी, वरन् विकसित आर्थिक, सामाजिक और रा[illegible] ने इसे जन्म दिया था। सुमेरिया निवासी ६० संख्या द्वारा ग[illegible] एक मिनट में

विज्ञान

६० सेकेन्ड होते थे, ६० मिनटों से एक घंटा होता था, और एक पौन्ड अथवा मिना में ६० शेकल होते थे। वृत्त को सर्वप्रथम उन्होंने ही (६०×६) ३६०° में विभाजित किया था। वर्ष में १२ महीने होते थे और उनके प्रत्येक माह में २९ अथवा ३० दिन होते थे। सुमेरियों ने जिस पंचांग का निर्माण किया था वह चन्द्रमा पर आधारित था, इसलिये कभी-कभी सूर्य की वार्षिक गति से इसे बराबर करने के लिये इसमें एक फालतू महीना जोड़ना पड़ता था।

ज्योतिष और खगोल विद्या के क्षेत्र में भी सुमेरीय जाति ने पर्याप्त उन्नति की। उन्होंने अनेक नक्षत्रों [illegible] अनुसन्धान किया और यह बतलाया कि उनकी गति का मनुष्यों के ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है। जब उन्होंने यह देखा कि सूर्य प्रतिदिन उदय होता है, शशि में लुप्त हो जाता है और प्रति वर्ष अपना [illegible] तब उन्होंने अपने आगे विचार किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि नक्षत्र भी किसी सुनिश्चित नियम के अनुसार ही [illegible] करते हैं। उन्होंने विभिन्न नक्षत्रों को पहचाना और उनके नाम भी अपने देवताओं के नाम के अनुसार [illegible] रोम वासियों ने इस प्रथा को उनसे ग्रहण किया और उन्हीं नक्षत्रों के नाम (Venus) शुक्र (Jupiter) बृहस्पति (Mars) मंगल (Mercury) बुद्ध और (Saturn) शनि रक्खे। सुमेरिया निवासी औषधि विज्ञान में अधिक उन्नति न कर सके क्योंकि उनका विश्वास था कि रोग शरीर से जादू-टोने द्वारा [illegible] बाहर किये जा सकते हैं।

सुमेरिया में एक विकसित कानून व्यवस्था विद्यमान थी। यह बाद के कानूनों से अधिक साधारण और कम कठोर थी। उदाहरणार्थ, व्यभिचार के लिये सेमेटिक कानून स्त्री को मार डालता था जब कि सुमेरीय कानून पुरुष को दूसरी स्त्री से विवाह कर लेने का आदेश देता था। कानून व्यापारिक और यौन सम्बन्धों का निर्णय करते थे। न्यायालय मन्दिरों में हुआ करते थे और न्यायाधीश प्रायः पुरोहित ही हुआ करते थे। सुमेरीय कानूनी व्यवस्था में हमें जो सर्व श्रेष्ठ और विशिष्ट तत्त्व दृष्टिगत होता है वह यह है कि उसमें मुकदमेबाजी को रोकने का विधान था। प्रत्येक मामला पहले एक पंच के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता था जो बिना न्यायालय की शरण में गये उसका निर्णय करता था। हम्मूराबी के कानून के अनेक तत्व सुमेरीय कानूनी व्यवस्था से लिये गये थे।

सुमेरिया की कानून-व्यवस्था

दजला फरात की घाटी की बाद वाली सभ्यता ने सुमेरिया की सभ्यता के अनेक तत्व ज्यों के त्यों ग्रहण कर लिये। सुमेरीय लिपि को हिट्टाइट और ईरान वासियों ने ग्रहण किया था। "बेबीलोनिया की सभ्यता सुमेरिया की पर्याप्त अंशों में ऋणी है। बेबीलोन के महान सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में उत्थान के एक सहस्र वर्ष से पूर्व जिस सभ्यता को इसने दूसरों को प्रदान किया उसने अपना विकसित रूप (सुमेरिया में ही) प्राप्त कर लिया था। यदि हम काव्य और आचार शास्त्र के क्षेत्रों को छोड़ दें तो बेबीलोन का सेमाइट जैसा कि दूसरे स्थानों पर एक चतुर अनुकरणकर्ता ही था, रचना करने वाला नहीं।"[1]

सुमेरिया की मानव सभ्यता को देन :

"सुमेरिया सभ्यता का वह प्राचीनतम केन्द्र है जहाँ पर वैज्ञानिक निरीक्षणों को स्थायी रूप से लिख लिया गया था, जिन में [illegible], न्यायशास्त्र, गणित और प्राकृतिक विज्ञान सम्मिलित हैं। हमारे वर्तमान ज्ञान की सीमा में यहाँ ([illegible]) हमें सब से प्राचीन राज्य और साम्राज्य, सिंचाई की सर्व प्राचीन व्यवस्था, मूल्य का माप निश्चित करने में सुवर्ण और चाँदी का सर्व प्रथम प्रयोग, सबसे प्राचीन व्यापारिक सट्टे, सबसे प्राचीन ऋण व्यवस्था, सर्व प्राचीन न्याय विधान, लेखन का विस्तृत पैमाने पर सबसे पहले प्रयोग किया जाना, सृष्टि और प्रलय की प्राचीनतम कथायें, सबसे प्राचीन पुस्तकालय और विद्यालय, आभूषणों और शृंगार की सामग्रियों का सब से पहला प्रयोग, प्राचीन स्थापत्य और उत्कीर्ण मूर्तियाँ, सबसे प्राचीन भवन और मन्दिर, प्राचीनतम अलंकृत पात्र और मेहराब, गुम्बद तथा गुम्बज का सब से पहले प्रयोग, दिखाई पड़ते हैं।"[2]

(ख) बेबीलोनियाँ की सभ्यता

प्राचीन बेबीलोन के [illegible] को देख कर आज कोई भी व्यक्ति यह विचार न करेगा कि दजला का तटवर्ती यह [illegible] और [illegible] भाग कभी इस जगत की महान सभ्यताओं का [illegible] जिसने [illegible] को जन्म दिया, [illegible] विज्ञान के [illegible] में [illegible], [illegible] की नींव डाली, सर्व प्राचीन विधिसंहिता को तैयार किया, गृहणियों को [illegible] और [illegible] विज्ञान के तत्व सिखाये, यहूदियों को एक पौराणिक कथा प्रदान की जिसे उन्होंने संसार को दिया और [illegible] अक्षरों की [illegible] वस्तु कला के ज्ञान का [illegible] किया जिसके द्वारा उन्होंने मध्य [illegible] की [illegible] का आरम्भ किया। बेबीलोनियों के निवासी सेमेटिक संस्कृति के थे और उन्होंने [illegible] का [illegible] आदि पर मेसोपोटेमिया पर अधिकार कर लिया। उन्होंने सुमेरिया और सेमेटिक तत्वों को एक सामान्य सांस्कृतिक [illegible] में [illegible] किया। इस नई सभ्यता का नाम बेबीलोन नामक नगर के कारण पड़ा। बेबीलोनियाँ की सभ्यता में सुमेरियन और सेमेटिक तथा अन्य विभिन्न तत्वों का सामंजस्य है।

---

1. A Short History of Civilization, Page 60 Thorndike द्वारा उद्धृत
2. Will Durant, Our Oriental Heritage, Page 134

राजनीतिक इतिहास

जब ३००० ईसवी पूर्व सुमेरिया का पतन प्रारम्भ हुआ अन्य जातियों ने इसका स्थान लेना आरम्भ किया। इन जातियों में अकादी प्रमुख थे। अक्कादियों ने मध्य मेसोपोटेमिया के उत्तरी भाग में अक्काद नामक नगर की स्थापना की। इनका राजा सारगन प्रथम था। वह महान योधा था। उसने सुमेरिया के कई नगरों पर अधिकार कर लिया। परन्तु संस्कृति के क्षेत्र में विजेता (अक्कादी) विजितों (सुमेरियों) से पर्याप्त पिछड़े रहे जिससे उन्हें सुमेरिया की संस्कृति को ही अपनाना पड़ा। लगभग २१०० ईसवी पूर्व एमोराइट नामक एक अन्य सेमेटिक जाति ने मेसोपोटामिया में एक अन्य राजवंश की स्थापना की। इस वंश का सब से प्रमुख शासक हम्मूराबी था, जो महान योधा होने के साथ साथ न्यायप्रिय शासक और विधान संहिता का निर्माण करने वाला सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति था। इस राजा ने बुद्धिमत्ता पूर्ण और न्याय पूर्ण तरीकों से शासन किया, उसने फरात नदी को नाव्य बनाया और पंचांगको सुधारने का प्रयत्न किया। उसके शासन काल के और तत्कालीन सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के विषय में हमें उसके पत्रपत्र पत्रों और विधान संहिता से काफी ज्ञान प्राप्त होता है। उसकी विधान संहिता का प्राचीनतम इतिहास में इतना महत्वपूर्ण स्थान है कि उस पर अलग से प्रकाश डालना अत्यन्त आवश्यक है।

हम्मूराबी की विधान-संहिता

कानूनों का यह संग्रह विशाल पाषाण स्तम्भ पर उत्कीर्ण किया गया है। इसमें २८२ धारायें हैं। पाषाण स्तम्भ में हम्मूराबी को सूर्य देवता से ये कानून लेता हुआ प्रदर्शित किया गया है। कदाचित् हम्मूराबी अपनी प्रजा को यह बताना चाहता था कि उसके कानून दैवी हैं। विधान संहिता में हमें कुछ बातें नितान्त प्राथमिक प्रतीत होती हैं, परन्तु कुछ ऐसे कानून [illegible] आधुनिक प्रतीत होते हैं। मुकदमों का फैसला करने के लिये न्यायाधीश नियुक्त होते थे, और राजा के यहाँ सब मामलों की अपील की जा सकती थी। एक कानून में यह स्पष्ट लिखा है कि निर्धनों, विधवाओं तथा अनाथों को न्याय प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार है। परन्तु "जैसे को तैसा" वाला नियम असंगत प्रतीत होता है। एक नियम के अनुसार यदि मकान गिर जाय और मकान मालिक का पुत्र दब कर मर जाय, तो मकान मालिक को यह अधिकार होगा कि [illegible] मकान को बनाने वाले के पुत्र को राज्य द्वारा मृत्यु दंड दिलावे। एक अन्य कानून में कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति किसी [illegible] फोड़ता है तो उसकी आँख फोड़ दी [illegible] [illegible] प्राण दंड एक साधारण बात थी। व्यभिचार करते हुए पकड़े जाने पर [illegible] दास की हत्या करने पर कठोर दंड दिया जाता था। कुछ ऐसे कानून हैं [illegible] मालूम पड़ते हैं। जान बूझ कर जो अपराध किया जाता था और जो अपराध [illegible] को विधान संहिता में भली भाँति समझाया गया है। कभी कभी कुछ [illegible] मामलों का फैसला [illegible] सावधानी से किया जाता था। ऋण लेने वालों के साथ प्रायः उदारता का व्यवहार होता था। यदि [illegible] महाजन ने किञ्चिन्मात्र भी बेईमानी की है तो वह उसे कठोर दंड देता था। हम्मूराबी के [illegible] स्पष्ट पता लगता है कि वह विधान संहिता के नियमों को [illegible] करने के लिये प्रयत्नशील रहता था। [illegible] संहिता से बेबीलोनियों की समाज रचना पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

समाज की रचना

बेबीलोनिया समाज तीन श्रेणियों में विभक्त था। न्याय के सम्मुख सब व्यक्तियों को समान अधिकार प्राप्त न था। सर्वोच्च श्रेणी में वे लोग थे जो [illegible] किये गये शारीरिक आघातों का [illegible] और जिनको अन्य मामलों में अधिक हानि उठानी पड़ती थी तथा अधिक कर देना पड़ता था। इसके उपरान्त मध्यम श्रेणी में वे लोग आते हैं जिनको अपनी चोटों के लिये कम [illegible] पड़ता था, जब कि उन्हें अपने अपराधों के लिये [illegible] और जो अपनी दरिद्रता के कारण कम कर देते थे। तीसरी श्रेणी में दास थे जो अपने स्वामियों की सम्पत्ति समझे जाते थे। दासों के साथ प्रायः दुर्व्यवहार नहीं किया जाता था। कभी कभी उनके स्वामी उन्हें व्यापार में लगा देते थे और लाभ का कुछ प्रतिशत उन्हें दे देते थे, जिससे वे कुछ दिनों बाद स्वतन्त्र हो जाते थे। कुछ परिस्थितियों

में एक दास किसी स्वतन्त्र स्त्री से विवाह कर सकता था और जो सन्तान उत्पन्न होती थी वह स्वतन्त्र होती थी। समाज में पुरोहित, सामन्तों और उच्च पदाधिकारियों के अतिरिक्त बहुत से कारीगर भी थे। जुलाहे, रंगरेज, बढ़ई, ईंट बनाने वाले, सुवर्णकार, जौहरी, कुम्हार, दरजी और धातु का काम करने वाले लोग समाज में विद्यमान थे और उनके अधिकारों की सम्यक् रक्षा की जाती थी।

समाज में नारियों का स्थान उच्च था। लोग विवाह प्रायः एक ही करते थे, यद्यपि स्त्री के वन्ध्यापन के कारण पुरुष अन्य स्त्री को रख सकता था। ऐसी अवस्था में पत्नी के अधिकारों में कोई कमी नहीं आने दी जाती थी। तलाक के सम्बन्ध में स्त्रियों को पुरुषों के बराबर ही अधिकार प्राप्त थे। पुरुष अपनी पत्नी की दीर्घकालीन रुग्णावस्था से ऊब कर उसे तलाक दे सकता था। विधवाओं और अनाथों के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार किया जाता था। "बेबीलोनिया के समाज में विवाहिता नारियों की स्थिति न केवल प्राचीन समाज में अद्वितीय थी वरन् उसकी तुलना, स्वतन्त्रता और समानता के सम्बन्ध में आधुनिक योरप के बहुत से देशों के नारी-वर्ग की स्थिति से की जा सकती है[1]।" उच्च श्रेणी की अविवाहित नारियाँ व्यापार कर सकती थीं और सम्पत्ति की अधिकारिणी बन सकती थीं। उन्हें मन्दिर की पुजारिणी बनने का अधिकार प्राप्त था और इस प्रकार वे आजन्म कुमारी रह सकती थीं।

पर्याप्त विकसित अवस्था में कृषि ही, बेबीलोनीय समाज की आर्थिक व्यवस्था का आधार थी। प्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस ने लिखा था "उन सब देशों को, जिन्हें हम जानते हैं, कोई ऐसा नहीं है जो अन्न उत्पन्न करने में इतना समृद्ध है। यह इतना समृद्ध है कि साधारणतः यह दो सौ गुना उत्पन्न करता है। गेहूँ के पौधों और जौ के पौधों की नोक बहुधा चार अंगुल चौड़ी होती है।" वृष्टि का काल और ऋतु के निरंतर परिवर्तनशील रहने के कारण सिंचाई की उचित व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक थी। सिंचाई की सुविधायें प्रस्तुत करना राज्य का काम था और राज्य की ओर से उसका प्रबन्ध था। मैसोपोटेमिया में ही अंगूर और जैतून सर्वप्रथम उत्पन्न किये

आर्थिक जीवन

गये थे, और बाद में इनकी खेती को यूनानियों और रोमवासियों ने यहीं से सीखा। फलों और सब्जी के उद्यान बहुत थे, खजूर उत्पन्न करने पर बहुत जोर दिया जाता था। कदाचित मैसोपोटेमिया के लिये खजूर जितना आवश्यक था उतना आवश्यक गेहूँ भी प्राचीन मिस्र के लिये नहीं था क्योंकि खजूर से चीनी, आटा, फल, मदिरा, रस्सी और ईंधन तथा कठोर लकड़ी प्राप्त होती थी जिसका प्रयोग मकान बनाने में किया जाता था। खजूर उत्पन्न करने वाला किसान पाँच वर्षों तक के लिये लगान से मुक्त कर दिया जाता था। पशु-पालन तथा दूध का धन्धा विकसित दशा में था। मांस कम खाया जाता था, परन्तु मछलियाँ बहुतायत से होती थीं।

यद्यपि बेबीलोनिया की आर्थिक व्यवस्था में कृषि को प्रमुख स्थान प्राप्त था तथापि उद्योग-धन्धों की काफी उन्नति हो चुकी थी। बेबीलोनिया वालों ने भूगर्भ से तेल, ताँबा, सीसा, लोहा, चाँदी और सोना आदि खोद निकाला था। इन धातुओं से हथियार, औजार और आभूषण बनते थे। धातुओं के सामान, चमड़े की वस्तुएँ, मिट्टी के बरतन, मेज कुरसी, ऊनी और सूती कपड़े, एक विशेष प्रकार का वस्त्र जिसे 'सिन्धु' कहते थे, बेबीलोनीय

उद्योग-धन्धे

कारीगरों की मुख्य उपजें थीं। कारीगर की दूकानों में प्रायः एक दास अथवा शिक्षा प्राप्त करने वाला युवक होता था जो उसे सहायता प्रदान करता था। कुछ ही उद्योग-धन्धों की श्रेणियाँ संगठित पायी थीं और कुछ बड़े पैमाने पर किन्हीं किन्हीं उद्योगों के कारखाने से बन गये थे जिनका संचालन राज्य अथवा मन्दिरों द्वारा होता था। इन कारखानों में बहुत से दास नौकर रक्खे जाते थे।

विदेशी व्यापार बहुधा काफिलों द्वारा होता था। नौकायें बहुत छोटी होती थीं। सुमेर और अक्काद से व्यापार

[1] Lynn Thorndike द्वारा उद्धृत A Short History of Civilization Page, 68.

अत्यन्त समृद्ध था। एशिया के पूर्वी देशों, पश्चिमी एशिया और भूमध्यसागर के देशों तक व्यापार होता था। कच्ची धातु, देवदार तथा अखरोट और मकान बनाने के सामान मँगाये जाते थे और अन्न वस्त्र, सूखी मछली और धातुओं के सामान आदि प्रमुख निर्यात सामग्रियाँ थीं। व्यापारी वर्ग ने प्रमुख नगरों में अपनी शाखायें स्थापित कर ली थीं। आन्तरिक व्यापार बैलगाड़ियों द्वारा होता था। व्यापार में सिक्कों का प्रयोग अभी नहीं होता था। वस्तु विनिमय ही व्यापार का प्रमुख माध्यम था, परन्तु मिस्र और सुमेरिया की भाँति चांदी और सोने के अनाज (जौ आदि) के आकार के टुकड़ों से विनिमय का काम चलता था। क्रय-विक्रय के सभी मामले गवाहों के सामने होते थे। इस बात के अनेक साक्ष्य हैं कि राजकीय अफसर मूल्य निर्धारण और सूद की दर निश्चित करने का सतत प्रयत्न करते थे, यद्यपि उनको सफलता बहुत कम मिलती थी।

व्यापार

बेबीलोनिया के लोग बहुदेववाद में विश्वास करते थे। उनकी यह धारणा थी कि उनके देवता उन्हीं की भाँति हाड़-माँस के बने जीव हैं और उनमें वे ही गुण-दोष हैं जो मनुष्य में होते हैं। बेबीलोनिया वाले सुमेरीयों की भाँति देवताओं को कुछ विशेष शक्ति-सम्पन्न समझा करते थे और वे यह विश्वास करते थे कि अपनी क्षमा-शीलता के ही कारण वे मनुष्यों से कुछ ऊपर उठे हैं। उनका यह विश्वास था कि देवता प्रत्येक अवस्था में उनके अपराधों को क्षमा कर देंगे। उन्हें प्रसन्न करने के लिये मन्दिरों में बलि-प्रदान की जाती थी। बेबीलोनिया वालों ने सुमेरिया वासियों के कई देवताओं को अपनाया था और कुछ अन्य नवीन देवता भी हो गये। पुराने देवताओं में अनु (आकाश के देवता) शमश (सूर्य) नन्नर (चन्द्रमा) बेल अथवा बाल (पृथ्वी) आदि थे। नवीन देवों में एनलिल, इश्तर और मारदुक मुख्य थे। मारदुक उनका राष्ट्रीय देवता था और समस्त देवों से अधिक प्रभावशाली समझा जाता था। देवताओं के निवास के लिये मन्दिरों का निर्माण कराया जाता था, पुजारियों का समुदाय बन चुका था। समाज में इनका प्रभाव और मान था।

धर्म

बेबीलोनिया वासियों की पूजा का मुख्य उद्देश्य यही होता था कि वे देवताओं की कृपा प्राप्त कर भौतिक सुख के भागी हों और उनके क्रोध से बचे रहें। उनकी पूजा में भक्ति और श्रद्धा का प्रायः अभाव था। व्यापार-बुद्धि और स्वार्थ-भावना का प्राधान्य था। किन्तु उनके कतिपय पूजा-गीतों में हमें भक्ति-भावना का आभास मिलता है।

> "जो पाप मैंने किया मैं नहीं जानता,
> मेरे देव ने मुझे क्रोधित होकर दर्शन दिया,
> मैंने सहायता की याचना की, परन्तु किसी ने मेरा कर न पकड़ा,
> मैं रोया, परन्तु किसी ने न सुना,
> मैं अपने देवता, दयालु देवता, की शरण में जाकर प्रार्थना करता हूँ,
> ऐ प्रभु ! कब तक !
> ऐ देव ! अपने इस दास को भूल मत जा-
> बल्कि मेरे पाप को एक वरदान में बदल दे।"[1]

बेबीलोनिया के लोग भावी-जीवन के विषय में अपेक्षाकृत कम विचार करते थे। वे इस जीवन को ही सुखमय बनाने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। उनका यह विश्वास था कि कुछ पुरोहितों को देवतागण भावी जीवन के विषय में बतलाने की क्षमता प्रदान कर देते थे। बलि दिये जाने वाले भेड़ के हृदय पर अंकित रहस्यमय चिन्हों का, नक्षत्रों और तारों का निरीक्षण कर पुरोहित मनुष्य के भविष्य जीवन की घटनाओं को बतला देते थे। बेबीलोनिया

[1] Swain द्वारा उद्धृत, A History of Civilization

वासियों के धर्म की कुछ बातें हमें अशिष्ट एवं असंगत लगती हैं। प्रत्येक सन्तान चाहने वाली स्त्री को इश्तर के मन्दिर में जाकर कुछ समय के लिये अपने को किसी अपरिचित के हाथों समर्पित करना पड़ता था। उसकी वेश्या वृत्ति से प्राप्त होने वाला धन मन्दिर के काम में आता था। बहुधा पुरोहित ही अपरिचित बन जाया करते थे। बेबीलोनिया वासियों की यह कल्पना थी कि संसार में अनेक दैत्य हैं जो कभी-कभी देवताओं को भी अपने अत्याचारों से त्रस्त कर देते हैं। यही कारण था कि उनकी पूजा में स्नेह की भावना कम थी और वे प्रायः भयत्रस्त रहा करते थे। पाप के विषय में उनकी धारणा अत्यन्त साधारण थी। बहुदेववाद को छोड़ कर वे कभी भी एकेश्वरवाद तक नहीं पहुँच सके।

मानव-सभ्यता को बेबीलोनिया की एक प्रमुख देन इस बात में है कि उसने साहित्य के क्षेत्र में महाकाव्य को जन्म दिया। गिलगेमिश महाकाव्य बेबीलोनिया की मुख्य साहित्यिक कृति है। इस महाकाव्य में बारह अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में वर्णित घटनायें वर्ष के एक माह तक चलती हैं और इस प्रकार वे ऋतु-परिवर्तन के अनुकूल भी हैं बेबीलोनिया का वर्ष वसंत से प्रारम्भ होता है। छठे अध्याय में इश्तर महाकाव्य के नायक गिलगेमिश के सम्मुख विवाह का प्रस्ताव रखती है किन्तु वह प्रस्ताव ठुकरा दिया जाता है। इसी अध्याय में गर्मी का अन्त होता है। इस व्यवहार के लिये गिलगेमिश को एक भयंकर रोग के चंगुल में फंस जाना पड़ता है और "जब जाड़ा आता है" वह मृत्यु से बचने के लिये निराश होकर इधर उधर घूमता है। मुख्य कथा वस्तु के साथ कई अन्य घटनायें जुड़ी हुई हैं। कदाचित कोई भी आधुनिक उपन्यासकार अथवा नाटककार इतनी वेदनापूर्ण कथा को प्रस्तुत करने का साहस कम करेगा। सम्पूर्ण महाकाव्य में मानव जीवन के संघर्षों का सजीव वर्णन किया गया है। यद्यपि यह प्रमुखतः एक धार्मिक काव्य है, तथापि इसमें युद्ध, शासक की उदासीनता और साहसपूर्ण कार्यों का भी उल्लेख है। इसके कुछ स्थल अत्यन्त सुन्दर और हृदयस्पर्शी हैं।

साहित्य और लिपि

महाकाव्य के अतिरिक्त पूजा, गीता और उपदेशों के रूप में बहुत सा साहित्य मिलता है। कथाओं द्वारा शिक्षा देने का प्रयास भी किया जाता है। कथाओं में पशुओं को अर्धमानव रूप दिया जाता था, और नैतिक शिक्षा अवश्य दी जाती थी। वाक्य खंडों द्वारा शिक्षा प्रदान करना भी काफी प्रचलित था। कुछ वाक्य इस प्रकार हैं :

"भद्दे पन और घृणा से दूर रहो",

"सार्वजनिक स्थान पर बोलने में शीघ्रता मत करो",

"अपने से उत्तम लोगों के हितों की सम्यक् रक्षा करो",

"एक रोग के लिए कोई चिकित्सक नहीं है, वह रोग है पेट भरने के लिये भोजन का अभाव"

बेबीलोनिया वासियों ने सुमेरियों की ही लिपि को अपना कर उसमें किंचित सुधार किया। परन्तु उन्हें वर्णज्ञान न था। उनकी लिपि में वर्णमाला का प्रयोग नहीं होता था। ३०० शब्द चिह्न थे, जिनको याद करना अत्यन्त आवश्यक था। लेख मिट्टी के तख्तों पर लिखे जाते थे। समाज में लेखकों का सम्मान था, यह बात इस वाक्य खंड से पुष्ट होती है, "जो लिखने में प्रवीण हैं वे सूर्य के समान चमकेंगे"। लिखना सिखाने के लिये पाठशालायें होती थीं, जिनमें विद्यार्थियों को लिखने तथा पढ़ने की शिक्षा दी जाती थी। नबू बेबीलोनिया की समस्त विद्याओं का देवता था जिसकी उपासना की जाती थी।

कला

बेबीलोनिया की वास्तुकला के विषय में हमें विशेष ज्ञान नहीं है क्योंकि वहां के प्राचीन भवन प्रायः नष्ट हो चुके हैं। साहित्यिक कृतियों में मन्दिरों के जो वर्णन मिलते हैं उनसे ही हमें थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त होता है। जिगुरत यहां की वास्तु कला का सबसे सुन्दर नमूना है। यह मन्दिरों के निकट बना हुआ मीनार की तरह एक स्तम्भाकार भवन होता था। इसमें कई तल्ले होते थे जो क्रमशः ऊपर पतले होते जाते थे। इसका मुख्य कमरा देवस्थान था जहां पर देवता उन लोगों से मिलता था जो उसके प्रति भक्ति प्रदर्शित करने

आते थे। कुछ अन्य कमरे भी होते थे, जिसमें दूसरे धार्मिक कृत्य किये जाते थे। मन्दिर की दीवालों को आकर्षक बनाने के लिये सुन्दर गलीचों और रंगे हुये पत्थरों से उन्हें ढंक दिया जाता था।

बेबीलोनिया वासियों की स्थापत्य कला मिस्री स्थापत्य की तुलना में हीन थी। वे मिश्रित रूप में रेखाओं द्वारा मनुष्यों और पशुओं की आकृतियां खींचते थे जिससे मूर्तियों में स्पष्टता और सौन्दर्य का अभाव होता था। उनकी मूर्तियों में अभिव्यक्ति और आकर्षण का विकास न हो सका। उनकी सभी मूर्तियों में शरीर का आकार विशाल और भारी है, किन्तु उनमें वैचित्र्य और व्यन्जना का अभाव है। बेबीलोनिया में चित्रकला का भी स्वतन्त्र रूप से विकास न हुआ। मन्दिरों की दीवालों और मूर्तियों के रंगने में चित्रकारी का प्रयोग होता था। संगीत पर्याप्त विकसित अवस्था में था। मन्दिरों और धनी परिवारों में गाना बजाना होता था। धनिकों की दावत आदि में गाना बजाना आवश्यक समझा जाता था। बांसुरी, बीन, मशक, बाजा, तुरही, भोंपू, ढोल, वीणा, मजीरा और खंजरी आदि थे। विभिन्न प्रकार वाद्य-यन्त्र थे।

धातुओं से बेबीलोनिया वाले आभूषण बनाना जानते थे। सोने, चांदी और अन्य बहुमूल्य धातुओं के आभूषण बनते थे, किन्तु उनमें मिस्र के आभूषणों की भांति कला न थी। इसके अतिरिक्त श्रृङ्गार-प्रसाधन और विलास की अन्य सामग्रियां बनती थीं। चमकीले टाइल्स और पत्थर, जरी के कपड़े, मुलायम कम्बल, भड़कीले और रंगे हुये वस्त्र, बहुमूल्य परदे, सुन्दर चारपाइयां, टेबिल, कुर्सी आदि वस्तुयें बेबीलोनिया की सभ्यता को सुशोभित करती थीं। सुमेरिया वासियों की मुहर निर्माण-कला को इन्होंने पर्याप्त रूप में विकसित किया।

विज्ञान

व्यापारिक होने के कारण बेबिलोनिया वाले कला की अपेक्षा विज्ञान में अधिक उन्नति कर सके। व्यापार ने गणित को जन्म दिया, और कारवां तथा समुद्री व्यापारियों की आवश्यकता ने ज्योतिष को। बेबीलोनिया के पुरोहितों ने न्यायाधीश, कृषिकर्ता और भविष्य वक्ता के रूप में कार्य करके उन विज्ञानों की नींव डाली जिसका पूर्ण विकास प्राचीन संसार में इहलौकिक दृष्टिकोण वाले यूनानियों द्वारा ही हुआ। बेबीलोनिया के पुरोहित पंचांग से मास को निश्चित करने के लिए नक्षत्रों का ध्यानपूर्वक अवलोकन करते थे और साथ ही साथ लोगों के भावी जीवन की घटनाओं को बताने के लिये अन्य ग्रहों और नक्षत्रों की गतियों को जानने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार खगोल विद्या का खूब विकास हुआ और इसीलिए बेबीलोनिया को "खगोल विद्या की माता" की उपाधि प्राप्त हुई है। ज्योतिष में बेबीलोनिया वालों का खगोल विद्या की अपेक्षा अधिक विश्वास था। उनको यह धारणा थी कि प्रत्येक नक्षत्र एक देवता है जो मनुष्यों के मामलों में अभिरुचि रखता है और उसकी अपनी गति विधि को निश्चित करता है। प्रत्येक तारे की गति किसी न किसी आगामी घटना को निश्चित या सूचित करती थी। उदाहरण के लिये, यदि चन्द्रमा नीचा है तो कोई सुदूर देश राजा के अधीन होगा और यदि चन्द्रमा ऊँचा पर है तो राजा शत्रु को पराजित करेगा। इसी ज्योतिष से शनैः शनैः खगोल-विद्या का विकास हुआ। ईसा के २००० वर्ष पूर्व ही बेबीलोनिया वालों ने शुक्र ग्रह के उदय और अस्त का ठीक ठीक पता लगाया था। वे विभिन्न नक्षत्रों की स्थितियों को जान चुके थे। इस विद्या का विकास बाद में नेबूचेडेनजार नामक शक्तिशाली राजा के शासन-काल में हुआ।

गणित के क्षेत्र में भी बेबीलोनिया वालों ने उल्लेखनीय प्रगति की। उन्होंने वृत्त को ३६०° में विभाजित किया और वर्ष को ३६० दिनों में। इसी के आधार पर गुणा करने की [illegible] पद्धति का विकास हुआ जिसमें ६० से गुणा किया जाता था। गणना के लिए उन्होंने तीन अंकों का आविष्कार किया था १, १० और १००। इन्हीं के जोड़ने और घटाने से बड़ी संख्यायें बना ली जाती थीं। गुणा, भाग, वर्ग, घन, आधा, तिहाई और चौथाई आदि का इन्हें ज्ञान था। विषम खेतों और भूखंडों की ठीक ठीक नाप ज्यामिति की सहायता से कर ली जाती थी। बेबीलोनिया वासियों ने वर्ष को बारह चन्द्रायण मासों में विभक्त किया था। इस वर्ष में ३५४ दिन ही होते थे, इसलिए उन्हें एक फालतू महीना जोड़ना पड़ता था। दिन की गणना मध्य रात्रि से नहीं बल्कि सूर्योदय से की जाती थी। दिन १२

घन्टों में विभक्त था और प्रत्येक घन्टे में ३० मिनट होते थे। चिकित्सा विज्ञान की उन्नति विशेष न हो सकी क्योंकि लोगों का विश्वास जादू टोने में अधिक था, हाँ उनकी सभ्यता में इस विज्ञान को कुछ स्थान अवश्य प्राप्त था।

बेबीलोनिया की सभ्यता के उपहार

मिस्र की सभ्यता की भाँति बेबीलोनिया की सभ्यता मानवता के लिये फलवती न थी, न भारतीय सभ्यता के समान वह वैचित्र्यपूर्ण गम्भीर थी, और न तो चीनी सभ्यता की भांति सूक्ष्म तथा परिपक्व ही थी। परन्तु फिर भी उसने मानव सभ्यता को कुछ अमूल्य उपहार प्रदान किये और उसके विकासपथ को प्रशस्त करने में महत्वपूर्ण योग दिया। दक्षिणी-पश्चिमी एशिया के अधिकांश देशों और यहाँ तक कि यूनान के ऊपर बेबीलोनिया का पर्याप्त ऋण है। बेबीलोनिया वालों ने लम्बाई, समय, तौल और धन इत्यादि के माप के लिये इकाइयों का विकास किया। उनके समय-विभाजन का प्रयोग हम आज भी करते हैं। "हमारे मास का विभाजन चार सप्ताहों में, हमारी घड़ी का बारह घंटों में (चौबीस घंटों के स्थान पर) हमारे घंटे का ६० मिनटों में और हमारे मिनट का विभाजन साठ सेकंडों में निस्सन्देह हमारे समकालीन संसार में बेबीलोनिया के ही अवशेष हैं"[1]। साहित्य में बेबीलोनिया वालों ने महाकाव्य कथाओं, कहावतों, और पश्चातापसूचक गीतों का जन्म दिया। यह कहा जा सकता है कि उनके आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक निरीक्षणों द्वारा ही विज्ञान का वास्तविक सूत्रपात्र किया गया। उन्होंने गणित, ज्योतिष, खगोल-विद्या, पुरातत्व, इतिहास, चिकित्सा-विज्ञान, व्याकरण, कोशरचना शास्त्र और दर्शन की नींव डाली। यहूदियों ने अपनी पौराणिक कथायें बेबीलोनिया की सभ्यता से ही ग्रहण कीं और यूनानियों ने भी विभिन्न शास्त्रों के आधारभूत तत्व मिस्र से नहीं अपितु बेबीलोनिया से प्राप्त किये। धातुओं और ग्रहों के नाम, तौल और वजन तथा वाद्य-यन्त्रों और अनेक औषधियों के यूनानी शब्द बेबीलोनीय शब्दों के अनुवाद-मात्र ही हैं। यद्यपि यूनानियों ने अपनी वास्तुकला के रूप और आकार मिस्र और क्रीट से ग्रहण किये, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि वास्तु के क्षेत्र में बेबीलोनिया वासियों की कोई देन नहीं है। मुसलमानों की मस्जिदें, मध्यकालीन कला की मीनारें तथा अमेरिका की वास्तु-कला के कुछ आधुनिक रूप बेबीलोनिया के जिगुरत के ही नमूने पर बने हैं। संगीत का विकास बेबीलोनिया में बहुत पहले हो चुका था और वहां के निवासी विभिन्न वाद्य यंत्रों को बजाते थे। इसी प्रकार वे कई विलास सामग्रियों का प्रयोग भी कर रहे थे, जब ये वस्तुयें अन्य देशों में दुष्प्राप्य थीं। वे बहुत सी वस्तुयें जो अभी तक काफी बाद की समझी जाती थीं, अब उनका स्रोत बेबीलोनिया में ही खोजा जाता है।

(ग) असीरिया

यदि हम इस साम्राज्यवादी-दृष्टिकोण को स्वीकार करें कि शान्ति, सुव्यवस्था, कानून और व्यापार फैलाने के लिये सदैव परस्पर लड़ते रहने वाले राज्यों का एक सुव्यवस्थित और शक्तिशालिनी सरकार के अधीन एकीकरण आवश्यक है तो हमें असीरिया के साम्राज्य-निर्माण को उचित मानना पड़ेगा क्योंकि इसने पश्चिमी एशिया में वह सुव्यवस्था और समृद्धि स्थापित की जो इसके पहले इस प्रदेश में इतने विस्तृत पैमाने पर कभी नहीं हुई थी। असुर बनिपाल की सरकार असीरिया, बेबीलोनिया, मीडिया, फिलस्तीन, सीरिया, फिनीशिया, सुमेरिया, एलम और मिस्र के सुविस्तृत भूभाग पर शासन करती थी। इतने विशाल प्रदेश पर एक ही केन्द्रीय शासन की स्थापना अभी तक कभी नहीं हुई थी, परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि इस साम्राज्य की संस्थापना तीव्रतम हिंसा और उत्कट सैनिक शक्ति द्वारा हुई थी, इसलिये यह शक्तिशाली साम्राज्य अधिक दिनों तक न टिक सका और विनाश को प्राप्त हुआ।

दजला नदी के तट पर स्थित असुर नामक एक नगर है, इसी नगर के नाम पर असीरिया राज्य का नाम पड़ा। असीरिया राज्य की स्थापना करने वाले सेमेटिक जाति के ही लोग थे। इस राज्य की स्थापना तो ईसा से तीन हजार

[1] Will Durant: Our Oriental Heritage, Pp. 257-258.

राजनीतिक इतिहास

वर्षों से पूर्व सुमेरिया के पतन के पहले हो चुकी थी और असीरिया के लोग हिट्टाइटों से लड़ते थे, तथा अश्व और लौह की सहायता से इन्होंने अपने राज्य का विस्तार भी किया, लेकिन इनके विशाल साम्राज्य की वास्तविक नींव डालने वाला सारगान द्वितीय (Sargon II) (७२२-७०५ ई० पू०) था जिसने असीरिया को परम शक्तिशाली बनाया। उसके पुत्र सेनाकरिब (Sennacharib) (७०५-६८१ ई० पू०) ने अपने पिता से भी अधिक सफलता प्राप्त की और चैल्डियों (Chaldeans) बेबीलोनियों और यहूदियों का दमन किया। उसने निनवे नामक नगर को अपनी राजधानी बनाया। उसका पौत्र असुर बेनिपाल था जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वह विजेता होने के साथ-साथ विद्वानों और कलाकारों का आश्रय दाता भी था। उसके जीवन-काल में ही उस के साम्राज्यरूपी नभ-मंडल पर आपत्ति सूचक-बादल मंडराने लगे थे और पारिवारिक झगड़ों से उसका चित्त विकल रहने लगा था, जिसका उल्लेख उसने अपने एक उत्कीर्ण लेख में किया है। उसकी मृत्यु के अनन्तर साम्राज्य के पतन की गति द्रुततर हो गई और ईसा से ६०६ ई० पू० उसका चैल्डियों द्वारा पूर्ण विनाश कर दिया गया।

असीरिया की सभ्यता

असीरिया वालों की सभ्यता के क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण देन नहीं है। वस्तुतः उनकी प्रतिभा मौलिक न थी जिससे वे सभ्यता के तत्वों को जन्म दे सकते अथवा उनका विकास ही करते। उन्होंने बेबीलोनिया की सभ्यता को ही लगभग पूर्णरूप से ग्रहण किया और उसका उपभोग किया। सेना सम्बन्धी विषयों में और शासन-व्यवस्था में अवश्य उनकी देन महत्वपूर्ण है।

आर्थिक जीवन

असीरिया का आर्थिक जीवन सुमेरिया और बेबीलोनिया के आर्थिक जीवन से विशेष भिन्न नहीं था, क्योंकि अनेक विषयों में वे एक सामान्य सभ्यता के उपासक थे। बेबीलोनिया अधिक व्यापारिक था और असीरिया अधिक कृषि प्रधान; बेबीलोनिया के प्रमुख निवासी धनी व्यापारी थे और असीरिया के धनी भूमिपति थे, जो क्रय-विक्रय द्वारा धनोपार्जन को घृणा की दृष्टि से देखते थे। यद्यपि निनवे अधिक उत्तर में होने के कारण प्रमुख रूप में एक व्यापारिक नगर न हो सका तथापि असीरिया के शासक विदेशों से जो अतुल धन-सम्पत्ति लूट कर लाते थे उनकी सहायता से उन्होंने बहुत से उद्योग-धन्धों का विकास किया। धातुओं का प्रचुर प्रयोग होता था और ७०० ईसवी पूर्व के लगभग उद्योग-धन्धों में तथा शस्त्र निर्माण के कार्य में ताम्र के स्थान पर लौह का प्रयोग होने लगा। असीरिया का उद्योग-धन्धा मध्य-कालीन श्रेणी-उद्योग से अधिक मिलता जुलता था। विभिन्न उद्योग संगठित हो गये थे और नगर के किसी सुनिश्चित भाग में अनेक कारखाने थे। श्रेणी में सम्मिलित होने के लिये कुछ दिनों तक उद्योग की शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक था। राजा की ओर से बहुत से कुशल कारीगर [illegible] के ऊपर से उठा लिये जाते थे और उनकी रक्षा का शासन की ओर से प्रबन्ध रहता था। फलतः यह होता था कि औद्योगिक नगरों के निवासी शासन शक्ति का समर्थन करते थे। श्रेणी-अध्यक्ष बहुधा शासकों से महत्वपूर्ण विषयों पर वार्तालाप करते थे। सोना, चाँदी, ताँबा, सीसा विनिमय और सिक्के के काम में आते थे। चाँदी के आधे शेकेल नामक सिक्के ७०० ई० पू० के यहाँ पाये गये हैं जो कदाचित संसार में सब से प्राचीन सरकारी सिक्के हैं। कृषि राज्य की आर्थिक-व्यवस्था की आधार-शिला थी। कहीं-कहीं पर सिंचाई आवश्यक थी और इसके लिये राज्य की ओर से जो सुविधायें दी जाती थीं उन पर नियन्त्रण राज्य का ही होता था। हलों का प्रयोग होता था जिनको बैल खींचते थे। गेहूँ, जौ, जैतून, अंगूर और शाक-भाजियाँ उत्पन्न की जाती थीं। अल्फाफा की कृषि विस्तृत रूप से होती थी और सिनाकेरिब के एक वाक्य से जो तख्ते पर लिखा है यह विदित होता है कि कपास की उपज होती थी। असीरिया वासियों ने कपास की खेती भारतीयों से सीखी थी।

असीरिया की सभ्यता दास-प्रथा के आधार पर बनी थी परन्तु दासों के साथ निर्दयता का व्यवहार नहीं किया जाता था। नागरिक तीन भागों में विभाजित थे : सामन्त तथा पुरोहित, कारीगर और व्यापारी, एवं सर्वसाधारण।

सामाजिक जीवन

सामन्तों का जीवन विलासमय होता था। शिल्पी विभिन्न श्रेणियों में संगठित थे। सर्वसाधारण का जीवन विशेष सुखमय न था। समाज में स्त्रियों को वह सम्मान पूर्ण स्थान नहीं प्राप्त था जो बेबीलोनिया के समाज में था। उन्हें बहुधा परदे के भीतर ही रहना पड़ता था और बाहर आने-जाने की स्वतंत्रता नहीं प्राप्त थी। यद्यपि उनके पति खुले आम रखैलियों और स्त्रियों का उपभोग करते थे, तथापि उनसे पूर्ण पतिभक्ति और सतीत्व-रक्षा की आशा की जाती थी। राजाओं के अन्तःपुर में भी बहुत सी स्त्रियाँ रहती थीं जो प्रायः पराधीनता-पूर्ण जीवन ही व्यतीत करती थीं। वेश्यावृत्ति के प्रचलन को राज्य अनिवार्य समझता था और राज्य की ओर से उसका नियन्त्रण होता था। कन्यायें खरीदी जाती थीं, बहुधा पत्नी अपने माता-पिता के ही साथ रहती थी जहाँ उससे मिलने के लिये उसका पति प्रायः चला जाया करता था।

असीरिया निवासी शासन-प्रबन्ध के मामलों में बड़े कुशल थे। उन्होंने विजित प्रदेशों पर सुव्यवस्थित शासन की स्थापना की। उनकी शासन-व्यवस्था में यद्यपि प्रान्तों को स्थानीय स्वाधीनता प्राप्त होती थी तथापि उनके ऊपर

शासन-व्यवस्था

केन्द्रीय शासन का कठोर नियन्त्रण रहता था। साम्राज्य शासन की इकाइयों में विभाजित था जिसे पखाली कहते थे। इसका शासन करने के लिये सम्राट की ओर से गवर्नर नियुक्त किया जाता था, जो कर [illegible] करता था, न्यायाधीश का काम करता था और सेना का अध्यक्ष होता था। डाक-व्यवस्था द्वारा सम्राट सुदूर प्रान्तों से समाचार प्राप्त करता था और इस प्रकार वह अपने को सदैव उनके सम्पर्क में रखता था। सम्राट के अधिकार असीमित थे और वह एक निरंकुश शासक होता था। उसकी शक्तियों पर केवल एक प्रकार का नियन्त्रण रहता था, वह यह कि उसके विरुद्ध पुरोहित अपशकुनों की घोषणा करके उसे भयभीत कर सकते थे। उसे परम्परागत नियमों और धार्मिक क्रियाओं का समुचित आदर करना पड़ता था। उदाहरण के लिये सातवें, चौदहवें, उन्नीसवें, इक्कीसवें और अट्ठाइसवें दिन राजा के कृत्यों पर ध्यान रक्खा जाता था, क्योंकि ये दिन अशुभ समझे जाते थे। असीरिया का राजा सिद्धान्त रूप में असुर (देवता) था, राजा उसका प्रतिनिधि मात्र था। सभी कानून असुर के नाम से चलते थे, युद्ध उसके नाम से होते थे, कर उसके नाम से वसूल किये जाते थे और घोषणायें भी उसी के नाम से की जाती थीं।

राजाओं के अनेक लेखों से क्रूरता और नृशंसता झलकती है। असुर नासिरपाल अपने एक लेख में कहता है "मेरा युद्ध रथ मनुष्यों और पशुओं को कुचलता है। जो कीर्ति-स्तम्भ मैंने बनवाये हैं वे उन मनुष्यों के बने हैं जिनके सिर और अंग मैंने काट डाले हैं। मैं जिन लोगों को जीवित पकड़ता हूँ उनके हाथ काट डालता हूँ।" स्थापत्य चित्रों से भी राजाओं की हिंसा-प्रेम का परिचय प्राप्त होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध में अपराधियों के साथ और विद्रोहियों के साथ अणु मात्र भी दया नहीं की जाती थी और रक्तरंजन में राजाओं को आनन्द प्राप्त होता था। असीरियों की हिंसा वृत्ति और नृशंसता ही अंततोगत्वा उनके राज्य के अधःपतन का प्रमुख कारण प्रमाणित हुई। परन्तु शान्तिपूर्ण प्रजा के साथ प्रायः राजाओं का व्यवहार सन्तोषजनक था। राजा अपनी प्रजा के कल्याण के लिये उत्तरदायी होता था। एक लेख में लिखा है कि "राजा की उदारता के कारण वृद्ध लोग आनन्द से कूदते हैं, बच्चे गाते हैं, कुमारी कन्यायें और स्त्रियां विवाह करके सन्तानों को जन्म देती हैं, भूखे सन्तुष्ट हो गये हैं और नग्न लोगों को वस्त्र प्राप्त हो गये हैं।"

एक न्याय विधान के तीन टुकड़े मिले हैं जो इस बात को सिद्ध करते हैं कि असीरिया की कानूनी व्यवस्था स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई है। बेबीलोनिया के कानूनों से असीरिया के कानूनों में इतनी स्पष्ट विभिन्नतायें हैं कि यह

कानून

नहीं कहा जा सकता कि असीरिया का न्याय-शास्त्र हम्मूराबी के न्याय-विधान का अनुकरण है। असीरिया के न्यायालयों में न्यायाधीश रहा करते थे जो सारटेनस (Sartenus) कह-

लाते थे। बेबीलोनिया और सुमेरिया की भांति मामले का निर्णय पहले पंचों द्वारा करने का प्रयत्न नहीं किया जाता था, वरन् मुकदमा सीधे न्यायालय में ही जाता था। लिखित साक्ष्य के अतिरिक्त शपथ खाये हुए गवाह भी होते थे। मिथ्या शपथ खाने के अपराध में जिह्वा काट ली जाती थी, अथवा मृत्यु-दण्ड मिलता था। कानून की दृष्टि में सभी समान थे। बेबीलोनिया के न्याय-विधान की भांति यहां असमानता न थी। असीरिया का दण्ड-विधान कठोर था, इसमें धिक्कार, अर्थ दण्ड, कोड़े लगाना, बेगार कराना, अंग-भंग करना, जीते जी चमड़ा निकलवा लेना और मृत्यु-दण्ड शामिल थे। राजा से भी दीवानी और फौजदारी दोनों मामलों में न्याय की अपील की जा सकती थी। एक अज्ञात मुकदमा लड़ने वाले का पत्र अभी कुछ वर्षों पूर्व ही प्राप्त हुआ है जिसमें वह राजा के न्याय के प्रति विश्वास प्रकट करता है। "मेरा स्वामी जानता है कि मैं एक दीन मनुष्य हूँ जिसने अपनी स्वामी के दुर्ग की रक्षा करने का कर्तव्य किया है और जो राजभवन के प्रति सदैव सच्चा रहा है। अब चूंकि मेरा खेत मुझसे छीन लिया गया है मैं राजा के पास जाता हूँ। मेरा स्वामी राजा मेरे साथ न्याय करेगा इसलिये मैं भूखों न मरूँगा।"*

धर्म

असीरिया की सभ्यता में धर्म को उतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त न था जितना बेबीलोनिया वालों की सभ्यता में था। असीरिया का प्रमुख देवता असुर था जो शत्रुओं का नाश करता था। बेबीलोनिया के देवताओं, मर्दुक तथा इश्तर की भी पूजा वे करते थे। इश्तर प्रेम की देवी थी। इसके अतिरिक्त सात अन्य बड़े देवता थे जो जादू और मन्त्रों द्वारा प्रसन्न किये जाते थे। पैशाचिक शक्ति और दानवों में भी उनका विश्वास था। उनकी धारणा थी कि अशुभ घटनायें इन्हीं पैशाचिक शक्तियों द्वारा की जाती थीं। पहले पुरोहित उस दानव का नाम बता देता था जो अशुभ घटनायें उत्पन्न करता था और बाद में उसको पराजित करने के लिये किसी जादू अथवा मंत्र की शक्ति का प्रयोग करता था।

असीरियों के विश्वास के अनुसार मृत्यु के पश्चात् आत्मा नरगा (Nerga) और अलात (Alat) के राज्य में प्रवेश करती थी। इस राज्य को सात घनी दीवालें घेरे रहती थीं, जिनमें सात द्वार होते थे। अलात नामक राक्षसी जिसका मुख सिंह का था, अपने हाथ में सांप लिये हुये द्वार पर खड़ी रहती थी। अन्धकार के इस प्रदेश में घुसने पर मनुष्य की आत्मा की जाँच होती थी, यदि आत्मा दूषित पाई जाती थी तो उसको यातना दी जाती थी। असीरिया भी एक निराश तथा आनन्दहीन जीवन की ही कल्पना कर सकते थे। इस यन्त्रणामय जीवन का स्वर्गीय जल की लालसा और अभिलाषा और अधिक असह्य बना देती थी। मनुष्य को एक स्रोत सदैव दृष्टिगोचर होता था जिसका यदि एक भी बूँद उसके मुख में पड़ जाता तो वह उस जीवन से मुक्ति पा जाता। परन्तु अलात बड़ी सावधानी से उस स्रोत की रखवाली करती थी और किसी को भी उसका जल पीने नहीं देती थी।

कला

असीरिया वासियों ने कला के क्षेत्र में कोई उन्नति नहीं की। उन्होंने विशाल भवन बनवाये किन्तु उनके निर्माण में मौलिकता न थी। उन्होंने बेबीलोनिया वासियों से मेहराब सीखा किन्तु इसका प्रयोग उन्होंने अधिक ही अधिक किया। उनकी स्थापत्य कला बेबीलोनिया की स्थापत्य कला से अधिक उत्कृष्ट है। पशुओं की आकृतियां बनाने में वे विशेष पटु थे। मानव आकृतियों में तो कोई विशेष आकर्षण नहीं है परन्तु पशुओं की आकृतियां अत्यन्त सजीव हैं। स्थापत्य में चित्रों की विभिन्नता एवं विविधता भी परिलक्षित नहीं होती। ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकार के सम्मुख केवल एक ही नमूना था जिसका वह अनुकरण करता था। या तो वह युद्ध की घटनाओं को अंकित करता था अथवा मनुष्यों या पशुओं की आकृतियों को। असीरिया वासियों ने लेखन कला भी बेबीलोनिया से ही ग्रहण की थी। बाद में उन्होंने आरामिया के निवासियों की लेखन कला ग्रहण कर ली।

---

* A Short History of Ancient World, page 67, By Charles Edward Smith and Paul Gready Moorhead.

यद्यपि असीरिया निवासी युद्ध-प्रिय और हिंसक मनोवृत्ति के थे तथापि उन्होंने सभ्यता के विकास से अपने को बिल्कुल पृथक न रक्खा। प्रान्तीय-शासन की व्यवस्था जिसमें एक गवर्नर की नियुक्ति की जाती थी, फारसवालों ने असीरिया से ही सीखी और बाद में रोम वालों ने ईरानियों से सीखी। ऐसा विश्वास किया जाता है कि अश्व और लोहे का प्रयोग विस्तृत पैमाने पर सर्वप्रथम असीरियों ने ही किया। घोड़े के प्रयोग ने यातायात और गमनागमन के क्षेत्र में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। डाक-व्यवस्था का सार्वजनिक रूप में प्रचलन सम्भवतः असीरिया निवासियों ने ही किया, और बाद में ईरानियों ने भी इसे ग्रहण कर लिया। सैनिक-कला में तो इनकी देन महत्वपूर्ण है ही। घेरा डालना, धावा बोलना, व्यूह रचना, सेना संचालन आदि कला में असीरियावासी निपुण थे। उन्होंने कवच और ढाल जैसे रक्षात्मक तथा लोहे के पैने और नुकीले आक्रमणात्मक शस्त्रास्त्र बनाये। औषधि विभाग के लिये सभी वानस्पतिक पदार्थों की एक लम्बी सूची बनाकर उन्होंने वनस्पति-शास्त्र में उन्नति की। उन्होंने संसार के सभी परिचित पदार्थों का वर्गीकरण कर प्राकृतिक विज्ञानों को प्रोत्साहन दिया। उत्खनन से यहाँ पर जो तख्ते पाये गये हैं उन पर राजाओं के नाम और उनकी कृतियाँ उत्कीर्ण हैं। ये तख्ते ही सम्भवतः लिखित इतिहास के प्राचीनतम नमूने हैं। पुस्तकालय निर्माण के लिये असीरिया विख्यात है। असुर बेनिपाल के पुस्तकालय में तीस हजार लिखित तख्ते थे।

असीरिया की देन

परन्तु हम जब असीरिया की देन से उनके हिन्सापूर्ण कार्यों की तुलना करते हैं तो हमें बाद वाला पक्ष ही प्रमुख दिखाई पड़ता है। सभ्यता के विकास में असीरिया के शासक उतनी अभिरुचि नहीं रखते थे जितना ध्यान वे रक्तपात द्वारा समाज की स्थापना पर रखते थे। इनकी सेनायें जब युद्ध के लिये प्रयाण करती थीं तो मार्ग में जितने ही ग्राम या नगर उजड़ जाते थे, लाशों का ढेर लग जाता था, नरमुंडों के पिरामिड बन जाते थे, और मार्ग रुधिर से आप्लावित हो जाती थी। यही कारण था कि उनके पतन पर किसी को कोई दुख नहीं हुआ, वरन प्रसन्नता प्रकट की गई। ई० पू० ६१२ में जब निनवे का पतन हुआ तो चारों ओर खुशियाँ मनाई गईं और यहूदियों के धर्मगुरु नाहूम (Nahum) ने कहा "खूनी रक्तपूर्ण नगर को धिक्कार है। तू अत्याचारों और असत्यों से परिपूर्ण है। जो तेरा (पतन का) समाचार सुनता है अपने ताली बजाता है, क्योंकि किस के ऊपर तेरी दुष्टता अविरत रूप से नहीं पड़ी?"

चैल्डिया

हम यह पहले कह आये हैं कि असीरियों का विनाश ईसा से ६०६ वर्ष पूर्व कैल्डियों द्वारा किया गया। ये कैल्डियन लोग फारस की खाड़ी की ओर से आने हुए काल्डी जाति के थे इसलिये उनके द्वारा अधिकृत प्रदेश का नाम कैल्डिया अथवा चैल्डिया पड़ा। इस वंश का सबसे पराक्रमी राजा नेबुचेडनेजार था जिसने ६०४-५६२ ई० पू० तक राज्य किया। उसने अपने राज्य की सीमा को बढ़ाने के लिये चेष्टा की और ई० पू० सन् ५८७ जूडिया राज्य में जेरूसलम नगर को उसने एक बड़ी सेना लेकर घेर लिया। अठारह माह के घेरे के उपरान्त नगर का पतन हुआ। नेबुचेडनेजार ने सहस्रों यहूदियों को बन्दी बनाकर अपनी राजधानी बेबीलोनिया में भेजा। यहूदियों के इस बन्दी जीवन का वर्णन बाइबिल में मिलता है। इस प्रतापी शासक की मृत्यु के उपरान्त नवीन बेबीलोनिया की शक्ति कम होने लगी और ई० पू० सन् ५३८ में बेबीलोनिया पर ईरानियों का अधिकार हो गया।

नेबुचेडनेजार ने असीरिया की राजधानी निनवे को नष्ट कर बेबीलोनिया को अपनी राजधानी बनाया। एक बार फिर बेबीलोनिया का पूर्व वैभव इस राजा के शासन काल में लौट आया। अपने समय का बेबीलोनिया संसार का सब से समृद्ध और विशाल नगर हो गया। इसकी जनसंख्या लगभग ५ लाख हो गई, व्यापार की खूब उन्नति हुई, और पूर्वीय देशों से विलास-सामग्रियाँ खूब मँगायी जाने लगीं। नेबुचेडनेजार ने अनेक भवनों का निर्माण कर नगर को अलंकृत किया, उसी ने झूलता उपवन बनवाया था जिसे यूनानी संसार के सात आश्चर्यों में गिनते थे। सभ्यता के विकास में चैल्डिया की देन कोई विशेष महत्वपूर्ण

चैल्डिया की सभ्यता

नहीं है, केवल खगोल-विद्या के क्षेत्र में ही इसकी महत्वपूर्ण देन है। यहाँ तक कि आठ सौ वर्षों के उपरान्त रोम वालों के समय में भी कैल्डिया वाले खगोल-विद्या में निपुण समझे जाते थे। ऐसा विश्वास किया जाता है कि Gospel of Luke नामक पुस्तक में पूर्व के जिन बुद्धिमान व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है वे कैल्डिया के ज्योतिषी ही थे। सप्ताह के दिनों के नामों के रूप में कैल्डिया वालों का ज्योतिष अभी तक सुरक्षित है। बुध, बृहस्पति, मंगल, शुक्र और शनि इन पाँच ग्रहों को वे मनुष्य का भाग्य नियन्त्रण करने वाला समझते थे। ये पाँच ग्रह तथा सूर्य और चन्द्रमा मिलकर सात देवता थे। भिन्न भिन्न पर इन समयों देवताओं की स्तुति करने की प्रथा थी। जो दिन सूर्य के लिए नियत था वह रविवार और जो चन्द्रमा के लिये था वह चन्द्रवार (सोमवार) हो गया। तारे बारह वर्गों में विभाजित किये गए जो बारह राशि चक्रों के नाम से विख्यात है। तारों की गति और स्थिति का सफलतापूर्वक अध्ययन किया गया। कैल्डिया के ज्योतिषी खगोल-विद्या में यहाँ तक उन्नति कर चुके थे कि वे सूर्य और चन्द्र ग्रहण की तिथि बहुत पहले घोषित कर सकते थे। कैल्डियों की खगोल-विद्या के क्षेत्र में यह देन मानव-सभ्यता के लिये विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि उन्हीं की स्थापित की हुई आधार-शिला पर यूनान के ज्योतिषियों ने अपनी खगोल-विद्या का भवन खड़ा किया।

—:o:—

तीसरा अध्याय

नील नदी के तट पर सभ्यता का उदय

इतिहास के जिज्ञासु विद्यार्थी के लिये मिस्र स्वर्गभूमि के तुल्य है क्योंकि यहाँ पर उसे वैज्ञानिक विधि से इतिहास का अध्ययन करने के लिये प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। मिस्री सभ्यता के ध्वन्सावशेष स्फिंक्स मूर्तियाँ मन्दिरों की दीवालों पर बने हुये चित्र तथा अन्य विविध प्रकार के सामान एवं पिरेमिड उससे मौन सम्भाषण करते हुये प्रतीत होते हैं। इतिहास के अध्ययन के लिये काल-निर्णय अत्यन्त आवश्यक है और प्राचीन इतिहास के अध्ययन में इस कार्य में ही सब से अधिक कठिनाई का अनुभव होता है। परन्तु मिस्र में काल-निर्णय की समस्या का हल सुगमता से प्राप्त हो जाता है। देश की भौगोलिक परिस्थिति के कारण देश का इतिहास प्रायः अविच्छिन्न है और निवासियों के रक्त में मिश्रण भी अपेक्षाकृत न्यून ही है। मिस्र का इतिहास भली भाँति जानने के लिये हमें पहले उसकी भौगोलिक स्थिति और उसके प्राचीन निवासियों के विषय में ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये।

भौगोलिक स्थिति और जाति

मिस्र की प्राचीन और उन्नत सभ्यता का उद्भव नील नदी के तट पर हुआ था। नील नदी सूडान के पर्वतों से निकल कर मिस्र के पूर्वीय प्रदेशों में बहती हुई भूमध्यसागर में गिरती है। यह अपने साथ प्रतिवर्ष उर्वर मिट्टी लाती है, जिससे इसकी तटवर्ती भूमि अत्यन्त उपजाऊ हो गई है। यह कहना असत्य न होगा कि मिस्र का गौरव, उसकी सभ्यता की महानता तथा उसकी समृद्धि का प्रधान कारण नील नदी ही है। कदाचित इसलिये इतिहास के जन्मदाता हेरोडोटस ने कहा था "मिस्र नील नदी का वरदान है।" मिस्र देश अफ्रीका महाद्वीप के उत्तरी पूर्वी भाग में अवस्थित है और पश्चिमी एशिया से बिलकुल लगा हुआ है। [illegible] में भूमध्यसागर, पश्चिम में रेगिस्तान तथा दक्षिण में असभ्य लोगों का निवास-स्थान होने के कारण उस पर बाह्य आक्रमण मेसोपोटेमिया की अपेक्षा बहुत कम हुये, इसलिये सभ्यता प्रायः निर्विघ्न रूप से यहाँ पर विकसित होती रही।

नील नदी की घाटी की जलवायु सभ्यता के विकास के लिये नितान्त अनुकूल थी। आजकल मिस्र में वर्षा का परिमाण अत्यन्त न्यून है, परन्तु विद्वानों का विचार है कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व यहाँ पर पर्याप्त वर्षा होती थी। भूमि उपजाऊ थी और बाँध इत्यादि तैयार करके यहाँ के निवासी सिंचाई का प्रबन्ध कर लेते थे। जलवायु गरम थी परन्तु इतनी उष्ण नहीं कि पौधे सूख जायँ अथवा कोई वनस्पति उग ही न सके। इन सब कारणों से नील नदी की घाटी में कृषि बड़ी सरलता-पूर्वक हो सकती थी। नदी ने ही [illegible] में जलमार्ग प्रदान किये और [illegible] ने इसके लाभ उठाकर [illegible] में उन्नति की। इन सब कारणों से एक महत्वपूर्ण सुदृढ़ सामाजिक जीवन का विकास हुआ, जिससे सभ्यता की लता पल्लवित और पुष्पित हो सकी।

यद्यपि प्राचीन मिस्र के निवासी सेमाइट जाति के न थे, तथापि उनका सम्बन्ध अरब, मेसोपोटेमिया और सीरिया के प्राचीन निवासियों से था। विद्वानों का विचार है कि मिस्र के लोगों में कई जातियों का मिश्रण है। मिस्री कलाकारों की ई० पू० २५०० वर्ष के पहले की जो चित्रकारी और मूर्तियाँ पाई गई हैं उनसे हम यह अनुमान लगाते हैं कि मिस्र के प्राचीन निवासियों की आँखें कुछ गहरी, गाल चौड़े और भूरे, ओंठ काफी मोटे और नाक छोटी होती थी। उनके बाल काले थे और सीधे खड़े रहते थे। उनका रंग पहले सफेद रहा होगा परन्तु सूर्य की प्रखर किरणों ने उनके रंग को भूरा बना दिया।

मिस्री इतिहास के सुप्रसिद्ध विद्वान फ्लिन्डर्स पैट्री ने मिस्री सभ्यता का काल ईसा से दस हजार वर्ष पूर्व निश्चित किया है। अन्य प्राचीन सभ्यताओं की भांति मिस्र में भी पूर्व और उत्तर पाषाण-काल रहे होंगे। ईसा से ५००० वर्षों पूर्व मिस्र में सभ्यता के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे थे। उत्तर पाषाण-काल में मिस्रियों ने शिकारी का जीवन त्याग कर कृषक का जीवन अपनाया। अब वे भोजन की तलाश में इधर-उधर घूमते न थे वरन उन्होंने अब भोजन उत्पन्न करना आरम्भ किया। उन्होंने खेती करना और पशु-पालन करना शुरू किया। उन्होंने धातुओं का प्रयोग करना प्रायः सीख लिया था। पशु-पालन और कृषि-कार्य से सम्बन्धित कला-भावना का उद्‌भव भी उन लोगों में हो गया था। बदारी और अन्य जिलों में टोकरियों, बर्तन और कुछ अन्य पदार्थ प्राप्त हुये हैं, जिन पर मनुष्यों और पशुओं की आकृतियां विभिन्न भावों को प्रदर्शित करती हुई अंकित की गई हैं। इस समय मिस्री लोग कपड़े और चमड़े तथा धातुओं के सामान बनाना जानते थे। कुछ समय बाद नील नदी के तट पर रहने वाले लोगों ने व्यापार करना शुरू किया और नदी के प्रवाह और बाढ़ को रोकने का प्रयास किया। इन सब बातों से यह पता चलता है कि उत्तर पाषाण-काल में मिस्र में जनसंख्या काफी बढ़ गई थी और लोग अपने पहले के अर्द्ध असभ्य जीवन से असंतुष्ट रहने लगे और उन्होंने सभ्य जीवन बिताना आरम्भ किया।

मिस्र की प्रागैतिहासिक सभ्यता

मिस्र का सुनिश्चित राजनीतिक इतिहास ईसा के ३४०० वर्ष पूर्व से आरम्भ होता है जिस समय मीनीज ने समस्त मिस्र को एक ही केन्द्रीय शासन के अधीन किया। इसके पहले मिस्र दो राज्यों में (१) नील के मुहाने का राज्य और (२) दक्षिण का राज्य में विभाजित था। मीनीज नामक राजा ने इन दोनों राज्यों को संयुक्त किया और मेम्फिस नगर में अपनी राजधानी बनाई। मिस्र में ईसा पूर्व शताब्दियों में इकतीस राजवंशों ने शासन किया। उनके शासन-काल को अध्ययन की सुविधा के लिये हम विभिन्न युगों में बांट लेते हैं।

मिस्र का संक्षिप्त राजनीतिक इतिहास

(१) पिरैमिड युग (३४००-२१६० ई० पू०)

(२) सामन्तवादी युग (२१६०-१५८० ई० पू०)

(३) साम्राज्यवादी युग (१५८०-६५० ई० पू० तक)

इस युग को पिरैमिड युग का नाम इसीलिये दिया गया कि विश्व-विख्यात पिरैमिडों का निर्माण इसी समय हुआ। प्राचीन राजवंशों में सब से समृद्ध राजवंश चौथा था। इस काल के राजाओं, विशेष कर चाप्स और नेफरन ने धनधान्य की वृद्धि की और अपने वैभव को प्रकट करने के लिये पिरैमिडों का निर्माण किया। गिजेह का विशाल पिरैमिड और स्फिंक्स का निर्माण इसी काल का हुआ है। इतिहासकार हेरोडोटस ने लिखा है कि एक लाख बीस हजार व्यक्तियों ने बीस वर्षों तक काम करके चाप्स नामक फराउ के लिये सुविशाल पिरैमिड का निर्माण किया। फराउ के इस कार्य से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि उसकी सत्ता निरंकुश थी। वह अपने को देवता का पुत्र कहता था और मिस्री लोग उसे ईश्वर रूप स्वीकार करते थे। वही सब का प्रभु और शासक था। वह युद्ध में सेना का नेतृत्व करता था, सार्वजनिक कार्यों की देख-रेख करता था और देश के आर्थिक साधनों पर नियन्त्रण रखता था। शासन में सहायता करने के लिये उसके अधीन बहुत से कर्मचारी रहते थे, जो उसकी आज्ञाओं का पालन करने को सदैव प्रस्तुत रहते थे। साधारण जनता का जीवन प्रायः दुखमय ही था। लोगों को राजनीतिक कार्यों में जरा भी भाग लेने का अधिकार न था। २१६० ई० पू० में पिरैमिड युग का अन्त हुआ और सामन्तवादी युग का आरम्भ हुआ।

पिरैमिड युग

पिरैमिड युग के पश्चात मिस्र के राज सिंहासन पर दुर्बल नरेश बैठे। देश में अराजकता और अव्यवस्था फैल गई। इन राजाओं में से कुछ ने तो अपने को बिलकुल ही अकर्मण्य एवं दुर्बल प्रमाणित किया। सातवें राजवंश

में सत्तर राजे हुये जिन्होंने केवल सत्तर दिनों तक राज्य किया। पुरोहितों का प्रभाव प्रबल हुआ। वे साम्राज्य से अलग हो गये, मन्दिर लूटे जाने लगे और कला कृतियां नष्ट की जाने लगीं। प्रतिद्वन्दी सरदारों ने एक दूसरे को पराजित करने का प्रयत्न करना शुरू किया और इस प्रकार उनमें सदैव परस्पर युद्ध होने लगा। देश अनेक छोटे-छोटे राजनीतिक भागों में बँट गया और सम्राट का अधिकार केवल नाम-मात्र को ही रह गया। देश में अव्यवस्था और अशान्ति फैली थी, तथापि लोगों ने बांध बांधे, सार्वजनिक हित की वस्तुओं का और व्यापारिक नौकाओं का निर्माण किया। यद्यपि सामन्तवादी युग राजनैतिक अशान्ति का काल था फिर भी यह सांस्कृतिक पतन का युग न था। इस युग की तुलना हम इटली के पुनरुज्जीवन युग (Renaissance Age) से कर सकते हैं। सरदार अपनी-अपनी कलात्मक एवं बौद्धिक अभिरुचियों को प्रकट करने में एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा रखते थे। वे कलाकारों, शिल्पकारों और साहित्यिकों को प्रोत्साहित करते थे। वे अपने भवनों को खूब अलंकृत करने का प्रयत्न करते थे जिससे कला की उन्नति हुई। इस काल की परिस्थितियों ने एक मध्य वर्ग की उत्पत्ति और सांस्कृतिक विकास का मार्ग प्रस्तुत किया।

सामन्तवादी युग

अमेनेमहेत प्रथम ने सामन्तवादी युग की गड़बड़ी का अन्त करके एक नवीन राजवंश की स्थापना की। उसके शासन-काल में एक सुसंगठित शासन व्यवस्था की स्थापना हुई और विभिन्न कलाओं का अभूतपूर्व विकास हुआ। उसके द्वारा स्थापित शासन-व्यवस्था लगभग पांच सौ वर्ष तक चलती रही। इस राज्य के अन्त में जब उत्तराधिकार के लिये युद्ध हुआ तो देश की आन्तरिक गड़बड़ी से लाभ उठा कर हिक्सास नामक जाति ने मिस्र पर आक्रमण किया और अपना राज्य स्थापित किया। लोहे और घोड़े की सहायता से अपना राज्य स्थापित करने में उन्हें किसी विशेष कठिनाई का सामना न करना पड़ा। हिक्सास लोगों ने सोलहवें राजवंश की स्थापना की किन्तु यह राज्य अधिक दिनों तक टिक न सका। सन् १६०० ई० पू० के लगभग आहमीज नामक फरोह ने हिक्सास को मार भगाया, और अठारहवें राजवंश की स्थापना की। आहमीज ने हिक्सास को खदेड़ने के उपरान्त देश की आन्तरिक अवस्था सुधारने का प्रयत्न किया। उसने सामन्तों की शक्ति का दमन किया और सम्राट की शक्ति को पुष्ट किया। उसने एक मजबूत सेना का निर्माण कर सीरिया और फिलस्तीन पर आक्रमण किया। अठारहवें राजवंश के समय से ही मिस्र के इतिहास का साम्राज्यवादी काल आरम्भ होता है। यह काल मिस्र के इतिहास में स्वर्ण-युग के नाम से विख्यात है। विदेशों की विजय, आन्तरिक सुव्यवस्था, आर्थिक-समृद्धि तथा कला और शिक्षा की अभूतपूर्व उन्नति होने के कारण सचमुच स्वर्ण युग शब्द की सार्थकता भली-भाँति सिद्ध हो जाती है। मिस्र ने इस साम्राज्यवादी शासन में पश्चिमी एशिया से लगभग एक हजार वर्षों तक युद्ध किया और अधिकांश समय तक उस पर अपना आधिपत्य बनाये रक्खा। थुतमोस प्रथम ने न केवल मिस्री साम्राज्य का संगठन किया, वरन् पश्चिमी एशिया से अतुल सम्पत्ति लाकर अपने देश को समृद्ध करने का प्रयत्न भी किया। उसने उस सम्पत्ति से मिस्र में अनेक सुन्दर मन्दिरों का निर्माण कराया।

साम्राज्यवादी युग

मिस्र के इतिहास में ही सर्वप्रथम एक महिला ने शासन-भार अपने कन्धों पर वहन किया। इस रानी का नाम हाशेप्सुत था। हाशेप्सुत ने थीबीज के निकट करनक में एक विशाल मन्दिर बनवाया। उसकी मृत्यु के उपरान्त थुतमोस तृतीय राजा हुआ। अपनी विजयों के कारण वह मिस्र के इतिहास का नेपोलियन कहा जाता है। उसने सूडान, फिलस्तीन, सीरिया तथा पश्चिमी एशिया के अन्य देशों में अपना राज्य स्थापित कर लिया। उसके पास एक विशाल जहाजी बेड़ा था। इसी की सहायता से उसने एजियन द्वीपसमूह को जीत लिया और अपने सैनिक अफसर को वहाँ का शासक नियुक्त किया। १४४७ ई० पू० थुतमोस की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र आमेन होतेप द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ। ईसा से १४११ ई० पू० आमेन होतेप तृतीय राज्याधिकारी हुआ। इस राजा के सुदृढ़ शासन में मिस्र ने विद्या और कला कौशल के क्षेत्र में बहुत उन्नति की। इस शासक का नाम समस्त पश्चिमी एशिया में फैल गया। कर एवं उपहार के

रूप में उसके कोष में अपार धन आता था। उसने राज्य के मन्दिरों और राज्यभवनों को विभिन्न बहुमूल्य धातुओं और रत्नों से समलंकृत किया।

१३७५ ई० पू० में इस महान् शासक की मृत्यु हो जाने के पर उसका पुत्र आमेनहोतेप चतुर्थ मिस्र के राज-सिंहासन पर समासीन हुआ। विश्व इतिहास के पृष्ठों में इस सम्राट का नाम नक्षत्र की भांति चमकता है। अपने अठारह वर्ष के अल्पकालीन शासन में उसने एक ऐसा धार्मिक सुधार किया जिसके कारण वह सदैव अमर रहेगा। उसने अन्धविश्वास के युग में और एक ऐसे देश में जहाँ पर बहुदेववाद पूर्णरूप से प्रचलित था, एकेश्वरवाद के सिद्धांतों का प्रचार किया। उसने विभिन्न देवता की उपासना का खंडन किया और कहा कि केवल सूर्य की उपासना करनी चाहिये। उसने अन्य देवताओं का नाम मन्दिर की दीवालों से मिटवा दिया। उसने सूर्य देवता का नाम एटन रक्खा। सूर्य की पूजा मिस्रवासियों के लिये कोई नयी बात नहीं थी, परन्तु आमेनहोतेप चतुर्थ ने उसकी पूजा की जो भावना उनके सामने रक्खी वह सर्वथा नवीन और मौलिक थी। उसने उपासना से भय की भावना को मूलतः हटाने की चेष्टा की। उसने बताया कि एटन एक अत्यन्त दयालु देवता है जो सभी लोगों के लिये दयालु पिता के तुल्य है। यहाँ तक कि पक्षी और बछड़े भी उसकी दयालुता से परिचित हैं और उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं। एटन की पूजा उसने सूर्योदय और सूर्यास्त के समय करने को बताया, क्योंकि इस समय सूर्य की किरणें अधिक लाभदायिनी प्रतीत होती हैं। उसने एटन की पूजा का प्रचार करने के लिये और लोगों पर इसका प्रभाव डालने के लिये अपना नाम बदल कर अखनातून रख लिया। उसने देवता एटन की उपासना पद्धति अत्यन्त सरल और साधारण रक्खी। अखनातून ने बताया कि फल फूल के उपहार, स्तुतियों का गान और प्रार्थना द्वारा देवता की पूजा करनी चाहिये। उसने मन्दिरों और पुरहितों को भी कोई महत्त्व नहीं दिया। उसने एटन को निगु॑ण एवं निराकार बतलाया और उसकी मूर्ति बनाने को मना किया। कदाचित् उसके पहले किसी ने भी यह अनुभव नहीं किया था कि सूर्य की किरणें ही उत्पादक (सृष्टि) कार्यों का साधन है और जीवन सौन्दर्य तथा शक्ति की स्रोत हैं। फ्लिन्डर्स पेट्री का विचार है कि उसके बाद तीन हजार वर्षों तक कोई ऐसी विचार धारा धर्म के क्षेत्र में उत्पन्न नहीं हुई जिसकी तुलना वैज्ञानिक सत्यता के विषय में हम अखनातून के सिद्धान्तों से कर सकें। वे आगे लिखते हैं "अखनातून कितना समझता था यह तो हम नहीं जानते लेकिन अपने [illegible] प्रतीकात्मकता में वह निस्संदेह इतना आगे बढ़ गया था कि हम आज भी तार्किक दृष्टि से इसमें कोई सुधार नहीं कर सकते।" अथवा इस नवीन उपासना पद्धति में मिथ्यात्व अथवा अंधविश्वास का नाम तक नहीं पाया जा सकता। अखनातून विश्व का सर्वप्रथम सम्राट था, जिसने उस युग में जब कि युद्ध के गगन-भेदी घोष सुनाई पड़ रहे थे, शान्ति का सन्देश दिया। अन्य प्राचीन सम्राटों की बर्बरता और युद्धप्रियता उसे बिलकुल छू तक न पाई थी। उसके समय में सीरिया पर हित्ती जाति के लोगों ने आक्रमण किया। परन्तु अखनातून ने तलवार द्वारा शत्रु देशों को जीतना अपने आदर्शों के विपरीत समझा और उन प्रान्तों को स्वतन्त्र हो जाने दिया। उसने राज सिंहासन से शुचिता, स्वच्छता, सत्यप्रियता और सरलता के पाठ पढ़ाये। [illegible] शुद्ध था और उसका हृदय दया का अपार स्रोत था। उसकी भावनायें मानव मात्र के लिये हितकारिणी थीं। परन्तु मिस्रवासियों को उसके नवीन विचार अस्वाभाविक और नास्तिकता से भरे हुए [illegible]। उसकी मृत्यु के बाद उसके धार्मिक विचार मिस्र से बिलकुल लुप्त से हो गये।

अखनातून मिस्र के अठारहवें राजवंश का सम्राट था उसकी मृत्यु के आठ साल पश्चात् उन्नीसवाँ वंश शासन करने लगा। इस वंश के राजा रेमेसिस द्वितीय ने मिस्र की खोई हुई शक्ति को फिर से स्थापित किया परन्तु उसके बाद के सभी शासक दुर्बल निकले और शनैः शनैः मिस्र का यह साम्राज्य पतनोन्मुख होने लगा। १०५० ई० पू० तक मिस्र के आधीनस्थ सभी देश स्वतन्त्र हो गये, और उसका गौरव नष्ट हो गया। सिकन्दर महान ने ३३२ ई० पू० मिस्र पर अपना अधिकार कर लिया और इकतीसवें राजवंश का नाश किया।

मिस्र का राजा निरंकुश था। वह अपने को देवता की संतान कहता था और मिस्रवासी भी उसे दैवी पुरुष ही

मिस्र की शासन व्यवस्था

मानते थे। वह मिस्र वासियों का सबसे महान पुरोहित भी था और देवताओं के नाम पर वह देश का शासन करता था। वह सेना का सर्वोच्च सेनापति था और उसकी घोषणायें राज्य का कानून थीं। वह वैदेशिक शक्तियों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध बनाये रखने की चेष्टा करता था और इस कार्य में उसका पर्याप्त समय व्यय भी होता था। राज्य की समस्त भूमि उसी की समझी जाती थी। वह पुरोहितों और सामन्तों को भी भूमि का अधिकारी बना सकता था, किन्तु सिद्धान्त के रूप में वही सर्वोच्च अधिकारी था।

राजा की सहायता के लिये मन्त्री होता था। वह बड़ा महत्वपूर्ण अधिकारी था। वह न्यायाधीश का काम करता था और छोटी अदालतों से आई हुई अपीलों का फैसला करता था। वह राजकीय घोषणायें जारी करता था, देश के विभिन्न भागों में उन्हें प्रचलित करवाता था राजा के घरेलू प्रबन्ध का और भवन निर्माण के देख रेख का उत्तरदायित्व भी उसी के ऊपर रहता था। चार इन्सपेक्टर उसे वर्ष में तीन बार देश की स्थिति से परिचित करवाते थे। करों का एकत्र करना और जनगणना का प्रबन्ध करना भी उसी के कार्य थे।

स्थानीय शासन के उद्देश्य से देश को कई राजनीतिक इकाइयों में विभक्त कर दिया गया था। प्रत्येक इकाई को नोम कहते थे और इसके शासक को नोमेर्क कहा जाता था। इनकी संख्या ४० और ५० के बीच में थी। नोमेर्क राजकीय-सत्ता का स्थानीय प्रतीक था। वह अपनी शासन सीमा में कर वसूल करता था और सेना पर नियंत्रण रखता था। वह राजा के नाम पर शासन करता था। राजकीय घोषणायें प्रचलित करने का उत्तरदायी भी वही था। उसे राजा स्वयं अथवा मन्त्री की सम्मति से नियुक्त करता था और वही उसे पदच्युत भी कर सकता था। नगरों का प्रबन्ध एक ऐसे अफसर के अधीन होता था जिसकी तुलना हम म्युनिसिपलिटी अथवा कारपोरेशन के अध्यक्ष से कर सकते हैं. परन्तु इस अफसर के उत्तरदायित्व बहुत थे। नगर में राजकीय कानूनों का प्रचलन करना इसी का काम था और कर के वसूलने में जो कमी रह जाती थी, उसको इसे अपने पास से पूरा करना पड़ता था। गांवों में सामन्तों को कुछ पुलिस सम्बन्धी और न्याय सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे। देश के प्रत्येक भाग में गुप्तचर वेश बदलकर घूमा करते थे, जो राजा की सरकार को स्थानीय परिस्थितियों की ठीक ठीक सूचना दिया करते थे। गांवों में सामन्त तो मुकदमों का फैसला किया ही करते थे, नगरों में नगराधिपति भी मुकदमों का निर्णय करता था। राजा न्याय विभाग का सर्वोच्च पदाधिकारी था। मिस्र में हम्मूराबी के न्याय विधान की तरह कोई कानूनी व्यवस्था नहीं थी; केवल कतिपय लिखित नियम ही थे। इन्हीं कानूनों के अनुसार प्रायः तीन दिन के ही अन्दर फैसला सुना दिया जाता था। अपराध के लिये मृत्यु-दंड, अंग-भंग, शारीरिक दंड आदि दिये जा सकते थे।

प्राचीन मिस्र का समाज तीन भागों में विभक्त था—(१) उच्चवर्ग जिसमें राज्य के उच्च कर्मचारी और पदाधिकारी, पुरोहित, राजा के सम्बन्धी तथा सामन्त थे। (२) मध्यम वर्ग जिसमें व्यापारियों और शिल्पकारों का वर्ग सम्मिलित था और (३) निम्न वर्ग जिसमें कृषकों और दासों का समुदाय शामिल था। यद्यपि इन तीनों वर्गों के

मिस्र का समाज

सामाजिक स्तर का अन्तर बिल्कुल स्पष्ट था तथापि जाति प्रथा जैसी कोई चीज नहीं थी। निम्न वर्ग का व्यक्ति भी उन्नति करके उच्च वर्ग में सम्मिलित हो सकता था। सामन्तों ने कला, विज्ञान और उद्योग के क्षेत्रों में उन्नति को प्रोत्साहन दिया और दास वर्ग के ही परिश्रम से पिरैमिड, भवनों और सिंचाई के साधनों का निर्माण हो सका।

मिस्र की सामाजिक व्यवस्था का आधार सामन्त प्रथा होने के कारण कृषक वर्ग की परिस्थिति सन्तोषजनक न थी। वह दिन रात परिश्रम करता था तो भी सुखमय जीवन व्यतीत न कर सकता था। कभी कभी उसे भारी कर देने पड़ते थे और बहुधा राजकीय कार्यों में उससे बेगार कराई जाती थी। सामन्त भी उससे मनमाना बेगार कराते थे। प्रायः मिस्र का कृषक वर्ग सन्तोषी था और अपने कष्टमय जीवन को धैर्यपूर्वक बिताता था। किन्तु कुछ असह्य हो जाने पर वह हड़ताल करके अपनी कठिनाइयों के निराकरण करने का प्रयत्न भी करता था। दासों की अवस्था तो और अधिक शोचनीय थी। वे प्रायः युद्ध बन्दी होते थे और उनका क्रय विक्रय हो सकता था।

मिस्र के समाज में स्त्रियों की अवस्था उन्नत थी, उनके राजनैतिक और सामाजिक अधिकार पुरुषों के ही समान थे। मैक्समिलर ने लिखा है कि "किसी भी प्राचीन या अर्वाचीन समाज ने नारी को इतना ऊँचा कानूनी स्तर नहीं प्रदान किया है जैसा कि नील नदी के निवासियों ने।" मिस्र की चित्रकारी में हमें नारी पुरुष के साथ भोजन करती हुई, आनन्द-प्रमोद करती हुई और अपने काम के लिये अकेले बिना किसी को साथ लिये जाती हुई दिखाई पड़ती है। मातृ-प्रधान परिवार होने के कारण स्त्रियों का स्थान कुछ मामलों में पुरुषों से भी ऊँचा था। सम्पत्ति का उत्तराधिकार स्त्रियों से ही होता था। माता की सम्पत्ति कन्या को प्राप्त होती थी, इसीलिये प्रायः लोग अपनी बहिनों से ही विवाह कर लेते थे। स्त्री सामाजिक कार्यों में पुरुष का हाथ बटा सकती थी। मिश्र में कुछ रानियों यथा हाशेपसूत और क्लीयोपेट्रा ने, शासन-सूत्र अपने हाथों में ग्रहण किया था। विवाह के मामलों में भी स्त्री को पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। विवाह-विच्छेद बहुत कम होते थे। प्रायः लोग एक ही विवाह करते थे, परन्तु राजाओं और सामन्तों को कई विवाह करने का अधिकार होता था। लोगों का दाम्पत्य-जीवन बहुधा सुखमय होता था। विवाह के समय पुरुष को स्त्री की बात मानने की शपथ लेनी पड़ती थी। स्त्रियों को सन्देह की दृष्टि से भी देखा जाता था।

आर्थिक जीवन

मिस्रवासियों का प्रमुख व्यवसाय कृषि ही था। मिस्र में कृषि-कार्य अपेक्षाकृत सरल था। हेरोडोटस ने लिखा है "वे अन्य किसी भी जाति की अपेक्षा भूमि की उपजों को कम परिश्रम से प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि उन्हें भूमि को हल से जोतना नहीं पड़ता और न कुदाली से खोदना ही पड़ता है और न कोई काम करना पड़ता है जिसे अन्य सभी लोग अन्न की फसल पैदा करने के लिये करते हैं। बल्कि जब नदी अपने-आप बढ़ आती है और उनके खेतों को सींच देती है और उन्हें सींच कर फिर लौट जाती है, तब प्रत्येक मनुष्य अपनी भूमि में बीज बोता है और अपने सुअरों द्वारा खेतों को कुचला देता है। और जब सुअर अपने पैरों से बीज को कुचल देता है, वह फसल के समय की प्रतीक्षा करता है। तब वह उसे इकट्ठा कर लेता है।" कृषि-कार्य बहुधा दासों द्वारा और कृषकों द्वारा कराया जाता था। परन्तु सरकारी इन्जीनियर और वैज्ञानिक इस कार्य में सहायता प्रदान करते थे। वे सिंचाई के साधनों का निर्माण कराते थे, फसल बोने के समय को निश्चित करने के लिये कैलेन्डर बनाते थे और भूमि को नापने की व्यवस्था करते थे। सरकारी कर्मचारी कृषि-कार्य का सावधानी पूर्वक निरीक्षण करते थे। वे किसानों को यह बताते थे कि अमुक खेत में कौन सी चीज पैदा की जायगी और फसल कट जाने पर सरकारी कर वसूल करते थे। कृषकों को उपज का १० प्रतिशत से लेकर २० प्रतिशत तक देना पड़ता था। मिस्री लोग पशु पालन भी करते थे। बन्दर और बैल बोझा ढोने का काम करते थे। बन्दरों को लोग पालते थे और उनको फल तोड़ना सिखलाते थे। गायें काफी पाली जाती थीं। नदी के अन्दर मछलियाँ भी काफी पकड़ी जाती थीं। भोजन में विविध सामग्रियों का प्रयोग होता था। एक अभिलेख से पता लगता है कि "एक अन्त्येष्टि घर के विद्यार्थी को भोजन के लिये तैंतीस प्रकार का मांस, अड़तीस प्रकार के मिष्ठान्न और चौबीस प्रकार के पेय मिलते थे।" कृषि की मुख्य उपज गेहूँ, जौ, बाजरा, मटर, तिल, सन, मसूर और कई तरह की साग-भाजियाँ और विविध प्रकार के फल यथा खजूर, अंजीर, जैतून और अंगूर आदि वस्तुएँ प्रमुख थीं। मसूर मिस्री भोजन का एक प्रमुख अंग था। जैतून और खजूर से तेल भी प्राप्त होता था। सन की भी खेती की जाती थी क्योंकि उससे वस्त्र बनाया जाता था।

अनेक औद्योगिक सामग्रियों ने मिस्र के आर्थिक जीवन को समृद्ध बना दिया। कुम्भकार के चाक की जानकारी के पूर्व भी वे उच्च कोटि के मिट्टी के बर्तन बनाते थे। वे धातुओं को पिघलाने के लिये बन्द भट्ठियों का प्रयोग करना जानते थे। सुवर्णकार छोटी भट्टियों में सोने को गलाकर सुन्दर सुन्दर आभूषण बनाता था। शीशे के सामान बनाये जाते थे। पहले तो बोतलें और पात्र बिना रंगे हुये होते थे, परन्तु बाद में रंगने की कला का आविष्कार हुआ और कांच के बहुत सुन्दर सामान बनाकर विदेशों में भेजे जाने लगे। मिस्र के कारीगर लकड़ी का सामान

बनाने की कला में अत्यन्त निपुण थे। वे नौकाओं और गाड़ियों से लेकर कुरसी और चारपाइयाँ तक बनाते थे। पशु चर्म से वे वस्त्र, तरकस और ढाल इत्यादि वस्तुयें बनाते थे। मिस्री लोग ईंट, सीमेन्ट और पलस्तर बनाने में कुशल थे। पैपिरस नामक पौधे से मिस्री लोग कागज, रस्सियाँ, चटाइयाँ और चप्पल तैयार करते थे। कागज का आविष्कार सर्वप्रथम मिस्र में ही हुआ। यूरोपियन भाषा का शब्द पेपर पैपीरस से ही निकला है।

उद्योग धन्धे

मिस्र में सूती कपड़े बहुत ही उच्च-कोटि के बनते थे। मिस्री जुलाहे बड़े ही महीन कपड़े बनाते थे। सन के बने हुये कपड़े, जो चार हजार वर्ष पुराने हैं, इतने सुन्दर और महीन हैं कि उनको जब तक खुर्दबीन लगाकर न देखा जाय तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि वे रेशमी कपड़े नहीं हैं। एक इतिहासकार का कथन है कि "मशीन के करघे का सर्वोत्तम नमूना मिस्र के हाथ के करघे के इस रेशे की तुलना में भद्दा है।" पैशेल नामक एक अन्य विद्वान की सम्मति है कि यदि "हम मिस्रवासियों की हस्त-कला की तुलना अपनी हस्तकला से करें तो यह स्पष्ट है कि वाष्प इञ्जन के आविष्कार के पूर्व हम उनसे किसी भी वस्तु में बढ़े न थे।"

मिस्र का व्यस्त औद्योगिक जीवन वहाँ की चित्रकला द्वारा मुखर हो उठा है। सामन्तों की समाधियों में जो चित्र खिंचे हैं उनसे हम मिस्र के विभिन्न उद्योग-धन्धों का अच्छा परिचय प्राप्त करते हैं। एक चित्र में सुवर्णकार प्रदर्शित किया गया है जो धातु को तौल रहा है, और उसे गला कर और काट-पीट कर उस पर नक्काशी कर रहा है। दूसरे चित्र में हमें कुम्हार दिखाई पड़ता है जो चक्र द्वारा सुन्दर-सुन्दर बर्तन बना रहा है। अन्य चित्र हमें बताते हैं कि आभूषण किस प्रकार बनाये जाते थे, और कपड़े कैसे तैयार किये जाते थे, और बढ़ई लकड़ी के सामान किस प्रकार तैयार करते थे। मशीन का सर्वथा अभाव होने के कारण शिल्पी को एक निश्चित नमूने की वस्तु का निर्माण नहीं करना पड़ता था, इसीलिये वह अपनी कलात्मकता की पूर्ण अभिव्यक्ति अपनी वस्तुओं में कर सकता था। यही कारण है कि मिस्र के उद्योग-धन्धों में हमें एक उच्च कला के दर्शन होते हैं।

नील नदी की घाटी में व्यापार का उतना अधिक विकास न हो सका जितना कि दजला-फरात की घाटी में क्योंकि मिस्र में खेती से अधिक लाभ था। कुछ विदेशी व्यापार होता था। नील नदी का जल-मार्ग ही प्रमुख व्यापारिक मार्ग था। मसाले, इत्र, रंग आदि और सुगंधित लकड़ियाँ अरब तथा भारत से मँगाई जाती थीं। सोना, हाथीदाँत और शीशम आदि मिस्र के लोग सूडान से मँगाते थे। आन्तरिक व्यापार कम लाभदायक था। लोगों के क्रय विक्रय का साधन वस्तु-विनिमय था। किन्तु बाद में सोने और चाँदी के बने हुये अनाज के आकार के टुकड़ों का प्रयोग भी व्यापारी इस काम में करने लगे। यातायात के साधन विकसित न थे, सड़कें कम थीं और खराब हालत में थीं। व्यापार से भी राज्य को काफी आमदनी होती थी।

व्यापार

मिस्र निवासियों के जीवन में धर्म का प्रमुख स्थान था। उनका राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और बौद्धिक जीवन पर्याप्त अंशों में धर्म द्वारा प्रभावित था। उनका धर्म पशु पूजा, जादू, टोने में विश्वास बहुदेववाद और एकेश्वरवाद आदि विभिन्न विचारों का सम्मिश्रण था। आरम्भ में मिस्री लोगों का धर्म प्रकृति-पूजा के रूप में था। प्रकृति के हितकारी और विध्वंसकारी दोनों रूपों ने उनके मस्तिष्क पर प्रभाव डाला और वे तदनुसार या तो उन रूपों की उपासना करने लगे, या उनसे डरने लगे। सूर्य के प्रखर-प्रकाश ने, नील नदी की हरियाली ने, फल-फूल से समृद्ध रहने वाले और सूखे महीनों ने और पौधों को झुलसा देने वाली गर्म वायु ने उनके चित्त पर अपना-अपना प्रभाव डाला। वे नील नदी की पूजा करने लगे और जीवन की पहेली का उत्तर पाने के प्रयत्न में उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि सूर्य प्रकृति की प्रमुख शक्ति है और वही देवता है। वे सूर्य को देवता कहते थे। उनका विश्वास था कि सूर्य सब शत्रुओं को पराजित करने की शक्ति रखता है। वह ऋतुओं का निर्माता था और उपज तथा सम्पन्नता का स्रोत वही था। हर चौबीस घंटे वह मृत लोगों के प्रदेश में चला जाया करता था

मिस्रवासियों का धर्म

और फिर अपने-आप ही उत्पन्न हो जाता था। इसके लिये हेलीओपोलिस में एक मन्दिर भी बनवाया गया था। इस मन्दिर में बहुत से पुजारी देवता की पूजा के लिये नियुक्त किये गये थे। सूर्य के अतिरिक्त अन्य देवता भी थे। आकाश मिस्रियों का सब से प्राचीन देवता था जिसे वे सितु कहते थे। नील नदी के प्रतिनिधि देवता ओसिरस को, जो जीवन और उपज का देवता समझा जाता था, तथा उसकी स्त्री आइसिस को, जो आकाश की देवी थी, धर्म में बड़ा विशिष्ट स्थान प्राप्त था। नीचे की ओर पृथ्वी देवी थी जिसको हाथोर या नुइत कहा जाता था। चन्द्रमा भी उनका एक देवता था जिसका नाम उन्होंने सिन रक्खा था। इनके अतिरिक्त प्टाअमन और होरस नामक देवता थे, जिनके मन्दिर क्रमशः मेम्फिस, थीबीज और हिमरोपोलस नगर में थे। कभी-कभी कई देवताओं को मिला दिया जाता था, जैसे हेलियोपोलिस के रा और थीबीज के अमन को संयुक्त कर दिया गया था, और उनका नाम रक्खा गया था अमन-रा।

देवताओं के अतिरिक्त मिस्रवासी पशुओं की भी पूजा करते थे। उनके पवित्र पशुओं में बैल, बिल्ली, घड़ियाल आदि थे। ये पशु मन्दिरों में रक्खे जाते थे। अधिक प्राचीन देवताओं को कुछ मनुष्य का और कुछ पशु का रूप प्रदान किया जाता था। प्टा का रूप बैल का था, एमनरा का मेढ़ का और होरस का धड़ मनुष्य का था किन्तु शिर बाज का था। मिस्री लोग 'का' में विश्वास रखते थे, यह एक ऐसी आत्मा थी जो प्रत्येक देवता को उसकी विशिष्ट शक्ति प्रदान करती थी। मिस्री लोगों के अनेक देवता थे, जिनमें से प्रत्येक के पास यह 'का' अथवा आत्मा थी जो जीवन का पोषण और उसकी रक्षा करती थी।

भविष्य जीवन

भावी जीवन की धारणा मिस्रियों के धार्मिक विश्वास की केन्द्रबिन्दु थी। वे पुनर्जन्म में उतना ही विश्वास रखते थे, जितना मृत्यु की निश्चितता में। पहले तो उनका यह विश्वास था कि भविष्य जीवन जादू-टोने की क्रियाओं पर निर्भर है और उसका इस जीवन के आचरण से कोई सम्बन्ध नहीं है जो मनुष्य मृत्यु के पूर्व इस लोक में व्यतीत करता है। कुछ समय उपरान्त आचरण को महत्व प्राप्त हो गया। मृत्यु की उपमा "लोहबान तथा कमल की सुगन्धि और युद्ध तथा बन्दी-जीवन के बाद घर लौट आने से दी गई।"

मिस्रियों का ऐसा विश्वास था कि मृतकों को इस लोक और उस लोक दोनों स्थानों में रहना पड़ता था। वे सोचते थे कि यदि उनके शरीर की रक्षा न की गई, तो उनके इहलौकिक जीवन का अन्त हो जायगा। इसी कारण वश धनिकों के मृत शरीर मसाले के प्रयोग से सुरक्षित रक्खे जाते थे, और जब ऐसा सम्भव न हो सकता था तब मृतक की समाधि में उसकी मूर्तियां अथवा तसवीरें रख दी जाती थीं। ऐसा विश्वास किया जाता था कि मृतकों की आत्मा को उन सब वस्तुओं की आवश्यकता है जो किसी जीवित मनुष्य के लिये आवश्यक हैं। इसीलिये कब्रों में भोजन-वस्त्र तथा भोगविलास की सामग्रियां रख दी जाती थीं। समाधियों के भीतर औजार भी रखे जाते थे, क्योंकि वे आत्मा को पारलौकिक जीवन की यात्रा करने में सहायता प्रदान करते थे।

आत्मा की पारलौकिक यात्रा पर मिस्री धर्म में बड़ा जोर दिया जाता था। मिस्रियों का विश्वास था कि इस यात्रा में अनेक आपत्तियां आती हैं। इन आपत्तियों से मुक्ति पाने के लिये जादू-टोने की क्रियायें अथवा मन्त्रावलियां वे पुरोहितों से लिखवाते थे, एक लम्बी यात्रा के उपरान्त मनुष्य की आत्मा सत्य के भवन में प्रवेश करती थी, जहां अंतिम निर्णय दिया जाता था। पुरोहितों के आदेशानुसार आत्मा को कहना पड़ता था "मैं तेरे सामने निष्पाप आई हूँ और मैंने ऐसे कार्य किये हैं जिनसे देवता संतुष्ट हुये हैं। मैंने किसी की हत्या नहीं की है, डाका नहीं डाला है, लड़ाई-झगड़ा नहीं किया है, मिथ्या भाषण नहीं किया है, व्यभिचार नहीं किया है, और न मन्दिर के भोजन को ही चुराया है। मैंने भूखे को भोजन और नंगे को वस्त्र दिया है और भीख नहीं मांगा है।" ऐसा विश्वास था कि यदि मनुष्य की आत्मा दृढ़तापूर्वक ये शब्द कह सकती थी, तो वह एक सुखमय स्वर्ग में देवताओं के साथ निवास करती थी, अन्यथा उसे रौरव नरक में कष्ट भोगना पड़ता था, जहां उसे भयंकर पशु निगल जाने को तैयार रहते थे।

आइसिस और औसिरिस की दन्त कथा

मिस्र के धार्मिक जीवन में ओसिरिस को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। मिस्री अपने फरोह को उसी की सन्तान समझते थे। ओसिरिस रा का पुत्र था और उपज, उर्वरा शक्ति और जीवन प्रदायिनी नील नदी का देवता था। उसकी भगिनी आइसिस उसकी पत्नी थी। रा का भाई सेत ओसिरिस से बहुत घृणा करता था। उसने उसे मार कर उसके मृत शरीर को एक सन्दूक में बन्द कर दिया जो समुद्र के ऊपर तैरता था। आइसिस विलाप करती हुई उसे ढूँढ़ने लगी, और अन्त में उसे वह सीरिया के बेबीलोस नामक स्थान पर पा गई। परन्तु सेत ने मृत शरीर को कई टुकड़ों में काट कर पृथ्वी पर फेंक दिया। आइसिस ने फिर उसको ढूँढ़ लिया और जहाँ कहीं उसने उनको गाड़ा, वहाँ ओसिरिस की पूजा के लिये मन्दिर स्थापित हो गये। आइसिस के ओसिरिस द्वारा एक पुत्र था जिसको उसने पैपीरस के पौदों में छिपा रक्खा था।

मिस्रवासी इस दैवी परिवार से बहुत स्नेह रखते थे। जिस प्रकार से ओसिरिस जीवन बिता कर मरा था और मृत्यु के बाद पुनर्जीवित हो गया था उसी प्रकार उनका फरोह भी मरने के बाद राज्य की रक्षा करने के लिये फिर से जीवित हो सकता था। आइसिस एक जनप्रिय देवी थी। होरस ने अपने पिता के प्रति किये अत्याचारों का बदला लिया और अभागे लोगों की रक्षा की। ऐसा विश्वास किया जाता था कि जब ओसिरिस दूसरे लोक में राज्य करने के लिये चला जाता था तो होरस इस लोक में सभ्यता के पोषक के रूप में उसका उत्तराधिकारी हो जाता था।

एकेश्वरवाद

मिस्र के धर्म में एकेश्वरवाद की भावना का भी विकास हुआ था। अखनातून नामक फरोह ने एक ही देवता की उपासना पर जोर दिया था। उसके सिद्धान्तों और विचारों का वर्णन हम पहले कर ही चुके हैं। परन्तु उसके उपदेशों का प्रभाव मिस्री जनता पर किञ्चिन्मात्र भी न पड़ा, और उसकी मृत्यु के उपरान्त मिस्र में पुनः बहुदेववाद और पशु-पूजा का प्रचलन हो गया। उसकी एकेश्वरवाद सम्बन्धिनी भावना का कुछ आभास हम निम्नलिखित स्तोत्र से प्राप्त कर सकते हैं।

> "तू ऐसा रचयिता है जो अपने अंगों को स्वयं बनाता है,
> तू निर्माता है किसी ने तुझे निर्मित नहीं किया है।
> अपने गुणों में तू अद्वितीय है, अमर लोक की यात्रा करता है,
> मार्गों में लाखों तेरा पथ-प्रदर्शन चाहते हैं।"

मिस्र का साहित्य प्रधानतः धार्मिक है। अधिकांश साहित्यिक कृतियों में देवताओं की प्रशंसायें हैं अथवा मृत-आत्मा की परलोक यात्रा के विषय में अभिलिखित दी गई हैं। किन्तु कुछ कविताओं और गद्य के वाक्यों में नैतिक शिक्षायें भी हमें दिखाई पड़ती हैं। प्ताहोतेप के उपदेश मिस्री समाज में अत्यन्त प्रचलित हैं। उसने व्यावहारिक जीवन के सम्बन्ध में जो उपदेश दिये हैं उनसे यह स्पष्ट झलकता है कि उसे जीवन का पर्याप्त अनुभव था। वह पत्नी के प्रति व्यवहार के विषय में कहता है "उसे पर्याप्त भोजन दो और पहनने के लिये वस्त्र दो, अपने गृह में तुम कठोर न बनो, क्योंकि वह हिंसा की अपेक्षा समझाने से अधिक प्रभावित होगी।" प्रेम सम्बन्धी भावना भी कुछ गीतों में प्रकट की गई है।

"मृतकों की पुस्तक" और "शव मन्जूषा की पुस्तकें" जो प्रमुखतया फरोहों के लिये लिखी गई थीं, समाधियों में पाई गई हैं। अन्य पुस्तकों में भी फरोहों के कृत्यों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। इहलौकिक परक (सेक्यूलर) साहित्य में व्यक्तित्व भावना का अभाव है। बहुधा लेखक पुस्तकों में अपना नाम भी न लिखते थे। "वीणा बजाने वाले का गीत" एक सुन्दर उल्लास पूर्ण गीत है। "जीवन से ऊबे हुये एक मनुष्य और उसकी आत्मा में वार्तालाप" नामक पुस्तक कलापूर्ण, कल्पनामयी और भावनात्मक काव्य-कृति है। इस पुस्तक

में बुद्धिवाद की निन्दा की गई है और अमरता के लिये तैयारी करने पर जोर दिया गया है। इन्द्रिय सुखों और सांसारिकता की भी इसमें निन्दा की गई है। अखनातून के स्तोत्रों में हमें एक उच्च काव्य सौष्ठव के दर्शन होते हैं। अनूदित गद्यांशों से मौलिक की कलात्मक उत्कृष्टता का अनुमान नहीं लगाया जा सकता, परन्तु निम्नलिखित स्तुति से हम एटन देवता के विषय में रचयिता की भक्ति-भावना समझ सकते हैं।

"ऐ जीवित एटन, जीवन के आदि स्रोत !
आकाश की दिशा में तेरा उदय दिव्य है।
जब तू पूर्व दिशा में निकलता है,
तू प्रत्येक देश को अपने सौन्दर्य से परिपूर्ण कर देता है,
तू सुन्दर, महान्, देदीप्यमान्, प्रत्येक देश से ऊपर है।
तेरी किरणें उन सब देशों को घेर लेती हैं जिन्हें तूने बनाया है :
तू 'रे' है और सब को अधिकृत कर लेता है :
तू उन सब को अपने स्नेह से बाँधता है :
तू बहुत दूर है तेरी किरणें पृथ्वी पर है।
यद्यपि तू बहुत ऊँचे स्थान पर है, हमारे दिन तेरे पद-चिन्ह हैं
वृक्ष और पौदे समृद्ध होते हैं,
पक्षी अपनी दलदल भूमि में आनन्द से उछलते कूदते हैं।
तेरी पूजा के लिये वे अपने पंख उठा देते हैं :
सब भेड़े अपने चरणों पर नाचती हैं।
सब परदार वस्तुयें उड़ती हैं
तेरी किरणें विशाल नील सागर के बीच में हैं :
सब सुदूर देश,
तू उनके जीवन को भी बनाता है :
ऐ अमरता के प्रभु तेरी कृतियाँ कितनी अनुपम हैं !
अजातियों के लिये आकाश में एक नील है :
और प्रत्येक देश के पशुओं के लिये जो अपने पैरों से चलते हैं
तेरी किरणें प्रत्येक उद्यान का पोषण करती हैं :
जब तू उदित होता है वे बढ़ती हैं
वे तेरे साथ बढ़ती हैं।"

मिस्र का आरम्भिक साहित्य जनता की भाषा में नहीं लिखा गया था। उसमें परम्परागत रूढ़ियों का पूरी तरह पालन किया गया था। किन्तु चौदहवीं शताब्दी ईसा पूर्व में साहित्य में परम्परा के प्रति विद्रोह प्रकट हुआ और उसका सम्पर्क जन-जीवन से हुआ। अखनातून के स्तोत्रों की रचना जनभाषा में हुई है। यह नवीन साहित्य भावनात्मक और यथार्थवादी है। किन्तु परम्पराओं के प्रति मनुष्य को आन्तरिक स्नेह रहता है। इसलिये मिस्र का परवर्ती साहित्य भी परम्परा भार से दबा हुआ प्रतीत होता है। एक बार फिर जनभाषा और साहित्य में प्रयोग की जाने वाली भाषा में महान् अन्तर उपस्थित हो गया और जन जीवन से दूर हट जाने पर साहित्य की सजीवता और शक्ति का ह्रास हो गया।

मिस्र के साहित्य की भांति यहाँ की कला का भी जन्म धर्म के लिये ही हुआ। पिरामिडों के

निर्माण में एक धार्मिक भावना ही थी। ये विशाल पिरेमिड आज भी दर्शकों को चकित करते हैं। अधिकांश प्रमुख पिरेमिड नील नदी के बायें तट पर गिज़ा नामक स्थान पर हैं। सब से विशाल पिरेमिड चापसखुफु नामक फरोह का बनवाया हुआ है। यह ४५० फीट ऊँचा है और इसका क्षेत्रफल १३ एकड़ है। बनाने के समय इसकी ऊँचाई ४८१ फीट थी। इसके आधार की भुजायें ७५५ फीट और इस समय ७४६ फीट हैं। इसमें तेइस लाख शिलाखन्ड लगे हुये हैं। प्रत्येक शिलाखन्ड की तौल लगभग ढाई टन थी। जिस समय आधुनिक युग की इन्जीनियरी का विकास नहीं हुआ था उस समय इसका निर्माण निस्सन्देह विस्मय का कारण है। मिस्र की

कला

वास्तु-कला का उदाहरण हमें वहां के मन्दिरों से भी प्राप्त होता है। कारनाक के मन्दिर में संसार के सब से विशाल स्तम्भ वाली शाला है। इस शाला का निर्माण उसके पूर्व कहीं नहीं हुआ था। थीबीज तथा लाक्सौर के मन्दिर भी अपनी सुन्दरता के लिये विख्यात हैं। उन्नीसवें वंश के राजा रामोसीज द्वितीय ने अम्बू सिम्बेल नामक स्थान पर १८५ फीट लम्बा और ९० फीट ऊँचा मन्दिर बनवाया। इस मन्दिर में उदय होते हुये सूर्य की प्रतिमा स्थापित कराई गई और यह इस प्रकार की थी कि सूर्य के उदय होने पर सबसे अन्दर की मूर्तियों में प्रकाश हो जाता था। मिस्र की वास्तु-कला विशाल और भारी है, और इसे देखकर दर्शक विस्मय विमुग्ध हो जाता है। मिस्र वालों ने बाद की वास्तु-कला को बहुत प्रभावित किया। यूनानियों ने खम्भे का निर्माण उनसे ही सीखा।

मिस्र में स्थापत्य और चित्रकला का भी पर्याप्त विकास हुआ। अनेक मूर्तियाँ यद्यपि भग्न अवस्था में हैं, तथापि वे सजीव दिखाई पड़ती हैं। मृतकों और मृत फरोहों की अनेक प्रतिमायें मिलती हैं। इसके अलावा पशु-पक्षियों की भी बहुत-सी मूर्तियां हैं। इन सभी मूर्तियों में शक्ति, ज्ञान और प्रौढ़ता झलकती है,। एक ऐसी मूर्ति है जिसका धड़ तो शेर का है किन्तु शिर मनुष्य का है।

मिस्र की चित्रकारी को देखने पर वहां का सामाजिक और आर्थिक जीवन आंखों के सामने उपस्थित हो जाता है। यह चित्रकारी सभ्यता का इतिहास जानने वाले के लिये अत्यन्त महत्व रखती है क्योंकि इसके द्वारा इसका समकालीन जीवन सदैव नया और वर्तमान ही दीखता है। कुछ चित्रों में यह चित्रित किया गया है—तीन जलयान चले जा रहे हैं और नाविक उन्हें खे रहे हैं। चित्रकला का प्रयोग दीवालों और मूर्तियों को रंगने में किया जाता था। चित्रों द्वारा उस समय के जीवन का यथार्थ चित्रण हुआ है। मिस्री चित्रकार सौन्दर्य पर कम ध्यान देते थे।

मिस्र में घर सजाने की वस्तुओं का निर्माण काफी हुआ। आराम कुर्सियां, चारपाइयाँ, कुर्सियाँ और भाँति-भाँति के बर्तन पाये गये हैं। बहुमूल्य धातुओं का प्रयोग बहुत होता था। कुर्सियां सोने और चांदी से मढ़ी होती थीं, और बैठने के लिये उनमें कोमल चमड़ा लगा रहता था। मिट्टी के बहुत सुन्दर और उत्तम पात्रों का मिस्री लोग प्रयोग करते थे। अमेरिका और ब्रिटेन के संग्रहालयों में रक्खे हुये उनके गहनों को देखकर यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि मिस्र के कलाकार आभूषण बनाने में बड़े निपुण थे। मिस्र के कलाकारों की वस्तुयें विदेशों को भेजी जाती थीं, और विदेशी व्यापार में ये ही प्रमुख निर्यात सामग्रियां थीं।

मिस्री लोग संसार की उन प्राचीनतम जातियों में से हैं जिन्होंने प्रकृति के रहस्यों का पता लगाने का प्रयत्न किया और विज्ञान का विकास किया। मिस्र के इतिहास के प्रारम्भ से ही वहां हमें गणित के दर्शन होते हैं। पिरेमिड जैसी विशाल इमारतों का निर्माण बिना गणित-ज्ञान के नहीं हो सकता। नील नदी प्रति वर्ष बाढ़ द्वारा खेतों को बिगाड़ देती है इसलिये उनको बार-बार नापना आवश्यक हो जाता है। इस नाप जोख ने ज्यामिति को जन्म दिया।

विज्ञान

उनकी अंक-पद्धति अत्यन्त कठिन थी। उन्होंने १ से लेकर ९ तक चिन्हों का निर्माण किया था। दस के लिये एक स्वतन्त्र चिन्ह था। दस के समापवर्त्य दस के चिन्ह को जोड़ने से बनते थे। सौ के लिये एक स्वतन्त्र चिन्ह था। दस लाख के लिये चिन्ह अपने सिर को ठोकता हुआ एक मनुष्य था। शून्य का ज्ञान न होने के कारण मिस्रियों को अंक लिखने में बड़ी कठिनाई होती होगी।

मिस्री लोगों के रसायन तथा भौतिक विज्ञानों के विषय में हमें कोई विशेष ज्ञान नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन लोगों ने इन विज्ञानों का विकास नहीं किया, और इस क्षेत्र में वे दजला फरात की घाटी के निवासियों से काफी पीछे थे। चिकित्सा-विज्ञान में अवश्य मिस्रियों ने उल्लेखनीय उन्नति की थी। शव को सुरक्षित रखने से उन्हें शरीर-रचना-शास्त्र का कुछ ज्ञान प्राप्त हो गया था। उन्होंने रोगों और शारीरिक चोटों का अध्ययन किया था। उन्होंने रोगों का वर्गीकरण कर उनके दूर करने का साधन भी ढूँढ़ा था। रोग-निदान के अपने प्रयत्न में उन्होंने तापक्रम, नाड़ी देखना, और आंत तथा गुरदे को खाली करना आदि बातों का अध्ययन कर लिया था। पैपिरस पत्र का एक १५ फ़ीट लम्बा टुकड़ा, जिसका समय लगभग १६०० ई० पू० है, चिकित्सा-विज्ञान पर प्राचीनतम पुस्तकों में से एक है। इसमें यह बताया गया है कि किस प्रकार से शय्याग्रस्त रोगियों की चीराफाड़ी के ४८ मामले अल्प-कालीन निदान, परीक्षण, रोग का लक्षण देखने, निदान और नियमित चिकित्सा द्वारा किये गये थे।

जब हम यह देखते हैं कि मिस्रियों को इतने विविध प्रकार की विलास-सामग्रियों का उपभोग करना मालूम था, तब हम उनकी अपेक्षाकृत न्यून वैज्ञानिक प्रगति पर आश्चर्य करते हैं। उनके माप के ढंग अत्यन्त जटिल थे और वे दो से अधिक संख्या द्वारा कभी गुणा नहीं कर सकते थे। यदि उनको सत्रह से गुणा करना होता था तो वे आठ बार दो से गुणा करते थे और फिर उसके योग को संख्या में जोड़ देते थे। इसी प्रकार यद्यपि शव को चीर कर सुरक्षित रखने के कारण वे शरीर-रचना-शास्त्र के विषय में किंचित ज्ञान प्राप्त कर चुके थे, तथापि उनको रोग निदान का अत्यन्त साधारण ज्ञान ही था। उनका चिकित्सा विज्ञान कुछ मामलों में व्यावहारिक अवश्य था, किन्तु उसमें हर प्रकार के जादू और मन्त्रों का आवश्यकता से अधिक समावेश था। उनका विश्वास था कि शरीर में किसी दैत्य के साथ ही रोगों का प्रवेश होता था और रोग को नष्ट करने का सब से सरल उपाय है कि दैत्य को शरीर से बाहर भगा दिया जाय। चीरा-फाड़ी की कुछ अधिक उन्नति हुई थी परन्तु राज्य के इस नियम ने कि आपरेशन के बाद यदि रोगी की मृत्यु हो जाती थी तो चिकित्सक को कठोर दंड दिया जाता था अनेक चिकित्सकों को भयभीत और हतोत्साह कर दिया और आपरेशन के गम्भीर मामले न किये जाते थे।

शिक्षा और लिपि

विद्या के क्षेत्र में मिस्रवासियों की देन है। उनके समाज में विद्या का सम्मानीय स्थान था। एक मिस्री गुरु अपने शिष्य को उपदेश देता है कि "तू विद्या में अपना चित्त लगा, और उससे अपनी माता के समान स्नेह कर क्योंकि विद्या के समान बहुमूल्य कोई दूसरी वस्तु नहीं है।" मिस्रियों के यहाँ शिक्षा की व्यवस्था थी जिसका निरीक्षण सरकार द्वारा होता था। शिक्षालयों में व्यापार और राजनीति की शिक्षा दी जाती थी। मन्दिरों में ही पाठशालायें रहती थीं और पुरोहित शिक्षक थे। मन्दिर के विद्यालय से शिक्षा समाप्त करके विद्यार्थी को राजकोष के अफ़सरों के पास उच्च शिक्षा ग्रहण करने के लिये जाना पड़ता था। इस शिक्षा को प्राप्त कर लेने के उपरान्त उसे एक अफ़सर के पास रहकर काम सीखना पड़ता था, जो उसे काम का व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करता था। मन्दिरों में लेखन-कला की शिक्षा भी दी जाती थी।

मिस्रियों ने ई० पू० ४२३६ में ही एक पञ्चांग का निर्माण किया था। उनका यह पञ्चांग सौर था, इसलिये यह मेसोपोटैमिया के पंचांग की अपेक्षा अधिक विशुद्ध था। उनके वर्ष में ३० दिनों वाले बारह महीने होते थे। इस प्रकार एक वर्ष में ३६० दिन होते थे। और वर्ष के पांच शेष दिनों को अवकाश के दिन मान लिया जाता था। कई शताब्दियों के बाद रोमवासियों ने उसी पंचांग को ग्रहण किया। इसलिये हम कह सकते हैं कि यूरोप का पंचांग, जो रोम वासियों की देन है, मूलतः मिस्रियों के द्वारा ही निर्मित है। मिस्रवासियों के खगोल-विद्या सम्बन्धी निरीक्षण ठीक थे। वे पाँच नक्षत्रों को जानते थे। वे सूर्य ग्रहण की घोषणा पहले ही कर सकते थे और धूप घड़ी तथा जल घड़ी द्वारा समय जानते थे।

लेखन-कला में मिस्र के निवासियों की देन महत्वपूर्ण है। उन्होंने लिखने में कागज कलम और स्याही का

प्रयोग करना सीखा। वे पैपिरस के वृक्ष से कागज तथा पत्ती काजल और गोंद मिला कर स्याही बनाते थे। वे नरकुल की कलमों से लिखते थे। प्राचीन राजवंशों के समय में ही लेखन-कला अत्यन्त विकसित रूप में वर्तमान थी। अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रागैतिहासिक काल में ही नील नदी के तट पर रहने वाले किसी लिपि से परिचित थे। उनकी सबसे प्राचीन लिपि चित्रात्मक थी। पदार्थों का ज्ञान उनका या उनसे मिलता-जुलता चित्र बनाकर कराया जाता था। कुछ दिनों बाद यह चित्र-लिपि विचार-लिपि में बदल गई। चित्र अब पदार्थ न प्रकट कर विचार प्रकट करने लगे। इस प्रकार शनैः शनैः शब्द-खंड, संकेत-लिपि और अन्त में वर्णमाला का विकास हुआ। मिस्र में चौबीस व्यंजनों की वर्णमाला का विकास हुआ जो भूमध्य-सागरीय और योरपीय देशों में विभिन्न रूपों में पहुँची। परन्तु मिस्रियों ने ने स्वयं शुद्ध वर्णमाला का प्रयोग कभी नहीं किया। वे चित्र-संकेत और वर्ण के मिश्रण से बनी हुई लिपि में लिखते थे।

यदि हम अपनी वर्तमान सभ्यता को दृष्टि में रख कर मिस्र की सभ्यता के स्वरूप पर विचार करेंगे तो हमें अनेक अंशों में मिस्री सभ्यता प्रभावहीन प्रतीत होगी। उनके विज्ञान प्रारम्भिक, बहुधा त्रुटिपूर्ण और अन्ध-विश्वास से परिपूर्ण थे। उनके धर्म में बहुदेववाद और पशुपूजा का अत्यधिक प्रचलन था और उनके सामाजिक जीवन में निम्न-वर्गों का जीवन कटु था। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि वे सभ्यता को जन्म देने वाले थे, फिर भी कई क्षेत्रों में उन्होंने जो प्रगति की वह हमें आश्चर्यान्वित कर देती है। वस्त्र बुनने की कला तथा पिरेमिड और मन्दिर-निर्माण के उनके कौशल पर यथास्थान प्रकाश डाला जा चुका है। प्राचीन मिस्री भोग-विलास और सुख-सुविधाओं की जिन सामग्रियों का यथा आराम कुर्सी, मेज, चारपाई आदि का प्रयोग करते थे, उनकी सुन्दरता में अब तक कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई है। सौर पंचांग तथा जलयान मिस्र की बहुत बड़ी देनें हैं। धातु की बनी हुई वस्तुओं का इतने बड़े पैमाने पर प्रयोग हमें किसी अन्य सभ्यता में नहीं दिखलाई पड़ता।

मिस्री सभ्यता की देन

हमारी सामान्य सभ्यता के कई विषयों में मिस्री सभ्यता की मौलिकता झलक रही है। दाढ़ी बनाने की कला, कृत्रिम केश, हैट का प्रयोग, घांघरा और जूतों का तथा बाद में अन्य वस्त्रों का आविष्कार, हमारे अनेक वाद्य-यन्त्र, कुर्सियाँ और चारपाइयाँ, आराम कुर्सियाँ, आभूषण और गहने रखने के सन्दूक, दीपक, ये नील नदी की घाटी के हमारे उत्तराधिकार की केवल कुछ ही वस्तुयें हैं।[1] अमेरिका के सुप्रसिद्ध विद्वान विल डूरेन्ट ने मिस्री सभ्यता के योगदान का वर्णन इन शब्दों में किया है: "कृषि, धातु, विज्ञान, उद्योग और इन्जीनियरिंग का विकास, कांच तथा सन के वस्त्रों का प्रत्यक्ष आविष्कार, कागज और स्याही का, पंचांग और घड़ी का, ज्यामिति और वर्णमाला का, वस्त्रों और आभूषणों का, परिष्कार का, घर को सजाने की सामग्रियों का और वासस्थानों का, समाज और जीवन का, सुव्यवस्थित और शान्ति पूर्ण सरकार का, जनगणना तथा डाक का, प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा का, यहाँ तक कि दफ्तर और शासन की विशिष्ट शिक्षा का, उल्लेखनीय विकास, लिपि और साहित्य का, विज्ञान और चिकित्सा-शास्त्र की उन्नति, व्यक्तिगत तथा सामाजिक [illegible] भावना का सर्वप्रथम स्पष्ट व्यवस्थापन, जो हमें ज्ञात है; सामाजिक न्याय की प्रथम मांग, एक पत्नीव्रत का बड़े पैमाने पर प्रथम प्रचलन, एकेश्वरवाद की प्रथम भावना, नैतिक दर्शन के प्रथम लेख, वास्तु-कला, स्थापत्य और अन्य छोटी कलाओं की ऐसी उन्नति जो पहले कभी नहीं हुई थी, और तब से उसकी समानता भी बहुत ही कम हुई है, ये योगदान नष्ट नहीं हुये, यहाँ तक कि तब भी जब उनके सुन्दरतम नगर मरुस्थल में नीचे दब गये या भूकम्प के उलटने-पलटने से उखाड़ दिये गये।"[2] फिनीशिया, सीरिया और क्रीट के निवासियों, यहूदियों, यूनानियों और रोमवासियों के द्वारा मिस्र की सभ्यता मानव-संस्कृति का अंग बन गई। इतिहास

[1] Elliot Smith: Ancient Egyptians, Page 7.

[2] Our Oriental Heritage, 216-217

के उषःकाल में मिस्र ने जो कुछ किया उसकी स्मृति या उसका प्रभाव प्रत्येक युग में मानव-सभ्यता के ऊपर रहा है। यूरप की आधुनिक सभ्यता के ऊपर रोम और यूनान का ऋण है। रोम ने अपनी सभ्यता के कुछ तत्त्व यूनान से ग्रहण किए और यूनान ने बहुत सी बातें मिस्र से सीखीं। इस प्रकार यूरोप की सभ्यता हमें बहुत अंशों में प्राचीन मिस्र की ऋणी प्रतीत होती है। मिस्र में बहुत समय तक सभ्यता निर्बाध गति से फलती-फूलती रही और उसने अपनी अनेक उन्नत विशेषतायें उत्पन्न कर लीं जिससे सामाजिक या राजनीतिक उन्नति अथवा आविष्कार के इतिहास में वह सदैव अत्यन्त महत्वपूर्ण मानवीय उत्पत्ति रहेगी।

—:o:—

चौथा अध्याय

सिन्धु घाटी की सभ्यता

सिन्धु घाटी की सभ्यता का अध्ययन करने में हम इतिहास के उस अध्याय को खोलते हैं जिसमें हमें विजेताओं अथवा सम्राटों, युद्धों अथवा साम्राज्यों के विषय में नहीं पढ़ना पड़ता, वरन् हम जनता के जीवन, उसकी कला और उसके साहित्य या उसके धर्म और उसके रहन सहन का अध्ययन करते हैं। इस बात के प्रमाण मिले हैं कि यह सभ्यता अपनी समकालीन सभ्यताओं तथा सुमेरिया, मिस्र अथवा बेबीलोनिया के प्रतिकूल शान्तिमयी थी। इसकी आधारशिला हिन्सा अथवा विजय न थी। यह एक उन्नत [illegible] सभ्यता थी जिसमें नगर-शासन की व्यवस्था थी। कुछ अंशों में यह अपनी समकालीन सभ्यताओं से उत्कृष्ट थी। सर जान मार्शल इस सभ्यता की तुलना समकालीन सभ्यताओं से करते हुये लिखते हैं कि 'इस प्रकार कुछ विशेष बातें यह हैं कि इस काल में रूई का प्रयोग वस्त्र तैयार करने के कार्यों में केवल भारत में ही होता था और २००० अथवा ३००० वर्षों बाद तक यह पाश्चात्य जगत में नहीं फैला। इसके अतिरिक्त मिस्र या मेसोपोटैमिया या पश्चिमी एशिया में कहीं भी हमें वैसे सुन्दर बने हुये स्नानागार या विशाल गृह नहीं मिलते जैसे कि मोहनजोदारो के नागरिक अपने प्रयोग में लाते थे। उन देशों में देवताओं के वैभव पूर्ण मन्दिरों और राजभवनों तथा समाधियों के निर्माण पर अधिक ध्यान दिया जाता था और रुपये व्यय किये जाते थे, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जनता को मिट्टी की झोपड़ियों से सन्तुष्ट रहना पड़ता था। सिन्धु घाटी में इसके बिलकुल विपरीत चिन्ह दिखाई देते हैं। यहाँ अच्छे से अच्छे भवन मिलते हैं जिनमें नागरिक रहा करते थे।''

पुरातत्ववादियों और अनुसन्धानकर्त्ताओं के स्तुत्य प्रयत्नों द्वारा भारत के सुदूर अतीत पर, जो अभी तक गर्भ में छिपा पड़ा था, पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। पाश्चात्य विद्वानों का और कतिपय देशी विद्वानों का यह मत था कि वैदिक सभ्यता भारत की प्राचीनतम सभ्यता थी और इसका काल वे २००० ई० पू० से पहिले न मानते थे। इस प्रकार उनकी दृष्टि में भारत सभ्यता के क्षेत्र में मेसोपोटैमिया और मिस्र से पिछड़ा था। परन्तु सन् १९२१ ई० में सिन्ध प्रान्त के हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो नामक स्थानों में उत्खनन द्वारा जिस सुविकसित सभ्यता का पता चला है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष की सभ्यता भी अत्यन्त प्राचीन है। गार्डन चाइल्ड और हाल आदि विद्वान इस सभ्यता को ही सुमेरीय सभ्यता की जन्मदात्री या जननी समझते हैं। इस विषय पर अभी बिलकुल ठीक-ठीक कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि सिन्धु नदी तट पर फलने-फूलने वाली यह सभ्यता संसार की प्राचीनतम सभ्यताओं में से है। सिन्धु घाटी की सभ्यता केवल सिन्ध प्रान्त ही तक सीमित न थी अपितु डा० दीक्षित के मतानुसार यह राजपूताना, काठियावाड़ तथा पंजाब और उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्त तक फैली है। बिलोचिस्तान के नाल तथा आमरी और कपर आदि स्थानों में जो खुदाई हुई है उससे प्राप्त सामग्री हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की सामग्री से मिलती जुलती है। इससे यह ज्ञात होता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता पश्चिम में कम से कम बिलोचिस्तान तक अवश्य विस्तृत थी। मोहनजोदारो में प्राप्त सोना और अमेजन पत्थर क्रमशः मैसूर और नीलगिर पर्वत पर से ही उपलब्ध हो सकता है। इससे ज्ञात होता है कि यदि इस सभ्यता का विस्तार इतनी दूर तक न था तो कम से कम इन प्रदेशों से उनका सम्बन्ध और सम्पर्क अवश्य था। सिन्धु घाटी की सभ्यता का उद्गम कैसे हुआ और इसके निर्माता कौन थे? इस प्रश्न पर विद्वान एकमत नहीं हैं। सर जान मार्शल का कथन है कि यह सभ्यता योरप तथा एशिया दोनों महाद्वीपों में फैली थी और इसमें

दजला फरात की घाटी, हेलमन्द नदी की घाटी तथा सिन्धु नदी की घाटी सम्मिलित थी। मैक्डानल्ड का विश्वास है कि सिन्धु घाटी की यह विस्मयोत्पादिनी सभ्यता सुमेरिया से ली गई थी। इसके विपरीत हाल नामक विद्वान का कथन है कि सुमेरिया वालों ने अपनी सभ्यता भारत से ग्रहण की। वूली का विश्वास है कि सुमेरीया और सिन्धु नदी की घाटी के निवासी बिलोचिस्तान में या इसके निकटवर्ती प्रदेश में रहने वाली किसी एक ही जाति की सन्तान हैं। अन्वेषकों को कुछ सील बेबीलोनिया और भारत दोनों स्थानों में मिली है। इन दोनों स्थानों में प्राप्त होने वाली ये सील रूप और आकार में एक ही समान हैं इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि भारत की (सिन्धु की घाटी) सभ्यता बेबीलोनिया की सभ्यता से अधिक प्राचीन है। गार्डन चाइल्ड अपनी प्रख्यात पुस्तक "न्यू लाइट आन दी मोस्ट एन्शन्ट ईस्ट" में इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "ईसा के चार हजार वर्ष पूर्व की अबीदोस (Abydos) उर (Ur) या मोहनजोदारो की भौतिक संस्कृति पेरिक्लीज के काल के एथेन्स अथवा किसी मध्यकालीन नगर की सभ्यता से तुलना कर सकती है। गृह निर्माण की वस्तु कला सील निर्माण और मिट्टी के बर्तनों की चमक तथा शोभा का निरीक्षण करके हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व के प्रारम्भ में सिन्धु घाटी की सभ्यता बेबीलोनिया की सभ्यता से बढ़ी-चढ़ी थी। परन्तु भारतीय संस्कृति का वह बादवाला स्वरूप था इसने और प्राचीन समय में भी पथ प्रदर्शन किया होगा। ये अनुसन्धान और आविष्कार जो पूर्व सुमेरीय संस्कृति को अभिहित करते हैं बेबीलोनिया के भूमि पर देशी विकास थे, परन्तु उनकी प्रेरणा भारत से प्राप्त हुई थी। यदि ऐसा है तो क्या सुमेरीय स्वयं सिन्धु से या कम-से-कम उसके प्रभाव के निकटवर्ती क्षेत्रों से आये थे।" इन विचित्र प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर देना सरल नहीं है। हो सकता है कि इन सभ्यताओं का जन्म पृथक-पृथक हुआ हो और बाद के पारस्परिक सम्बन्धों से उनमें समतायें उत्पन्न हो गई हों।

नगर निर्माण

मोहनजोदारो की खुदाई से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता प्रमुखतया एक नगर-सभ्यता थी, वैदिक-काल की भाँति ग्राम्य-सभ्यता नहीं। इस नगर के ध्वंसावशेष इस बात को पूर्णरूप से सिद्ध कर देते हैं कि यह नगर एक सुनिश्चित क्रमानुसार बनवाया गया था। इसकी सड़कें काफी चौड़ी थीं और थोड़ी-थोड़ी दूर पर गलियाँ तथा अन्य छोटी-छोटी सड़कें बनी होती थीं। ये सड़कें और गलियाँ एक दूसरे के समानान्तर चलती थीं या एक दूसरे को समकोण पर काटती थीं। सड़कों के दोनों ओर पक्की ईंटों के बने हुये विशाल मकान स्थित थे। छोटे मकान भी थे। जो पक्के, हवादार और मजबूत होते थे। बड़े मकानों में सार्वजनिक काम हुआ करते थे, अथवा शासक वर्ग रहा करते थे और छोटे मकानों में नागरिक रहते थे। प्रत्येक मकान में स्नानागार अवश्य होता था। नालियों का बड़ा उत्तम प्रबन्ध था। इन नालियों द्वारा घर का गन्दा पानी सड़क के नीचे बनी हुई नालियों द्वारा एक अन्य स्थान पर चला जाता था। मोरियों का इतना सुन्दर प्रबन्ध किसी भी समकालीन सभ्यता में न था और जब हम यह जानते हैं कि योरप के लन्दन और पेरिस जैसे विशाल और प्रसिद्ध नगरों में मोरियों का निर्माण अठारहवीं शताब्दी में होना प्रारम्भ हुआ तो हमारा विस्मय और अधिक बढ़ जाता है। गार्डन चाइल्ड ने इस व्यवस्था पर विचार करते हुये लिखा है "नालियों की सुन्दर पंक्तियाँ और नालियों का अत्युत्तम प्रबन्ध और उनकी सतत स्वच्छता इस बात का संकेत देती है कि यहाँ कोई नियमित नगर-शासन था और यह अपना कार्य सावधानी से करता था। इसका अधिकार इतना सुदृढ़ था कि बाढ़ों के कारण बार-बार बनी इमारतों की तैयारी के समय निर्माण के और सड़कों की सुनिश्चित पंक्तियों को बनाये रखने के नियमों का पालन होता था।"[1]

---

[1] What Happened in History, Page 127, By V. Gordon Childe.

नगर के मकानों का निर्माण भी योजनानुसार होता था। मकान ईंटों के तथा चौकोर बने हुये होते थे। बीच में आँगन होता था और उसके चारों ओर कमरे। मकान में दरवाजे खिड़कियाँ, स्नानघर, पानी रखने का स्थान और कूड़ादान बना होता था जिससे मालूम होता है कि मकान बनाने में स्वास्थ्य और स्वच्छता का पूरा ध्यान रखा जाता था। मकान की छतें लकड़ी और ईंटों से पटी होती थीं। मोहनजोदारो के मकानों की एक विशेषता यह है कि उनमें एक भी ऐसी खिड़की अथवा दरवाजा नहीं है जो प्रमुख राजमार्ग की ओर खुलता हो। आधुनिक भवन-निर्माण-कला के अनुसार यह एक दोष हो सकता है क्योंकि इससे सड़कें कुछ सूनी और डरावनी प्रतीत होती रही होंगी। हमें मोहनजोदारो के मकानों की इस विशेषता का कारण स्पष्ट नहीं होता। नगर में मिले हुये एक सार्वजनिक स्नानागार से ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु नदी के तट पर रहने वाले लोग स्वच्छता के प्रेमी थे। वे स्नान के बड़े शौकीन थे। कुछ विद्वानो का यह अनुमान है कि स्नान करना ये लोग अपना धार्मिक कर्तव्य समझते थे। यह सार्वजनिक स्नानागार चौकोर बना हुआ था और इसके चारों ओर बरामदे तथा कमरे बने थे। स्नानागार के मध्य में एक आंगन था। इस आंगन के चारों ओर बरामदे तथा कमरे बने थे। आंगन के बीच में एक स्नानकुन्ड बना था। यह कुन्ड ३९ फीट लम्बा, २३ फीट चौड़ा और ८ फीट गहरा था। इसके दोनों ओर सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। इसके निकट के एक कमरे में एक कुँआ है जिसमें से पानी इस कुन्ड में आता है। कुन्ड के पानी को बाहर निकालने के लिये एक बहुत बड़ी नाली बनी हुई है जिस पर ६ फीट ऊँची छत बनी है। यह सुविशाल स्नानागार १८० फीट लम्बा और १०८ फीट चौड़ा है।

व्यवसाय

सिन्धु घाटी के निवासी कृषि-कार्य से पूर्णतया परिचित थे। गेहूँ और जौ प्रमुख उपज थी। यह ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है कि वे लोग हल का प्रयोग करते थे अथवा नहीं। कपास और खजूर भी उत्पन्न किये जाते थे। विद्वानों का अनुमान है कि उस समय सिन्ध प्रान्त आजकल की तरह शुष्क और वृष्टिहीन प्रदेश न था वरन् वहाँ पर्याप्त वर्षा होती थी, कदाचित इसीलिये वहां सिंचाई की व्यवस्था के चिन्ह हमें नहीं प्राप्त होते। खेती के साथ-साथ लोग पशुपालन भी करते थे। इनके बर्तनों और मुहरों पर बने हुये पशुओं के चित्रों को देखने से मालूम होता है कि वे बैल, हाथी, सुअर, कुत्ते और गाय पालते थे। ऊँट भी वे पालते थे, पशुओं को वे मार कर खाते भी थे। इनके मकानों में बैल, सुअर, भेड़, घड़ियाल चिड़ियों और मछलियों की अधजली हड्डियां पाई गयी हैं, जो यह सिद्ध करती हैं कि सिन्धु घाटी के लोग आमिषभोजी थे। खुदाई द्वारा घोड़े की हड्डियां मिली हैं जिनसे यह पता लगता है कि वे घोड़े भी पालते थे, परन्तु घोड़े की हड्डियां ऊपरी सतह पर मिली हैं, जिन से यह अनुमान लगाया जाता है कि यहाँ के निवासी पहले तो घोड़ों का प्रयोग करना न जानते थे, परन्तु बाद में वे इन्हें पालने लगे थे। अन्य चित्रों से यह भी पता लगता है कि वे लोग गैंडा, चीता, भालू, बन्दर और खरगोश आदि पशुओं से भी परिचित थे।

सिन्धु घाटी की सभ्यता में कला-कौशल तथा व्यापार की अवस्था अत्यन्त उन्नत थी। यहाँ के लोग मिट्टी के अतीव सुन्दर बर्तन बनाते थे। मिट्टी के बर्तन के अलावा दीपक रखने के लिये डीवट, चूहेदानी, पशुओं के लिये पिंजड़े, आदि भी मिट्टी से बनाये जाते थे। मिट्टी के बड़े-बड़े जार और भान्ड भी बनाते थे, जिनमें सामान रखा जाता था। वे रुई के कपड़े बुनना जानते थे, और उन कपड़ों को सुन्दर तथा आकर्षक रंगों में रंगना भी जानते थे। ऊनी कपड़ा भी बनाया जाता था। समाज में बढ़ई तथा भवन-निर्माता भी थे। बढ़ई काठ की उत्तम वस्तुयें बनाते थे। धातुओं के प्रयोग से सिंधु घाटी के निवासी भली भाँति परिचित थे। सोना, चाँदी, तांबा और सीसा आदि धातुओं का प्रयोग होता था। मार्शल की सम्मति में या तो वे धातुयें देशी खानों से खोदकर निकाली जाती रही होंगी या फारस और अफगानिस्तान से मगायी जाती होंगी। सुनार लोग उत्तम और सुन्दर आभूषण बनाते थे। सोने और चाँदी के कड़े, कानों के गहने और नेकलेस तथा अन्य गहने इतने उत्तम और चमकीले हैं कि "वे बान्ड स्ट्रीट के किसी आधुनिक जौहरी की (दूकान) से आये हुये प्रतीत होते हैं, ईसा से ५,००० हजार वर्ष पूर्व के

प्रागैतिहासिक काल के घर से आये हुये नहीं प्रतीत होते।" आभूषणों में करधनी और अँगूठी प्रधान थी। ये आभूषण स्त्री-पुरुष दोनों पहिनते थे। लगभग तेईस बहुमूल्य या अर्ध बहुमूल्य धातुओं का प्रयोग अलंकारों के निर्माण के लिये होता था। उनको इस सावधानी से बनाया गया है कि उन्हें देखकर यह स्पष्ट पता लग जाता है कि कारीगरी काफी उन्नति दशा में थी। करधनी में जिन पांच इंच माले के दानों का प्रयोग हुआ है वे अत्यन्त सुन्दर हैं। उनके विषय में डाक्टर मेकेई का कथन है "माले के प्रत्येक दाने के भीतरी भाग को पालिश करने में जो सावधानी की गई है, जिससे कि कोई सफेद चिन्ह अर्ध पारदर्शक पाषाण को भद्दा न कर दे, वह उच्च-कोटि की कारीगरी को प्रकट करती है।"

सिन्धु घाटी के निवासी व्यापारी थे। उनका व्यापारिक सम्बन्ध सुदूर देशों से था। वे समकालीन सभ्य संसार के अन्य देशों से काफी बड़े पैमाने पर व्यापार करते थे। यहाँ की सभ्यता प्रमुखतया एक नगर-सभ्यता थी, जहाँ के व्यापारी सम्पन्न और प्रभावशाली लोग थे। सड़कों पर दूकानों की पंक्तियां होती थीं और ऐसी इमारतें होती थी जो कदाचित छोटी-छोटी दूकानें थीं। ये आजकल के हिन्दोस्तानी बाजार जैसी लगती हैं।

व्यापार

सिन्धु घाटी के रहने वाले सुमेरिया से व्यापार करते थे। इनके विदेशी व्यापार के विषय में प्रोफेसर गार्डन चाइल्ड कहते हैं कि "सिन्धु घाटी के नगरों की बनी हुई वस्तुयें दजला और फरात के बाजारों में बिकती थीं और उधर सुमेर की कला के कुछ तरीके, मेसोपोटैमिया के शृंगार के सामान और एक बेलन के आकार की मुहर की नकल सिन्ध वालों ने कर ली थी। व्यापार कच्चे माल और विलास की वस्तुओं तक सीमित न था। अरब सागर के तटों से लाई गई मछलियां मोहनजोदारो के भोज्य-पदार्थों में सम्मिलित थीं।" इनके आन्तरिक व्यापार के विषय में प्रोफेसर चाइल्ड लिखते हैं कि "इससे स्पष्ट रूप से यह प्रकट हो जाता है कि सिन्ध के नगरों में शिल्पी बिक्री के लिये सामान तैयार करते थे। इस सामान के विनिमय की सुविधा के लिये समाज ने सिक्कों का प्रचलन या मूल्यों का माप स्वीकार किया था या नहीं, और यदि किया था तो वह क्या था, इसका ठीक पता नहीं। अनेक सुविशाल भवनों और मकानों के साथ लगे हुये सुरक्षित गोदामों से पता चलता है कि इन घरों के स्वामी व्यापारी थे। इन घरों की संख्या और आकार यह बताते हैं कि यहां पर सुसंगठित और शक्तिशाली व्यापारियों की बस्ती थी।" वे आगे सिन्धु घाटी के निवासियों की औद्योगिक वस्तुओं के विषय में हमें बताते हैं, "इन भंडारों में सोने-चाँदी, बहुमूल्य पत्थरों और चीनी मिट्टी के बने हुये गहने, पिटे हुये तांबे के बरतन, धातु के बने हुये औजार और हथियार इतनी अधिकता से प्राप्त हुये हैं कि आश्चर्य होता है।"

सिन्धु घाटी की वास्तु-कला में हमें सौन्दर्य-भावना अपेक्षाकृत कम और उपयोगिता की भावना अधिक दिखाई पड़ती है। यद्यपि उनके मकान और भवन सुडौल होते थे तथापि उनको देखने से ऐसा पता चलता है कि भवन-निर्माताओं में कल्पना का अभाव था। परन्तु यहां की मूर्ति-कला अत्यन्त उन्नत है और सुन्दर कला के दर्शन होते हैं। यद्यपि मूर्तियों की संख्या नगण्य है तथापि लगभग सभी सुन्दर और कलापूर्ण हैं और कुछ तो सर जान मार्शल की सम्मति में ऐसी हैं कि "चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व का यूनानी उन पर अभिमान किये होता।"

कला

यहां हमें यूनानी मूर्तियों और सिन्धु घाटी की मूर्तियों के निर्माण का अन्तर समझ लेना चाहिये। वस्तुतः कला का भारतीय आदर्श यूनान के आदर्श से भिन्न है। जब कि यूनानी कलाकार शरीर के अवयवों को ही पुष्ट और सुविकसित दिखलाने के प्रयत्न में अपनी सम्पूर्ण कला का प्रयोग कर बैठता था भारत का कलाकार मूर्ति में मुखमंडल पर भावाभिव्यक्ति करना चाहता है। वह चाहता है कि मूर्ति को देखकर दर्शक के हृदय में एक स्थायी प्रभाव उत्पन्न हो जाय। यूनानी कलाकार की कृतियां केवल फोटोग्राफी मात्र है जब कि भारतीय कला आध्यात्मिक छटा दिखलाने का प्रयत्न करती है। भारत की कला-कृतियों में प्रभाव डालने की अद्भुत शक्ति है। यही बात हमें सिन्धु घाटी की मूर्तिकला में दिखलाई पड़ती है। एक नर्तकी की मूर्ति नृत्य-मुद्रा में है। वह नर्तन करने के लिये त्रिभंगी

मुद्रा में खड़ी है और पद प्रक्षेप करना चाहती है। इस मूर्ति की सजीवता और कलात्मकता सराहनीय है। दो पुरुषों की भी मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। इन मूर्तियों की प्रशंसा सबों ने की है। मुहरों और खिलौने पर अंकित पशु आकृतियां भी अत्यन्त आकर्षक और सजीव हैं। इस कला में यहां का कलाकार असीरिया के कलाकार से आगे था। सर जान मार्शल ने सिन्धु घाटी की कला पर अपनी सम्मति दी है, "सिन्धु घाटी की कला और धर्म भी उतने ही विचित्र हैं और उन पर अपनी एक विशिष्ट छाप है। इस काल में हम अन्य देशों में कोई ऐसी वस्तु नहीं जानते जो शैली की दृष्टि से यहां की चीनी मिट्टी की बनी भेड़ों, कुत्तों या अन्य पशुओं की मूर्तियों से मिलती हों, या उन खुदी हुई मुहरों से, विशेष रूप से जिन पर छोटी सींगों के कूबड़ वाले बैलों की नकाशी है और जो निर्माण-कौशल और सुडौलपन की दृष्टि से अद्वितीय है। न यही सम्भव है कि हड़प्पा में पाई गई दो छोटी प्रतिमाओं की तुलना रचना की सुघराई की दृष्टि से किन्हीं अन्य मूर्तियों से कर सकें, सिवाय इसके कि जब यूनानी सभ्यता की प्रौढ़काल की मूर्तियां देखें।" सिन्धु घाटी के लोग मुहरों और धातु की बनी हुई ताबीजों का प्रयोग बहुत बड़े पैमाने पर करते थे। इन ताबीजों पर उनके देवताओं की आकृतियां अंकित हैं। चित्रकला का स्वतन्त्र रूप से विकास नहीं हुआ था। मिट्टी के बर्तनों पर और ताबीजों पर पशु अथवा देवताओं की आकृतियां चित्रित हैं। संगीत और नृत्य का लोगों में प्रचार था जैसा कि कांसे की बनी हुई नर्तकी-मूर्ति से स्पष्ट है।

लेखन कला

सिन्धु घाटी के लोग एक चित्रात्मक लिपि से परिचित थे। उनके कोई लेख-पत्र नहीं प्राप्त हैं, और न उनकी लिपि प्रस्तर या मिट्टी पर उत्कीर्ण ही है। परन्तु लगभग ५०० मुहरें (seal) प्राप्त हुई हैं जिन पर कुछ लिखा हुआ है। दुर्भाग्यवश अभी तक कोई विद्वान उन लेखों को ठीक-ठीक पढ़ नहीं पाया। नहीं तो हमें सिन्धु घाटी की सभ्यता के विषय में और बहुत सी नई बातें मालूम होतीं। लेख दाहें से बाएं लिखे गये हैं। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि सीलों पर जो चिन्ह बने हैं उनमें से प्रत्येक किसी न किसी शब्द अथवा वस्तु के लिये बना है। कतिपय विद्वानों के मतानुसार यह वही लिपि है जिसका प्रयोग एलम, मिस्र, सुमेर आदि पश्चिमी एशिया के देशों में हुआ करता था।

निवासियों का रहन सहन

सिन्धु घाटी के भग्नावशेषों से वहां के निवासियों के जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उनके शरीर के जो ढांचे मिले हैं, उनसे ज्ञात होता है कि लोग कुछ नाटे कद के, तथा मजबूत होते थे। वे शाकाहारी और आमिषभोजी दोनों थे। गेहूँ और जौ की रोटी उनका प्रमुख खाद्यान्न था। खजूर के जो बीज प्राप्त हुये हैं उनसे यह अनुमान लगाया जाता है कि वे खजूर का प्रयोग भी अपने भोजन में करते थे। दूध का भी प्रयोग करते थे और कदाचित् मछली तथा मांसाहारी भी खाते थे। किन्तु इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं प्राप्त होता। यहां के निवासी पुरुष और स्त्री दोनों प्रकार के गहनों को धारण करते थे। एक पुरुष की मूर्ति प्राप्त हुई है, जिसमें वह एक शाल ओढ़े हुए है। शाल बाएं कन्धे के ऊपर से और दाहिनी कोख के नीचे से आता है जिससे दाहिना हाथ ढका न रहे। हड़प्पा की खुदाइयों से पता लगता है कि स्त्रियां एक विशेष प्रकार का पंखा सिर पर पहनती थी, जो सिर के पीछे की ओर पंखे की तरह उठा रहता है। [illegible] यह कि सिन्धु घाटी में आभूषणों का प्रयोग बहुलता से होता था. यहां की नारियां शृंगार प्रिय प्रतीत होती हैं। आभूषण विभिन्न धातुओं से बनाये जाते थे. शतरंज खेलना यहां के निवासियों के मनोरंजन का प्रमुख साधन था। शिकार खेलने, मुर्गों की लड़ाई देखने और नाचने गाने से भी वे मनोरंजन किया करते थे। मुहरों पर ढपली वीणा और बीना आदि वाद्य यन्त्रों के चित्र स्पष्टतया चित्रित हैं। सभी वर्गों की नारियां शृंगार करके भी अपना मनोविनोद करती थीं।

सिन्धु घाटी के निवासी को जीवन की लगभग सभी आवश्यक सामग्रियां उपलब्ध थीं। उनके बच्चों के खेलने के लिये तरह तरह के सुन्दर खिलौने थे। उनके पास तौलने के लिये वर्गाकार टुकड़े के बाट होते थे। वह अपने

सामानों को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने के लिये गाड़ियों का प्रयोग करते थे जिनमें बैल जुते हुये होते थे। कुर्सियों और अन्य सुविधा की वस्तुओं का उपयोग वह करता था। वह दाढ़ी रखता था। स्त्रियां केश संवारती थी। दर्पण, अंगराग और अन्य शृंगार सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं। दैनिक कार्यों में प्रयुक्त आने वाले औजार यथा कैंची, सुई और टेकुआ आदि वस्तुओं का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में होता था। विशेषज्ञों की धारणा है कि यहां की बनी हुई वस्तुयें एलम, तथा मैसोपोटैमिया की वस्तुओं से कहीं अधिक अच्छी हैं। सर जान मार्शल ने ठीक ही कहा है कि "यहां (सिन्ध घाटी में) साधारण नागरिक सुविधा और विलास का जिस मात्रा में उपभोग करता था उसकी तुलना समकालीन सभ्य संसार के अन्य भागों से नहीं हो सकती।"

अस्त्र-शस्त्र

सिन्धु घाटी के निवासियों के शस्त्रास्त्र साधारण थे, और वे कुल्हाड़ी, कमानी, छुरी, हंसिया तथा धनुष बाण ही बनाना जानते थे। कदाचित वे तलवार का प्रयोग नहीं करते थे। केवल दो तांबे की तलवारें जो साढ़े अठारह इंच से अधिक नहीं हैं, पायी गई हैं। वे कवच और ढाल आदि रक्षात्मक अस्त्रों का प्रयोग भी नहीं जानते थे। कदाचित इसका कारण यह हो कि ये लोग बाह्य आक्रमण की आशंका से मुक्त थे। उनके शस्त्रास्त्र बहुत नुकीले या पैने नहीं हैं इससे कतिपय विद्वानों का यह अनुमान हुआ है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता शान्तिपूर्ण सभ्यता थी।

धर्म

हम सिन्धु घाटी के निवासियों के धर्म के विषय में विस्तृत रूप से कुछ विशेष नहीं जानते। उनके धर्म का ज्ञान हमें सीलों तावीजों और कतिपय मूर्तियों से होता है। सीलों पर अंकित एक नारी मूर्ति से यह स्पष्ट होता है कि ये लोग मातृदेवी की उपासना करते थे। मातृदेवी की उपासना समकालीन देशों, एशिया माइनर, फोनिशिया, मिस्र आदि में भी प्रचलित थी। एक सील पर ऐसी स्त्री का चित्र बना हुआ है जिसके गर्भ से एक वृक्ष निकलता हुआ दिखाया गया है। इससे यह पता चलता है कि ये एक पृथ्वी देवी की उपासना भी करते थे जो उर्वरा शक्ति की देवी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रकृति पूजा कालान्तर में शक्ति पूजा के रूप में बदल गई। एक सील के अध्ययन से सुस्पष्ट हो जाता है कि वे देवता की भी पूजा करते थे। इस पर बने हुये देवता के तीन मुख हैं और यह योगमुद्रा में बैठा हुआ है। इसके ऊपर दो सींग हैं। देव के दोनों ओर चार पशु हाथी, सिंह, बारहसिंहा और भैंसे स्थित हैं। सर मार्शल का अनुमान है कि यह मूर्ति पशुपति शिवजी की है। लिंग पूजा भी प्रचलित थी। इसके अतिरिक्त वृक्ष पूजा और पशु पूजा के चिन्ह भी मिलते हैं। पीपल के वृक्ष में एक देवता का निवास दिखाया गया है, और बैल (एक पवित्र पशु) प्रतीत होता है। मन्दिरों का निर्माण कदाचित नहीं हुआ था। लोग अपने अपने घरों में ही देवता की पूजा आराधना किया करते थे। आज कल के प्रचलित हिन्दू धर्म और सिन्ध घाटी के धर्म में पर्याप्त साम्य परिलक्षित होता है जिससे मार्शल यह विश्वास करते हैं कि ये दोनों एक सामान्य धर्म है। आप कहते हैं "सिन्ध घाटी के लोगों के धर्म में बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनसे मिलती हुई बातें हमें अन्य देशों में भी मिल सकती हैं, और यह बात सभी प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक धर्मों के विषय में सत्य ठहरेगी। लेकिन सब कुछ लेकर उनका धर्म इतनी विशेषता के साथ भारतीय है कि आजकल के प्रचलित हिन्दू धर्म से उसका भेद कठिनता से किया जा सकता है।"

शव विसर्जन

सिन्धु घाटी के निवासी अपने शवों को गाड़ते और जलाते थे। वे कभी कभी सम्पूर्ण शरीर को पृथ्वी में गाड़ देते थे। गाड़ने के समय शव अथवा उसके भस्म के साथ अन्न, आभूषण रख देते थे। कभी-कभी शव की दाहक्रिया के उपरान्त क्षार को भूमि में गाड़ दिया जाता था। बहुत सी अस्थियाँ हथियार आदि तथा शव-क्षार-पात्र एक साथ उपलब्ध हुये हैं जिससे यह पता लगता है कि इसी रीति का अनुसरण प्रायः किया जाता था।

संक्षेप में यही सिन्धु घाटी की रूप-रेखा है। इसे पढ़कर सभ्यता के इतिहास का विद्यार्थी इस बात को अवश्य

निष्कर्ष

स्वीकार करेगा कि यह एक उत्कृष्ट सभ्यता थी। इस सभ्यता में हम वह घोर सामाजिक और आर्थिक वैषम्य न पायेंगे, जो हमने मिस्र, सुमेरिया, बेबीलोनिया और असीरिया आदि की सभ्यताओं में देखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ के समाज में न तो कोई बहुत ही धनी था और न कोई बहुत निर्धन। कुछ छोटे-बड़े मकान अवश्य मिलते हैं जिनसे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि बड़े मकानों में धनाढ्य व्यापारी रहते थे, और छोटे मकानों में कृषक अथवा कारीगर। साधारण नागरिक का जीवन सुखपूर्ण था। इसके अतिरिक्त यह एक ऐसी सभ्यता न थी जिसका विकास पार्थक्य और एकान्त में हुआ हो। इसका सम्पर्क समकालीन सभ्यताओं से बहुत गहरा था। विदेशी व्यापार के विषय में गार्डन चाइल्ड ने जो कुछ कहा है वह इस मत को पुष्ट करता है। उन्होंने अन्यत्र इस सभ्यता के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं "सिन्धु सभ्यता एक विशिष्ट वातावरण में मानव जीवन के सम्पूर्ण संगठन को प्रकट करती है। यह मनुष्य के अनेक वर्षों के प्रयत्नों का प्रतिफल हो सकती है। यह एक स्थायी सभ्यता थी, उस समय भी भारतवर्ष पर उसकी छाप पड़ चुकी थी, और वह वर्तमान भारतीय संस्कृति का आधार है।" सर जान मार्शल भी इसी भांति की कुछ बातें कहते हैं जब वे हमें बताते हैं "मोहनजोदारो और हड़प्पा इन दोनों स्थानों में एक बात जो सुस्पष्ट रूपसे प्रकट होती है, और जिसके विषय में कोई धोखा नहीं हो सकता, वह यह है कि इन दोनों स्थानों में जो सभ्यता हमारे सम्मुख आई है वह कोई प्रारंभिक सभ्यता नहीं है बल्कि ऐसी है जो उस समय ही युगों से प्रचीन हो चुकी थी, भारत-भूमि पर सुदृढ़ हो चुकी थी और उसके पीछे मनुष्य के कई सहस्त्र वर्षों पूर्व का कारनामा है। इस प्रकार अब से यह मानना पड़ेगा कि ईरान मेसोपोटैमिया और मिश्र की भाँति भारतवर्ष उन सबसे प्रमुख देशों में है जहाँ सभ्यता का जन्म और विकास हुआ था।" यही नहीं आप का यह दृढ़ विश्वास है कि यह सभ्यता अपनी समकालीन सभ्यताओं की तुलना में कुछ अंशों में अधिक उन्नत थी। "पंजाब और सिन्ध में यदि हम भारत के अन्य भागों में न भी मानें, एक अत्यन्त उन्नतिशील और परस्पर मिलती जुलती हुई सभ्यता का प्रसार था जो कि तत्कालीन मिस्र और मेसोपोटैमिया की सभ्यता से भिन्न होते हुये भी कुछ बातों में उनसे अधिक उन्नतिशील थी।"

—:o:—

पाँचवाँ अध्याय

भू-मध्यसागरीय सभ्यतायें

नदी तटों की भाँति भू-मध्यसागरीय प्रदेश भी सभ्यता के विकास के लिये उपयुक्त स्थान था। भूमध्यसागर के निकटवर्ती प्रदेशों में उर्वर-भूमि, समशीतोष्ण जलवायु, खनिज-पदार्थों के बाहुल्य, मार्ग की सुविधा आदि के कारण समय-समय पर अनेक जातियाँ यहाँ आती गईं, और यहाँ रहकर उन्होंने सभ्यता को बढ़ाया तथा फैलाया। इन जातियों ने प्रायः सभ्यता के तत्वों को मौलिक रूप से जन्म तो न दिया, परन्तु सुमेरिया, मिस्र और बैबीलोनिया की सभ्यताओं के प्रसार और प्रचार में इन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। भू-मध्यसागर अति प्राचीन काल से पश्चिमी और पूर्वीय व्यापार का प्रमुख मार्ग रहा है, अतएव इसके तट पर रहने वाली जातियों ने विशेष आर्थिक समृद्धि प्राप्त की। इस प्रदेश में मिस्री, बैबीलोनिया, असीरी, एरामीय, फिनीशी, मिहानी, ईरानी, हिट्टाइटी, आरमीनी आदि विभिन्न जातियाँ एक ही स्थान में मिलती हैं इसलिये यहाँ कभी-कभी जातियों का और संस्कृतियों का संकर हो जाता था, और लोगों में विश्वबन्धुत्व की भावना का उदय हो जाता था। भू-मध्यसागरीय प्रदेशों की सभ्यतायें एक दूसरे से काफी मिली-जुली हैं और संस्कृति समन्वय का निदेश करती हैं। यहाँ की दूर तक फैली हुई मखमल-सी हरियाली खेती तथा फलभार से नत वृक्षों के अनुपम सौन्दर्य को देखकर यहाँ के लोगों की कल्पना-शक्ति जागरूक और प्रखर हो उठी और उन्होंने मनोहारिणी पौराणिक तथा धर्म कथायें और सुन्दर कल्पना से युक्त कविताओं की रचना की। इन सब कारणों से यह भू-भाग सभ्यता के पालने के रूप में हो गया और यहाँ से सभ्यता का विकास हुआ और अपने पर्याप्त विकसित रूप में सभ्यता योरप में फैली।

प्राचीन संसार की सबसे प्रभावशाली जातियों में हिट्टाइट भी एक जाति थी। यह जाति सीरिया और एशिया माइनर में रहती थी और इसकी भाषा के इन्डोयूरोपियन भाषाओं से सादृश्य के कारण विद्वानों ने अनुमान किया है कि यह इन्डोयोरोपियन जाति की ही एक शाखा थी। ईसा के दो हजार वर्ष पूर्व हिट्टाइट लोग पूर्वी एशिया माइनर में सबसे अधिक प्रभुत्वशाली थे और १७५० ईसवी पूर्व में तो इन्होंने दक्षिणी मैसोपोटेमिया पर आक्रमण भी किया, और बैबीलोन नगर को लूटा। यद्यपि सोलहवीं शताब्दी ई० पू० में अस्थायी रूप से उनकी शक्ति का कुछ ह्रास भी हुआ लेकिन शीघ्र ही कुछ दिनों बाद इन्होंने एशिया माइनर में एक साम्राज्य स्थापित किया और दक्षिणी-पूर्वी भागों में अपनी राजसत्ता फैलाई। इस प्रकार इन्होंने असीरिया के लोगों को हराया, जो फिर से उनके ऊपर विजय पाना चाहते थे। उनका सैनिक संगठन इतना सुदृढ़ था कि बहुत दिनों तक उन्होंने असीरिया को दबा रक्खा और उनकी शक्ति को बढ़ने न दिया, परन्तु बाद में असीरियों ने ही हिट्टाइट लोगों का अन्त कर दिया।

हिट्टाइट

हिट्टाइटों के ऊपर एक राजा राज करता था जो निरंकुश न था बल्कि राजकाज में वह सामन्तों से परामर्श लिया करता था। राजा की शक्ति इतनी अधिक न थी जितनी कि सुमेरिया या बैबीलोनिया के राजा की थी। हिट्टाइट लोगों ने मैसोपोटेमिया के लोगों से कीलाक्षर लिपि सीखी। उनके कुछ लिखित रेकार्ड उपलब्ध हुये हैं जिनसे यह पता लगता है कि वे मिस्र के राजाओं से सन्धि किया करते थे। वे संसार के प्रथम लोग थे जिन्होंने लोहे का विकसित रूप से प्रयोग करना सीखा और लोहे के हथियार बनाये। असीरिया वालों ने लोहे का हथियार बनाना इन्हीं लोगों से सीखा था। असीरिया ने इनसे भवन निर्माण की एक विशिष्ट

हिट्टाइट सभ्यता

कला भी सीखी थी जिसका प्रयोग इन्होंने अपने राजभवनों में और मन्दिरों के निर्माण में किया। हिट्टाइटों की वास्तु कला विशाल और यथार्थवादी है। उनके कारीगर इस प्रकार से भवन बनाते थे कि वे १५ फीट लम्बे और साढ़े चार फीट चौड़े पत्थरों के टुकड़ों का प्रयोग करते थे और बिना गारा चूना के उनको इस प्रकार मिला देते थे कि आज भी कोई पत्थरों के बीच चाकू से खोद नहीं सकता।

हिट्टाइट समाज अनेक भागों में विभक्त था जिनमें किसान कारीगर और मजदूर प्रमुख थे। इन्हें सुशाकिनें कहते थे। युद्ध में बन्दी बनाये गये लोगों से दासों का कार्य किया जाता था। समाज के विभिन्न वर्गों में विवाह की प्रथा प्रचलित थी। हिट्टाइट लोग दो वर्गों के देवताओं की पूजा करते थे पृथ्वी के और आकाश के। उर्वरता की देवी के रूप में पृथ्वी-माता की पूजा करते थे, और सूर्य भी उनका आराध्य देवता था। सूर्य की कल्पना ये नारी रूप में करते थे। भारतीय आर्यों की भाँति ये लोग भी बैल को एक पवित्र पशु मानते थे। ये एक भाषा का प्रयोग करते थे, जो इन्डो यूरोपीय भाषाओं से मिलती है। जल के लिये ये वादर शब्द का प्रयोग करते थे, यह शब्द यूनानी भाषा के शब्द हुडार तथा अँग्रेजी वाटर से कितना साम्य रखता है। इसके अलावा उनके नेताओं तथा देवताओं के नाम भी इन्डो यूरोपीयन भाषाओं की ध्वनि से पर्याप्त मिलते-जुलते हैं। ये लोग पहले तो अपने मुरदों को गाड़ते थे परन्तु बाद में वे उनको जलाने लगे। उनके एक स्थापत्य पर पशुपति का चित्र है जो हमें सिन्धु घाटी के पशुपति का स्मरण दिलाता है। हिट्टाइटों की राजधानी हट्टूसस थी जिसे आजकल बोगाजक्यूई कहते हैं। उनके जो प्रपत्र प्राप्त हुये हैं यद्यपि उन्हें बिल्कुल ठीक-ठीक नहीं पढ़ा जा सकता है, प्रायः विदेशों से किये गये सन्धिपत्र हैं, उनमें राजाज्ञायें और राजघराना के पत्र, धार्मिक रीति-रिवाजों और पर्वों के वर्णन, प्रार्थनायें, सैनिक नियम आदि सम्मिलित हैं। किन्हीं-किन्हीं प्रपत्रों के द्वारा यह भी पता लगा है कि हिट्टाइट लोग किस प्रकार युद्ध में रक्षा और आक्रमण के लिये खाइयाँ खोदते और मचान बनाते थे। कुछ प्रपत्रों में पुस्तकों की सूची भी है जिनमें लेखकों के नाम दिये गये हैं।

हिब्रू सभ्यता

जो जातियाँ केवल विशाल साम्राज्य स्थापित करना ही जानती हैं अथवा एक विशेष आर्थिक उन्नति ही करती हैं और धर्म, कला, साहित्य तथा आचार के क्षेत्रों में कुछ नहीं प्रदान करतीं, उन जातियों का विश्व के इतिहास में कोई गौरवपूर्ण स्थान नहीं होता। क्योंकि साम्राज्य नष्ट होकर धूल में मिल जाते हैं सांस्कृतिक देनें किसी-न-किसी रूप में अवश्य वर्तमान रहा करती हैं। हिब्रू जाति ने किसी विशाल साम्राज्य का निर्माण नहीं किया और न आर्थिक क्षेत्र में ही उसने कोई विशेष प्रगति की परन्तु विचार जगत में उसकी देन महान है। इसीलिये विश्व-इतिहास के विद्यार्थी के लिये इस जाति का महत्व किसी भी प्रकार कम नहीं हो सकता।

बाइबिल की कथा के अनुसार हिब्रू जाति का जन्मदाता अब्राहम था। वह पशुओं के झुण्ड का स्वामी था। पहले ऐसा विश्वास किया जाता था कि वह पशुओं को चराने के लिये चरागाहों की खोज में इधर उधर घूमा करता था,

राजनीतिक इतिहास

परन्तु अब अनुसन्धान-कर्ताओं के प्रयत्नों द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि जब अब्राहम २१५० ई० पू० में फिलस्तीन में बसने के लिये उर नामक नगर से निकले उस समय इस वंश के लोगों का राजा और राजकुमार सम्मान करते थे। जैसा कि एक विद्वान ने कहा है कि अब्राहम के समान लोग राजकुमारों की भाँति शासक होते थे, जो अपने पशुओं को चराने के लिये दूसरों को दे देते थे, और अपनी सम्पत्तियों पर पूरा अधिकार रखते थे। अब्राहम ने जिस देश में सबसे पहले प्रवेश किया उसका नाम फिलस्तीन था। उस समय फिलस्तीन एक मरुस्थल सा ही था और यहां पर रहनेवालों को उदर-पूर्ति के लिये किसी अन्य स्थान का मुँह ताकना पड़ता था। एक बार अब्राहम को भोजन के लिये मिस्र जाना पड़ा था। इसी प्रदेश में अब्राहम की जाति के लोग अपने अपने पशु समूहों के साथ रहते थे। उन्होंने जमीन जोतना भी सीख लिया। जनसंख्या बढ़ने पर कुछ लोगों ने उद्योग-धन्धों तथा व्यापार में भी अभिरुचि उत्पन्न करली। परन्तु यह कहा जा सकता है कि अपने सुदीर्घ इतिहास में वस्तुतः कम

ही हिब्रू नगरों में रहते थे। अधिकांश चरवाहों का शाही जीवन व्यतीत करते थे। उनमें से कुछ लोग खेती करते थे, और जैतून तथा अंजीर के वृक्ष तथा अनाज की फसलें उत्पन्न करते थे।

ईसा के दस सौ पच्चीस वर्षों पूर्व तक हिब्रुओं पर प्रधान पुरोहित राज्य करता था। यद्यपि वे बारह फिरकों में विभक्त थे, तथापि वे पहले तो मूसा लोगों के द्वारा इसके बाद न्यायाधीशों और अन्त में धर्म नेताओं के शासन में संयुक्त थे। राजा साल के अधीन हिब्रू लोगों का एक संयुक्त राष्ट्र बन गया। साल ने किसी प्रकार दक्षिण-पश्चिम से होने वाले फिलस्तीनों के आक्रमणों को रोका, और देश की रक्षा करने में समर्थ हो सका। उसके दामाद और उत्तराधिकारी राजा दाउद ने राज्य की सीमा को बढ़ाया। दाउद ने जेरूसेलम नामक नगर को जीता और इसे ही राजधानी बनाया। दाउद के पुत्र सुलेमान के शासन-काल में देश समृद्धि की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। सुलेमान ने विपुल धन, हिब्रू धर्म-ग्रन्थों के अनुसार, इजराइल के देवता से प्राप्त किया और उससे एक सुवर्ण मन्दिर बनवाया। उसने जेरुसेलम को अलंकृत करने के लिये अनेक विलाश भवनों का निर्माण कराया और राजधानी के चारों ओर एक सीमा बनवा दी। उसने किले इत्यादि मजबूत कराये, शासन की सुविधा के लिये देश को बारह प्रान्तों में विभक्त किया, और फिरकों की राज्य-सीमा का विचार न करते हुये उसने एक राष्ट्र बनाने की सोची। उसने बहुमूल्य धातुओं की खानें खुदवाई, और कते हुये सूत तथा रथ और घोड़ों के व्यापार पर सरकारी नियन्त्रण रक्खा। इस प्रभूत धन ने सुलेमान को काफी सम्पन्न बना दिया और वह अपने धन का कुछ भाग अपने इन्द्रिय सुखों पर व्यय करने लगा। उसे पत्नियों और रखैल स्त्रियों को रखने की एक सनक सी थी। उसके अन्तःपुर में सात सौ पत्नियां और तीन सौ रखैल स्त्रियाँ थीं। उसने जनता पर विभिन्न प्रकार के कर लगाना प्रारम्भ कर दिया। उसके असह्य कर भार से ऊब कर कुछ लोगों ने उसके विरुद्ध ईश्वर से प्रार्थना की। लगभग ९४० ई० पू० में उसकी मृत्यु के बाद उसका राज्य दो भागों में बाँट दिया गया, उत्तरी राज्य का नाम इजराइल और दक्षिणी का जूडा पड़ा।

ये दोनों राज्य परस्पर एक दूसरे से स्वतंत्र थे और इन पर विभिन्न शासक राज्य करते थे। ७२२ ई० पू० में असीरियों ने इजराइल पर आक्रमण किया और बहुत से यहूदियों को पकड़ कर मैसोपोटेमिया ले गये। ५८६ ई० पू० में दक्षिणी राज्य की भी यही हालत हुई। जब कि बेबीलोनिया के राजा नेबूनेचेंडर ने यहूदियों के इस राज्य पर आक्रमण किया, तो बहुत से यहूदियों को फिर मैसोपोटेमिया में बन्दी-जीवन व्यतीत करना पड़ा। पचास वर्ष बाद ५३८ ई० पू० में जब बेबीलोनिया पर एक ईरानी राजा राज्य करने लगा तो वहाँ पर रहने वाले हिब्रुओं को फिलस्तीन लौट जाने की आज्ञा मिल गई। परन्तु अपने दोनों राज्यों के पतन के उपरान्त यहूदी कोई नया राजनीतिक संगठन न कर सके और उनका शासन प्रधान धर्माधिकारी ही करने लगा। उनका राज्य अब केवल एक धार्मिक संगठन ही रह गया। सिकन्दर महान ने ईसा के ३३३ वर्ष पूर्व अनेक प्रदेशों पर आक्रमण किया और अपना अधिकार जमाया। तब से लेकर यह प्रायः परतन्त्र रहा और बहुत से यहूदी इधर उधर भागते रहे। अनेक यहूदी जेरुसलम के पतन के उपरान्त मिस्र भाग गये थे। वहाँ पर उनके नबी जेरेमिया ने उन्हें पुनरुत्थान की आशा दी। कोई सुसंगठित राजनीतिक शक्ति न रखने के कारण समय-समय पर यहूदियों को सामाजिक तथा राजनीतिक यातनायें भुगतनी पड़ीं। आधुनिक काल में द्वितीय महायुद्ध के पश्चात उन्होंने फिलस्तीन में इजराइल के नाम से अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया है और आज वे एक राष्ट्र हैं।

हिब्रुओं का धर्म

हिब्रू जाति की सब से उल्लेखनीय देन धर्म के ही क्षेत्र में है। उन्होंने एकेश्वरवाद की भावना का विकास किया। उनके पहिले मिस्र के फरोह आखनातून ने ही इस विचार की घोषणा की थी परन्तु उसके विचार उसकी मृत्यु के बाद मिस्र की भूमि से लुप्त हो गये। केवल हिब्रुओं का ही देवता ऐसा था जो मानव शरीरधारी न था वरन एक आध्यात्मिक शक्ति था। यह देवता केवल यहूदियों का ही रक्षक और सहायक देवता न था बल्कि यह सभी लोगों का, यहूदी जाति के शत्रुओं का भी, देवता था।

यहूदियों के धर्म के बीज तो उसी समय बोये जा चुके थे जब वे मरुस्थल में रहते थे और भोजन की खोज में

इधर-उधर घूमा करते थे। ये उस समय चट्टानों, पशुओं, भेड़ों और गुफाओं तथा पहाड़ियों की आत्माओं को पूजते थे। बैल तथा बकरी के बच्चे की पूजा भी होती थी। हजरत मूसा अपने अनुयायियों को सुनहले बछड़े की उपासना से विमुख न कर सके। बेबीलोनिया के भी कई देवताओं को हिब्रूओं ने अपना लिया था। तम्मुज जो उपज का देवता था और जो प्रति ग्रीष्म ऋतु में मर जाया करता था तथा जो पतझड़ की वर्षा से पुनः जीवित हो जाता था, उनके देवताओं में प्रमुख था। इजराइल के हिब्रूओं ने अपने पूर्व वातावरण को बिलकुल भुला दिया और उनका धर्म भौतिकवादी हो गया। किन्तु जूड़ा में रहने वाले यहूदियों ने अपना धर्म नहीं बदला। जीवन की आवश्यकतायें पूरी करने के लिये उन्हें जो संघर्ष करना पड़ता था उससे उन्हें अपने धर्म की आत्मा जीवित रखने में सहायता मिली और वे एक विस्मयकारक दार्शनिक तथा सदाचार के सिद्धान्तों से पूर्ण धर्म का विकास कर सके। उन्नति शील जातियों के सांस्कृतिक संपर्क ने भी एक विकसित धार्मिक दर्शन के लिये विकास में सहायता प्रदान की।

यहूदियों के देवता (Jehovah) जेहोवा का उद्भव कई स्रोतों से हुआ। पहले तो उसमें वे ही विशेषतायें आरोपित की गईं जो अन्य जातियों के देवताओं में थीं। हिब्रूओं के विश्वास के अनुसार, जब वे खानाबदोश थे, वह उन्हें मरुस्थल की कठिनाइयों से संघर्ष करने की शक्ति प्रदान करता था, और वह केनाइट लोगों के विरुद्ध अपने अनुयाइयों की ओर से लड़ा था। उसने असीरिया के देवता असुर को कुचल डालने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली थी। बहुत दिनों तक यह एक युद्ध का देवता समझा जाता था। दाउद ने उसके विषय में कहा, "वह मेरे हाथों को लड़ने की शिक्षा देता है"। जब जूड़ा के राजा हजेकिया को असीरिया के राजा से एक धमकी भरा पत्र प्राप्त हुआ तो उसने जेहोवा के सम्मुख पत्र पढ़ा और उसकी आज्ञा मांगी। हिब्रूओं के लिये इस समय जेहोवा मानव आकृति में ही था, उसके मनुष्यों के समान हाथ, पैर, आंख और हृदय था। वह मनुष्य को समझता था और उससे सहानुभूति रखता था।

यह हजरत मूसा ही थे जिन्होंने सर्व-शक्तिमान न्यायप्रिय और सतत प्रेम भरा ईश्वर, जेहोवा, का ज्ञान प्रदान किया। उन्होंने यह बताया कि हिब्रूओं के लिये केवल एक ही देवता था। मूसा अपने अनुयायियों को पवित्र पर्वत के पास ले गये जहाँ पर उन्होंने एक देवता के सम्मुख अपने को समर्पित कर दिया। वहाँ हिब्रूओं ने देवता के सम्मुख यह प्रतिज्ञा की कि वे उसकी (देवता की) आराधना करेंगे, और देवता ने यह वचन दिया कि वह उनकी सहायता करेगा। उसने उन्हें दस आदेश दिये। हिब्रूओं का यह विश्वास था कि जब तक वे उन दस आदेशों का पालन करते रहेंगे, उनके ऊपर कोई कष्ट नहीं पड़ेगा।

नबियों ने हिब्रू धर्म में महत्वपूर्ण सुधार प्रस्तुत किये। उन्होंने उस धर्म को आचार की एक उच्च भूमि पर रक्खा और इसे पूर्णतया नैतिक बनाने की चेष्टा की। उनके नबी आइसेआ ने ईश्वर के आदेशों का एक विकसित दर्शन उनके सामने रक्खा, और जेरुसेलम की जनता के लिये उसे अधिक ग्राह्य बनाया। उसने एक ऐसे सिद्धान्त को जन्म दिया जो हिब्रूओं का पथ-प्रदर्शक और ईसाई-धर्म का आधार हो गया। जब सेनाकरिब की सेनायें जेरुसेलम के द्वार पर खड़ी थीं जूड़ा के निवासियों को बड़ी निराशा हुई कि जेहोवा ने उनको क्यों नहीं मार भगाया। आइसेआ ने स्पष्ट घोषणा की यह लड़ाई जेहोवा और असुर के बीच नहीं है बल्कि जेहोवा तो समस्त संसार पर राज्य करता है। जेहोवा संसार के समस्त प्राणियों के लिये न्यायप्रिय और दयालु है। असीरिया के लोग जेहोवा के कोड़े के रूप में हो गये हैं जिनके द्वारा वह जूड़ा के निवासियों को उनके सामाजिक अत्याचारों और पापों के लिये दंड दे रहा है। इस प्रकार से एक सार्वभौम और सब के प्रति न्यायप्रिय तथा कृपाशील ईश्वर की भावना का विकास हुआ और यह बताया गया कि मुक्ति का पूर्ण उत्तरदायित्व मनुष्य के ऊपर ही है। उसके शुभाशुभ कर्म ही उसे या तो मुक्ति प्रदान करेंगे। अब यह आशा नहीं की जाती थी कि ईश्वर लोगों की ओर से युद्ध करेगा या उनके शत्रुओं को दंड देगा। लोगों को न्याय की रक्षा के लिये स्वयं शत्रुओं से युद्ध करना चाहिये। आइसेआ ने उत्पीड़ितों और गरीबों को यह

आशा दिलाई कि शीघ्र ही एक अवतार होगा, जो उनके राजनीतिक विभेदों तथा कष्टों का अन्त कर देगा और भ्रातृत्व तथा शान्ति के युग का सूत्रपात करेगा।

जरेमिया (Jeramiah) नामक नबी ने सुनिश्चित रूप से एकेश्वरवाद की भावना का विकास किया। उसने अपने अनुयायियों को शस्त्र त्याग देने का आदेश दिया क्योंकि जेहोवा उनकी ओर न था और जेहोवा सभी लोगों के साथ जैसा चाहता था कर सकता था। जरेमिया ईश्वर को बहुत ही महान समझता था और उसकी दृष्टि में वह मानव-शरीर धारी न था बल्कि एक पवित्र और सर्व शक्तिमान आत्मा थी। अजीकियल (Ezekiel) ने प्रत्येक व्यक्ति के लिये सदाचार की आवश्यकता पर बहुत जोर दिया। उसने सामूहिक उत्तरदायित्व की विचारधारा का विरोध किया और कहा "पुत्र को अपने पिता के अधर्मों का फल न सहना पड़ेगा और न पिता को ही अपने पुत्र के अधर्मों का फल भोगना पड़ेगा। सदाचारी के अच्छे कार्य ही उसे मिलेंगे, और दुराचारी को दुष्टता ही मिलेगी।" नबियों ने हिब्रू धर्म को सुधारा और एक विद्वेषी, युद्ध-प्रिय देवता जेहोव को उन्होंने सर्व-शक्तिशाली स्नेहमय देवता में बदल दिया।

नबियों ने हिब्रू धर्म तथा उन अनेक धर्मों की बड़ी सेवा की जिनका उद्भव उसी धर्म से हुआ। जेहोवा के कानूनों को एक न्यायपूर्ण समाज के लिये ही बताया और यह निष्कर्ष निकाला कि एक न्याय-प्रिय देव के अधीन सामाजिक अन्याय नहीं रहेंगे। उन्होंने यह बताया कि लोगों के कष्टों का कारण शक्तिशाली और धनवान लोगों के पापों में निहित है। यद्यपि वे सामाजिक अन्याय को कम करने में पूर्णतया सफल न हो सके, फिर भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सामाजिक वैषम्य के प्रति विरोध की भावना व्यापक रूप से सर्वप्रथम हमें नबियों के उपदेशों में ही मिली है। मनुष्य के शुभाशुभ कर्म ही उसके भावी जीवन की गति का निर्धारण करते हैं यह भावना भी हम उनके पहिले भारत को छोड़कर अन्यत्र नहीं पाते। मानव विचार के क्षेत्र में हिब्रुओं की यह बहुत बड़ी देन है।

कला

अपने धार्मिक दृष्टिकोण के प्रधान होने के कारण हिब्रू लोग वास्तु-स्थापत्य अथवा चित्रकला में कोई उन्नति नहीं कर सके। ६१२ ई० पू० में उनके नबियों ने जूडा के देश में मूर्तियों को नष्ट कर देने का उपदेश दिया, इसलिये स्थापत्य की उन्नति न हो सकी। और उन्होंने यहूदियों को उनके निष्कासन काल में पार्थिव या स्वर्गीय वस्तु को कलात्मक रूप में चित्रित करने से मना किया, जिससे चित्रकला का विकास न हो सका। यहूदी मन्दिर तो अवश्य बनाते थे, किन्तु उनके मन्दिर भी कलाहीन और आकर्षणशून्य होते थे। अपनी धार्मिक क्रियाओं में वे संगीत का व्यापक रूप से प्रयोग करते थे। प्रार्थना करते समय वे वाद्य यन्त्रों का विशेष प्रयोग करते थे।

साहित्य

हिब्रू साहित्य मूलतः धार्मिक है परन्तु वह एक उत्कृष्ट साहित्य है। इसका आध्यात्मिक महत्व तो है ही, इसकी तुलना संसार के सर्वोत्तम साहित्य-ग्रन्थों से की जा सकती है। हिब्रुओं का ओल्ड टेस्टामेन्ट ऐसा ही एक ग्रन्थ है। इसमें न केवल हिब्रू जाति के कानून लिखित हैं वरन् वह एक उच्च कोटि का काव्य-ग्रन्थ, दार्शनिक और ऐतिहासिक पुस्तक है। इसमें न केवल हम इतिहास लेखन का प्रारम्भिक बल्कि सर्वोत्तम रूप भी पाते हैं। साल, दाऊद और सुलेमान की कथायें निःसन्देह शैली तथा आकार की दृष्टि से ग्रीक पूर्व के किसी भी इतिहास ग्रन्थ से अधिक श्रेष्ठ हैं। ऐतिहासिक कथाओं के अतिरिक्त कतिपय प्रेम-कथायें हैं। गद्य के क्षेत्र में (Ruth) रूथ की कथा से अधिक उत्तम कोई दूसरी चीज नहीं है। आइज़ाक और रेबेका (Isaac and Rebecca) जेकाब तथा रैचेल (Jacob and Rachel) जोसेफ और बेन्जामिन (Joseph and Benjamin) सेमसन और डेलिला (Samson and Delilah) तथा ईश्वर और डैनियल (Esther, Judith and Daniel) की कथायें कुछ कम सुन्दर और आकर्षक नहीं हैं। रूथ की पुस्तक (The Book of Ruth) में नारी

के चरित्र का तथा उसकी स्थिति का सहानुभूति के साथ चित्रण किया गया है। काव्य साहित्य मूसा के गीतों (Song of the Moses) तथा डेबोरा के गीतों (Songs of Debora) से प्रारम्भ होता है और इसकी परिसमाप्ति स्तोत्रों की उन्नति भूमि पर होती है। यद्यपि अधिकांश स्तोत्र दाउद के द्वारा रचित नहीं है, और उनमें से अनेक बेबीलोनिया के पश्चाताप सूचक गीतों (Penitential psalm) के ऊपर आधारित हैं तथा एक स्तोत्र के ऊपर अखनातून स्तुति का प्रभाव परिलक्षित है, तथापि हमें यह मानना पड़ेगा कि विश्व के गीत काव्य में इन स्तोत्रों का अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है। कुछ स्तोत्रों की भाषा इतनी कोमल और भाव इतने मसृण तथा मर्मस्पर्शी हैं कि हृदय बार बार उनका पाठ करना चाहता है। उनमें प्रयुक्त रूपक और उपमायें सजीव तथा स्वाभाविक हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि धार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति प्रदान करने में इन स्तोत्रों की तुलना कठिनता से ही की जा सकती है। ये हमारे हृदय प्रणय गीतों की अपेक्षा अधिक गहरी तरह स्पर्श करते हैं। वे सन्देहवादी मनुष्य की आत्मा को भी एक बार हिला देने की क्षमता रखते हैं। कहीं कहीं हमें वे वाक्य-खंड मिलते हैं जो अंग्रेजी भाषा में बहुधा प्रयुक्त होने वाले वाक्य रत्न है, जैसे the apple of the eye; out of the mouth of babes. आदि। इसी प्रकार के आकर्षक वाक्य-खंड हमें नबियों के उपदेशों में भी कभी-कभी मिल जाते हैं जैसे The rich are grinding the faces of the poor. इस ग्रन्थ में कहीं कहीं इतनी सुन्दर और मर्म स्पर्शी उपमायें दिखाई पड़ती हैं कि हमें सहसा कालिदास का ही स्मरण हो आता है। एक उपमा है "उदय होता हुआ सूर्य एक वर के समान है जो अपने कक्ष से बाहर आया है और एक मजबूत व्यक्ति की भांति दौड़ान दौड़ने में प्रसन्न होता है।"

जाब की पुस्तक The Book of Job एक सशक्त नाटकीय वर्णन है जिसमें मनुष्य, सेटन और ईश्वर ही प्रमुख पात्र हैं। इस पुस्तक के विषय में कार्लाइल नामक अंग्रेजी के सुविख्यात लेखक ने लिखा है "मैं इसे लेखनी द्वारा कभी भी लिखी गई सब से महान् वस्तुओं में से एक कहता हूँ। एक उत्कृष्ट पुस्तक सब मनुष्यों की पुस्तक यह हमारा सर्वप्रथम प्राचीन उल्लेख है जिसमें मनुष्य की कभी नष्ट न होने वाली समस्या का मनुष्य का भाग्य और इस पृथ्वी पर ईश्वर का उसके साथ व्यवहार वर्णित है। बाइबिल में या बाइबिल से बाहर कोई दूसरी वस्तु नहीं लिखी है, जो साहित्यिक श्रेष्ठता में इसकी समानता कर सके।"

अनेक कहावतों में अनुभव और ज्ञान का भाण्डार भरा पड़ा है और किन्हीं-किन्हीं में मनोहारिणी सूक्तियां हैं। एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा।

वह मनुष्य प्रसन्न है जो ज्ञान प्राप्त करता है
और वह मनुष्य भी जो विचार प्राप्त करता है,

क्योंकि इसे प्राप्त करना चांदी प्राप्त करने से अधिक उत्तम है,
और उससे होने वाला लाभ उत्तम सुवर्ण से भी अधिक महान है।

हजरत मूसा का न्याय-विधान इतना उत्कृष्ट है कि हम्मूराबी का सुविकसित न्याय-विधान भी इसके सम्मुख तुच्छ प्रतीत होता है। हजरत मूसा का यह न्याय-विधान ओल्ड टेस्टामेन्ट के प्रथम पांच अध्यायों में लिखित है। यद्यपि हम्मूराबी का न्याय-विधान मूसा के न्याय-विधान से छः सौ वर्ष अधिक प्राचीन है तथापि यह निष्कर्ष निकालने के लिये कोई प्रमाण नहीं है कि मूसा ने हम्मूराबी के न्याय-विधान की नकल की होगी। कुछ अंशों में मूसा का न्याय विधान अधिक विकसित प्रतीत होता है। यह मानव जीवन को अपेक्षाकृत अधिक मूल्यवान समझता है और दासों के साथ

हजरत मूसा का न्याय विधान

दयालुता का व्यवहार करने का उपदेश देता है। यह अजनबी व्यक्तियों तथा दीनों की उचित रक्षा एवं सद्व्यवहार की व्यवस्था करता है। मूसा के न्याय विधान में यह भी नियम लिखित है कि जादू-टोने तथा हिंसक और मूर्तिपूजक बलिदानों को करने वाले मृत्यु

दंड पावें। परन्तु बेबीलोनिया के न्याय विधान में इस प्रकार का कोई नियम नहीं है क्योंकि वे लोग इन बातों को अनुचित नहीं समझते थे। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि मूसा का न्याय विधान हृदय की करुणा वृत्तियों तथा बौद्धिक तत्वों पर हम्मूराबी के न्याय-विधान के अपेक्षा अधिक आधारित था यद्यपि कहीं कहीं नियमों में कठोरता और क्षमाहीनता भी झलकती है।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि हिब्रू जाति की देन विचार-जगत में ही हैं, उन्होंने कला और विज्ञान अथवा शासन-व्यवस्था के क्षेत्र में कुछ भी उन्नति नहीं की। वे प्राकृतिक विज्ञानों के प्रति उदासीन रहे, इसलिये उनके समाज में पदार्थ-विज्ञान, गणित, ज्योतिष तथा भौतिक-विज्ञान की अवस्था शोचनीय थी। उनका विश्वास था कि अस्वस्थता मनुष्य के पापों का परिणाम है इसलिये वे चिकित्सा-विज्ञान का विकास न कर सके। अध्यात्म एवं धर्म के क्षेत्र

हिब्रू सभ्यता की देन

में अवश्य उनकी देन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यहूदी नबियों ने ईश्वर सम्बन्धी जिस भावना का विकास किया वह निस्सन्देह सुविकसित और तर्कगम्य है। एक लेखक ने कहा है, "प्राचीन हिब्रुओं ने यूरोप के आर्य जगत को जो देनें प्रदान की हैं उनमें ईश्वर और उसके रूप का विचार सर्वोत्तम तत्व है और मानवता के इतिहास में उन्हें जो महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हैं उसका कारण भी यही है।" विश्व की भावी पीढ़ियों ने इस विचार-धारा से बहुत कुछ ग्रहण किया और यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि पाश्चात्य संसार की धार्मिक विचार-धारा अनेक अंशों में प्राचीन हिब्रुओं की ऋणी है। ईसाई धर्म के प्रभाव द्वारा हिब्रू नबियों, न्यायाधीशों और गायकों के विचार आधुनिक यूरोप के राष्ट्रों को मालूम हो गये। इंगलैन्ड, जर्मनी, फ्रान्स, स्पेन और इटली के साहित्य को पूर्णतया समझने के लिये ओल्ड टेस्टामेन्ट का ज्ञान आवश्यक है। सामाजिक समता और न्याय की भावना ने भी, जिसका विकास नबियों ने किया, काफी प्रभाव डाला। योरप की अनेक पौराणिक कथाओं और धार्मिक परम्पराओं का उद्गम यहूदी सभ्यता से ही खोजा जा सकता है। मानव भ्रातृत्व की भावना का उदय और योरप में उसका प्रसार यहूदियों द्वारा ही हुआ। मनुष्य की नैतिक चेतना को एक सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने का श्रेय भी यहूदियों को है — उनके सुन्दर स्तोत्र और प्रणय गीत आज भी मानव मन के अन्तर्तम प्रदेश को स्पर्श करने की क्षमता रखते हैं। यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति स्वातन्त्र्य, तथा राष्ट्रीयता की भावना, जो आधुनिक जगत की शक्तिशालिनी विचार धारायें हैं कदाचित सब से पहले यहूदियों के देश में उत्पन्न हुईं। यहूदियों का यह विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य के अन्दर एक पवित्र बहुमूल्य वस्तु है जिसका विनाश कोई नहीं कर सकता। इसी विश्वास से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भावना विकसित हुई। अन्य जातियों के द्वारा बार-बार अपमानित और उत्पीड़ित किये जाने पर यहूदियों के हृदय में उत्कट देश भक्ति के भाव उत्पन्न हो गए। वर्तमान राष्ट्रीयता का सब से पहिला रूप हमें यहूदियों के इतिहास में ही मिलता है। यद्यपि बहुत काल तक वे किसी राजनीतिक संगठन अथवा व्यवस्था को जन्म न दे सके, [illegible] उनकी धार्मिक भावना, एवं उनकी संस्कृति की श्रेष्ठता के विचार ने सदैव उनके हृदि [illegible] बनाये रक्खा।

फिनीशिया की सभ्यता

फिनीशिया के लोग भूमध्यसागर और लेबेनन पर्वत के मध्य की भूमि में बस गये थे। कृषि के लिये देश अनुपयुक्त होने के कारण उन्हें जहाजरानी तथा व्यापार करने के लिये बाध्य होना पड़ा। इसके लिये उन्हें भौगोलिक

भौगोलिक वातावरण और जाति

परिस्थितियों से पर्याप्त सहायता भी प्राप्त हुई। पर्वतीय भूमि होने के कारण समुद्र देश के आन्तरिक भागों में कई स्थानों पर घुसता चला गया था जिससे खाड़ियाँ और स्वाभाविक बन्दरगाह बन गये थे। लेबेनन पर्वत से देवदार की लकड़ी प्रचुर परिमाण में पाई जाती थी जिससे जहाज यहाँ सरलता से बनाये जा सकते थे। जल मार्ग द्वारा सुदूर देशों के साथ व्यापार करने के कारण वे कुशल नाविक भी हो गये थे। भूमध्यसागर के पूर्वी तट पर इन्होंने अपने बन्दरगाह स्थापित कर लिये—

इन बन्दरगाहों में टायर और सीडोन मुख्य थे। इन्हीं बन्दरगाहों से वे भूमध्यसागर और कालासागर द्वारा व्यापार करते थे और उनके जलयान अटलान्टिक महासागर में जिब्राल्टर के द्वार तक पहुँचने लगे। फिनीशी लोग सेमेटिक शाखा की कनाइट जाति के थे। ये लोग ईसा से अट्ठाइस सौ वर्षों पूर्व सीरिया के तट पर बस गये।

धर्म और राजनीति

फिनीशिया वालों का धर्म नितान्त प्राथमिक और अविकसित था। बहुदेववाद का अत्यन्त विकृत एवं निकृष्ट रूप ही उनका धर्म था। बाल (Baal) (सूर्य देव) और अस्टार्ट Astarte (उपज की देवी) इनके प्रधान देवता थे। इन लोगों में चन्द्रमा की पूजा देवी के रूप में की जाती थी, और उसको तानित (Tanit) नाम दिया गया था। इनकी पूजा-पद्धति में विलासिता और कामुकता का समावेश था, और सम्भवतः ये बच्चों की बलि भी दिया करते थे। फिनीशिया वालों की शासन-पद्धति यूनानियों की भांति नगर शासन-पद्धति थी। यद्यपि उन्होंने सुदूर में उपनिवेश तथा व्यापारिक चौकियां स्थापित की थीं, और प्रत्येक उपनिवेश को अपनी मातृ नगरी (mother city) की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती थी, तथापि उन्होंने साम्राज्यवादी राज्य की स्थापना नहीं की। विभिन्न नगर-राज्यों की शासन-प्रणालियों में पर्याप्त अन्तर था परन्तु साधारण नियम के अनुसार वे सभी निरंकुश थे।

फिनीशिया का व्यापार और उद्योग

फिनीशिया की सभ्यता प्रमुखतया व्यापारिक और औद्योगिक थी। उन्होंने किसी मौलिक सभ्यता का निर्माण नहीं किया, हां उनके द्वारा असभ्य जातियों के बीच सभ्यता का प्रचार अवश्य किया गया। फिनीशिया वालों का व्यापार किसी एक पदार्थ विशेष अथवा देश तक ही सीमित न था वे स्पेन से सोना-चांदी और टीन प्राप्त करते थे, और इन धातुओं को विभिन्न देशों में ले जाते थे। कांच के सामान तश्तरियां, हाथी-दांत के बने हुये सुन्दर कंघे तथा अन्य पदार्थ, सुन्दर-सुन्दर कुर्सियां तथा मेज, लाल वस्त्र और कांसे की बड़ी-बड़ी थालियां ये वस्तुयें फिनीशिया के व्यापारी संसार के विभिन्न भागों से एकत्र करते थे और पूर्वी-भू-मध्यसागरीय-प्रदेश के धनवान लोगों के हाथ बेच देते थे। फिनीशिया वालों का यह व्यापार बहुत अंशों में उनके सुविकसित उद्योग पर आधारित था। कुशल व्यापारी होने के साथ-साथ वे चतुर कारीगर भी थे। ये मूरेक्स नाम की एक मछली के सिर के पीछे वाले भाग की एक झिल्ली से लाल रंग का एक द्रव पदार्थ निकालते थे। उस द्रव पदार्थ को वे रंगने के काम में लाते थे। एक छोटे से लोहे के हथियार की सहायता से वे द्रव पदार्थ निकाल लेते थे, और उसे वस्त्रों में लगा देते थे। सूर्य के प्रकाश में रख देने पर वह वस्त्र बारी-बारी से हरा, नीला, बैंगनी और जब उसे अच्छी तरह से धो दिया जाता था तो चमकीला लाल रंग धारण करता था। इस वस्त्र की और इस द्रव पदार्थ की मांग धनवान लोगों के यहां बहुत थी। रंगने के काम में प्रयुक्त होने वाला यह पदार्थ किसी अन्य भू-मध्यसागरीय देश में नहीं प्राप्त होता था। कांच की सुन्दर वस्तुएँ बनाने में फिनीशिया वाले बड़े निपुण थे, और उन वस्तुओं को वे रंगीन भी कर देते थे। कदाचित यह कला उन्होंने मिस्र वालों से सीखी थी। वे कुशल जुलाहे भी थे, और ऊनी रेशमी और सन के बढ़िया वस्त्र बुनते थे। वस्त्रों पर कसीदे और जरी का काम भी उत्कृष्ट होता था। मिट्टी के बर्तन और लकड़ी के सामान बनाने में भी वे कुशल थे। बहुमूल्य आभूषण बनाना वे जानते थे और हीरे काटने की कला से वे परिचित थे। यूनान का अमर महाकवि होमर उनकी कारीगरी से अत्यधिक प्रभावित था। उसने उनके सुन्दर कुरतों और सोने की जंजीरों के विषय में कहा है। इजकिल (Ezekiel) ने उनके उत्तम हाथी-दांत के बने हुये पदार्थों की चर्चा की है और हिब्रू पुस्तकों में सोने, चांदी, पीतल, लोहे और लकड़ी के उनके कामों के विषय में लिखा हुआ है। फिनीशिया के कारीगरों के द्वारा बनाये गये पदार्थों की मांग सुदूर देशों में होती थी।

व्यापार समृद्ध होने पर फिनीशिया के व्यापारी आन्तरिक व्यापार की ओर शनैः शनैः कम ध्यान देने लगे और विदेशी व्यापार की ओर उनका ध्यान अधिक केन्द्रित होने लगा। उनका आन्तरिक व्यापार ऊँटों के काफिलों

द्वारा होता था। ऊँटों द्वारा व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल पहुँचाते थे। उद्योग-धन्धों की पर्याप्त उन्नति हो जाने पर उन्होंने जल-मार्गों द्वारा सुदूर देशों से व्यापार करना आरम्भ किया। उन्होंने उन देशों में अपने उपनिवेश भी स्थापित किये। ईसा के ८०० वर्ष पूर्व फिनीशिया के व्यापारिक उपनिवेश भू-मध्यसागर के तटों और द्वीपों में बहुत अधिक संख्या में स्थापित हो गये। व्यापारिक केन्द्रों में सिसली में पलेरमों और सिरेक्यूज (Syracuse), माल्टा द्वीप में माल्टा तथा स्पेन में कादिज एवं मलागा (Malaga) प्रमुख थे। सबसे प्रमुख व्यापारिक केन्द्र अफ्रीका के तट पर कारथेज था। इस नगर की स्थापना लगभग ८०० ईसवी पूर्व हुई थी। शीघ्र ही उसकी राजनीतिक शक्ति बहुत बढ़ गई और इसका प्रभाव उत्तरी अफ्रीका, सिसली, सारडीनिया और स्पेन तक फैल गया। टीन की खोज में फिनीशिया के व्यापारी कादिज के आगे निकल गये और कैसीटेरीडेस तक पहुँच गये। इस स्थान को Scilly Isles कहा जाता था, जिसका मतलब टीन के द्वीप होता है। फिनीशिया वालों ने उपनिवेशों के अतिरिक्त माल्टा, सिसली, कार्सिका, साइप्रस और कदाचित सुदूर इंगलैण्ड में व्यापारिक कोठियाँ भी बनवाई थीं।

व्यापारी होने के कारण फिनीशिया जाति के लोग सभ्यता के अन्य अंगों, यथा साहित्य, कला अथवा विज्ञान के क्षेत्रों में कोई विशेष उन्नति तो न कर सके परन्तु सभ्य जगत को उन्होंने एक बहुमूल्य उपहार प्रदान किया। वह उपहार था वर्णमाला। उन्होंने २२ व्यंजनों की एक वर्णमाला का विकास किया। पहले उन्होंने २२ चिन्हों का निर्माण किया था, जिसमें से प्रत्येक चिन्ह एक व्यञ्जन को अभिव्यक्त करता था। ये चिन्ह एक सुनिश्चित विधि में रक्खे जाते थे, जिससे ये शीघ्र ही याद हो जाते थे और इनका प्रयोग सरलता से किया जा सकता था। यह कहा जा सकता है कि वर्णमाला के जन्मदाता फिनीशियन लोग ही थे। इनकी वर्णमाला में स्वर न थे, जिन्हें बाद में यूनानियों ने बनाया। लेखनी, स्याही और कागज का योरप में प्रचार करने वाले फिनीशियन ही थे। उनका साहित्य अत्यल्प है, केवल कुछ व्यापारिक लेख, कुछ धार्मिक गीत एवं कृषि पर एक लेख ही उनकी साहित्यिक कृति है जो हमें उपलब्ध है। उनके सर्वोत्तम साहित्य का बहुत बड़ा भाग बाइबिल में सुरक्षित है।

वर्णमाला का विकास

फिनीशिया वालों में कुछ दोष थे, जिनके कारण उनको अन्य जातियाँ नहीं चाहती थीं। वे जहाजों को अक्सर लूट लिया करते थे, और स्त्रियों को चुरा कर उन्हें दास बनाकर बेच देना उनकी खास आदत थी। वे अपने युग के सब से कुख्यात झूठ बोलने वाले थे। व्यापार के प्रमुख मार्गों की जानकारी और व्यापारिक रहस्यों को वे गुप्त रखना चाहते थे, और यह प्रयत्न करते थे कि कोई अन्य जाति व्यापार में उनकी समानता न कर सके। इसीलिये वे तरह तरह की मनगढ़न्त कहानियाँ कहा करते थे, जिन्हें सुनकर अन्य देशों के नाविक भयभीत हो जाते थे। इन दोषों के होते हुये भी फिनीशिया वालों ने सभ्यता के विकास में कुछ सहायता अवश्य की। उनकी वर्णमाला और लेखन सम्बन्धी देन का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यूनानियों ने कला-वेश-भूषा और उद्योग-धन्धों की शैली इन्हीं लोगों से सीखी। पूर्व के कतिपय कला-वस्तुओं ने, जिनका फिनीशियनों ने ही प्रसार किया था, पश्चिमी सभ्यता को काफी प्रभावित किया। कमल का फूल, शिल्पकला और विभिन्न प्रकार के रत्न फिनीशियन कारीगरों द्वारा ही पाश्चात्य जगत को परिचित कराये गये थे। वेशभूषा की शैली का, एक स्थान से दूसरे स्थान का आदान-प्रदान भी इन्हीं लोगों ने किया। यह सत्य है कि उन्होंने किसी निराली मौलिक सभ्यता को जन्म न दिया, परन्तु बेबीलोनिया और मिस्र की सभ्यताओं के तत्वों का मिश्रण कर उन्हें संसार को प्रदान करने का श्रेय बिना किसी सन्देह या संकोच के फिनीशिया वालों को दिया जा सकता है।

फिनीशिया वालों की देन

एजियन सभ्यता

प्राचीन सभ्यताओं के हमारे ज्ञान में इधर उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। उत्खनन कर्ताओं के प्रयासों द्वारा अतीत सभ्यताओं की झाँकी हमारे नेत्रों के समक्ष उपस्थित हो गई है। इंगलैण्ड और अमेरिका के संग्रहालयों में रक्खे हुये अवशेष हमारे सामने प्राचीन संसार के जीवन का चित्र खड़ा कर देते हैं।

निरन्तर उत्खननकार्य से प्राप्त होनेवाली ऐतिहासिक सामग्रियाँ हमारी सुनिश्चित धारणाओं को बदल देती हैं। कभी-कभी हम किसी अति प्राचीन सभ्यता के गतवैभव का अवलोकन कर विस्मय में पड़ जाते हैं और इस सभ्यता का विस्तृत विवरण जानने के लिये उत्कंठित हो उठते हैं। एजिया की सभ्यता भी ऐसी ही एक सभ्यता है जिसके विषय में हमारा ज्ञान अपेक्षाकृत आधुनिक ही है। विगत अर्द्ध शताब्दी में ही हमें इस सभ्यता का पता चला है और आज हम उसके विषय में पूर्ण रूप से नहीं जानते क्योंकि यहाँ की लिपि जिसमें, यहाँ का इतिहास छिपा हुआ है, अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है। इस सभ्यता के अनुसंधान कर्ता दो सज्जन हैं। एक जर्मन सौदागर हेनरिक श्लीमेन (Henerich Schlimann) ने टिरिन्स (Tyrins) तथा क्रीट में खुदायी कराई थी, जिससे उन्हें इस सभ्यता का पता चला था। सन् १८९४ ई० में सर आर्थर इवान्स नामक अँग्रेजी विद्वान ने जो खुदाई कराई उससे उन्हें (Knossas) नौसास नामक नगर की स्थिति का पता लगा। बाद में उनके सहयोगियों ने खुदाई का जो कार्य किया उससे क्रीट में कम से कम एक सौ नगरों का पता लगा है। एक नूतन सभ्यता का जो ईसा से कम से कम तीन हजार वर्ष प्राचीन है और जो मिस्र अथवा बेबीलोनिया की सभ्यताओं की भाँति विकसित है, अनुसन्धान किया गया है। एशिया अफ्रीका और योरोप महाद्वीपों के सन्धिस्थान में स्थित होने तथा अनेक टापुओं में सुन्दर बन्दरगाह होने और स्वस्थ जलवायु तथा उर्वरा-भूमि के कारण एजियन प्रदेश में बहुत ही उन्नत सभ्यता का जन्म हो सका।

राजनीतिक इतिहास और शासन-व्यवस्था

लिपि अभी तक पढ़ी न जा सकने के कारण एजियनों का राजनीतिक इतिहास प्रायः अन्धकारमय ही है। उनके राजनीतिक इतिहास को जानने का साधन हमें मिस्र से प्राप्त होता है। एजियन सभ्यता के ध्वंसावशेषों द्वारा भी इस विषय पर हमारे लिये कुछ प्रकाश पड़ता है। उपलब्ध स्रोतों के अनुसार यही विदित होता है कि एजियनों की सभ्यता में कोई सुसंगठित केन्द्रीय शासन व्यवस्था न थी। अनेक नगर-राज्य थे, जिनमें नौसास सबसे प्रमुख था। क्रीट का प्रदेश इस बात के लिये उपयुक्त था कि वहाँ एक शक्तिशाली सरकार का विकास हो सके। नौसास कुछ दिनों बाद एक प्रमुख केन्द्र हो गया। यह समुद्र से लगभग तीन मील की दूरी पर स्थित था और इसकी स्थिति अत्यन्त सुन्दर थी। वहाँ पर दोनाओं के घेरे में एक आश्चर्यजनक भवन बनवाया गया था। जब कि मिस्र पर हिक्सास लोग आक्रमण कर उसे ध्वस्त कर रहे थे क्रीट ने अपना प्रभाव साइक्लेड्स, एजिया के अन्य द्वीपों और यूनान के मुख्य प्रदेश पर फैला लिया। मिसीने (Mycenae) और टिरिन्स (Tyrins) नामक नगरों की स्थापना हुई, और वे नौसास नगर की अधीनता में महत्वपूर्ण हो गये। बाद में मिसीने का महत्व नौसास से भी अधिक बढ़ गया। उत्तर में ट्राय भी एक महत्वपूर्ण नगर हो गया। इस नगर ने अपने धनवान व्यापारिक शासकों के अधीन बहुत उन्नति की, और इसका धन तथा वैभव इतना बढ़ गया कि इसके पड़ोस में बसे हुये नगर इससे ईर्ष्या करने लगे। उत्तर दिशा से आकर विदेशी जातियों ने एजियन लोगों की प्रभुता को समाप्त कर दिया। पहले हित्ताइटों ने एजियन लोगों को परास्त किया और बाद में ईसा से १२०० वर्ष पूर्व के लगभग डोरियन लोगों ने मिसीने और टिरिन्स को नष्ट कर दिया। बाद में मेलोज क्रीट और रोडीज पर भी उनका अधिकार हो गया। इस आक्रमण द्वारा ही सम्भवतः एजिया की उन्नत सभ्यता का विनाश हुआ।

क्रीट की शासन-व्यवस्था में समय-समय पर काफी परिवर्तन हुये हैं। पहले इस द्वीप पर बहुत से वंश मिलकर शासन करते थे, जो प्रायः सभी स्वतंत्र थे। लगभग १४५० ई० पू० मिनोआ (Minos) ने विरोधी कुलों को दबाकर अपने अधीन किया और नौसास में अपनी राजधानी बनाई। मिनोआ किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं प्रतीत होता बल्कि यह राजा की उपाधि का बोध कराता है। जिस प्रकार मिस्र के राजा फरोह कहलाते थे, उसी प्रकार कदाचित क्रीट के राजा को मिनोआ कहा जाता था।

क्रीट की शासन व्यवस्था

मिनोआ प्रधान पुरोहित और राजा साथ-ही-साथ था। वह साँड देवता का प्रतीक था, बाद में उसे (Zeus) ज्यूस का पुत्र कहा जाने लगा और यह विश्वास किया जाने लगा कि ईश्वरीय इच्छा द्वारा वह लोगों का शासक हुआ है।

वह नौ वर्षों तक ईश्वरीय इच्छा के अनुसार शासन कार्य करता था। बाद में उसे देवताओं के कमरों में प्रवेश कर अपने कृत्यों का ठीक-ठीक विवरण देना होता था।

मिनोआ का प्रमुख कर्तव्य न्याय करना था। वह देवताओं से मिलकर जो पवित्र कानून बनाता और आदेश प्राप्त करता था उन्हीं के अनुसार वह न्याय करता था। वही प्रधान सेनापति भी होता था और सार्वजनिक कार्यों की देख-रेख करता था। वह एक शक्तिशाली राजा तो था परन्तु निरंकुश न था। जन-साधारण उसकी महानता और श्रेष्ठता को स्वीकार तो करते थे परन्तु वे उनके दास न थे। शासन व्यवस्था में व्यक्ति स्वातंत्र्य का यह व्यापक अधिकार किसी अन्य समकालीन शासन व्यवस्था में न था। मिस्र के फरोह के अधिकार निरंकुश थे और दीन कृषक तथा श्रमजीवी पूर्णतया उसके दास थे। क्रीट का राजा शासन कार्य में असफल रहने पर अपनी प्रजा के विश्वास और भक्ति का भरोसा नहीं कर सकता था। उसकी स्थिति और समृद्धि इस बात पर निर्भर करती थी कि वह प्रजा के ऊपर ठीक से शासन करता है अथवा नहीं।

एजियन लोगों का धार्मिक जीवन

एजियन लोगों का धर्म प्रकृति पूजा का ही एक रूप था। जगत-माता सबसे महत्त्वपूर्ण देवी थी। बहुत अंशों में वह इश्तर और आइसिस तथा सिन्धु की घाटी की मातृ देवी से काफी मिलती-जुलती है। वह सब जीवित पदार्थों की स्रोत समझी जाती थी। उसे पशुओं और मनुष्यों की जननी समझा जाता था। वह वृक्षों में फल उत्पन्न करती थी, दिन और रात को बनाती थी, पृथ्वी को उर्वरा-शक्ति प्रदान करती थी और मृत्यु तथा अन्य उपायों द्वारा लोगों का विनाश भी कर सकती थी। पण्डुक और सर्प उसके प्रतीक थे, जो आकाश और पाताल में उसकी हितकारिणी तथा विनाशकारिणी शक्तियों को प्रकट करते थे। बाहों और कमर में सर्पों को लपेटे हुये तथा उनको शिर से बाँधे हुये अथवा हाथ में पकड़े हुये रूप में उसकी कल्पना की गई है। साँप कदाचित उसका चिरसाथी था। सर्प की देवी होने के कारण वह पाताल लोक पर अधिकार रखती थी। वन्य-जीवों की देवी होने के कारण वह पृथ्वी पर शासन करती थी, और फाख्ते की देवी होने के नाते वह स्वर्ग में राज्य करती थी।

एक पुरुष देवता, जो मनुष्य और पशु दोनों का स्वामी था और जो अपनी सहायता के लिये सिंह रखता था, इस देवी के साथ रहता था। इस देवता में जीवन, प्रेम और अमरत्व की भावनाओं का आरोप किया गया था। वह भूमि को नमी दे कर ताजी रखता था तथा खेतों को उर्वर बनाता था। वह लोगों को समृद्धि प्रदान करता था। वह मर जाया करता था किन्तु पुनः जीवित हो जाता था क्योंकि वह अमरत्व का प्रतीक था।

एजियन लोगों के धर्म में जादू-टोने की क्रियाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था। कुल्हाड़ी, जिसकी धार दोनों ओर थी, सबसे पवित्र औजार समझी जाती थी। यह वज्र की प्रतीक थी और मृत्यु का साधन थी। सांड की बलि दी जाती थी, और लोगों का विश्वास था कि इस कार्य द्वारा वे इस बलशाली पशु की प्रजनन शक्ति तथा [illegible] शक्ति प्राप्त कर सकेंगे। इजियन लोगों के विश्वास के अनुसार ढाल को संरक्षण की एक विचित्र शक्ति प्राप्त थी। रण-भूमि में यह योद्धा के शरीर को शत्रु के शस्त्राघातों से बचाती थी, और यह एक आध्यात्मिक ढाल की प्रतीक भी थी। यह युद्ध भूमि के ऊपर आकाश में चक्कर काटा करती थी, और समय पड़ने पर लोग जादू मन्त्रों द्वारा इसे नीचे बुला सकते थे। पवित्र पशुओं और पवित्र वृक्षों का प्रयोग इजियन धर्म में प्रचुरता से होता था। बाद में इनका प्रयोग काफी कम हो गया, परन्तु फिर भी प्रतीक रूप में ये प्रयुक्त किये ही जाते थे।

देवमंडल में जगत-माता का प्राधान्य होने के कारण धार्मिक उत्सवों और रीति-रिवाजों में नारियों को अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था। यहां तक कि राजा को भी प्रधान पुरोहित हो जाने के उपरान्त देवताओं की सेवा करने में नारी का वस्त्र धारण करना पड़ता था। मन्दिरों और विशाल मूर्तियों का अभाव था। किसी छोटी मूर्ति अथवा [illegible], जो देवी की प्रतीक समझी जाती थी, के सामने लोग व्यक्तिगत रूप से पूजा करते थे। किसी देवता तक पहुंचने के

लिये बलि आवश्यक समझी जाती थी। इसके अतिरिक्त देवताओं को भोजन-पान की वस्तुयें भी चढ़ाई जाती थीं, और सुगंधित पदार्थ जलाये जाते थे। पूजा में संगीत और नृत्य का आयोजन प्रचुर परिमाण में हुआ करता था। इन दैनिक उत्सवों के अलावा विभिन्न ऋतुओं के उपलक्ष में भी पर्व मनाये जाते थे। उत्सवों और पर्वों में संगीत-नृत्यादि के समावेश के कारण एजिया वासियों का जीवन आमोद-प्रमोदमय था।

ऐसा विश्वास किया जाता था कि दिवंगत आत्मा अपने पूर्व जन्म के सहयोगियों के साथ ही इस पृथ्वी पर रहती थी। मृतक लोगों की प्रसन्नता और सुविधा का ध्यान रखना उनका कर्तव्य समझा जाता था। मृत शरीर का लोग सम्मान करते थे, और यथासम्भव उसे घर के निकट ही रखते थे। मृतकों को गाड़ने की प्रथा थी, जलाने की नहीं। जीवन की आवश्यक वस्तुयें मृत व्यक्ति की समाधि में रख दी जाती थीं। भोजन-सामग्रियां, प्रकाश देने के लिये दीपक, रत्न और आभूषण तथा रक्षा के लिये शस्त्रास्त्र रक्खे जाते थे।

एजियन कला

एजिया की सभ्यता में कला का विकास बहुत हो चुका था। एजियन सभ्यता के ध्वंसावशेष उसकी कलात्मक श्रेष्ठता को सिद्ध करते हैं। नौसास और मिसीने के राजप्रासाद एवं राज्य-भवन एजियन वास्तु-कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। नौसास का राज-भवन एक अत्यन्त विशाल और सुनिर्मित महल है। यह चमकते हुये श्वेत पत्थरों से बना हुआ है और इसका निर्माण कौशल देखकर दर्शक आज भी विस्मय विमुग्ध हो जाते है। इस राज्य प्रासाद में अनेक कमरे थे, और स्नानागारों की व्यवस्था एजियन भवन निर्माण की एक प्रमुख विशेषता है। इसके अलावा स्वच्छता के लिये इस राजमहल में नालियों का अतीव सुन्दर प्रबन्ध था। सर आर्थर इवान्स ने, जो एजियन सभ्यता के विशेषज्ञ हैं, लिखा है—"स्वच्छता के वैज्ञानिक नियमों के रूप में हम यहां जिस व्यवस्था को देखते हैं उसे वर्तमान काल में भी केवल थोड़े ही राष्ट्रों ने ग्रहण किया है"। नौसास के राजभवन के कुछ भाग काफी ऊँचे थे। ऊपर के कमरों तक पहुँचने के लिए सुन्दर सीढ़ियों की व्यवस्था थी। टिरिन्स का राजभवन इतने विशाल प्रस्तरखंडों का बना था कि यूनानियों ने इसे देखकर यह अनुमान लगाया कि इसे मनुष्यों ने नहीं अपितु दानवों ने बनाया होगा। राजभवनों के अतिरिक्त अन्य जो इमारतें मिली हैं वे भी काफी हवादार, सुविधाजनक और विशाल हैं। एजियनों की सभ्यता में कोई धार्मिक भवन न थे। व्यापारिक कार्यों के लिये बड़े-बड़े भवन बनवाये जाते थे। परन्तु इन भवनों में सौन्दर्य पर कम और उपयोगिता पर अधिक ध्यान दिया जाता था। इसलिये कला की दृष्टि से ये उतने सुन्दर नहीं हैं।

एजिया के स्थापत्य के बहुत थोड़े ही नमूने प्राप्त हुये हैं परन्तु वे नमूने इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि इस कला में एजियावासी काफी उन्नति पर पहुँच चुके थे। चित्रों का अंकन कलात्मक है और पशु आकृतियों में भावना तथा क्रिया का अच्छा चित्रण हुआ है। एक सांड की प्रस्तर-मूर्ति मिली है जो क्रुद्ध मुद्रा में प्रदर्शित की गयी है। इस सांड का सिर कुछ झुका है, आंख लाल है और मुँह खुला हुआ है और सम्पूर्ण मूर्ति इतनी सजीवता से निर्मित की गई है कि इसे देखकर एक जीवित सांड का, जो कोपपूर्ण मुद्रा में है, भान होता है। सोने चाँदी और कांसे की मूर्तियां भी बड़ी आकर्षक हैं। कुछ मूर्तियां हाथी दांत पर भी बनाई गई हैं।

एजियन चित्रकला ने वहां के जनजीवन का बड़ा ही यथार्थ चित्र हमारे नेत्रों के सम्मुख उपस्थित कर दिया है। वहां के चित्रों को देखकर हमें यह विदित होता है कि एजिया के रहने वाले जीवन के सुखों का सक्रिय रूप से उपभोग करते थे। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण नकारात्मक न था। धर्म के विषय में लिखते हुये हम पहले ही कह आये हैं कि ये लोग नृत्य संगीतादि का आयोजन खूब किया करते थे। ये आमोद प्रमोद के उत्सव इन चित्रों के द्वारा अमर हो गये हैं। किसी चित्र में शेर का शिकार करते हुये लोग दिखाये गये हैं और किन्हीं चित्रों से यह मालूम होता है कि लोग सांडों से द्वन्द युद्ध करना भी मनोरंजन का साधन समझते थे। इन चित्रों से यह स्पष्ट है कि लोगों का जीवन उल्लासमय और उत्साहपूर्ण था। यह एक विशेष बात है कि आखेट तथा द्वन्द युद्ध में स्त्रियां भी भाग लेती

हुई दिखाई गई हैं । इससे यह पता लगता है कि उनका जीवन प्रतिबन्धों और अनावश्यक नियंत्रणों द्वारा नीरस तथा कटु नहीं बना दिया गया था, अपितु जीवन के सुखों के प्रति वे उतनी ही सक्रिय थीं जितना कि पुरुष । पशु जीवन और प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण भी किया गया है । यद्यपि चित्रों में कुछ दोष हैं, जैसे रंगों को ठीक से मिलाया नहीं गया है, मुख पूर्ण रूप से चित्रित नहीं है केवल रूप रेखाओं द्वारा ही उसे खींचा गया है, किन्तु नेत्र पूर्ण रूप से खींचे गये हैं और कलाकार को छाया देने का कोई ज्ञान नहीं है, तथापि वे चित्र कला की दृष्टि से हेय अथवा हीन नहीं हैं ।

एजियन लोगों ने मिट्टी के बर्तन बनाने की कला में बहुत अधिक उन्नति की थी । सर्प देवी की एक मूर्ति, जो रङ्गीन और चमकीली मिट्टी से बनाई गई है, अपने निर्माता के कौशल को सूचित करती है । यहां के बने हुये मिट्टी के पात्र इतने सुन्दर और आकर्षक थे कि मिस्रवासी भी उनका उपयोग करते थे और उनको संभाल कर रखते थे । धातुओं के भी सुन्दर सामान बनाये जाते थे । नौसास के राजभवन के खण्डहरों से हमें कुछ भाण्ड मिले हैं जिनका प्रयोग जैतून का तेल एकत्र करने में किया जाता था । ये भांड मिट्टी के हैं और काफी सुन्दर तथा मजबूत हैं । मिलोने में हमें सोने के अनेक आभूषण मिले हैं । वहां पर सुवर्ण पात्र, सोने की अंगूठियां और हार तथा पहनने और घर सजाने के लिये सोने के तथा सोने के मुलम्मे चढ़े हुये सामानों के ढेर, केवल एक विकसित ढांचे के नहीं अपितु कला की सम्पूर्ण शैली को प्रकट करते हैं जिसकी परम्परायें और आदर्श उसके अपने हैं और जिनका सम्बन्ध (इनकी खोज के समय) अन्य सभ्यता के प्राप्त ढेरों से, जिनसे उनकी तुलना की जा सके, न था । इन लोगों की मिट्टी की वस्तुयें बनाने की कला, बुनी हुई शिल्प वस्तुयें, स्थापत्य और चित्रकला, उनके बहुमूल्य धातुओं तथा हाथी दांत के काम, उनके धातुओं तथा पच्चीकारी के काम, उतने प्रशंसनीय हैं जितने मानव-जाति द्वारा प्रसूत कोई भी कला-सम्बन्धी कार्य ।

अभी तक हमने नदी तटों पर विकसित होने वाली जिन सभ्यताओं के विषय में पढ़ा है, वे सभी कांस काल (Bronze Age Cultures) की सभ्यतायें कहलाती हैं । एजियन सभ्यता भी कांसकालीन ही थी । यों तो कांस-काल की सभी सभ्यताओं में कुछ-न-कुछ सादृश्य अवश्य है परन्तु एजिया और सिन्धु घाटी की सभ्यताओं में हमें

एजियन और सिन्धु घाटी की सभ्यता

समानतायें अधिक दृष्टिगत होती हैं । कतिपय विद्वान इन दोनों सभ्यताओं को अर्ध ऐतिहासिक (Proto-Historic Civilizations) सभ्यतायें मानते हैं । इस कथन का अर्थ समझने के पहले हमें यह भली-भांति जान लेना चाहिये कि ऐतिहासिक सभ्यताओं का क्या अभिप्राय है । जिन सभ्यताओं का हमें कुछ लिखित विवरण प्राप्त हो गया है उन्हें हम ऐतिहासिक सभ्यतायें कहते हैं । उदाहरण के लिये मिस्र और मैसोपोटैमिया की सभ्यतायें ऐतिहासिक हैं क्योंकि इनकी लिपियां पढ़ी जा चुकी हैं और हमें इन सभ्यताओं का लिखित विवरण प्राप्त हो गया है । अर्द्ध ऐतिहासिक सभ्यताओं से अभिप्राय उन सभ्यताओं से है जिनमें लिपियां विद्यमान थीं, परन्तु उन्हें विद्वान अभी तक पढ़ नहीं सके हैं । एजिया और सिन्धु घाटी की सभ्यतायें ऐसी हैं । हमने देखा है कि नालियों और स्नानागारों की व्यवस्था इन्हीं दोनों सभ्यताओं में थी । मिस्र और मैसोपोटैमिया की सभ्यताओं में इनका अभाव था । जन साधारण के लिये हवादार और आराम दायक मकान इन्हीं दोनों स्थानों में बनाये जाते थे, किसी अन्य प्राचीन देश में नहीं । कला सम्बन्धी और शस्त्र सामान जो पाये गये हैं उनसे यह पता लगता है कि दोनों सभ्यतायें शान्तिमयी थीं । स्थापत्य के क्षेत्र में दोनों ने पर्याप्त उन्नति की थी और पशु आकृतियों के अंकन में दोनों देशों के कलाकारों को लगभग समान सफलता प्राप्त हुई थी । लोगों का जीवन दोनों ही देशों में अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक सुखमय था । सोने के आभूषण और जवाहरात जितने अच्छे सिन्धु घाटी और एशिया के बनते थे उतने मिस्र या मैसोपोटैमिया में नहीं बनते थे । धर्म और उपासना के क्षेत्र में भी काफी समानतायें हैं । मातृ देवी की उपासना इन दोनों स्थानों में की जाती थी । पवित्र वृक्ष और पवित्र पशु भी दोनों जगह पूजे जाते थे । मंदिरों का अभाव हमें एशिया और सिंधु घाटी में ही दिखाई पड़ता है जबकि मिस्र और मैसोपोटैमिया में मंदिर बनवाये जाते थे । व्यक्तिगत उपासना की पद्धति भी दोनों सभ्यताओं में विद्यमान थी परन्तु हमें विरोधी तत्व भी देख लेने चाहिये । मिस्र और मैसोपोटैमिया की भांति सिंधु घाटी के निवासी मृत शरीर को केवल गाड़ते ही

न थे वरन् उसे जला भी देते थे। हाँ जब कभी वे शव को जलाते न थे वरन गाड़ते थे तब वे भी आभूषण और शस्त्र आदि मृतक की समाधि में रख देते थे। परंतु ऐसा वे बहुत कम करते थे। अधिकतर वे अपने मुरदों को जलाते ही थे। एजिया में मुरदों को गाड़ने की प्रथा थी, जलाने की नहीं। चित्रकला में एजियावालों ने जितनी उन्नति की थी, उतनी सिंधु घाटी के निवासियों ने नहीं की थी। इसी प्रकार व्यापार में सिंध घाटी के निवासियों ने उन्नति अधिक की थी। सिंधु घाटी की सभ्यता का उदय नदी तट पर हुआ था जबकि एजिया की सभ्यता समुद्र तट पर विकसित हुई थी।

एजिया की सभ्यता के दान

एजिया की सभ्यता योरप की प्रथम सभ्यता कही जाती है। सर आर्थर इवांस ने इसको "आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक" कहा है और उनके कथन की पुष्टि इस सभ्यता के विभिन्न साक्ष्यों द्वारा होती है। हम जानते हैं कि आधुनिक योरप का जन्म पुनरुज्जीवन काल में हुआ था। इस समय जीवन के सुखों को उपभोग करने की भावना लोगों के हृदय से उत्पन्न हो गई थी। यही भावना हम एजिया की सभ्यता में पाते हैं। एजिया के वस्त्र और मनोरंजन के साधन भी काफी अंशों में आधुनिक प्रतीत होते हैं। यद्यपि गत पचास वर्षों में वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण हमारे मनोविनोद के साधनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये हैं। एजिया की स्त्रियों के वस्त्र आधुनिक पेरिस अथवा विक्टोरिया के युग में इंगलैण्ड की नारियों के वस्त्र से काफी समानता रखते हैं। व्यक्तिगत स्वाधीनता की भावना के बीज अविकसित रूप में एजिया की सभ्यता में विद्यमान थे। नालियों का प्रबन्ध निस्संदेह आधुनिक ही है। यूनान की सभ्यता इतने अधिक अंशों में एजिया की सभ्यता से प्रभावित है कि कतिपय विद्वानों ने इसे एजियन सभ्यता की पुत्री कहा है। यूनान के धर्म पर एजिया के धर्म का पर्याप्त प्रभाव है। यूनान में मातृ देवी के क्रीटन नाम का प्रचलन, साइप्रस की एफ्रोडाइट पूजा का प्रचार, और आर्केडिया तथा एटिका के पेन्थियन में देवियों का प्राधान्य एजियन प्रभाव का ही संकेत करते हैं। यूनान का परवर्ती धर्म अब मिनोआ और उत्तरी तत्वों के मिश्रण का ही प्रतिफल समझा जाने लगा है। खेल-कूदों की प्रतियोगिताओं, संगीत तथा नृत्य के प्रति यूनानियों की दृढ़ आस्था एजियन प्रभाव का ही द्योतन करती है। यूनानियों ने अपना Lyre क्रीटन लोगों से ग्रहण किया था, और यूनानियों के सभी प्रमुख उत्सव-केन्द्र ओलम्पिया, निमिया कोरिन्थ और डेल्फी तथा डेलास पूर्व हेलेनिक युग के साथ स्पष्ट पुरातात्त्विक सातत्य प्रकट करते हैं। होमर के महाकाव्यों की बहुत सी घटनाओं का मूल स्रोत अब पूर्व डोरियन युग अर्थात एजिया के युग में ही खोजा गया है। यूनानियों को मिनोआ से ही तौल तथा नाप के पैमाने मिले और उन्होंने जहाजरानी की कला एजियावासियों से ही सीखी थी। जहाजरानी के लगभग समस्त शब्द क्रीटन ही हैं। डोरियन आक्रमणकारियों ने एजियन सभ्यता के अनेक तत्वों को ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया। सुदूर प्रदेशों पर भी एजियन की सभ्यता का काफी प्रभाव पड़ा था। साइप्रस के धर्म, भाषा और कलाओं के ऊपर एजिया का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है। फोनीशिया की वर्ण माला पर एजिया का काफी प्रभाव है। दक्षिणी फिलस्तीन के निवासियों ने कृषि कला तथा लेखन-कला एजियावासियों से ही ग्रहण की थी।

—:o:—

छठवाँ अध्याय

चीन की सभ्यता

जिस समय रोम शब्द का कोई अर्थ ही न था, यूनान या फारस का कोई अस्तित्व न था और जब अब्राहम ने अपनी महत्वपूर्ण यात्रा प्रारम्भ की थी, उसके बहुत पहिले ही चीनी लोग अपने देश में सभ्यता का विकास कर रहे थे। चीन की सभ्यता मिस्र, मैसोपोटैमिया और सिन्धु घाटी की सभ्यताओं से कुछ ही कम प्राचीन है परन्तु आज जब मिस्र का प्राचीन गौरव अतीत की विस्तृत गाथा का रूप धारण कर चुका है, मैसोपोटैमिया का वैभव विलुप्त हो चुका है, और वह गौरवशाली यूनान तथा वह भव्य रोम (The glory that was Greece and the grandeur that was Rome) केवल इतिहास के पृष्ठों में ही विद्यमान है, चीन की अति प्राचीन सभ्यता आज भी जीवित है। सभ्यता का अनवरत प्रवाह युग युगों की रुकावटों को कुचलता हुआ पूर्वीय देशों चीन और भारत में ही दिखलाई पड़ता है। विश्व-इतिहास के विद्यार्थी के लिये यह एक मनोरंजक समस्या है कि वह इन सभ्यताओं की इस विस्मयकारिणी जीवनी-शक्ति के स्रोत का पता लगाये।

भौगोलिक परिस्थिति और चीनी जाति

भारतवर्ष की भाँति चीन भी एक विशाल देश है। इसकी जनसंख्या संसार के सभी देशों से अधिक है। यहाँ भी अन्य स्थानों की भाँति सभ्यता का विकास नदियों के तट पर हुआ है। ह्वांगहो तथा यांग्सीक्यांग नाम की दो बड़ी बड़ी नदियों के कारण चीन की भूमि अत्यन्त उपजाऊ हो गई है और अति प्राचीन काल से ही चीनी लोग इनके द्वारा कृषि तथा व्यापार की सुविधायें प्राप्त करते रहे हैं। यहाँ की जलवायु मानसून प्रदेशों की सी है किन्तु इस देश का उत्तरी भाग दक्षिणी भाग की अपेक्षा अधिक शीतल है। उत्तरी मंचूरिया अत्यन्त शीत प्रधान है इसीलिये यहां उपज की ऋतु बहुत ही छोटी होती है। चीन का अधिकांश भाग मैदान है कभी-कभी कम वृष्टि तथा अनावृष्टि के कारण खेती को काफी हानि पहुँचती है, इसके अलावा भारी वर्षा के साथ भूमि की उपजाऊ मिट्टी बह जाती है जिससे खेती को काफी नुकसान पहुँचता है। फिर भी चीन में उपज खर्च से अधिक रही है और देश की जन-संख्या का अधिकांश भाग कृषि पर अवलम्बित रहा करता है। खनिज पदार्थों का यहाँ अभाव नहीं है। कोयला, लोहा और तेल की खानें यहाँ पर हैं परन्तु प्राचीन काल में इनका प्रयोग बहुत अधिक परिमाण में नहीं होता था।

चीन की नदियों तथा पर्वत-श्रेणियों ने और इसके घने जंगलों ने इसे शेष संसार से बहुत कुछ अलग कर रक्खा था। चीन देश तक पहुँचने में यात्रियों या आक्रमणकारियों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। इस लिये चीनी जाति के साथ अन्य जातियों का मिश्रण बहुत ही कम हो सका। चीनी साहित्य में विदेशी उत्पत्ति का उल्लेख नहीं पाया जाता। चीन के लोग मंगोल जाति के हैं। ये छोटे कद के होते हैं और इनके चेहरे तथा सिर गोल होते हैं। इनकी आँखें छोटी होती हैं और बाल काले तथा कड़े होते हैं। दाढ़ियाँ देर में उगती हैं और कम घनी होती हैं। चीनियों के हाथ पैर भी छोटे होते हैं।

चीन का पौराणिक इतिहास सहस्रों वर्षों पूर्व आरम्भ होता है। भारत के पुराणों की भाँति चीन के ऐतिहासिक ग्रन्थों में ऐसे राजाओं का उल्लेख मिलता है जिन्होंने हजारों वर्षों तक शासन किया और जिनकी आकृतियां विचित्र

चीन का प्राचीन इतिहास

थी। पान कू प्रथम व्यक्ति था जिसने १८००० वर्षों की आयु प्राप्त की थी। इसी ने ईसा से २,२२६,००० वर्षों पूर्व संसार का निर्माण किया। फुसी ने विवाह के नियम बनाये और चीन की चित्रात्मक लिपि का तथा चीनी पचांग एवं वाद्य यन्त्रों का आविष्कार किया। इसने २८५२ ई० पू० से २७३८ ई० पू० तक शासन किया। उसका पुत्र शेननुंग (२७३५-२७०५) कृषि, व्यापार तथा चिकित्सा-विज्ञान का जन्मदाता था। व्हांगटी ने जिसे कि पीला सम्राट कहते हैं २६९७ ईसवी पूर्व से २५९८ ईसवी पूर्व तक शासन किया और कुतुबनुमा की क्रिया का आविष्कार किया। उसकी रानी ने सिल्क उद्योग का सूत्रपात किया।

चीन का सबसे प्राचीन इतिहासकार सुमा चिन था। यह प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व में हुआ था। यद्यपि यह अपने ग्रन्थ में पीले सम्राट का वर्णन करता है और इसी सम्राट से वह अपना ग्रन्थ आरम्भ करता है तथापि हम यू नामक व्यक्ति को जिसने २२०५ से २१९७ ईसवी पूर्व राज्य किया अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति मान सकते हैं। यू हसिया (Hsia) नामक वंश का संस्थापक था। इस वंश में १७ सम्राट हुये और उनका शासन-काल ४३९ वर्षों तक (२२०५ से १७६६ ईसवी पूर्व) था। शैंग युग से हम अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय इतिहास प्रारम्भ करते हैं। इस वंश में २८ सम्राट हुये जिन्होंने ६४१ वर्षों तक शासन किया। शैंग वंश का शासन काल १७६६ से ११२५ ईसवी पूर्व तक था। इस वंश के राज्यकाल में चीन का कला-कौशल अत्यन्त उच्चकोटि का था और सभ्यता की काफी उन्नति की गई थी। इस समय चीनी लोग हाथीदांत अथवा पीतल पर अपनी चित्रात्मक लिपि लिखने का अभ्यास करते थे। एक प्रकार की स्याही अथवा वार्निश से वे बांस के पत्रों पर भी अपने लेख सुरक्षित रखते थे। लिखने के लिये एक ब्रश से काम लिया जाता था। सीनान में अभी कुछ वर्षों पूर्व जो खुदाई हुई है उससे हिरण के सींग, कछुये की पीठ और आॅइयल पीके के से लगे हुए कर्म पदार्थ मिले हैं जिन पर शैंग युग की लिपि लिखित है। कुटलिन नामक विद्वान का कथन है कि कन्फ्यूशियस के समय की कविता पुस्तक की कुछ कवितायें शैंग युग की है और इसीलिये वे राष्ट्र की प्राचीनतम अवशिष्ट सामग्रियाँ हैं। ईसा से ११२५ वर्षों पूर्व शैंग वंश के अन्तिम सम्राट के विरुद्ध विद्रोह कर वू वांग ने चाउ वंश की स्थापना की।

चाउ वंश का शासन-काल (११२५-२५० ईसवी पूर्व) चीन के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस वंश के ३७ सम्राटों ने चीन पर राज्य किया। उनके ८७५ वर्षों के सुदीर्घ राज्य-काल में चीन ने जीवन के सभी अंगों में बहुत उन्नति की। यद्यपि शासक स्वर्गीय पुरुष समझे जाते थे और उनकी शक्ति निरंकुश थी तथापि वे अपने अफसरों को बड़ी सावधानी से चुनते थे। नियुक्ति के पहले अफसरों को तीरन्दाजी, घुड़सवारी, लेखनकला, गिनना, संगीत और रीति-रिवाजों को पालने, इन छः कलाओं में परीक्षा देनी पड़ती थी। ये शासक राज्य और समाज में सुव्यवस्था स्थापित करते थे, तथा लोगों में सदाचार एवं नैतिक भावनाओं का प्रचार करते थे। चीनियों का विश्वास था कि सम्राट को अपनी प्रजा के सम्मुख एक उदाहरण स्वरूप होना चाहिये और कम से कम कुछ मामलों में तो वह अवश्य प्रजा के सुख के लिये उत्तरदायी समझा जाता था। जब प्रजा दुर्भिक्ष-पीड़ित होती थी तो उसे भी अपने को दुखी रखना पड़ता था। वह प्रजा के सुख से सुखी और उसके दुख में दुखी रहता था। एक अफसर भी रहता था जो सम्राट को उसके अनुचित व्यवहारों के लिये डांटता था। हर तीसरे वर्ष जन-गणना कराई जाती थी। जन-गणना की प्रणाली प्रायः त्रुटिपूर्ण होती थी। राजाओं के शासन की उदारता इस बात से सिद्ध हो जाती है कि उन्होंने अपने साम्राज्य भर में अनेक पाठशालाओं और अस्पतालों को स्थापित कराया था। तानयुनसान नामक आधुनिक चीनी विद्वान ने चाउ वंश की प्रशंसा करते हुये लिखा है: "जब हम चाउ अफसरों के कर्तव्यों सरकारी व्यवस्था का 'चाउ ली' नामक पुस्तक पढ़ते हैं तो हमें अपने पूर्वजों की भावना और योग्यता की प्रशंसा करनी ही पड़ती है। सभ्यता और संस्कृति की समस्त शाखाओं में एक आश्चर्य जनक रूप से सुधार किया गया था।"

यद्यपि प्रारम्भ में चाउ वंश के सम्राटों की शक्ति काफी बढ़ी-चढ़ी थी तथापि बाद में केन्द्रीय सरकार की शक्ति का ह्रास होने लगा। कन्फ्यूशियस के कुछ पहले से ही सम्राट की शक्ति कुछ घटने लगी थी। हूणों के आक्रमण ने शान्ति और सुव्यवस्था की समाप्ति कर दी थी। शक्तिशाली सामन्तों ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। ये सामन्त आपस में लड़ा करते थे, और अपनी अपनी सेनाओं के संगठन पर बहुत ध्यान देते थे। यह युग "अराजकता का युग कहलाता है।" मिस्टर लियांग सी चाओ ने "चीन और संयुक्त राष्ट्र संघ" में लिखा है कि 'चौथी और आठवीं शताब्दी ईसवी पूर्व के काल में ह्वांगहो और यांटिसीक्यांग की घाटियों में पांच या छः हजार छोटे-छोटे राज्य थे जिन पर लगभग एक दर्जन राजा अपना-अपना प्रभुत्व जमाये हुये थे।" यद्यपि इस युग में ये राज्य परस्पर संघर्ष किया करते थे, तथापि अराजकता के काल में चीन के बौद्धिक जीवन ने जिस जीवनी-शक्ति का परिचय दिया वह इतिहास के विद्यार्थी को विस्मय में डाल देती है। इसी अशान्तिमय युग में चीनी भाषा, साहित्य, दर्शन और कला की नींव डाली गई। इसी युग में चीन में कन्फ्यूशियस और लाओत्से का प्रादुर्भाव हुआ। सी० पी० फिटजेराल्ड ने अपने ग्रन्थ "चीन : एक संक्षिप्त सांस्कृतिक इतिहास"[१] में पृष्ठ ७४ पर इस युग के विषय में लिखा है, "संघर्षशील राज्यों का समय (४८१-२२१ ईसवी पूर्व) राजनीतिक अव्यवस्था और सामाजिक विघटन का युग था। चीनी विचार-धारा के इतिहास में भी यह युग सब से अधिक गौरवशाली था। यह एक ऐसा युग था जिसमें आचार-शास्त्र और दर्शन के उन सम्प्रदायों का जन्म हुआ जिन्होंने यूरोपीय सभ्यता पर ईरान के प्रभाव की ही भांति सुदूर पूर्व की सभ्यता पर एक स्थायी प्रभाव डाला है।"

चीन में अराजकता के युग का अन्त शी ह्वांग टी नामक पराक्रमी सम्राट ने किया। वह चिन नामक राज्य का शासक था। उसने समस्त सामन्तों को पराजित कर उनके विभिन्न राज्यों को छीन लिया और सम्पूर्ण साम्राज्य को एकता के सूत्र में आबद्ध किया। वह चीन का प्रथम सम्राट कहा जाता है। उसने २४६ से २१० ईसवी पूर्व तक राज्य किया, वह चीन का बिस्मार्क कहा जाता है। उसने सामन्तों की शक्ति नष्ट करके प्रत्येक जिले में एक सैनिक शक्ति स्थापित कर दी। उसने साम्राज्य का पुनर्गठन किया। सेना की शक्ति को उसने नई बढ़ाया। साम्राज्य की शक्ति सुदृढ़ करने के लिये उसने सड़कों का एक जाल सा बिछवा दिया। "सड़कों का यह शक्तिशाली जाल देश के ऐक्य की रक्षा के लिये एक कवच के समान था। उसने पहियों की धुरी को एक समान करने का आदेश निकलवा दिया। पहियों के बीच का अन्तर भी समान किया गया। इस प्रकार सेना एक स्थान से दूसरे स्थान को सरलतापूर्वक जा सकती थी और व्यापार की सुविधा भी बढ़ी। शी ह्वांग टी का गौरव इसी बात में है कि उसने विभाजित चीन को एकता प्रदान की। उसने विभिन्न उपायों का अवलम्बन करके चीन की एकता को सुरक्षित रखने का प्रयास किया। इस नवजात साम्राज्य की एकता को पूर्ण और स्थायी बनाने का निश्चय करके सम्राट और उसके मंत्री लि सू ने लोगों के रीति रिवाजों को परिवर्तित करने पर उतना ही ध्यान दिया जितना सामन्तवादी-शक्ति का उन्मूलन करने पर दिया था। न केवल प्राचीन राज्यों के कानून नष्ट किये गये, और चीन का न्याय-विधान साम्राज्य के प्रत्येक भाग में लागू किया गया अपितु नाप और तौल के भिन्न-भिन्न पैमाने, जिन्होंने व्यापार को जटिल बना दिया था तथा कर संग्रह को रोक दिया था, नष्ट कर दिये गये और चिन के पैमाने का प्रयोग सार्वभौम बनाया गया।"

शी ह्वांग टी ने साम्राज्य को एकता के सुदृढ़ सूत्र में आबद्ध करने के लिये यह आवश्यक समझा कि लोगों के हृदयों में सम्राट के प्रति पूर्ण भक्ति व श्रद्धा हो जाय। उसने यह सोचा कि जब तक लोगों के मस्तिष्क में अतीत की स्मृति बनी रहेगी, तब तक ऐसा सम्भव नहीं था। इसलिये उसने कनफ्यूशियस की समस्त पुस्तकों को जलवा दिया और कुछ विद्वानों को मृत्यु दंड दिया और कुछ को चीन की बड़ी दीवाल बनाने में नियुक्त कर दिया। काम से

[१] China—A Short Cultural History, By C. P. Fitzgerald.

कम ४६० विद्वानों को उसने जलवा दिया। यद्यपि उसने अपने देश में राजनैतिक एकता स्थापित की थी और लेखन-कला की विभिन्न पद्धतियों के स्थान पर एक लिपि को प्रामाणिक बनाकर सांस्कृतिक एकता का मार्ग प्रशस्त किया था तथापि चीन के निवासी उसे सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते थे। कुछ लोगों ने कनफूशियस के ग्रन्थों को कंठ कर लिया था इसीलिये उनकी रक्षा हो सकी। आन्तरिक मामलों से छुटकारा पा लेने के उपरान्त उसने उत्तर दिशा में होने वाले बर्बर जातियों के आक्रमणों को रोकने की ओर ध्यान दिया। उसने एक बहुत बड़ी दीवाल बनवाई। १८०० मील लम्बी और २० फीट चौड़ी यह दीवाल विश्व के सात महान आश्चर्यों में से एक समझी जाती है। वोल्तेयर ने लिखा है कि इस दीवाल के सामने मिस्र के पिरेमिड बिलकुल बच्चों की कृतियां और निरर्थक ढेर मालूम देते हैं। इस दीवाल के निर्माण में दस वर्ष लगे थे और असंख्य लोगों के परिश्रम से यह बनी थी।

शी ह्वांग टी की मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी लोभी मुसाहिबों के हाथों की पुतली बन गया। उसके विरुद्ध जनता ने विद्रोह किया, और शी ह्वांग टी जैसे प्रतापी सम्राट की मृत्यु के पांच वर्ष बाद ही उसके वंश का अन्त कर दिया गया। विद्रोहियों के नेता ने शासन अपने हाथ में ग्रहण किया। २०६ ईसवी पूर्व में चीन में हान वंश की स्थापना हो गई। चिन सम्राट का महत्वपूर्ण कार्य, देश का राजनैतिक एकीकरण उसकी मृत्यु के बाद नष्ट नहीं हुआ, किन्तु हान सम्राटों ने शासन कार्य अपने पूर्व सम्राट की अपेक्षा अधिक उदारता से किया।

हान वंश का सब से महान सम्राट वूती (१४०, ८७ ईसवी पूर्व) था। लगभग एक अर्द्ध शताब्दी के शासन-काल में उसने आक्रमणकारियों को धकेल दिया और चीन का राज्य कोरिया, मंचूरिया, अन्नाम, इन्डोचीन और तुर्किस्तान तक बढ़ाया। उसने अपने साम्राज्य को तेरह प्रान्तों में विभाजित किया और प्रत्येक प्रान्त का शासन करने के लिये एक-एक गवर्नर नियुक्त कर दिया। उसने प्राकृतिक साधनों का राष्ट्रीयकरण किया। उसके पहले कुछ धनीमानी लोग

हान वंश

पर्वत और समुद्र की वस्तुओं जैसे जड़ी-बूटी, धातुएं, और नमक इत्यादि पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लेते थे, और इस प्रकार बहुत धन इकट्ठा कर लेते थे। निम्न वर्ग के लोगों को उनकी गुलामी करना पड़ता था। वूती ने इस प्रथा को बंद किया और लोहा तथा नमक और सुरा इत्यादि मादक वस्तुओं की उत्पत्ति का काम राज्य के सुपुर्द किया। उसने आवागमन और विनिमय की भी एक राष्ट्रीय प्रणाली का सूत्रपात किया। उसने व्यापार को नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया, जिससे वस्तुओं के मूल्य में जल्दी-जल्दी परिवर्तन न हो सके। सस्ते में माल को राज्य रख लिया करता था और जब दाम बहुत बढ़ जाते थे तब उनको बेचा जाता था। नहरें दूर दूर तक खुदवाई गईं और सार्वजनिक हित के कार्यों की ओर ध्यान दिया गया, जिससे लोगों को काम मिल गये। पदार्थों के विनिमय और उपभोग को सरल बनाने के उद्देश्य से चांदी और टिन के मिले हुये सिक्के चलाये गये। चीन की नदियों और झीलों के ऊपर पुल बनवाये गये और खेतों की सिंचाई के लिये असंख्य नहरें खुदवाई गईं। हान वंश के शासन-काल में अफसरों की नियुक्ति गुण के आधार पर की जाती थी, जन्म के आधार पर नहीं। एक परीक्षा ली जाती थी, और सब से योग्य ही सरकारी कामों के लिये चुने जाते थे। ये परीक्षायें कनफ्यूशियस के इस सिद्धान्त पर कि राज्य का शासन अत्यन्त योग्य व्यक्तियों द्वारा ही होना चाहिये, आधारित थीं। इस परीक्षा के फल-स्वरूप सामन्तों और राजकुमारों की शक्ति बहुत कम हो गई। वूती ने कला और साहित्य को राज्य-प्रश्रय प्रदान किया। सम्राट के पुस्तकालय में प्राचीन शास्त्रों की ३१२३ पुस्तकें, दर्शन की २००५ पुस्तकें, कविता की १३१८ पुस्तकें, गणित की २५२६ पुस्तकें, चिकित्सा विज्ञान की ८६८ पुस्तकें और युद्ध की ७६० पुस्तकें थीं।

हान वंश के राज्य काल में एक अन्य महत्वपूर्ण बात हुई। इसी वंश के शासन-काल में चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ। यह प्रचार सम्राट मिंगती के समय में हुआ था। उसने स्वप्न में एक महापुरुष के दर्शन किये, और अपने दूत पश्चिम की ओर भेजे। दो बौद्ध भिक्षुओं को उसके दूत राजसभा में लाये। इस सम्राट ने बौद्ध-धर्म को ग्रहण किया और इसके प्रचार का प्रयत्न किया। बुद्ध-धर्म के साथ-साथ भारतीय कला भी चीन पहुँची और चीन की

कला पर्याप्त अंशों में भारतीय कला से प्रभावित हुई। चीन और भारत के मध्य इसी समय से सांस्कृतिक आदान-प्रदान आरम्भ हुआ और अनेक चीनी यात्रियों ने बौद्ध-धर्म के जन्म-स्थान भारत की यात्रा की और भारतीय विद्वान भी चीन गये। सूदहिल का विचार है कि भारतीय संस्कृति के अन्य रूपों के साथ चीन में बौद्ध-धर्म का उदय ही केवल ऐसा आदान-प्रदान है जिसने आधुनिक समय तक चीन को लाभान्वित किया है।

तंग वंश को चीनी इतिहास का स्वर्ण युग कहना अधिक उपयुक्त होगा। हान वंश में सभ्यता के जिन तत्वों की नींव डाली गई थी उनका चरम विकास तंग काल में ही हुआ। यदि हम भारतीय इतिहास के युगों से साम्य उपस्थित करना चाहें तो हान वंश की तुलना मौर्य वंश से और तंग युग की तुलना गुप्त काल से कर सकते हैं। हान युग वह युग था जिसमें रचनात्मक प्रवृत्तियों का बीजारोपण ही हुआ था। हान वंश के पतन के उपरान्त चीन में कुछ दिनों के लिये सुय वंश की स्थापना हुई। इस सुय वंश में पुनरुज्जीवन का प्रारम्भ हुआ। एक सुय सम्राट के शासन-काल में ही लुचु के द्वीप चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत मिलाये गये और एक महान साहित्यिक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। सम्राट के पुस्तकालय में पुस्तकों की संख्या बढ़कर ५४०० हो गई। इस पुनरुज्जीवन का पूर्ण विकास तंग वंश के शासन काल में हुआ। फू नामक चीनी विद्वान का आग्रह है कि यह पुनरुज्जीवन नवीन उत्पत्ति था। इसकी आत्मा नवीन थी, और इसने तंग सभ्यता को पूर्णतया विशिष्ट तत्वों से युक्त प्रदर्शित किया : चार प्रमुख तत्वों का इस सभ्यता में समन्वय किया गया था, (१) चीन की उदार संस्कृति (२) चीन का शास्त्रीय पांडित्य (३) भारत का बौद्ध धर्म और (४) उत्तरी वीरता। फु तंग युग के विषय में लिखते हैं "एक नवीन चीन का जन्म हो चुका था। तंग वंश की प्रान्तीय व्यवस्था, शासन और सैनिक संगठन पूर्ववर्ती शासकों की इन वस्तुओं से नितान्त भिन्न था। कलायें, भारत और मध्य एशिया के प्रभावों से बहुत प्रभावित और पुनर्प्राणवती हुई। साहित्य, केवल साहित्य की प्राचीन परम्परा को बनाये रखने वाला ही न था वरन् यह एक नवीन उत्पत्ति था। बुद्ध-धर्म के दार्शनिक और धार्मिक सम्प्रदाय नये विशिष्ट तत्व थे। यह महत्वपूर्ण परिवर्तन का युग था।" ताई सुंग और मिंग ह्वांग के सुदीर्घ शासन काल में कविता की अभूत पूर्व उन्नति हुई। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि तंग युग की तीन शताब्दियाँ कविता के लिये स्वर्ण-युग थीं। अठारहवीं शताब्दी में एक मंचू सम्राट ने तंग काल की कविताओं का एक संग्रह तैयार करने का आदेश दिया। फल स्वरूप तीस पुस्तकें तैयार की गईं, जिनमें तेइस सौ कवियों की ४८९०० कवितायें संगृहीत की गई थीं। कदाचित् ही कला की कोई ऐसी शाखा थी जिसमें इसमें इस युग की विलक्षणकारिणी प्रतिभा ने अपने गुण न दिखाये हों। आठवीं शताब्दी प्रथमार्द्ध में मिंग ह्वांग की राज-सभा में सब से विख्यात और महान चित्रकार, कवि और शिल्पी उपस्थित रहते थे। ताई सुङ्ग ने अपने समय को काव्यमय ही बना दिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी युग में चीन जाति को सौन्दर्य प्रेम और सौन्दर्य मोह ने सब से अधिक प्रभावित किया। एक चीनी समालोचक का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति इस युग में कवि था। सम्राट कलाकारों और कवियों को उच्च पद प्रदान करते थे, और ताई सुङ्ग से कुछ निवेदन करने के लिये कविता ही एक-मात्र साधन थी। तंग काल में चीन की समस्त ललित कलाओं और कारीगरियों का पूर्ण विकास हुआ। तंग शासन की प्रथम शताब्दी कला की दृष्टि से साधारणतः चीन का सर्वश्रेष्ठ युग समझा जाता है। चीन में बौद्ध शिल्प की सब से अधिक परिपक्व और सर्वोत्तम कृतियां इसी युग की देन हैं। उनकी सब से बड़ी विशेषता है उनकी सर्वांगपूर्ण पूर्णता और उनकी शान का तो कहना ही क्या। इसी प्रकार उत्तरकालीन तंग के मिट्टी के बर्तनों पर जो मनोहर नक्काशी और उनकी जो कलापूर्ण आकृतियां दिखलाई पड़ती हैं वे वस्तुतः अद्वितीय और ध्यान देने योग्य हैं। यह युग अपने पूर्ववर्ती हान युग से अधिक परिष्कृत और अपने बाद वाले सुंग काल से कम बनावटी और आडम्बरपूर्ण था और इस युग में कनफ्यूशियस की अत्यधिक वाह्यात्मकता (objec-tivity) तथा लाओत्से के अन्तःप्रवर्तन (subjectivity) के मध्य सन्तुलन स्थापित किया गया, जिससे सकल कलाओं के विकास को अनुकूल वातावरण मिल गया। फिट्जराल्ड ने इस युग के विषय में सत्य ही

कहा है, "तंग युग चीनी सभ्यता के एक महान रचनात्मक युग के रूप में प्रसिद्ध है। इस युग की कविताओं से बढ़कर कवितायें अन्य युगों में नहीं लिखी गई और कलाओं में विशेषकर स्थापत्य तथा चित्र-कला में तंग कलाकारों की कृतियां पहले के या बाद के कलाकारों की कृतियों से तुलना कर सकती हैं।"

अन्य दृष्टियों से भी तंग वंश का शासन-काल चीनी इतिहास का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। सरकारी पदों के लिये जिस परीक्षा-प्रणाली का आरम्भ हान वंश के द्वारा किया गया उसका भी पूर्ण व्यवस्थापन इसी काल में हुआ। ताई सुग नामक सम्राट ने, जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है, साम्राज्य की सीमा का काफी विस्तार किया और आक्रमणकारियों को अपने देश की सीमा के बाहर खदेड़ दिया। इसके समय में व्यापार की भी उन्नति हुई। चीन के जलयान व्यापार के लिये हिन्द महासागर और फारस की खाड़ी के सुदूर बन्दरगाहों तक पहुँचने लगे। चीन ने इस काल के समान समृद्धि पहले कभी नहीं देखी थी, और इस युग के चीनियों ने सुख और विलास की जितनी विविध सामग्रियों का उपभोग किया था, उतनी उनके पूर्वजों ने कभी नहीं किया था। जब कि रेशम के वस्त्र पश्चिमी देशों में अत्यन्त मँहगे दामों में बिकते थे, चीन के बड़े नगरों के लगभग आधे निवासी अपने दैनिक कार्यों में रेशम का प्रयोग करते थे। मरडोक नामक लेखक का कथन है कि "इस समय निस्सन्देह चीन सभ्यता के मामले में सबसे आगे और संसार में सब से अधिक शक्तिशाली सबसे अधिक ज्ञानवान, सब से अधिक प्रगतिशील और सबसे अधिक सुशासित साम्राज्य था।" ताईशुंग ने धार्मिक उदारता और सहिष्णुता का परिचय उस समय दिया जब योरप में दारिद्र्य, बौद्धिक अन्धकार और धार्मिक संकीर्णता का साम्राज्य छाया हुआ था। उसी समय में चीन में ईसाई धर्म तथा जरथुस्त्र के धर्म ने प्रवेश प्राप्त किया। उसने इन दोनों धर्मों का आदर किया, और इनके मन्दिरों को कर मुक्ति प्रदान की। भारत में भी गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय ने सिंहल द्वीप के नरेश को बौद्ध विहार बनवाने का आदेश देकर अपनी धार्मिक उदारता प्रदर्शित की थी। इन दोनों पूर्वी देशों की यह धार्मिक सहिष्णुता और हृदय की विशालता ध्यान देने योग्य है और यह याद रखना चाहिये कि पश्चिमी देशों में इनका प्रचार बहुत बाद में हुआ। तुन्ग वंश के राज्य-काल में चीन की संस्कृति ने भारतीय तत्वों को उदारतापूर्वक ग्रहण कर अपनी जीवनी-शक्ति का परिचय दिया। इस काल में चीन के अनेक बौद्ध भिक्षुओं ने जिनमें ह्वांग सांग का नाम उल्लेखनीय है भारतवर्ष का भ्रमण किया और अनेक बौद्ध सन्यासियों ने चीन की यात्रा की। सांस्कृतिक आदान प्रदान का यह पुण्य कार्य आरम्भ तो हान वंश के शासन काल में हो चुका था, परन्तु इस युग में वह अधिक सक्रिय रूप से सम्पन्न होने लगा। कला और कविता के अतिरिक्त चीनी इतिहास के अन्य युगों की अपेक्षा तंग वंश के गौरव का वर्णन करते हुये फिट्जराल्ड ने लिखा है "कलाकारों और कवियों की शताब्दी उत्साही बौद्ध यात्रियों और उपदेशकों तथा सीमा-आक्रान्ता सेना-नायकों के साम्राज्यवादी आक्रमणवाद की भी शताब्दी थी। यह एक बहुमुखी युग था, यह अन्य युगों की अपेक्षा परम्पराओं से कम जकड़ा हुआ और नवीन प्रभावों के लिये अधिक ग्रहणशील था।"

सिन ह्वांग नामक सम्राट के पश्चात तंग वंश की शक्ति का ह्रास होने लगा। उसके बाद कुछ दुर्बल नरेश सिंहासन पर बैठे, जो सम्पूर्ण देश में सम्राट की शक्ति स्थापित करने में असमर्थ रहे। अन्त में तंग वंश का नाश हो गया और उसके भग्नावशेषों पर सुंग वंश की स्थापना हुई। ताई सु सुंग वंश का प्रथम सम्राट था। इस वंश का सर्वप्रसिद्ध नाम वान शिह (१०२१-८६) था। इसके शासन सम्बन्धी विचार अत्यन्त प्रगतिशील और अपने समय से काफी आगे थे। इसका मत था "राज्य के व्यापार उद्योग और कृषि का सम्पूर्ण प्रबन्ध अपने हाथों में ले लेना चाहिये जिससे परिश्रम करने वाले वर्ग (श्रमजीवी और कृषक) का पोषण हो सके और धनी उनको अपने अत्याचारों के शूल में न मिला सके।" वह शासन सम्बन्धी कार्यों में हर समय व्यस्त रहता था और प्रजा के कल्याण को ध्यान में रखता था। वह विद्वता में अपने समकालीन विद्वानों की समानता करता था। अपने शासन-सम्बन्धी विचारों को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से उसने कुछ महत्वपूर्ण सुधार किये।

सुंग वंश

परन्तु परिस्थितियों ने उसका साथ न दिया और धनी वर्ग के प्रबल प्रतिरोध से कारण वह सिंहासन च्युत कर दिया गया। चीन में फिर एक बार गड़बड़ी मची और अन्त में अन्तिम सुंग सम्राट भी मार डाला गया और चीन का राज्य मंगोलों के अधिकार में चला गया।

चीन की सामाजिक रचना

चीन का समाज प्रमुखतः चार वर्गों में विभाजित था—(१) विद्वानों और अध्यापकों का वर्ग, (२) कृषक (३) कारीगर और (४) व्यापारी। समाज में सब से अधिक सम्मान विद्वानों और अध्यापकों का था। व्यापारियों और धनवानों की प्रतिष्ठा नहीं की जाती थी। विद्वानों के वर्ग को मन्दारिन कहा जाता था। यह वर्ग भारतवर्ष की ब्राह्मण जाति से मिलता जुलता है। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि भारत में जाति व्यवस्था जन्म के आधार पर थी। चीन में किसी व्यवसाय को करने वाला व्यक्ति मन्दारिन वर्ग का सदस्य हो सकता था। इस प्रकार चीन में व्यक्ति का सम्मान उसके गुणों और पांडित्य के कारण होता था, उच्च-कुल में जन्म लेने के कारण नहीं। समाज में कृषकों की अवस्था सन्तोषजनक न थी। उनसे बहुधा बेगार कराया जाता था और प्राकृतिक प्रकोपों के कारण भी उनका जीवन प्रायः यन्त्रणामय ही रहा करता था। अधिकांश कृषक अपनी भूमि के मालिक होते थे, परन्तु जन संख्या बराबर बढ़ती जाने से और भूमि विभाजन होते जाने के कारण प्रत्येक किसान के अधिकार में बहुत थोड़ी ही भूमि रहती थी। निम्नलिखित पंक्तियों से हम चीनी किसान के दुखी जीवन का कुछ अनुमान कर सकते हैं।

"वे जंगली कलहंस अपने पंखों पर (उड़े हुये) कितने स्वतन्त्र हैं,
और वे उन छायादार वृक्षों पर विश्राम करते हैं,
परन्तु हम राजा की सेवा में निरन्तर श्रम करने वाले,
अपने चावल या बाजरे के पौधे भी नहीं लगा सकते।
हमारे माता पिता किन वस्तुओं पर निर्भर रहेंगे,
ये सुदूरवर्ती और नीले आकाश
यह सब कब समाप्त होगा।"

अपने कष्टों को चीन का कृषक एक दार्शनिक उदासीनता की दृष्टि से देखता था और [illegible] करता था। चीन के कृषकों की एक कहावत है "इस क्षणभंगुर जीवन में जिस वस्तु की आवश्यकता [illegible] और चावल की एक टोकरी" कभी-कभी तो वे अपने सन्तोषमय और परिश्रमशील जीवन पर गर्व भी करते हैं। निम्नलिखित पंक्तियों से इस भावना का आभास मिलता है।

"हम तड़के उठते हैं,
संध्या को हम विश्राम करते हैं,
जल पीने के लिये हम कुयें खोदते हैं,
और खाने के लिये हम खेत जोतते हैं,
शासक की शक्ति हमारे लिये क्या है?"

चीनी समाज में स्त्रियों का स्थान पहले तो उच्च था परन्तु बाद में उनकी अवस्था गिरती गई। कन्फ्यूशियस के पहले के समय में चीन का परिवार माता के अधिकार में केन्द्रित था। वही परिवार का स्रोत समझी जाती थी। अत्यन्त प्राचीन काल में चीन के लोग अपनी माताओं को तो जानते थे, किन्तु पिताओं को नहीं जानते थे। पत्नी शब्द का अर्थ होता था और विवाह के बाद भी पत्नी का नाम सुरक्षित रहता था। कभी कभी चीनी स्त्रियाँ शासन के उच्च पदों को भी ग्रहण करती थीं। १९५ ईसवी पूर्व से लेकर १८० ईसवी पूर्व तक साम्राज्ञी लू ने चीन पर शासन

किया था। यद्यपि मंचुओं के शासन काल में दस हज़ार चीनियों में केवल एक ही व्यक्ति शिक्षित होता था, तथापि प्राचीन समय में उच्च वर्ग की स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करना सुलभ था। अनेक स्त्रियों ने कवितायें लिखी थीं। पान कू नामक इतिहासकार के मृत्यु के बाद उसकी विदुषी बहन ने उसके ग्रन्थ को समाप्त किया था।

परन्तु कदाचित सामन्तवाद की स्थापना से चीन में नारियों के राजनीतिक और आर्थिक अधिकार कम हो गये। पितृ सत्तात्मक परिवार प्रथा हो जाने पर स्त्री का स्थान काफी गिर गया। पहले परिवार की समस्त चल और अचल सम्पत्ति पर उसी का अधिकार समझा जाता था। कन्फ्यूशियस के समय तक पिता की शक्ति बिलकुल बढ़ चुकी थी और वह अपने पुत्र तथा अपनी पत्नी को बेच भी सकता था। स्त्री को घर के बिलकुल अलग कमरों में रहना पड़ता था और सामाजिक जीवन में उसका कोई स्थान न था। पुरुष अपनी पत्नी को अपने बच्चों की माँ के रूप में ही देखता था। वह उसके सौन्दर्य अथवा गुण के लिये उसका सम्मान न करता था। वरन् उसके परिश्रम, आज्ञापालन और उसकी प्रजनन शक्ति के ही कारण वह उसके साथ सद्व्यवहार करता था। पान हों पान नामक एक महिला ने चीनी नारी की वास्तविक स्थिति का वर्णन यों किया था, "मानव समुदाय में हमें अन्तिम स्थान प्राप्त है। हमारा वर्ग मानवता का सब से दुर्बल भाग है। सबसे निकृष्ट कार्य हमारे हिस्से में आते हैं और आने चाहिये।" यौन सम्बन्धों की कानूनों की पुस्तक ठीक तरह से और न्याय-पूर्ण ढंग से इन शब्दों का प्रयोग करती हैं, "यदि एक स्त्री को उसका मनोनुकूल पति प्राप्त हो गया है तो वह उसके जीवन के लिये है और यदि उसे अपनी इच्छा के प्रतिकूल पति मिला है तो वह भी उसके जीवन के लिये है।"

यौन सम्बन्धों में पुरुष को काफी स्वतंत्रता थी परन्तु स्त्री को उन सम्बन्धों में कठोर नियमों का पालन करना पड़ता था। कन्याओं को अपने कौमार्य की सजगता पूर्वक रक्षा करने का उपदेश दिया जाता था और उनके लिये इन्द्रिय-पवित्रता अनिवार्य समझी जाती थी, परन्तु अविवाहित पुरुषों के लिये ब्रह्मचर्य पालन अथवा इन्द्रिय निग्रह आवश्यक नहीं समझा जाता था। स्त्री के सन्तान हीन होने पर पुरुष दूसरा विवाह कर सकता था। रखैलियाँ भी रखना एक प्रकार की प्रथा सी थी। कभी-कभी तो निस्सन्तान पत्नियाँ स्वयं अपने पतियों से [illegible] से विवाह कर लेने का आग्रह करती थीं। परदे की प्रथा भी थी और विवाह के पहले तो किसी लड़की को देख लेना सरल कार्य न था। कन्यायें नितान्त लज्जाशील और आज्ञाकारिणी होती थीं। लड़कों के पैदा होने पर खुशियाँ मनाई जाती थीं, और कन्याओं की उत्पत्ति पर शोक प्रकट किया जाता था। पति अपनी स्त्री को किसी भी कारण तलाक दे सकता था, यद्यपि व्यावहारिक जीवन में ऐसा बहुत कम होता था। इन सब बातों से पता लगता है कि चीन की सामाजिक रचना में नारी का स्थान पुरुष के बिलकुल अधीन था। तथापि पारिवारिक जीवन को सुचारु रूप से चलाने में दोनों एक दूसरे के साथ सहयोग करते थे। स्त्री पुरुष में पारस्परिक प्रेम भी काफी रहता था और आर्थिक दृष्टि से पराधीन रहने पर भी स्त्री अपने पति को उसके दुष्कृत्यों के लिये डाँट फटकार सकती थी।

चीन वालों के सामाजिक ढाँचे में इकाई परिवार है न कि व्यक्ति। यहाँ पूर्वजों के रीति-रिवाज ने ही सब के लिये मान्य विधान का रूप ग्रहण किया था और कुटुम्ब की सत्ता को बनाये रखना मनुष्य का सबसे प्रधान कर्तव्य समझा जाता था। इस कौटुम्बिक बलि वेदी पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता और अधिकारों की आहुति चढ़ा दी जाती थी। इस प्रकार वहाँ व्यक्ति सामाजिक शृंखला का एक कड़ी मात्र समझा जाता था, और उसके लिये यह आवश्यक समझा जाता था कि वह परिवार प्रथा को समाप्त न होने दे। इसी दृष्टिकोण से मनुष्य के लिये पुत्रोत्पादन प्रधान कृत्य समझा जाता था। पूर्वजों की पूजा के कारण लोगों में पुत्र की कामना बड़ी प्रबल थी। आजीवन अविवाहित रहना मनुष्य के लिये अनैतिक समझा जाता था। चीनियों का कुटुम्ब-स्नेह भारतीयों के परिवार-स्नेह से काफी मिलता-जुलता है।

Quoted by Dr. Durant. Our Oriental Heritage.

और यह कहने में अत्युक्ति नहीं कि चीनियों के हृदयों में अपने पूर्वजों के प्रति भक्ति और परिवार-स्नेह के कारण परम्परा पालन का जो भाव उत्पन्न हुआ उसने चीनी सभ्यता को आज भी जीवित रक्खा है।

चीन का आर्थिक जीवन

चीन का आर्थिक जीवन या यों कहना चाहिये कि चीन में सभ्यता का विकास कृषि पर ही अवलम्बित था। खेती के तरीके बहुत साधारण थे। कभी-कभी किसान हलों का प्रयोग करते थे। पहले लकड़ी के हलों का प्रयोग किया जाता था। इसके बाद पत्थर के हल बनाये जाने लगे, और फिर हल लोहे के बनने लगे। लेकिन अधिकतर किसान अपने कुदालों से ही अपने खेतों को गोड़ा करते थे। वे खेतों में खाद के रूप में मनुष्य विष्ठा का प्रयोग करते थे। अत्यन्त प्राचीन काल से ही वे असंख्य नहरें खोदते थे, जिनके द्वारा नदियों का जल उनके धान या बाजरा के खेतों में चला जाया करता था। सिंचाई के लिये सरकार को भी सचेष्ट रहना पड़ता था। हान सम्राटों ने जल की रोक थाम के लिये और सिंचाई के लिये ५६ नहरें खुदवाई थीं, तथा बांध बनवाये थे। चीन की भूमि इतनी उपजाऊ है कि बिना किसी विशेष खाद का प्रयोग किये हुये या फसलों का हेर-फेर किये हुये ही चीन का किसान अपने खेतों में दो तीन फसल पैदा करता है। अधिकतर चावल या बाजरा ही उत्पन्न किया जाता था और गेहूँ तथा जौ की भी उपज होती थी। चावल से मदिरा बनाई जाती थी, और भोजन में तो इसका प्रयोग होता ही था। चीनी कृषक का प्रिय पेय पदार्थ मदिरा न थी वरन चाय थी। पहिले तो चाय का सेवन औषधि के रूप में किया जाता था परन्तु तंग युग से इसकी खेती लोकप्रिय हो गई। कई प्रकार की तरकारियों तथा फलों की भी उपज होती थी और सोयाबीन, लहसुन तथा प्याज इस प्रकार की उपजों में प्रमुख थीं। सुअर और भेड़ मुख्य पालतू पशु थे। सांडों और बैलों से हल चलवाये जाते थे, और सुअरों तथा चिड़ियों का मांस खाया जाता था। समुद्र-तट या नदी तटों पर मछली पकड़ना भी चीनी ग्रामीणों का एक मुख्य व्यवसाय था।

उद्योग-धन्धा

चीन में भवन-निर्माण के कार्य के लिये पत्थर या ईंट की तुलना में लकड़ी का प्रयोग अधिक होता था, इसलिये वहां बढ़ईगीरी मुख्य उद्योग धन्धा हो गया। बांस का प्रयोग भी लकड़ी के साथ किया जाने लगा। चीनियों ने शीशे का उपयोग भारतवासियों से सीखा था। भवन-निर्माण में चित्रकारी तथा दीवालों पर खोदकर मूर्ति बनाना भी मुख्य उद्योग धन्धा था। हान वंश के शासन काल में फर्नीचर बनाना प्रमुख औद्योगिक कार्य था, और छोटे-छोटे मेज, आराम-कुर्सियां तथा अन्य प्रकार की कुर्सियां लोकप्रिय सामग्रियां थीं। कुम्हारी कला में चीनियों की देन अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। वे चीनी मिट्टी के अत्यन्त सुन्दर, मजबूत और कलापूर्ण बरतन बनाते थे। शीशे की वस्तुओं को वे बनाते थे, और उनका प्रयोग भी करते थे। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रयोग अधिक विकसित अवस्था में न था। लोहे का प्रयोग होता था और कदाचित धातुओं को पिघलाने की कला चीन वासियों ने पश्चिम वालों से सीखी थी।

बुने हुये कपड़े तैयार करने के उद्योग में चीनियों की देन अद्वितीय थी। उन्होंने ही सर्वप्रथम रेशम के कपड़े बुनना शुरू किया। उनके रेशमी वस्त्र विदेशों को भेजे जाते थे। प्राचीन भारतीय साहित्य में चीन के रेशमी वस्त्र की प्रशंसा की गई है। स्वयं महाकवि कालिदास ने अपनी एक उपमा में "चीनांशुक" शब्द का प्रयोग किया है।

"गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चात संस्थितं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य।" अभिज्ञान शाकुन्तलम्

और उनके शीशे का सामान प्राचीन मिस्र के शीशे के पदार्थों की तुलना में निकृष्ट थे।

चीन में पहले तो रेशम के वस्त्र विलास सामग्री समझे जाते थे परन्तु हान वंश के शासन-काल के समय से रेशम का प्रयोग बड़े पैमाने पर किया जाने लगा। चीनी जुलाहे रेशम बुनने के लिये जिस करघे का प्रयोग करते थे, वह पश्चिमी देशों के करघे से कहीं अधिक उत्तम था। वस्त्र बनाने के लिये रुई का प्रयोग चीन के निवासियों ने भारतवर्ष से

सीखा। ईसा के लगभग दो सौ वर्षों पूर्व से रुई के कपड़े साधारण जनता के प्रमुख आवरण हो गये थे। चीनियों का अन्तिम मौलिक औद्योगिक आविष्कार कागज था। यह ईसा की दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ में बनाया जाने लगा था। बाद में यह विभिन्न पदार्थों से कई प्रकार का बनाया जाने लगा। वृक्षों की खाल, पटुआ, चिथड़ों और रेशम के छोटे छोटे टुकड़ों से चीनी कारीगर कागज बनाते थे।

चीन देश में उद्योग-धन्धों का उतना विकास नहीं हुआ जितना कला का। वास्तव में चीनियों की प्रतिभा कला की ओर ही विशेष थी। उद्योग-धन्धों के विकास की ओर अपेक्षाकृत कम। चीनी कारीगर धातुओं के प्रयोग में कुशल न थे। वहां के सुनार सुन्दर-सुन्दर आभूषण बनाना नहीं जानते थे, और वे विभिन्न धातुओं का मिश्रण करने की कला से भी अनभिज्ञ थे। यद्यपि वे शीशे की वस्तुयें बनाना जानते थे तथापि वे इन वस्तुओं को बाहर से ही मंगाना पसन्द करते थे।

व्यापार

यद्यपि चीन में व्यापारियों का सम्मान नहीं किया जाता था, और सम्राट भी उनके ऊपर कर अधिक लगाया करते थे, तथापि चीनी व्यापारियों ने सुदूर देशों से व्यापार करना आरम्भ कर दिया। हान वंश के शासन-काल से पश्चिमी देशों से, यथा रोम, पार्थिया, और भारत से रेशम का व्यापार बहुत बड़े पैमाने पर होता था। रोम का बहुत अधिक धन आयात सामग्रियों की अधिकता के कारण चीन और भारत में चला जाया करता था। रोमवासियों के मस्तिष्क पर रेशमी वस्त्र का आकर्षण बहुत था। वे बहुत बड़ी तादाद से इनका प्रयोग करते थे, और चूंकि वे स्वयं किसी वस्तु का निर्यात नहीं कर सकते थे इसलिये उनका धन विदेशों को चला जाता था। व्यापार का स्थल-मार्ग तुर्किस्तान से होकर था। इसी रास्ते से ऊंटों पर सामान लाद कर चीन के व्यापारी भारतवर्ष, ईरान, मैसोपोटैमिया और रोम तक जाया करते थे। मलाय प्रायद्वीप से होकर चीनी व्यापारियों के जलयान भूमध्यसागर के जलमार्ग द्वारा विदेशों को जाते थे। रेशम और चाय, चीनी बरतन तथा कागज, बारूद और ताश, खूबानी एवं आड़ू आदि वस्तुयें चीन के व्यापारी दूसरे देशों को भेजते थे। और वे विदेशों से अल्फाफा, शीशे, तम्बाकू और अफीम आदि वस्तुयें अपने देश में लाते थे। नहरों के बन जाने से और शी ह्वांग टी के द्वारा सड़कों के सुधार दिये जाने पर आन्तरिक व्यापार काफी बढ़ गया। देश का भीतरी व्यापार दूकानदार किया करते थे, और नगरों में दूकानों की संख्या बहुत अधिक होती थी।

ऋण-व्यवस्था और सिक्कों के प्रचलन से आन्तरिक व्यापार को काफी प्रोत्साहन मिला। व्यापारी एक दूसरे को काफी ऊँची दर से रुपये उधार दिया करते थे। सूद की दर लगभग ३६ प्रतिशत थी। बैंकों की भी व्यवस्था थी। चाऊ वंश के शासन-काल में विनिमय के साधन-रूप में धातु का एक टुकड़ा प्रचलित किया गया। व्यापार की उन्नति होने पर ईसा से पांचवीं शताब्दी पूर्व सिक्कों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। २२१ ईस्वी पूर्व में वस्तु विनिमय की प्रथा को रोका गया और एक गोल सिक्का राज्य की ओर से चालू किया गया। जाली सिक्के बनाने पर कठोर दण्ड दिया जाता था। ११६ ईस्वी पूर्व में एक तांबे का सिक्का प्रचलित किया गया जिससे अन्य सिक्कों का प्रचलन बन्द हो गया।

चीनी कला

चीन की कला भारतीय कला से इस बात में मिलती है कि उसमें वस्तु का हूबहू चित्रण नहीं किया जाता अपितु कलाकृति को रचने में कलाकार भाव-चित्रण को विशेष महत्व देता है। यूनानी कला की भांति चीनी कला फोटोग्राफी नहीं है, अनुकरण मात्र नहीं है वरन् उसे कलाकार उस ज्योति से मंडित कर देने का प्रयास करता है जिसके विषय में अंग्रेजी के कवि वर्ड्सवर्थ ने कहा है, "वह प्रकाश जो न स्थल में है और न समुद्र पर है वरन् जो कवि (कलाकार) की कल्पना-शक्ति में निवास करता है।"* चीन का कला-

*"The Light that never was on sea or land
The consecration and the poet's dream."

कार भारतीय कलाकार की भांति बाह्य रूप रेखा के भीतर घुस कर उस तत्व को बाहर ले जाना चाहता है जिसे वह कला का प्राण समझता है। वह कला वस्तु की आत्मा में मानो अपनी आत्मा को डुबो देना चाहता है। इस कार्य की सिद्धि के लिये चीनी कलाकार को एक उत्कृष्ट आत्मिक और मानसिक साधना की अपेक्षा रहती थी और चीनी कलाकार बहुधा इसे करता भी था। चीनी कला के यथार्थ रूप का वर्णन सुदूर पूर्व की कला के विशेषज्ञ लारेन्स बिनियन ने इन सुन्दर शब्दों में किया है "चीनी कलाकार प्राकृतिक दृश्यों के प्रतिबिम्बमात्र के चित्रण अथवा अनुकरण को गौण मानते थे। उनके मतानुसार तो कला का मुख्य लक्ष्य दृश्यों को प्रतिबिम्बित-मात्र कर देने की अपेक्षा कलाकृति को जीवन के कुछ विशिष्ट गुणों से अभिभूत कर देना है। उसे एक गति, एक प्रेरणा, और समवेदना की एक शक्ति से युक्त कर देना है अन्यथा वे पूछते हैं कि सृजन के फिर मानी ही क्या हैं।"

चीन में चित्रकला की उन्नति विशेष प्रकार से हुई क्योंकि उनकी लिपि—सुलेखन कला (Calligraphy) ही चित्रकला की ही उपशाखा के रूप में दिखाई पड़ती है। अथवा दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि स्वयं चित्रकला को हम वहां सुलेखन कला के एक भव्य विकसित रूप में प्रतिष्ठित पाते हैं।

चित्रकला

चीनी चित्रकार प्रायः कवि की कल्पना शक्ति और एक सच्चे कलाकार की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न रहता था और उसकी चित्रकला वहां के साहित्य से पर्याप्त अंशों में अनुप्राणित रही है। परन्तु चीनी चित्रकार यह कभी नहीं भूला कि उसका उद्देश्य वस्तु का प्रतिकृतात्मक यथार्थ चित्रण नहीं अपितु भावनात्मक चित्रांकन है। लारेन्स बिनियन के ही शब्दों में "चीनी चित्रकला वहां के साहित्य-संसार में प्रचलित रूढ़ियों की भावनाओं से ओत-प्रोत है। कतिपय पुष्प और पक्षी साथ ही साथ चित्रित किये जाएंगे, चूंकि किसी विशेष कविता में उन दोनों का एक ही साथ वर्णन हुआ है। अनेक चीनी चित्रकार कवि भी थे और वांग वी जैसे कुछ व्यक्ति तो दोनों ही क्षेत्रों में लब्ध-प्रतिष्ठ थे। किन्तु कला के क्षेत्र में जो प्रवृत्ति पाई जाती है वह प्रायः किसी कविता या कहानी के कथानक के एकदम ज्यों के त्यों चित्रण की नहीं, बल्कि कविता या कहानी के भाव के अनुरूप अपने अन्दर भी एक भाव जगाने की रही है।"

चीन में चित्रों में अधिकांश का विषय प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण ही है। उनमें पुष्प-फल, वृक्ष, पादप, हरियाली, झाड़े, पशु, पक्षी आदि के चित्रण प्रचुरता से मिलेंगे और मानव आकृतियां इनमें थोड़ा ही दिखलाई पड़ती हैं। विभिन्न युगों में चित्रों के विषय परिवर्तित होते रहते थे परन्तु, प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण और ऐतिहासिक चित्रों की उद्भावना प्रायः प्रत्येक युग में होती थी। तांगयुग की चित्रकला में प्रकृति के मनोहारी दृश्यों का आकर्षक चित्रण हमें बहुत मिलता है। इस युग में प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण की साधना स्वतंत्र रूप से की जाने लगी। ली स्सू, शुन (जन्म ६५१ ई०) पहला विख्यात चित्रकार था जिसने विशुद्ध प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण को ही अपना एक मात्र कार्य क्षेत्र बना लिया। वांग वी (६९९, ७५९ ई०) नामक कवि चित्रकार के हाथों में पड़कर प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण की यह कला पूर्ण रूप से विकसित हो गई। उसकी बहुत सी कवितायें चित्रित की गई थीं। उसके मतानुसार "प्रत्येक कविता एक चित्र है और प्रत्येक चित्र एक कविता है।" सुंग काल का सबसे विख्यात चित्रकार ली लुंगमिएन अपने चित्रों में रंगों का प्रयोग शायद ही कभी करता था। केवल अति सूक्ष्म तथा भाव पूर्ण रेखाओं द्वारा ही वह चित्रांकन करता। लिआंग कुई मनुष्यों के चित्र खींचने में बड़ा पटु था। उसने पुरोहितों संन्यासियों और कुछ कवियों के अत्यन्त सजीव चित्र उतारे हैं। उनके सभी चित्रों में कल्पना शक्ति का पर्याप्त मात्रा में समावेश है और उन्हें देखकर हमारे मस्तिष्क में गम्भीर विचार उत्पन्न हो जाते हैं।

चीन में स्थापत्य कला ललित कला का एक अंग नहीं समझी जाती थी। वहां के निवासी स्त्री पुरुषों की सुन्दर मूर्तियों का निर्माण करना उचित नहीं समझते थे। कदाचित वे नैतिक सिद्धान्त के आधार पर वांछनीय सौन्दर्य को

मूर्तिमान नहीं करना चाहता थे। धार्मिक भावना से प्रेरित होने पर उन्होंने कुछ मानव मूर्तियों का निर्माण किया किन्तु स्थापत्य कला में पशुओं की आकृतियों का अंकन बड़ी ही कलात्मक एवं सजीवता के साथ किया गया है। हान वंश के शासन-काल में कुछ पशु मूर्तियों का निर्माण किया गया था जो कला की दृष्टि से काफी प्रशंसनीय कही जा सकती हैं। चीनी लोगों ने किसी समय भी मानवाकृति को स्वतः कला का निमित्त नहीं माना वरन् उन्होंने उसका उपयोग केवल किसी क्रिया अथवा चेतना के पहलू विशेष को साकारः बनाने के ही लिये किया। वे शारीरिक गठन अथवा मांसपेशियों की बनावट से कहीं अधिक विशेष प्रकार की आकृतियों, मनोभावों एवं परिधान सम्बन्धी बारीकियों का चित्रांकन करने में ही अभिरुचि रखते थे। किन्तु पशुओं प्रस्तर मूर्तियों के निर्माण में दूसरी बात घटित होती है। इस क्षेत्र की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ तो बावजूद इसके कि वे बहुधा छोटे आकार की ही हैं, ऐसी चिर-स्मरणीय महा रचनायें हैं जो किसी भी अन्य राष्ट्र अथवा युग की पशु मूर्तियों से घटकर नहीं ठहरेंगी। आरम्भ के युगों में जो रूढ़िप्रियता दिखाई देती है उससे अवास्तविकता की ध्वनि नहीं निकलती, प्रत्युत शारीरिक संगठन गति सम्बन्धी सौष्ठव एवं मूर्ति की साकारता ही प्रस्फुटित हुई है। इस प्रकार कला की दृष्टि से ये मूर्तियाँ महान तथा प्रभावपूर्ण हैं।

स्थापत्य कला

भारत की बौद्ध-कला और बौद्ध-धर्म का चीन में प्रवेश होने पर तंग सम्राटों के शासन काल में मानव मूर्तियाँ निर्मित की गईं। ये प्रतिमायें महात्मा बुद्ध की हैं। एक प्रतिमा-समूह में बुद्ध मैत्रेय अन्य दो मूर्तियों के साथ एक ऊँचे आसन पर बैठे हैं। यह मूर्ति बड़ी ही सुन्दर है और चीनी मूर्तिकला का अद्वितीय नमूना प्रस्तुत करती है। तंग युग की समाप्ति के पश्चात लोगों की धार्मिक मनोवृत्ति कुछ बदली और पुनरुज्जीवन काल के योरप की भांति मानव मूर्तियों में शारीरिक सौन्दर्य प्रदर्शित किया जाने लगा, परन्तु चीनियों के नैतिक दृष्टिकोणों ने मूर्तिकला के विकास को रोक दिया और चीन की स्थापत्य-कला का लोप शुरू हो गया।

वास्तु कला

चीन की प्रसिद्ध दीवाल वास्तु-कला के क्षेत्र में चीनी जाति का गौरव प्रदर्शित करती है। इसका निर्माण आक्रमणकारियों से देश की रक्षा करने के उद्देश्य से हुआ था और इसमें सौन्दर्य का ध्यान बिल्कुल नहीं किया गया है फिर भी इसकी शक्तिशालिता और निर्माण कौशल से दर्शक बहुत प्रभावित होता है। इस दीवाल का निर्माण कराने वाले सम्राट शी ह्वांग टी ने एक भवन भी बनवाया था, जिसे चीनवासी संसार की अद्भुत वस्तु समझते हैं। चीनियों के अधिकांश भवन लकड़ी के होते थे। अनेक बौद्ध-मन्दिर बनवाये गये थे जिनको पगोडा कहा जाता है। पेकिंग के निकट शयन करते हुये बुद्ध का एक मन्दिर है जिसे फरगुसन नामक कला समालोचक ने चीन की सर्वोत्तम वास्तुकला कृति कहा है। चीनी वास्तु की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि अपने निकट की अन्य वस्तुओं के अनुकूल ही दिखाई पड़ती थी। मिस्र के पिरैमिडों की भाँति ये बहुत बड़े या मैसोपोटेमिया के जिगुरात की तरह ऊँचे भी नहीं हैं। एक समालोचक की धारणा है कि चीन की सबसे श्रेष्ठ वास्तु कला का प्रभाव चित्त को शान्ति, सन्तुलन और विशालता की शक्ति की भावना से अभिभूत कर देता है। चीनी वास्तुकला एक स्थायी तथा महान सभ्यता के अनुकूल ही थी फिर भी इसे प्राकृतिक वातावरणों के अनुकूल रखने का प्रयास किया जाता था। चीन में मनुष्य ने ऊँची मीनार नहीं बनायी जिससे वह आकाश पर चढ़ कर अपने को देवताओं के बराबर प्रदर्शित करता। हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि चीन में वास्तुकला के विकास के लिये वातावरण अनुकूल नहीं था। एक तो चीनियों की सूक्ष्म कलात्मक अभिरुचि ही चित्रकला जैसी कलाओं के अधिक अनुकूल थी, इसके अलावा चीन में एक शक्तिशाली पुरोहित समाज भी न था जो विशाल मन्दिरों का निर्माण कराता। एक धनाढ्य तथा सशक्त केन्द्रीय सरकार और धनवान भूपतियों के अभाव के कारण भी चीन में बड़े-बड़े भवन नहीं बनाये जा सकते थे।

चीनी लोग स्वभाव से ही काव्य प्रेमी होते हैं अतएव चीन का अधिकांश साहित्य पद्यात्मक है। चीन की कविता में हम एक विशेषता अधिक व्यापक रूप से देखते हैं। वह विशेषता है संक्षिप्तता। चीनियों का विश्वास है कि

कविता मनुष्य की क्षणिक आनन्दानुभूति की उत्पत्ति है इसलिये इसे संक्षिप्त होना चाहिये। महाकाव्यों में कविता के वास्तविक स्वरूप का लोप हो जाता है। चीनियों के दृष्टिकोण के अनुसार श्रेष्ठ कविता वही है जो कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भावों की अभिव्यञ्जना करे। चीनी कविता भावों को प्रकट कम करती है, वह निर्देश (suggest) करती है। उसकी सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि वह पाठक के मस्तिष्क में वर्ण्य विषय अथवा भाव का चित्र खींच देती है और इसी के द्वारा वह उसे एक अधिक सूक्ष्म एवं अदृश्य वस्तु का साक्षात्कार कराती है। चीनियों की एक कहावत के अनुसार कविता की श्रेष्ठता इसी बात में है कि उसका अर्थ शब्दों के परे हो और उसे जानने के लिये पाठक को सोचना और प्रयत्न करना पड़े। चीनी कविता में रूपकों का प्रयोग बहुत ही कम मिलता है और "Vaulting ambition which overleaps itself" जैसे वाक्य उसमे नहीं मिल सकते। इसमें अतिशयोक्ति तथा प्रणय की तीव्र भावना का भी अभाव मिलेगा। स्थान-स्थान पर चीनी कविता में हमें संसार की नश्वरता और क्षण-भंगुरता के पोषक भाव मिलते हैं। भावों की कोमलता तथा अभिव्यक्ति की मसृणता में चीन की काव्य-कला अद्वितीय है। इसमें भावों का जो नियन्त्रण और शब्दों की जो सरलता तथा संक्षिप्तता दिखाई पड़ती है वह भी इसकी प्रमुख विशेषता है। कविता बहुत प्राचीन समय से ही चीन निवासियों के जीवन का एक अविभाज्य अंग रही है और हमें काव्य की अत्यन्त प्राचीन परम्परा ईसा के १७०० बरसों पूर्व की मिलती है। शांग युग में भी कवितायें लिखी गई थीं और कन्फ्यूशियस ने कविता की एक पुस्तक का संग्रह किया था। उसकी पुस्तक का नाम शिचिंग है। इस कविता-संग्रह में ३०५ कवितायें हैं जिनके विषय भिन्न भिन्न हैं, यथा धर्म, युद्ध और प्रेम आदि। तंग युग में चीनी कविता का अभूत-पूर्व विकास हुआ। आज के चीनी कविता-प्रेमी भी इसी काल की कविता को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते हैं और शायद ही कोई ऐसा शिक्षित चीनी हो जिसे तंग काल की कुछ कवितायें याद न हों। ताई लोपो अथवा ली ताई पो चीन के सर्वोत्कृष्ट कवियों में से था। उसने पद्य की तीस पुस्तकें लिखीं। उसने मदिरा और उसके प्रभाव का वर्णन किया है। अपनी कविताओं में उसने सुरापान की अत्यधिक प्रशंसा की है। उसने लिखा है कि मनुष्य के मस्तिष्क पर मदिरा का लाभकारी प्रभाव पड़ता है, इसलिये उसे चाहिये कि एकान्त में, लोगों के साथ में और विभिन्न ऋतुओं में मदिरा का सेवन करे। उसने अपनी कविता में प्रकृति के वांछनीय प्रभाव का भी वर्णन किया है। वह लिखता है कि :

मैं हरे हरे पर्वतों पर क्यों रहता हूँ

मैं हँसता हूँ और मुझसे उत्तर देते नहीं बनता, मेरी आत्मा ऊँची है यह दूसरे स्वर्ग और संसार में रहती है जिसका सम्बन्ध किसी दूसरे व्यक्ति से नहीं है, आड़ू के वृक्षों में फूल खिले हैं और जल बह रहा है।"

फिर उसने चाँदनी के विषय में लिखा है कि :

"मैंने अपने आसन के सम्मुख ज्योत्स्ना देखी,
मुझे विस्मय हुआ कि पृथ्वी पर यह पाला तो नहीं है,
मैंने सिर उठाया और पर्वत के चन्द्रमा को देखा,
मैंने सिर झुकाया और अपने सुदूर गृह का विचार किया।"

तु फु चीन का दूसरा विख्यात कवि था। उसका जीवन कष्टपूर्ण और अभावमय था। उसने अपनी कविता में नगर के व्यस्त व्यापारिक जीवन के प्रति उपेक्षा प्रकट की है। उसकी आत्मा प्रकृति के सुन्दर दृश्यों के सम्पर्क में शान्ति, सुख और संतोष प्राप्त करती थी। उसने लिखा है कि :

"मैं पूर्वीय मेड़ के नीचे गुलदाउदी चुनता हूँ,
तब सुदूर गर्मी की पहाड़ियों का ध्यान से देर तक अवलोकन करता हूँ।
प्रभात बेला में पर्वत की वायु ताजी है,
(आकाश) में उड़ने वाले पक्षी भी दो-दो कर लौटते हैं,
इन वस्तुओं में एक गम्भीर अर्थ विद्यमान है,
लेकिन जब हम इनका वर्णन करने लगते हैं, शब्द हमारा साथ नहीं देते।"

तु फु ने जीवन के कष्टों का वर्णन सुन्दर किया है। वह उन माताओं को, जिनके पुत्र युद्ध पर गये हैं, सान्त्वना देता हुआ कहता है।

"गति रात्रि को एक सरकारी आदेश आया,
अठारह वर्ष की अवस्था वाले बालकों को सेना में ले लेने के लिये उन्हें राजधानी की रक्षा करने में सहायता करनी चाहिये,
ऐ माताओं! ऐ बच्चों! इस प्रकार से मत रो,
इस प्रकार अश्रुपात करने से तुम्हारी हानि होगी।"

गद्य

चीन में अनेक गद्य-लेखक थे परन्तु साहित्य के क्षेत्र में चीनियों ने उन्हें प्रमुख तथा महत्वपूर्ण नहीं स्वीकार किया। चीन में नाटकों की रचना स्वल्प मात्रा में की जाती थी। मंगोलों के आक्रमण के पूर्व चीन में कथा साहित्य था ही नहीं। उपन्यास को बहुत बाद तक चीनी लोग साहित्य का अंग ही नहीं मानते थे। चीन के साहित्य में इतिहास बड़ा लोकप्रिय था। चीन में इतिहास के ग्रन्थ इतने अधिक हैं कि चीन को इतिहासकारों का स्वर्ग कहा जाता है। किसी अन्य देश में इतने अधिक इतिहासकार न थे, जितने चीन में। चीन का प्रसिद्ध इतिहासकार सु मा चिन था। इसने अपने समय की सामाजिक अवस्थाओं का वर्णन भी किया है और अपने देश का इतिहास लिखा। उसने केवल राजनीतिक घटनाओं का तिथिक्रम और राजाओं के शासन-काल की घटनाओं का विवरण ही नहीं लिखा है, वरन् उसने सिंचाई, संगीत, रीति-रिवाजों और अन्य बातों का भी अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है। सु मा चिन विख्यात व्यक्तियों की जीवन-गाथा लिखने में अग्र गण्य था। उसने अपने ज्ञान के स्रोतों का भली प्रकार अध्ययन किया और उन्हीं की आधार-शिला पर अपने ग्रन्थ का निर्माण किया है। वह उद्धरण नहीं देता था और न सारांश ही लिखता था वरन् जिस स्रोत से ऐतिहासिक ज्ञान प्राप्त होता था उसको वह पूरा-पूरा लिख देता था। इस प्रकार बहुत से विवरण-पत्रों की रक्षा हो सकी जो खो गये होते।

चीन का धर्म

प्राचीन चीनियों का धर्म प्रकृति पूजा के ही रूप में था। पृथ्वी की उर्वरा-शक्ति के प्रति उनके हृदयों में एक स्वाभाविक श्रद्धा थी और प्रकृति की हानिकारिणी शक्तियों के प्रति भय की एक भावना। प्रकृति के अन्य रूपों से वे प्रभावित थे, और उनकी पूजा करते थे। वायु, वृक्षों, पर्वतों, दैत्यों और सर्पों की पूजा की जाती थी। उर्वरा-शक्ति की पूजा वे बड़े उत्साह से करते थे, क्योंकि इसी पर उनका जीवन अवलम्बित था। जब वसन्त ऋतु में उनकी फसलें तैयार हो चुकी होती थीं चीनी युवक और युवतियां प्रसन्नतापूर्वक नृत्य-आयोजन में भाग लेते थे। चीन की धार्मिक भावना के अनुसार आकाश और पृथ्वी सृष्टि सम्बन्धिनी एकता के दो अर्द्ध भाग होने के कारण परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध थे और उनका सम्बन्ध पुरुष और स्त्री का समझा जाता था। उन्हें योग और यिन कहा जाता था। मनुष्यों के सत्कर्मों पर ही प्रकृति की शक्तियों में सन्तुलन रहता था और इसी सन्तुलन पर उनकी सारी प्रसन्नता निर्भर थी। चीनी दिवंगत आत्माओं की पूजा करते थे और धर्म शासक

के रूप में वे स्वर्ग की आत्मा को पूजते थे। इस भावना के अनुसार एकेश्वरवाद की ओर उनकी कुछ अभिरुचि थी, परन्तु केवल सुशिक्षित या बुद्धिमान लोग ही एकेश्वरवाद की कल्पना करते थे।

चीन में पूर्वजों की पूजा पर बहुत जोर दिया जाता था। प्रतिदिन भोजन के रूप में कुछ भेंट दिवंगत लोगों को समर्पित की जाती थी। चीन का साधारण जन-समाज यह विश्वास करता था कि उसके पूर्वजों की आत्मायें कहीं रहती थीं और समय पड़ने पर वे अपनी सन्तानों की रक्षा करने के लिये बुलाये जाने पर आ सकती थीं। पूर्वजों की स्मृति में बड़ी-बड़ी दावतें की जाती थीं। इन अवसरों पर बहुत आमोद-प्रमोद हुआ करते थे। बढ़िया-बढ़िया खाद्य पदार्थ तैयार कराये जाते थे। लोगों के भोजन करते समय बाँसुरी और ढोल बजा करती थी और कुछ लोग गीत गाया करते थे। शिक्षित चीनी भी इन उत्सवों को मनाता था, किन्तु वह जानता था कि ये पूर्वज की पूजा के रूप में नहीं हैं बल्कि मनुष्य की आत्मा को कृतज्ञता की भावना से भर कर ये उसे ऊँचा उठाते हैं और इन उत्सवों के आयोजन द्वारा जाति अपने पूर्वजों के साथ-साथ अपने प्राचीन रीति-रिवाजों को भी याद करना और उनका सम्मान करना सीखती है। उसका विश्वास था कि इस प्रकार परम्परागत नियमों का पालन करने से अन्य जातियों के रीति रिवाज चीनी समाज में प्रवेश न कर सकेंगे और साम्राज्य की शक्ति तथा शान्ति भी सुरक्षित रहेगी। उसकी यह धारणा सत्य प्रमाणित हुई क्योंकि यद्यपि चीन जैसे विशाल देश में महान दूरियों और गमनागमन के साधनों का अभाव होने के कारण एक भौगोलिक एकता स्थापित न हो सकी तथापि इसने कालान्तर में पूर्वजों की पूजा द्वारा एक ऐसी आध्यात्मिक एकता का विकास किया जिसने चीन की सभ्यता को जीवित रक्खा।

कन्फ्यूशियस की शिक्षाओं का प्रभाव चीन के धार्मिक जीवन पर बहुत अधिक पड़ा था। कन्फ्यूशियस को केवल आकाश (चरम शासक) से ही छोटा समझा जाता था, अन्य वस्तुओं से वह ऊँचा था। प्रत्येक नगर में उसके सम्मान में मन्दिर बनवाये गये थे और समय-समय पर सम्राट तथा अधिकारी गण कन्फ्यूशियस की आत्मा को भेंट समर्पित करते थे। यदि कोई नास्तिक भी कन्फ्यूशियस और अपने पूर्वजों का सम्मान करता था तो चीनी उसे पवित्र आत्मा वाला और धार्मिक स्वीकार करते थे। चीन के साधारण लोग जादू टोने की शक्ति में विश्वास रखते थे। उनकी धारणा थी कि वातावरण में ऐसी अनेक आत्मायें निवास करती हैं जिनकी सहायता जादू भरी क्रियाओं या प्रार्थनाओं द्वारा प्राप्त की जा सकती थी। हानि पहुँचाने वाली आत्माओं को वे जादू-टोने की शक्ति द्वारा सन्तुष्ट भी करते थे। वे भविष्य बतानेवालों को तारों की गति का निरीक्षण करने या कछुये की पीठ देख कर अपना भविष्य बतलाने के लिये रुपये देते थे और जादूगरों के वर्षा या धूप ला देने के लिये वे प्रार्थना करते थे। जिन बच्चों को अशुभ घड़ी में वे उत्पन्न हुआ समझते थे उनको वे मर जाने देते थे। कन्फ्यूशियस के बुद्धि-प्रधान उपदेशों से अन्ध-विश्वास कुछ नष्ट हो चले थे, परन्तु कुछ व्यक्तियों ने लाओ त्से नामक दार्शनिक के रहस्यात्मक सिद्धान्तों के द्वारा इनका प्रचार अधिक ही कर दिया।

हान वंश के समय से बुद्ध धर्म का प्रचार भी चीन में हुआ, बौद्ध मन्दिर बनवाये गये और लोगों ने बुद्ध की प्रतिमायें स्थापित कीं। हान वंश के पतन के उपरान्त बौद्ध धर्म ताओ धर्म के साथ मिल गया और चीन की जनता के ऊपर इस मिश्रित धर्म का बहुत प्रभाव पड़ा। परन्तु बाद में चीनी बौद्ध धर्म में भी भारत के बौद्ध धर्म के सभी दोष घुस गये। बौद्ध पुरोहितों का आचरण दूषित हो गया और इस धर्म में अनेक अन्ध विश्वासों का प्रवेश हो गया।

दर्शनप्रियता चीनी मस्तिष्क की एक प्रमुख विशेषता है। चीन अपने दर्शन के सौ सम्प्रदायों (Hundred Schools of Philosphy) के लिये प्रसिद्ध है किन्तु भारतीय दर्शन की भांति चीन का दर्शन धर्म प्रधान अथवा

चीनी दर्शन

अध्यात्म प्रधान नहीं है इसीलिये इसमें इसके समान सूक्ष्मता भी नहीं है। चीन में दर्शन के सौ सम्प्रदायों की उत्पत्ति लगभग ईसा की छठी और पाँचवी शताब्दी पूर्व हुई थी। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि इसी छठी शताब्दी में भारत, यूनान, जूडिया, फारस और चीन में बौद्धिक क्रान्ति और

आध्यात्मिक अशान्ति का युग प्रारम्भ हुआ। चीन में इस समय देश की अवस्था सन्तोषजनक न थी। देश में कोई सुव्यवस्थित केन्द्रीय शासन न था। सामन्तवाद का पूरा जोर था, चारों ओर अशान्ति और अराजकता का वातावरण था, तथा नैतिक सिद्धान्तों का लोप हो रहा था। ऐसी परिस्थिति में जिस दार्शनिक पद्धति का जन्म हुआ वह इहलोक परक (सेक्यूलर) ही हो सकती थी। यही कारण है कि हम चीन के दर्शन को मनुष्य के लौकिक जीवन से, उसके सामाजिक नियमों, राजनीतिक संगठनों एवं पारिवारिक समस्याओं से सम्बन्धित देखते हैं। चीन में (१२५० ईसवी पूर्व) यू जे नामक दार्शनिक का जन्म हो चुका था। इसने इन शब्दों में अपना गम्भीर जीवन दर्शन प्रकट किया है "वह व्यक्ति जो यश त्याग देता है उसे कोई कष्ट नहीं होता।" चीन में अध्यात्म विद्या सम्बन्धी केवल एक ही दार्शनिक ग्रन्थ है, उसका नाम है चिंग अथवा "परिवर्तनों की पुस्तक।" शेष समस्त चीनी दर्शन मनुष्य के इस जीवन से ही सम्बन्ध रखता है। यूनान के सोफिस्टो की भांति चीन के दार्शनिक एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमा करते थे और अपने सिद्धान्तों द्वारा वे समाज में व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार के दार्शनिकों में कन्फ्यूशियस का नाम बहुत प्रसिद्ध है,

कन्फ्यूशियस का जीवन

गौतमबुद्ध की भाँति कन्फ्यूशियस का भी जन्म और पालन पोषण समृद्धिमय वातावरण में हुआ था, परन्तु उनका मस्तिष्क भी बुद्ध ही की भांति अशान्त रहता था। वे बुद्ध के समान धार्मिक सुधारक या धर्म प्रचारक न थे, वरन् यूनान के सुकरात की भांति उपदेशक या अध्यापक थे। उन्होंने एक पाठशाला खोली थी, जिसमें वे इतिहास, कविता और शिष्टाचार के नियमों की शिक्षा देते थे। शिष्टाचार के नियमों पर वे विशेष जोर देते थे। उनका विचार था कि "मनुष्य-चरित्र का निर्माण कविताओं द्वारा होता है, विकास नियमों के द्वारा होता है और चरित्र को पूर्णता संगीत द्वारा प्राप्त होती है।" नम्रता के विषय में उनकी धारणा निम्नलिखित है। जब "गुरु (कन्फ्यूशियस) किसी व्यक्ति को शोकयुक्त देखते थे या किसी को टोपी अथवा पूर्ण वेश भूषा को धारण किये हुये या किसी अन्धे व्यक्ति को आते हुये देखते थे, तो चाहे वह उनसे अवस्था में कम ही हो वे (गुरु) उठ खड़े होते थे।" शिक्षा प्रदान करने में वे किसी विशेष नियम का अनुसरण नहीं करते थे, परन्तु अपने शिष्यों की जिज्ञासा शान्त करने का वे पूरा प्रयत्न करते थे। शिष्यों को समझाने की शैली को वे बताना चाहते थे। "मैं उस व्यक्ति के सम्मुख अपने होंठ नहीं खोलता जो जिज्ञासु न हो और न उसकी सहायता ही करता हूँ जो अपने आप को समझाने के लिए उत्सुक न हो। मैं जब किसी को विषय का एक भाग बतला देता हूँ और वह इसके द्वारा दूसरे भाग को नहीं सीख सकता तो मैं पाठ को दुहराता नहीं।"

कन्फ्यूशियस ने सरकारी पद पर कार्य भी किया था। वे चुंग तुना मन नगर के मुख्य मजिस्ट्रेट नियुक्त किये गये थे। उनको अपराधों का दमन करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। उन्होंने अपने नगर-निवासियों के लिये प्रत्येक वस्तु निर्धारित कर दी थी। उन्होंने यहां तक निश्चित कर दिया था कि लोगों को क्या भोजन करना चाहिये, कैसे वस्त्र पहिनने चाहिये तथा किस प्रकार के मकानों में रहना चाहिये। परन्तु कन्फ्यूशियस के सुधारों को देख कर कुछ स्वार्थपरायण राजनीतिज्ञों को ईर्षा हुई और उन्हें पदच्युत कर दिया गया। वे समाज की अवस्था को सुधारना चाहते थे और इस कार्य के लिये वे किसी शासक की सहायता चाहते थे। उनकी यह धारणा थी कि यदि कोई शासक उन्हें अपना गुरु बना लेता और उनकी शिक्षाओं के अनुसार शासन कार्य चलाता तो समाज में शान्ति स्थापित हो सकती थी। परन्तु कन्फ्यूशियस को इस बात से बड़ा दुःख हुआ कि किसी भी शासक ने उनको गुरु नहीं बनाया और मरते समय उन्होंने कहा "इस साम्राज्य में कोई ऐसा नहीं है जो मुझे अपना गुरु बनावे, सचमुच अब मेरे मरने का समय आ गया है।"

यद्यपि कालान्तर में कन्फ्यूशियस का यश धर्म सुधारक या धर्मोपदेशक के रूप में फैल गया तथापि वे न तो धर्म के संस्थापक थे न उन्होंने धार्मिक सुधार का कोई प्रयत्न किया और न उसके उपदेशों में धर्म से सम्बन्धित

कन्फ्यूशियस एक धर्मोपदेशक नहीं

शिक्षायें ही थीं। उनके शिष्य हमें बतलाते हैं कि वे इन चार वस्तुओं का उल्लेख कभी करते ही न थे, (१) जादू भरी कहानियां, (२) शक्ति-प्रदर्शन के वीरतापूर्ण कार्य, (३) भयंकर अपराध और (४) देवता। किसी दैवी संदेश या दैवी ज्ञान का उल्लेख तो दूर रहा उन्होंने अति मानवीय वस्तुओं का, मृत्यु या भावी जीवन का नाम तक लेना उचित न समझा। आत्माओं के विषय में पूछे जाने पर उन्होंने कहा—"जब तक तुम मनुष्यों की सेवा करने में समर्थ नहीं हो, तुम आत्माओं की सेवा कैसे कर सकते हो।" उन्होंने फिर कहा—"जब तुम जीवन के विषय में कुछ नहीं जानते, तुम मृत्यु के विषय में क्या जान सकते हो।" ज्ञान का मार्ग कौन सा है यह बतलाते हुये महात्मा कन्फ्यूशियस ने कहा—"मनुष्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का उत्साह-पूर्वक पालन करना और आध्यात्मिक जीवों के प्रति आदर का भाव रखते हुये उनसे अलग रहना यह ज्ञान कहा जा सकता है। "इन सब बातों को उन्होंने इतनी स्पष्टतापूर्वक और जोर देकर कहा कि बाद में भी उनके अनुयायियों ने कभी न सोचा कि महात्मा कन्फ्यूशियस को कोई दैवी प्रेरणा प्राप्त थी।

महात्मा कन्फ्यूशियस एक दार्शनिक थे। उनकी शिक्षाओं में एक बौद्धिक तत्व वर्तमान था जिसका अभाव अधिकांश धर्मोपदेशकों की शिक्षाओं में रहता है। उनकी यह दृढ़ इच्छा थी कि वे अपनी दार्शनिक शिक्षाओं का उपयोग अपने युग की नैतिक अवस्था को दूर करने में करें। अपने समय की गड़बड़ी का

परन्तु नैतिक दार्शनिक

कारण उन्होंने नैतिक भावनाओं के अभाव में ही ढूँढा और इस गड़बड़ी को एक नैतिक पुनर्जन्म द्वारा ही दूर करने का विचार किया। आचार सम्बन्धी उनकी कुछ शिक्षायें सभी धर्मों में मिल सकती हैं। उन्होंने कहा "जिस व्यवहार की अपेक्षा तुम औरों से अपने प्रति नहीं करते उसको तुम स्वयं दूसरे के प्रति न करो। तुम स्नेह सभी लोगों से करो परन्तु मित्रता अपने बराबर वालों से करो। अपनी मानसिक शक्तियों के सुधार का प्रयत्न करो। यदि तुम किसी मनुष्य को नौकर रखते हो तो उसका विश्वास करो और यदि तुम उसका विश्वास नहीं करते हो तो उसे नौकर मत रक्खो।" कन्फ्यूशियस का विश्वास था कि व्यक्ति का आत्म विकास सामाजिक विकास का मूल है। जब उनसे किसी ने पूछा कि उन्नत मनुष्य का निर्माण कौन से कार्य द्वारा होता है तो उन्होंने उत्तर दिया "एक श्रद्धामयी सावधानी के साथ, आत्म परिष्कार के द्वारा।" कन्फ्यूशियस ने बताया कि उन्नत या श्रेष्ठ मनुष्य में तीन गुणों का होना आवश्यक है, "प्रतिभा, साहस और दूसरों के प्रति कल्याण की भावना।" उन्नत मनुष्य को इस बात का ध्यान रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि वह सत्य को न प्राप्त कर सके। उसे इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि कहीं उसे दरिद्रता न घेर ले, वह उदारचित्त होता है, पक्षपाती नहीं। उसे इस बात का ध्यान रहता है कि जो कुछ वह कहे, गलत न हो।" उन्होंने आगे बताया कि सच्चाई ही चरित्र है। "क्या सम्पूर्ण सच्चाई ही वह वस्तु नहीं है जो उन्नत मनुष्य का निर्माण करती है, वह कहने के पहले करता है और बाद में अपने कार्यों के अनुकूल ही बोलता है।" "उत्कृष्ट मनुष्य अपने में योग्यता के अभाव के कारण चिन्तित रहता है, वह इस बात के लिये चिन्तित नहीं रहता कि उसे लोग नहीं जानते।" परन्तु साथ ही साथ वह यह भी नहीं चाहता कि मृत्यु के बाद उसके नाम का उल्लेख भी न हो।" महात्मा कन्फ्यूशियस ने अल्प भाषण पर बहुत अधिक जोर दिया और सत्कार्यों को अधिकाधिक करना उन्नत मनुष्य का एक विशिष्ट गुण बताया। उन्होंने उन्नत मनुष्यों के गुणों को सारांश रूप में इस प्रकार कहा—"उन्नत मनुष्य में ये नौ वस्तुयें होती हैं, जिन पर वह हमेशा गम्भीरतापूर्ण ध्यान रखता है—आंखों के प्रयोग के मामलों में उसे यह ध्यान रहता है कि वह स्पष्ट देखे। अपने चेहरे के विषय में उसे यह ध्यान रहता है कि वह दयापूर्ण रहे। अपने व्यवहार के विषय में उसे सच्चाई का ध्यान रहता है। अपने कार्य करने के सम्बन्ध में उसे इस बात का ध्यान रहता है कि वह श्रद्धामयी सावधानी के साथ किया जाय। उसे जिस बात का सन्देह रहता है उसके विषय में वह दूसरों से प्रश्न करने को उत्सुक रहता है। वह जब क्रुद्ध होता है तो वह उन कठिनाइयों का विचार कर लेता है जिनमें वह क्रोध के कारण पड़ सकता है। वह जब कोई लाभ होता हुआ देखता है तो वह ठीक तरीके (ईमानदारी) के विषय में सोचता है।"

महात्मा कन्फ्यूशियस ने बताया कि उत्कृष्ट मनुष्य के चरित्र की आधार-शिला मानवमात्र के प्रति करुणामयी सहानुभूति है। वह दूसरों के गुणों से ईर्ष्या नहीं रखता। गुणवान लोगों को देखकर वह उनकी बराबरी करना चाहता है और जब वह गुणहीन को देखता है तो वह स्वयं आत्म-परीक्षण करने लगता है क्योंकि यह बहुत सम्भव है कि उसके अन्दर भी गुणों का अभाव हो। वह कटुवाणी या निन्दा पर ध्यान नहीं देता। वह सब के प्रति विनम्र तथा शिष्ट रहता है परन्तु वह अनावश्यक और मिथ्या प्रशंसा नहीं करता। कन्फ्यूशियस ने करुणा और मैत्री पर अधिक जोर दिया किन्तु बुराई का उत्तर भलाई से देने की नीति का समर्थन उन्होंने नहीं किया। जब उनके किसी शिष्य ने पूछा कि इस सिद्धान्त के, कि आघात (बुराई) का उत्तर भी दयालुता से देना चाहिये, इस विषय में आप क्या कहते हैं। तो उन्होंने उत्तर दिया, "तब तुम दयालुता के बदले में क्या दोगे। आघात का उत्तर न्याय से दो, और दयालुता के बदले में दयालुता का व्यवहार करो।" कन्फ्यूशियस बड़े ही अनुशासन-प्रिय थे। अपने शिष्यों से वे इस बात की पूर्ण आशा रखते थे कि वे सभी कार्य निश्चित नियमों के अनुसार करेंगे। वे नियमों के पालन पर सदैव जोर देते थे, नैतिकता उनके उपदेशों का सार-स्वरूप थी।

कन्फ्यूशियस की शिक्षाओं का प्रभाव

महात्मा कन्फ्यूशियस के उपदेशों का चीनी जनता के ऊपर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। बहुत दिनों तक उनकी शिक्षायें सरकारी पदाधिकारियों के लिये मार्ग-प्रदर्शन का कार्य करती रहीं। अनेक चीनी विद्वान अपने को कन्फ्यूशियस का शिष्य कहने में गर्व का अनुभव करते हैं। उनके दर्शन की शिक्षा देने के लिये सर्वत्र पाठशालायें खोली गईं, जहाँ पर चीनी युवकों को परम्परा प्रेम और शिष्ट व्यवहार का पाठ पढ़ाया जाता था। दो हजार वर्षों तक कन्फ्यूशियस के दर्शन ने चीनियों के मस्तिष्क पर अधिकार जमाये रखा। "इस दर्शन की सहायता से चीन ने एक सम्मिलित सामूहिक जीवन का, विद्या और ज्ञान के प्रति प्रशंसा की उत्साहपूर्ण भावना एवं एक शान्त तथा स्थायी संस्कृति का विकास किया जिसने चीनी सभ्यता को इतना सुदृढ़ तथा शक्तिशाली बना दिया कि वह प्रत्येक आक्रमणों का सामना करने के बाद भी जीवित रही और प्रत्येक आक्रमणकारी को अपने रूप में बदल सकी।"[1] चीनी सभ्यता को आज भी जीवित रखने का श्रेय बहुत अंशों में महात्मा कन्फ्यूशियस को दिया जा सकता है परन्तु उनकी शिक्षाओं ने चीनवासियों को मतानुयायी, परम्परा-प्रेमी, रूढ़िबद्ध और सुधार विरोधी बना दिया। चीन का निवासी परिवर्तन नहीं चाहता है, इसलिये वह सभ्यता की दौड़ में आगे नहीं बढ़ सका। कन्फ्यूशियस के द्वारा निर्धारित नियमों का अक्षरशः पालन करने की भावना के कारण उसकी नैसर्गिक प्रस्फुटित शक्तियों का विकास रुक गया। परन्तु इधर पिछले कुछ ही वर्षों में चीनियों ने अपने देश में ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण सुधार कर लिये हैं कि हमें विस्मय होता है। अपनी परिस्थितियों को बदल डालने में इन्होंने जिस तत्परता का परिचय दिया है उससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि अब भविष्य में चीन सभ्यता के मार्ग से पीछे न रहेगा।

लाओ त्से

लाओ त्से नामक चीन का दूसरा प्रसिद्ध दार्शनिक कन्फ्यूशियस का समकालीन था। वह चौ देश के राजकीय पुस्तकालय का पुस्तकाध्यक्ष था। वह अपने काम से ऊब गया और एक सुदूर गाँव में चला गया। यह कोई नहीं जानता कि उसकी मृत्यु कहाँ हुई। लाओ त्से की जीवन-कथा का हमें पूर्ण विश्वसनीय विवरण नहीं प्राप्त होता क्योंकि उसके किसी समकालीन व्यक्ति ने उसका जीवन-चरित्र नहीं लिखा। उसने ताओ ते किंग नामक पुस्तक भी लिखी परन्तु बहुत से लोग इसे लाओ त्से द्वारा लिखित नहीं मानते। सु मा चिन नामक चीनी इतिहासकार के कथनानुसार उसकी शिक्षायें कुछ रहस्यात्मक ढंग की थीं। उसने अक्रियावाद का पोषण किया। उसने विचार शक्ति और बौद्धिक कार्यों का विरोध किया और प्रकृति के [illegible] वातावरण में जीवन व्यतीत करना ही श्लाघ्य बताया। सुकरात की भाँति उसने ज्ञान को ही गुण नहीं बताया वरन् ज्ञान की उसने निन्दा की और

[1] Our Oriental Heritage, By Will Durant

कहा कि शिक्षा के प्रसार ने समाज में दुष्टों और बेईमानों की संख्या अधिक कर दी है। उसने किसी भी कार्य को व्यर्थ बताया और कहा कि "कुछ मत करो और लोग अपने-आप ही श्रेष्ठ हो जायेंगे, ज्ञान को त्याग दो और लोगों को सौगुना लाभ होगा, प्रकृति कुछ नहीं करती और फिर भी उसका कोई कार्य असम्पादित नहीं रहता।" उसने प्लेटो की भांति यह नहीं कहा कि समाज का शासन दार्शनिकों के द्वारा हो बल्कि उसने दार्शनिकों की निन्दा की क्योंकि वे "प्रत्येक नैसर्गिक नियम को सिद्धान्तों से लाद देते हैं और उनकी भाषण देने की क्षमता उनकी क्रियाहीनता की सूचक है।" लाओ त्से ने बताया कि एक बुद्धिजीवी व्यक्ति राज्य के लिये खतरा है क्योंकि वह नियमों और कानूनों के ही दृष्टिकोणों से विचार करता है। वह "ज्यामिति की रेखाओं की भांति समाज का निर्माण करना चाहता है और इस बात का अनुभव नहीं करता कि नियम स्वतंत्रता को नष्ट कर देते हैं।" उसने फिर कहा कि "वह साधारण व्यक्ति जो अपने स्वयं के अनुभव से यह जानता है कि स्वतंत्रतापूर्वक किया हुआ कार्य अधिक सुखदायक और लाभकारी है राज्य का शासक होने के लिये उपयुक्त है।"

लाओ त्से ने बताया कि अत्यन्त प्राचीन काल में प्रकृति के सम्पर्क में रहने के कारण मनुष्य का जीवन सादा और शान्तिपूर्ण था और सारा संसार सुखमय था। परन्तु जब से मनुष्य ने अपनी योग्यता में अभिवृद्धि की, उसने आविष्कारों और नित्य नवीन बातों द्वारा जीवन को जटिल बना दिया। उसने प्रकृति के शान्तिमय वातावरण को त्याग कर बहुत बड़ी गलती की और सभ्यता का विकास उसके लिये किसी प्रकार भी लाभदायक नहीं है। लाओ त्से के मतानुसार ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि वह अपने को जनाकीर्ण से दूर रख कर प्रकृति की गोद में विश्राम करे। उसने पूर्ण व्यक्ति के लिये नम्रता आवश्यक गुण बताया, और कहा कि अपनी बौद्धिक शक्तियों का प्रदर्शन करने से मनुष्य अपनी नम्रता खो बैठता है। उसने कहा कि पूर्ण व्यक्ति के जीवन की आवश्यकतायें बहुत ही कम होती हैं और वह बुरा व्यवहार करने वालों के प्रति भी दयालुता प्रदर्शित करता है। उसने बताया कि यदि तुम झगड़ा नहीं करते, संसार में कोई भी तुम से झगड़ा करने में समर्थ न होगा। आघात का बदला दयालुता से दो, "वे लोग जो अच्छे हैं मैं उनके प्रति और जो बुरे हैं उनके प्रति भी मैं अच्छा हूँ। इस प्रकार सभी अच्छे हो जाते हैं।"

चीनी दार्शनिकों में कन्फ्यूशियस के पश्चात् मेन्सियस का ही नाम आता है। उसके दार्शनिक सिद्धान्त राजनीतिक संगठनों से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। उसने प्रजातन्त्र की अपेक्षा राजतन्त्र को ही अधिक श्रेयस्कर बताया, क्योंकि प्रजातन्त्र में जनता का शिक्षित होना अत्यन्त आवश्यक है और जनता को शिक्षित बनाना दुष्कर कार्य है। उसने कहा,

मेन्सियस के दार्शनिक सिद्धान्त

"जो कुछ राजकुमार के दिमाग में गलती हो उसे ठीक कर दो। एक बार राजकुमार को सुधार दो और राज्य व्यवस्थित हो जायगा।" यद्यपि उसने राजतन्त्र का समर्थन किया किंतु उसके राजनीतिक विचार वास्तव में प्रजातन्त्रात्मक थे। उसके इन विचारों का संग्रह लिन युतांग ने इतिहास की पुस्तक में किया है। उनको मांग ने इस प्रकार से सार रूप में रक्खा है, (१) सभी मनुष्य समान हैं, (२) राज्य में प्रजा अधिक महत्व पूर्ण है। (३) दण्ड या पुरस्कार के निर्णय सरकारी अधिकारियों द्वारा नहीं वरन् जनता द्वारा किये जाने चाहिये, (४) सरकार प्रजा के कल्याण के लिये होनी चाहिये और सम्राट को चाहिए कि वह अपने प्रमोद उद्यानों और मनोरंजक आयोजनों में जनता को आने की अनुमति दे। (५) शासकों और प्रजा के सम्बन्ध एक दूसरे के ऊपर आधारित है। (६) जनता को विद्रोह करने का अधिकार है। मेन्सियस के विचार के अनुसार सम्राट स्वर्गीय आदेश के अनुसार राज्य करता है और कुशासन करने पर वह अपना राज्याधिकार खो बैठता है।

मेन्सियस ने युद्ध को निन्दित बताया और सैनिकों तथा योद्धाओं को अपराधी की संज्ञा दी। "बहुत से ऐसे लोग हैं जो कहते हैं कि मैं सेना की टुकड़ियों को काम में रखने में बड़ा पटु हूँ। मैं युद्ध संचालन में बड़ा कुशल हूँ। ये लोग बहुत बड़े अपराधी हैं। मेन्सियस ने कहा कि कभी कोई ऐसा युद्ध नहीं हुआ जो अच्छा रहा हो।

मोत्सू नामक दार्शनिक ने दर्शन के जिस सम्प्रदाय की नींव डाली उसका चिन क्रान्ति के बाद लोप हो गया।

किन्तु उसके सिद्धान्त बड़े ही उन्नत और विकसित हैं। मोत्सू का विश्वास था कि संसार के समस्त दोषों की औषधि सार्वभौम प्रेम ही है। उसने प्रतिपादित किया कि श्रेष्ठ व्यक्ति वही है जिसकी स्नेह-भावना और भक्ति परिवार, कुल राज्य तथा देश की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती हो। उसने स्नेह पर आधारित एक विश्वव्यापी साम्राज्य की कल्पना की। उसने अपने सार्वभौम प्रेम की परिभाषा भी दी। उसने बताया कि सार्वभौम प्रेम का तरीका दूसरों के देश को अपने देश के समान देखने, दूसरों के परिवार को अपने परिवार की तरह समझने में है। तब बहुसंख्यक लोग अल्पसंख्यकों को उत्पीड़ित नहीं करेंगे, धनवान निर्धनों का परिहास न करेंगे, सम्मानित साधारण लोगों से घृणा न करेंगे, और चालाक लोग सीधे-साधे लोगों को धोखा न देंगे। मोत्सू ने अपना यह मत प्रकट किया कि यदि प्रत्येक मनुष्य अपरिचितों से भी अपनी ही माता पिता और सन्तान के तुल्य प्रेम करे तो संसार में दुष्टता और अपराध का नाम न रह जाय।

मोत्सू

मोत्सू ने युद्ध को घृणित अपराध बता कर उसकी निन्दा की और अपने समकालीन लोगों के अज्ञान और अदूरदर्शिता पर अश्रुपात किया कि वे लोग युद्ध जैसी भयंकर वस्तु के दोषों को भी नहीं समझ पाते। कभी कभी हमें मोत्सू की शान्ति भावना में आधुनिकता की भावना का आभास मिलता है। "एक व्यक्ति की हत्या अनुचित समझी जाती है और इसके लिये प्राण दण्ड मिलता है। इस तर्क के अनुसार दस व्यक्तियों की हत्या दसगुना अनुचित है और इसके लिये दसगुना प्राण दण्ड मिलना चाहिये। एक सौ व्यक्तियों का वध सौगुना अनुचित है और तब इसके लिये सौगुने प्राण दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिये। परन्तु जब राज्यों पर आक्रमण करने के महान अनौचित्य का प्रश्न आता है तब संसार के सज्जन गण नहीं जानते कि उन्हें इसकी निन्दा करनी चाहिये। इसके विपरीत वे इसकी प्रशंसा करते हैं और [illegible] हैं। क्या हम कहेंगे कि इन सज्जनों को उचित-अनुचित का अन्तर मालूम है।"

चीन का दर्शन चीनी सभ्यता की महानता का द्योतक है। अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने चीनी दर्शन के महत्व को स्वीकार किया है और वे इसके गम्भीर तथा सुविस्तृत दृष्टिकोण से अत्यन्त प्रभावित हुये हैं।

चीन में कन्फ्यूशियस के सिद्धान्तों के अनुसार छात्रों को शिक्षा प्रदान की जाती थी। ग्राम्य पाठशालाओं में सम्पन्न लोगों के बच्चे शिक्षा प्राप्त करते थे। निर्धन जनता अशिक्षित ही रहती थी। इन पाठशालाओं का प्रबन्ध न तो सरकार द्वारा होता था और न पुरोहितों द्वारा। कन्फ्यूशियस का विचार था कि शिक्षा को सरकारी प्रभाव से बिल्कुल मुक्त होना चाहिये। पाठशालाओं में बच्चों को कई घंटे शिक्षा दी जाती थी और अनुशासन के नियम बड़े कठोर थे। बच्चों को कन्फ्यूशियस के लेख और तंग काल के प्रमुख कवियों की कवितायें रटनी पड़ती थीं। कन्फ्यूशियस के मतानुसार अफसरों को सुशिक्षित होना पड़ता था। उनको एक सार्वजनिक परीक्षा में अपनी योग्यता का परिचय देना पड़ता था। इस परीक्षा में तर्कशास्त्र, आचारशास्त्र, राजनीति कविता और इतिहास आदि विषयों के प्रश्न पूछे जाते थे। कोई भी व्यक्ति इस परीक्षा को उत्तीर्ण करके सरकारी पद प्राप्त कर सकता था। इस प्रकार चीन ने आज से शताब्दियों पूर्व ही एक प्रजा तान्त्रिक सामाजिक व्यवस्था का विकास किया था। सरकारी नौकरी का द्वार जन्म, कुल, धन, रंग और सामाजिक स्थिति आदि के आधार पर किसी के लिये अवरुद्ध न था। योग्यता ही इसके लिए अपेक्षित और अनिवार्य थी।

चीनी शिक्षा और विज्ञान

कविता, कला और दर्शन के देश चीन में विज्ञान का अधिक विकास न हो सका। चीन के गणितज्ञ, ज्यामिति के सिद्धान्तों से परिचित थे। आठवीं शताब्दी में संख्या की एक पद्धति का निर्माण हुआ जिससे संख्याओं का मूल्य उनकी स्थितियों पर निर्भर करता था। कन्फ्यूशियस के समय में ही चन्द्रग्रहण अथवा सूर्यग्रहण के समय का अनुमान ठीक-ठीक कर लिया जाता था। एक चान्द्रायण पंचांग की रचना भी हुई थी। चीन में पुरोहित लोग ज्योतिष का प्रयोग करते थे। इस ज्योतिष में कुछ वैज्ञानिक नियमों का

विज्ञान

अनुसंधान किया गया। पदार्थ-विज्ञान का भी कुछ विकास हुआ। जल, अग्नि, लकड़ी, स्वर्ण और मिट्टी प्रमुख तत्व समझे जाते थे।

यद्यपि चीन के चिकित्सा-विज्ञान में अन्धविश्वासों का पर्याप्त बाहुल्य था तथापि इस विज्ञान की कुछ प्रगति अवश्य हुई। चाऊ वंश के शासन-काल में "चिकित्सा के सिद्धान्त" नामक एक पुस्तक लिखी गई थी, जिसमें अनेक अंगों के कार्य लिखे थे। इस ग्रन्थ में बहुत से रोगों के नाम गिनाये गये थे, और उनकी चिकित्सा भी लिखी थी। यांग चुग चिंग (दूसरी शताब्दी ईसवी) ने, जो चिकित्सा-विज्ञान का ऋषि कहा जाता था, सन्निपात ज्वर के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया। व्हा तो प्राचीन चीन का प्रसिद्ध सर्जन था। उसने कई सूक्ष्म आपरेशन किये थे।

चीनी लिपि का जन्म चीनियों के विश्वास के अनुसार शाग्न वंश में हुआ था। चीनियों ने एक चित्रात्मक लिपि का विकास किया था। इस लिपि में कई शताब्दियों के सुदीर्घ समय में काफी परिवर्तन हुये। हान वंश में चीन की उस लिपि का विकास हुआ जो आज तक वर्तमान है। चीनियों ने वर्णमाला का विकास नहीं किया। इससे इनकी लिपि को सीखना कुछ कठिन है। लेखन-कला में ५५००० चिन्ह हैं जिनमें से ६०० प्रमुख चिन्ह हैं। प्रत्येक शब्द और प्रत्येक विचार के चिन्ह अलग-अलग थे। एक सीधी लकीर के ऊपर टेढ़ी लकीर खींच देने से सवेरे का बोध होता था और एक पुरुष तथा स्त्री के चिन्ह से बातूनी शब्द व्यक्त होता था और यदि किसी स्त्री के दो मुख दिखाये जाँय तो उसमें झगड़ा करने का बोध होता था। ५५००० चिन्हों को स्मरण रखना अत्यन्त दुष्कर कार्य है इसलिये एक साधारण चीनी ३००० या ४००० चिन्हों से काम चलाता है। प्रसिद्ध इतिहास-लेखक एच० जी० वेल्स का विचार है कि कदाचित् लिपि की कठिनाई के कारण चीन में सुशिक्षितों और बुद्धि जीवियों का इतना अधिक सम्मान होता है।

चीनी लिपि

चीन की शासन व्यवस्था चीनी सभ्यता का एक अत्यन्त आवश्यक और प्रभावपूर्ण रूप है। यदि हम प्रजातन्त्र और उच्च जनतन्त्र के समन्वय को आदर्श शासन-प्रणाली स्वीकार करते हैं तो हमें यह मानना पड़ेगा कि चीन की शासन-पद्धति आदर्श थी, क्योंकि जहाँ वह सरकारी पद के लिये किसी प्रकार का भेद नहीं करती थी, वहीं दूसरी ओर इन पदों को ग्रहण वे ही लोग कर सकते थे, जो बुद्धि-सम्पन्न थे, और नैतिक तथा विवेक में जनसाधारण से काफी ऊँचे थे। यदि हम यह मानें कि श्रेष्ठ सरकार शासन के बहुत कामों को करती है और लोगों को स्थानीय स्वतन्त्रता प्रदान करती है तो भी हमें चीनी शासन प्रणाली की प्रशंसा करनी पड़ती है क्योंकि चीन के सम्राट जनता की स्थानीय संस्थाओं में हस्तक्षेप बहुत कम करते थे, और कारण चाहे जो भी रहा हो चीन में स्वशासन की व्यवस्था रही है तथा उन्हें पर्याप्त आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त रही है।

चीनी शासन-व्यवस्था

शासन का प्रधान सम्राट समझा जाता था। वह सिद्धान्तः सर्वोच्च अधिकारी था और उसकी आज्ञा सर्वमान्य समझी जाती थी। लेकिन व्यावहारिक रूप में उसके अधिकार कानून तथा रीति-रिवाजों द्वारा सीमित थे। उससे यह आशा की जाती थी कि वह बिना नियमों का उल्लंघन किये हुये ही शासन करेगा और उसके अनुचित कार्यों के लिये मन्त्रिगण उसे डाँट-फटकार बता सकता था। जनता उस राजा को सिंहासन-च्युत कर देना न्याय-सम्मत समझती थी जो अपने कुशासन द्वारा जनता के विश्वास और स्वर्गीय आदेश को खो चुका होता था। शासन के कार्यों में सहायता प्रदान करने के लिये सम्राट के नीचे राज सभा के प्रमुख अधिकारियों और सरकारी विभागों के मन्त्रियों द्वारा निर्मित एक समिति होती थी। शासन के छः विभाग थे—(१) सिविल सर्विस, जिसमें बहुत से अफसर होते थे, (२) माल और अर्थ-विभाग कर वसूल करते थे, जनगणना करते थे, भूमि की सुव्यवस्था पर ध्यान देते थे जिससे राज्य की आय का एक बहुत बड़ा अंश प्राप्त होता था, और विभिन्न राज्यों से राजधानी को अन्न पहुँचाने के कार्य की देख-रेख करते थे, (३) संस्कारों का मन्त्रि-मंडल—यह विभाग जनता की धार्मिक पूजाओं और उत्सवों से सम्बन्ध रखता था, (४) रक्षा

विभाग : यह विभाग दुर्गों और सीमा-प्रान्तों की सुरक्षा का ध्यान रखता था, (५) दंड-विभाग: यह विभाग न्याय का कार्य करता था, (६) सार्वजनिक हित का विभाग : इस विभाग के अन्तर्गत नहरों को खोदवाने तथा सड़कों के निर्माण और बाढ़ को रोकने की व्यवस्था की जाती थी। मन्त्री अपने-अपने विभाग के अफसरों को आदेश भेजते थे। अफसरों को शासन-सम्बन्धी और न्याय-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे, वे गाँवों की मालगुजारी वसूल करते थे।

अफसरों की नियुक्ति परीक्षा द्वारा निर्वाचन-पद्धति के आधार पर की जाती थी। इस प्रणाली में कुछ दोष भी थे। परीक्षाओं में लोग बेईमानी कर लेते थे, और परीक्षा के प्रश्न प्रायः हर साल एक ही प्रकार के होते थे, इसलिये साधारण बुद्धि के लोग भी कभी-कभी इसमें सफल हो जाते थे। इसके अलावा अफसरों की बुद्धि कुछ संकुचित और विचार-शक्ति संकीर्ण हो जाती थी, क्योंकि उनके लिये केवल कन्फ्यूशियस के कुछ लेखों को रट लेना ही काफी था। उनके प्राचीनता-प्रेम के कारण शासन में कुछ सुधार नहीं हो पाते थे, और उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता था। परन्तु इन दोषों के होते हुये भी यह प्रणाली लाभदायिनी अधिक थी। चीनी शासन-व्यवस्था चीनी जनता के लिये अनुकूल और हितकर ही अधिक प्रमाणित हुई। डा० लाटरेट ने लिखा है कि मनुष्य जाति का कोई विशाल समुदाय बहुत ही कम इतना सन्तुष्ट रहा है जितना कि चीन के निवासी इस शासन-व्यवस्था के अधीन रहे हैं जब कि इस पर अधिकार सुयोग्यतम राजाओं का था।

चीन की सभ्यता में हमें पहली प्रशंसनीय बात जो स्पष्ट दिखाई पड़ती है वह यह है कि इसकी आधारशिला शान्ति की भावना थी, युद्ध की नहीं। यद्यपि चीन निवासियों ने समय पड़ने पर अपनी स्वाधीनता की रक्षा करने के लिये शस्त्र उठाया है तथापि वे युद्ध को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उनके कवियों और दार्शनिकों ने उन्हें बताया कि युद्ध निन्द्य है और इससे कभी किसी को लाभ नहीं हो सकता। चीन का कवि पहले तो युद्ध के विषय में कुछ लिखना पसंद ही नहीं करता, और यदि वह कभी लिखता भी है तो उसकी भयंकरताओं का चित्रण करने के लिये। युद्ध की आवश्यकता ही स्वर्ग के पुत्र अर्थात् सम्राट के दोष की सूचक थी। चीनियों ने यद्यपि बारूद का आविष्कार कर दिया था तथापि वे इसका प्रयोग युद्ध के लिये न करते थे। इन सब बातों से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि चीन की सभ्यता शान्ति के लिये संगठित थी, और हमें एच० जी० वेल्स और एच० ए० डेवीस के विचार मान्य प्रतीत होते हैं जब वे कहते हैं "चीनी सभ्यता हिन्दू सभ्यता से भी अधिक शान्ति के लिये संगठित है और इसकी सामाजिक रचना में योद्धा बहुत ही कम महत्वपूर्ण भाग लेता है।"[1] "चीनी सभ्यता सब से सुनिश्चित रूप में शान्ति के लिये संगठित है और चीन ही केवल ऐसा देश है जहाँ पर सैनिक होना अपमान-जनक समझा जाता है।"[2] चीन देश में बहुधा लुटेरे और अपराधियों को ही सेना में नियुक्त किया जाता था और समाज में योद्धाओं का कोई सम्मानपूर्ण स्थान न था। आज के युद्ध-जर्जर जगत के लिये चीन के शान्तिपूर्ण जीवन दर्शन का विशेष महत्व है। कदाचित् इसी बात को ध्यान में रखकर विख्यात अंग्रेजी लेखक बर्ट्रेन्ड रसेल ने कहा है "चीनियों ने जीवन के उस रास्ते की खोज की है और उस पर वे शताब्दियों तक चले हैं जिसको यदि सारा संसार ग्रहण कर ले तो सम्पूर्ण विश्व सुखी बन सकता है।"

चीनी सभ्यता की समीक्षा

चीनी समाज में यदि सम्मान था तो विद्या और गुण से सम्पन्न व्यक्तियों का। चीनियों के लिये पूजनीय व्यक्ति वह नहीं था जिसने विपुल धनराशि एकत्र कर ली हो, वरन् वे उस व्यक्ति को श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखते थे जिसने अपना जीवन विद्याध्ययन और गुण प्राप्ति के पवित्र कार्य के लिये समर्पित कर दिया हो। चीनियों का यह दृष्टिकोण आज भी है। सर राबर्ट हार्ट का कथन है "चीनी गुण की पूजा करते हैं, वे साहित्य से आनन्द प्राप्त करते

१ H. G. Wells. "The Outline History of the World.
२ H. A. Davies—"History of the World."

हैं और हर स्थान पर उनकी विद्या सम्बन्धी छोटी-छोटी गोष्ठियाँ हैं जहाँ वे एक दूसरे के निबन्धों और कविताओं पर परस्पर अपने विचार व्यक्त करते हैं।" सभ्यता के विकास के लिये यह परमावश्यक है कि समाज में एक ऐसा वर्ग हो जो अपने भौतिक जीवन की दुश्चिन्ताओं से मुक्त हो और जो निश्चिन्त होकर देश में कला, कविता, साहित्य, दर्शन, विज्ञान और आचार-शास्त्र को जन्म दे तथा उनकी नित्य प्रति उन्नति करने के लिये प्रयत्नशील हो। ये ही तत्व किसी सभ्यता को उसका महत्व और गौरव प्रदान करते हैं और जाति के जीवन को अक्षुण्ण रखने में भी उनका योगदान महत्व पूर्ण होता है। सौभाग्य से चीन में बहुत प्राचीन काल से ही मन्दारिन वर्ग रहा है जिसने चीन की सांस्कृतिक परम्परा को कभी लुप्त नहीं होने दिया। यही कारण है कि "आक्रमणकारी और राज्यवंश आये और चले गये परन्तु पीली सभ्यता के जीवन का क्रम अभी भी अपरिवर्तित-रूप में विद्यमान है।" (एच० जी० वेल्स)

ऐसा प्रतीत होता है कि चीन के सुविशाल भू-भाग ने चीनियों को दृष्टिकोण की विशालता प्रदान की है। चीनी लोग संसार के सभी व्यक्तियों के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करना पसंद करते हैं और धार्मिक तथा जातीय विभेदों का विचार नहीं करते। चीन में कई धर्म साथ बढ़े हैं परन्तु योरप की भाँति यहाँ कभी धार्मिक-युद्ध नहीं लड़े गये। वे एक राज्य में ही नहीं अपितु एक परिवार में भी विभिन्न मतों को एक साथ ही मानने देते थे। एक चीनी ताओ धर्म को भी मानता है कन्फ्यूशियस को भी मानता है और महात्मा बुद्ध को भी पूज लेता है। चीनी अपने धार्मिक दृष्टिकोण में कट्टर नहीं होता, जैसा कि हम पीछे कह आये हैं कि पूर्वजों का सम्मान करने वाला व्यक्ति किसी धर्म को न भी माने और अपने को नास्तिक कहे तो भी उसे घृणा से नहीं देखा जाता।

मानव सभ्यता को चीन की देन बहुमुखी है। उसने संसार को कुछ ऐसी वस्तुयें प्रदान कीं जिनका प्रयोग हम आज भी बहुत बड़े पैमाने पर करते हैं और विचार-जगत में भी उसने जो बहुमूल्य विचार-धारा जगत को प्रदान की उसका महत्व हम आज भी स्वीकार करते हैं। मिस्र में पैपीरस का कागज बनता था परन्तु चीन में कई वस्तुओं को मिलाकर कागज बनाये जाते थे। चीन की दीवाल में प्रत्येक प्रकार के कागज के नमूने पाये गये हैं। ईसा की तीसरी शताब्दी बाद से कागज को चीनी बाहर भी भेजने लगे थे। पुरातत्वशास्त्रियों ने उनके अवशेष सिंकियांग में प्राप्त किये हैं। सन् ७५० ई० तक कागज समरकन्द में बहुलता से बनाया जाने लगा जहाँ से अरब वासियों ने भी कागज बनाना सीखा। अरबों से ही योरप वासियों ने कागज बनाना सीखा। विश्व के बहुत बड़े भाग में आज चाय दैनिक जीवन में उपयुक्त होने वाला पेय हो गया है। समस्त संसार में कहीं-कहीं पर तो इसका प्रयोग दिन में दो या तीन बार किया जाता है। परन्तु चाय को प्रेम से पीने वाला व्यक्ति कदाचित यह नहीं जानता कि उसके चौदह सौ वर्ष पहले चीन के निवासी इसका प्रयोग कर रहे थे, जब कि विश्व के अन्य देशों के लिये यह अज्ञात थी और चीन के कवि मस्तिष्क और शरीर में ताजगी उत्पन्न करने वाले इसके विलक्षण प्रभाव के ऊपर कवितायें लिख रहे थे। हमारे अवकाश के क्षणों को मधुर और सुखदायक बनाने वाले ताश के पत्ते चीन की ही देन हैं। हमारे भोजन में प्रयुक्त होने वाली सोयाबीन की फलियां हमें चीन से ही प्राप्त हुई हैं। यह एक मनोरंजक बात है कि यदि चीन ने हमें पीने के लिये चाय दी तो उसने हमें चाय पीने के लिये चीनी मिट्टी के बर्तन भी दिये अन्यथा धातुओं के बर्तन से तो हमारे हाथ जलने लगते। अचार रखने के लिये सुन्दर मजबूत भाण्ड, सुन्दर और आकर्षक तश्तरियाँ और प्याले, जिनके अभाव में कदाचित हमारे प्रीतिभोज फीके लगने लगें चीन ने ही प्रदान किये हैं। रेशम के हल्के सुन्दर वस्त्रों, जिनको धारण करने के लिये हमारे देश की शृंगार मयी नारियाँ सदैव से लालायित रही हैं, का निर्माण और प्रयोग हमने चीन से ही सीखा है।

योरप महाद्वीप के ऊपर तो चीन का ऋण विशेषरूप से है। ऊपर हमने जिन वस्तुओं का उल्लेख किया है वे तो योरप निवासियों के प्रयोग में आती ही हैं, उन्होंने चीन से कुछ ऐसी वस्तुयें प्राप्त कीं जिनके द्वारा उनके जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये। बारूद के आविष्कार को उन्होंने अरबों से और अरब लोगों ने चीनियों से सीखा था। इस आविष्कार

ने योरप में सामन्त-वर्ग की शक्ति कम कर दी और एक नये वर्ग, व्यापारी वर्ग को शक्तिशाली बनाया। इसी प्रकार कुतुबनुमा की डिबिया ने, जिसके लिये योरप चीन का ऋणी था उन सब भौगोलिक अनुसन्धानों को सम्भव कर दिया, जो पुनरुज्जीवन काल में किये गये थे। योरप महाद्वीप में पुस्तकों के प्राचुर्य ने ज्ञान को सुलभ बना दिया और धार्मिक सुधार आन्दोलन (Religious Reformation) का मार्ग प्रशस्त किया। पुस्तकों की बहुलता इसी कारण से हो सकी कि चीनियों ने अरबों द्वारा अपने योरप के बन्धुओं को छापेखाने की कला सिखा दी थी। मुद्रण-कला के आविष्कार का महत्व हम आज भली-भाँति समझ सकते हैं और हमें चीन की कृतज्ञता स्वीकार करनी पड़ती है, जब हमें यह मालूम होता है कि चीन निवासियों ने ही इसे सर्वप्रथम संसार को सिखाया था। इस कथन में कदाचित कोई अत्युक्ति न होगी कि यूरप की नव-जागृति जितनी यूनानी विद्याओं के पुनरुत्थान के कारण हुई उतनी ही चीन के दिशासूचक यन्त्र, बारूद तथा मुद्रण के आविष्कार के कारण।

चीन के दार्शनिकों का ज्ञान कदाचित चीनी देन का सब से महत्व-पूर्ण अंश है। इसका प्रभाव योरप की सभ्यता पर तो बहुत ही कम पड़ा परन्तु योरप के कई अति बुद्धिमान व्यक्ति चीनी दर्शन से प्रभावित हुये। इसका उल्लेख हम पीछे कर आये हैं। आज हम राजनीतिक क्षेत्र में पीपुल्स सावरेन्टी (लोकसत्ता) की बात सुन रहे हैं और हम ऐसा समझते हैं कि यह भावना कदाचित इस बीसवीं शताब्दी की है परन्तु हमें विस्मय होता है जब हम चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक महात्मा कन्फ्यूशियस को इसका जोरों से समर्थन करते हुए देखते हैं। इसी प्रकार जब हम मोत्स् को सार्वभौम प्रेम का सन्देश देते हुये और पारस्परिक प्रेम के आधार पर एक विश्वव्यापी साम्राज्य की कल्पना करते हुये पाते हैं तो हमें एच० जी० वेल्स के विश्वसंघ (World Federation) का स्मरण होने लगता है। उसकी युद्ध-निन्दा में संयुक्त-राष्ट्र-संघ के सिद्धान्तों का आभास मिलता है, और मेन्सियस के राजनीतिक विचारों को पढ़ कर तो हमें यही प्रतीत होने लगता है कि अत्याचारी शासक के विरुद्ध विद्रोह करना मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है। हम मेन्सियस को लेखों को पढ़कर यही सोचने लगते हैं कि हमारी राजनीतिक समस्यायें और उनके निराकरण के उपाय कितने प्राचीन हैं, जब वह कुशासन के लिये शासकों की भर्त्सना करता है और अत्याचारी राजा को सिंहासनच्युत करने के लिये जनता को उत्प्रेरित करता है। हम में से कोई लाओ त्से के विचारों से कदाचित ही सहमत होगा, जब वह ज्ञान की निन्दा करता है और इसे वह मनुष्य के नैतिक-पतन का कारण मानता है। परन्तु जब कारखाने, लोहे और पत्थर के बने हुये औद्योगिक नगरों के धुँए से हमारा दम घुटने लगता है और व्यापारिक केन्द्रों के कोलाहलमय जीवन को देखकर जब हमारी मानसिक और आध्यात्मिक शान्ति नष्ट होने लगती है तब हमें ला ओत्से की प्रकृति-पूजा के सिद्धान्तों में कुछ-न-कुछ सार अवश्य प्रतीत होने लगता है।

चीन की देन इस बात में भी है कि उसने अपने निकट के देशों पर अपनी सभ्यता का प्रभाव डाला है। जापान की सभ्यता पर तो चीनी सभ्यता का विशेष रूप से ऋण है। तांग युग में जापान के ऊपर चीनी प्रभाव बहुत अधिक परिमाण में पड़ा और जापानी-शासन-व्यवस्था में तंग शासन-प्रणाली के बहुत से तत्व मिलेंगे। इसी प्रकार कोरिया तथा उत्तरी मध्य एशिया के देशों पर भी चीनी प्रभाव अत्यधिक है। वी० ए० रेनफ ने लिखा है "कलाओं, साहित्य और दर्शन में सुदूर पूर्व के पास जो कुछ भी है लगभग वह सम्पूर्णतः प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से चीनी प्रतिभा की उपज है।" इस कथन को हम तभी सत्य मान सकते हैं जब सुदूर पूर्व से कोरिया और जापान को ही समझें, क्योंकि इन्डोचीन मलाया और इन्डोनीशिया पर भारत के सांस्कृतिक प्रभाव चीन की अपेक्षा अधिक हैं। चीन को भारत ने ही बुद्ध धर्म प्रदान किया। चीन और भारत ने मिल कर दक्षिणी-पूर्वी एशिया के विशाल प्रदेश पर अपनी-अपनी सभ्यताओं के प्रभाव डाले और इन सबके मिश्रण से एक सामान्य एशियाई संस्कृति का विकास हुआ। एशिया की एक सामान्य संस्कृति भी है यद्यपि यह सत्य है कि इस महाद्वीप के देश अपनी अपनी विभिन्न राष्ट्रीय संस्कृतियों से युक्त हैं। भारतीय संस्कृति और विदेशों में इसके प्रभाव के विषय में हम आगे पढ़ेंगे, यहाँ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि इस सभ्यता के साथ मिलकर चीन की सभ्यता ने एशिया की आत्मा को एक ही बना दिया है। ओकाकुरा काकुजो के

शब्दों में "एशिया एक है। हिमालय की चोटियाँ विभाजित करती हैं, केवल दो महती सभ्यताओं को, कन्फ्यूशियस के साम्यवाद से युक्त चीनी सभ्यता और वेद के व्यक्तिवाद से युक्त भारतीय सभ्यता को, परस्पर मिलाकर उच्चारित करने के लिये। परन्तु बर्फीली सीमायें भी निस्सीम और सार्वभौम के लिये विस्तृत फैले हुये प्रेम को एक क्षण के लिये भी रोक नहीं सकतीं, जो प्रत्येक एशियाई जाति की सामान्य विचार-सम्पति है, जिसने उनको संसार के महान धर्मों को जन्म देने में समर्थ किया है, और जो उनको भूमध्यसागर तथा बाल्टिक सागर की उन जातियों से पृथक करती है जो जीवन का साधन ढूँढ़ लेना चाहती हैं, जीवन का चरम लक्ष्य नहीं।"

---:o:---

सातवाँ अध्याय

भारत की प्राचीन सभ्यता

हमने पिछले अध्याय में आप को एशिया महाद्वीप की एक अत्यन्त प्राचीन और जीवित सभ्यता के विषय में कुछ ज्ञान कराया। इस अध्याय में हम आप को भारतवर्ष की उस प्राचीन सभ्यता का दिग्दर्शन कराने की चेष्टा करेंगे जिसने समय के सर्व विनाशकारी उपद्रवों की अवहेलना करते हुये और विदेशियों के प्रचन्ड आक्रमणों का सामना करते हुये अपनी अद्भुत जीवनी-शक्ति का परिचय दिया है। कितने ही आक्रमणकारी आये और चले गये, किन्तु भारतीय सभ्यता की जीवनधारा अब भी प्रवाहित हो रही है। "यूनान, मिस्र रोम, सब मिट गये जहाँ से, अब तक मगर है बाकी नामों-निशां हमारा''। कवि की इस पंक्ति में एक देश-भक्त का मिथ्या राष्ट्रीय गर्व नहीं है अपितु एक ऐतिहासिक सत्य को कवित्वमयी अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। न मालूम क्या बात है कि हमारी स्वर्गादपि गरीयसी जननी जन्म-भूमि पर सहस्रों आपत्तियाँ आईं लेकिन आज भी इसकी प्राचीन-सभ्यता प्राणवती है। "कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।" हम आगे के पृष्ठों में यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि वे कौन से तत्व हैं जिन्होंने भारतीय-सभ्यता को युगयुगों तक जीवित रक्खा है और जो आज भी इसकी प्राण-रक्षा कर रहे हैं। हम सब से पहिले वैदिक सभ्यता से प्रारम्भ करेंगे।

भारतवर्ष में आर्य और वैदिक सभ्यता

भारतवर्ष में आर्य कहाँ से आये या आर्य भारत के ही प्राचीन निवासी हैं अथवा नहीं, यह भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त विवादग्रस्त समस्या है। हम इस समस्या में न पड़कर आप को वैदिक सभ्यता का संक्षिप्त दिग्दर्शन करायेंगे। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि आर्यों के पहले या उनके समय में हमारे देश में द्राविड़ों की भी एक अत्यन्त विकसित सभ्यता फल फूल रही थी। आर्य सभ्यता और द्रविड़ सभ्यता का परस्पर संघर्ष हुआ किन्तु बाद में उन दोनों सभ्यताओं का एक दूसरे से मेल-जोल हुआ और हमारे देश में एक मिली-जुली सभ्यता का विकास हुआ। आगे की पंक्तियों में हम भारतीय शब्द का प्रयोग जिस सभ्यता के लिये करेंगे वह न तो सम्पूर्णतया आर्य सभ्यता है और न सम्पूर्णतया द्रविड़ है बल्कि उस सभ्यता में इन दोनों सभ्यताओं के तत्व विद्यमान हैं। वैदिक सभ्यता से तात्पर्य उस सभ्यता से है जो वेदों के रचना-काल के समय विद्यमान थी। वैदिक-काल में आर्यों का जीवन सादा था। उनका धर्म सरल और आडम्बर-विहीन था। वे प्रकृति की शक्तियों की आराधना करते थे, और उनको उन्होंने देवता का रूप प्रदान किया था। वरुण, पृथ्वी, इन्द्र, सूर्य, रुद्र और मरुत आदि मुख्य देवता थे। उषा इस काल की प्रमुख देवी थी। मूर्ति पूजा का प्रचार न था। यद्यपि साधारण जन देवताओं की उपासना में ही संलग्न रहा करते थे, तथापि बुद्धिमान लोगों का ध्यान सृष्टिकर्ता ईश्वर की ओर भी केन्द्रित था। प्रकृति-पूजा वैदिक धर्म की प्रारम्भिक अवस्था थी। शनैः शनैः स्तोत्रों और ऋचाओं का पाठ करने वाला विचारशील व्यक्ति सृष्टि के आदि कारण पर विचार करने लगा। वह यह विश्वास करने लगा कि समस्त देवताओं के ऊपर एक परमशक्तिशालिनी शक्ति का नियंत्रण है, यह शक्ति ईश्वर है। ऋग्वेद के अन्तिम मंडल में हमें ईश्वर की भक्ति भावना का आभास मिलता है। इस भावना का पूर्ण विकास उपनिषदों में हुआ। उत्तर वैदिक-काल में कर्मकांड की प्रधानता हुई और ब्रह्मा, विष्णु महेश नामक देवताओं की त्रिमूर्ति का जन्म हुआ। सम्भवतः महेश द्रविड़ों के आराध्य देव थे, जिनको आर्यों ने अपने देवमंडल में अपना लिया। इसी प्रकार गणेश भी द्रविड़ों के ही देवता थे जिनको उत्तर वैदिक काल के आर्य पूजने लगे।

वैदिक काल का समाज पितृ-प्रधान था। कई परिवारों को मिलाकर एक वर्ग का निर्माण होता था जिसका अध्यक्ष सरदार होता था। ये वर्ग कई ग्रामों में निवास करते थे। कदाचित उस काल में नगरों का अस्तित्व नहीं था। वैदिक सभ्यता प्रमुखतया एक ग्रामीण सभ्यता थी। सिन्धु घाटी की भांति वह एक नगर सभ्यता न थी। समाज में नारियों का स्थान सम्मानीय था। उनको परदे में नहीं रक्खा जाता था। वरन् अपने पतियों के साथ वे सार्वजनिक कार्यों में भाग ले सकती थी। उनकी शिक्षा पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। कुछ स्त्रियों ने उच्चकोटि की शिक्षा प्राप्त कर ऋषि पद को प्राप्त किया था। उन्होंने वैदिक ऋचाओं की रचना भी की थी। इन महिलाओं में अपाला, घोषा, लोपामुद्रा तथा श्रद्धा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। उत्तर वैदिक-काल में आर्य स्त्रियों की अवस्था पहले की अपेक्षा कुछ गिर गई। राजा और धनी लोग एक से अधिक विवाह कर सकते थे। इसी प्रकार उत्तर वैदिक काल में जाति-व्यवस्था भी कठोर हो गई। वैदिक काल में वर्ण विद्यमान तो थे परन्तु उनमें परस्पर एक दूसरे के साथ खान-पान और विवाह-आदि का सम्बन्ध होता था। किन्तु उत्तर वैदिक काल में इस प्रकार के सम्बन्ध अनुचित समझे जाने लगे और उन पर निर्बन्ध लगा दिया गया। आर्यों का उद्यम कृषि था, परन्तु अन्य उद्योगों का अभाव न था। यद्यपि विभिन्न उद्योग-धन्धे अभी अविकसित अवस्था में ही थे, तथापि शिल्प एवं कला का भी आरम्भ हो चुका था। विभिन्न धातुओं के बर्तन तैयार किये जाते थे। रंगने तथा बढ़ईगिरी के उद्योग-धन्धे उन्नतिशील अवस्था में थे। बुनना, कातना, तथा चमड़ा बनाने की क्रियायें प्रचलित थीं। युद्ध के लिये शस्त्रास्त्र बनाये जाते थे। व्यापार के लिये नौकाओं, रथों और गाड़ियों का निर्माण किया जाता था। व्यापार पर्याप्त अच्छी दशा में वर्तमान था।

आर्यों का राजनीतिक संगठन वर्ग या समूह पर आधारित था। कई परिवारों को मिलाकर वर्ग बनता था। ग्राम सब से छोटी राजनीतिक इकाई समझा जाता था। कई गांवों को मिला कर एक 'विस' की रचना होती थी और कई विसों के समूह से जन का निर्माण होता था। प्रत्येक जन का शासन 'राजन' करता था। 'राजन' स्वेच्छाचारी न था। उसे शासन सम्बन्धी विषयों में सम्मति प्रदान करने के लिये 'सभा' और 'समिति' नामक संस्थायें होती थीं। आर्यों की मुख्य राजनीतिक संस्था समिति थी। यह समाज के सभी लोगों की एक धारा सभा के रूप में थी। जिन प्रश्नों पर जनता की स्वीकृति आवश्यक समझी जाती थी, उन मामलों को समिति के सम्मुख उपस्थित करना पड़ता था। यहां सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का परिचय देना अनावश्यक न होगा क्योंकि वैदिक सभ्यता के विषय में उन्हीं के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। वेद चार हैं (१) ऋग्वेद, (२) सामवेद, (३) यजुर्वेद (४) और अथर्ववेद :—वेदों के अतिरिक्त तीन प्रकार के ग्रन्थ हैं।

(१) संहिता :—इनमें ऋचाओं तथा मन्त्रों का संकलन है,

(२) ब्राह्मण ग्रन्थ :—इनमें वैदिक ग्रन्थों की व्याख्या की गई है। यज्ञ, हवन आदि की विधियां बताई गई हैं। इस प्रकार इन ग्रन्थों में ब्राह्मणों के धर्म तथा दर्शन का निरूपण है। ये ग्रन्थ गद्य में हैं।

(३) आरण्यक तथा उपनिषद :—इनमें से कुछ तो ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तर्गत आ जाते हैं और कुछ पृथक हैं। आरण्यकों को इतना पवित्र समझा जाता है कि ये केवल जंगलों में ही पढ़े जा सकते हैं। इसीलिये इनका यह नाम भी पड़ा। उपनिषदों के द्वारा हमें भारतीय आर्यों की असाधारण प्रतिभा तथा विचारशीलता का दर्शन होता है। ये दार्शनिक ग्रन्थ हैं। इनमें जीवात्मा तथा परमात्मा आदि गम्भीर विषयों पर विचार किया गया है। उपनिषद संख्या में तो कई हैं परन्तु उनमें छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक सब से अधिक प्रसिद्ध हैं.

(४) वैदिक साहित्य के छः अंग : (१) शिक्षा अर्थात् वैदिक सूक्तों का उच्चारण, (२) छन्द, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त : वैदिक शब्दों का कोष, (५) कल्प-सूत्र : कर्म कांड (६) ज्योतिष। कल्प-सूत्र तीन प्रकार के हैं: (१) गृह्य सूत्र (२) श्रौत सूत्र और (३) धर्म सूत्र। गृह्य सूत्रों में जन्म से मृत्यु-पर्यन्त मानव-जीवन के संस्कारों का वर्णन है।

श्रौत सूत्रों में वैदिक यज्ञों के साथ किये जाने वाले कर्मकांडों का वर्णन है। धर्म सूत्रों में धार्मिक और सामाजिक जीवन का वर्णन है।

पहले तो आर्य लोगों का अधिकार पंचनद प्रदेश में ही था, परन्तु बाद में वे पूर्व की ओर बढ़ने लगे और गंगा तथा यमुना के जलों से सींचा जाने वाला उपजाऊ प्रदेश, जिसे वे मध्य देश कहते थे, उनकी लीला-भूमि बन गया। महाकाव्य काल में तो आर्य सुदूर दक्षिण तक गये। वैदिक काल के जन महाकाव्य काल में अब संगठित राज्य में परिवर्तित हो चुके थे। इसमें उत्तराधिकार द्वारा सिंहासन प्राप्त करने वाले राजन शासन करते थे। यद्यपि देश में कोई सर्वोच्च सत्ताधारी साम्राज्य विद्यमान न था, परन्तु इसकी भावना अवश्य थी। दोनों महाकाव्यों में राजसूय और अश्वमेध यज्ञों का उल्लेख मिलता है। पराक्रमशाली नरेश दिग्विजय करते थे। देश में छोटे-छोटे राज्य वर्तमान थे, जिनमें विदेह (वर्तमान तिरहुत) गन्धार, पांचाल (वर्तमान रुहेलखंड का प्रदेश) कोशल (आधुनिक अवध) और कुरु (वर्तमान दिल्ली के निकट) आदि उल्लेखनीय हैं। दक्षिण में भी अनेक राज्य थे, और उत्तरापथ के राज्यों से इनका पारस्परिक स्नेह सम्बन्ध था। महाकाव्य काल में आर्य और द्रविड़ सभ्यताओं के सांस्कृतिक समन्वय का कार्य लगभग पूर्ण हो गया था।

प्राचीन भारत का संक्षिप्त राजनीतिक इतिहास

प्राचीन भारत ने प्राचीन यूनान की भांति कोई हेरोडोटस अथवा थुसीडाइडीज नहीं उत्पन्न किया, जिससे हमें भारत के राजनीतिक इतिहास का क्रमबद्ध विवरण प्राप्त हो सके। इसलिये यह कहा गया है कि भारत का राजनैतिक इतिहास उसके सांस्कृतिक इतिहास के बाद में प्रारम्भ होता है। प्राचीन भारत के राजनैतिक इतिहास के विषय में विश्वसनीय सामग्री हमें मौर्य साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् से प्राप्त होने लगती है जब राजाओं के अभिलेख, उनके द्वारा चलाई हुई मुद्रायें, तथा कतिपय साहित्यिक ग्रन्थ हमें इस विषय का ज्ञान प्राप्त कराते हैं। इसके पूर्व भी हमें बौद्ध धर्म ग्रन्थों की सहायता से कुछ राजनीतिक इतिहास की जानकारी प्राप्त होती है। मौर्य साम्राज्य के उत्थान के पूर्व ही मगध नामक शक्तिशाली राज्य अपना साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा था। मगध के बिम्बिसार ने नीति शासक ने नीति तथा वैवाहिक सम्बन्धों के द्वारा अपना प्रभुत्व और प्रभाव बढ़ाया। उसने कोशल की राजकुमारी कोशल देवी को अपनी राजमहिषी बनाया। उसने लिच्छवि राजकन्या से भी विवाह किया था और मद्रराज की राजकुमारी से पाणिग्रहण कर उसने मद्रों की मैत्री प्राप्त की। इन विवाहों से मगध राजकुल की प्रतिष्ठा बढ़ी, और काशी की एक लाख की वार्षिक आय मगध को मिलने लगी। बिम्बिसार की शासन-व्यवस्था सुसंगठित थी। उसको उसके पुत्र अजातशत्रु ने मार दिया और स्वयं राज्य-सिंहासन हस्तगत कर लिया।

अजातशत्रु को अपने साम्राज्य विस्तार के कार्य में अपने समकालीन गणराज्यों तथा राजतंत्रों का सामना करना पड़ा। महात्मा बुद्ध के इस समय में देश में ७ गणतंत्र थे, (१) कपिल वस्तु के शाक्य (२) सुमसुमगिरि के भग्ग (३) अल्लकप्प के बुल्ली, (४) कुशीनारा के मल्ल (५) पिप्पलीवन के मोरिय (६) मिथिला के विदेह और (७) वैशाली के लिच्छवि। लिच्छवि गणतंत्र की प्रशंसा महात्मा बुद्ध ने स्वयं की थी, और इसको अजेय बताया था। शाक्य हिमालय की तराई में बसे थे। बुल्ली बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के निकट बसे थे। मल्ल गोरखपुर में थे। मोरिय शाक्यों की एक शाखा थे। विदेह की राजधानी मिथिला थी। इस प्रकार ये गणराज्य ईसवी पूर्व छठी शताब्दी में मगध के पूर्व गंगा और हिमालय के मध्य में बसे थे। राजतन्त्रों में प्रमुख ये थे, (१) वत्स, यह राज्य प्रयाग के पश्चिम में यमुना के किनारे था। इसकी राजधानी कौशाम्बी थी। महात्मा बुद्ध के समय में यहां का राजा उदयन था, जो बड़ा ही रसिक और कला-नुरागी था। संस्कृत में इस राजा की अनेक प्रेम कथायें प्रचलित हैं। बाद में यह राज्य मगध राज्य का एक प्रान्त हो गया। (२) अवन्ती: इस राज्य की राजधानी उज्जैन थी। बुद्ध के समय में यहां का राजा चण्ड प्रद्योत था। यह बड़ा प्रतापी था। इसकी कन्या वासवदत्ता का विवाह महाराजा उदयन के साथ हुआ था। नन्दों के समय में इसकी स्वाधीनता का अन्त हो गया। (३) अवध, इस राज्य की राजधानी श्रावस्ती थी, जो आधुनिक गोंडा जिले में स्थित थी।

बुद्ध के समय में वहां का राजा प्रसेनजित था। काशी का राज्य भी कौशल का एक भाग था जिसको प्रसेनजित ने अपनी कन्या के विवाह में मगध राज को दहेज-स्वरूप दे दिया था। (४) मगध राज्य, इन चारों राज्यों में साम्राज्य निर्माण के लिये परस्पर युद्ध होता रहा, जिसमें मगध राज्य की ही अन्त में विजय हुई।

अजातशत्रु ने सिंहासन हस्तगत कर लेने के वर्षों पश्चात लिच्छवियों के गणतन्त्र पर आक्रमण किया, और उसे अपने राज्य में मिला लिया। अजातशत्रु के ऊपर कोशल नरेश प्रसेनजित ने आक्रमण किया। कुछ दिनों बाद तक युद्ध होता रहा किन्तु बाद में सन्धि हो गई। अजातशत्रु के शासन काल में लिच्छवियों का मगध राज्य में मिलाया जाना तथा कौशल नरेश की प्रतिष्ठा का कम हो जाना ये भी महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनायें घटित हुई, जिन्होंने मगध राज्य के उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त किया। अजातशत्रु के उत्तराधिकारी दुर्बल थे। उसकी मृत्यु के अनन्तर उसका पुत्र दर्शक मगध के राजसिंहासन पर बैठा। कुछ समय के पश्चात शिशुनाग नामक प्रतापी नरेश ने बिम्बिसार के वंश का नाश करके मगध पर अपना अधिकार जमा लिया। उसने अवन्ति के राज्य को अपने राज्य में मिलाकर अपनी शक्ति और गौरव को बढ़ाया।

शिशुनागों के उपरान्त मगध के नन्द वंश का शासन प्रारम्भ हुआ। महापद्म नन्द ने ईसवी पूर्व चौथी शताब्दी में नन्दकुल का आरम्भ किया, और पंजाब को छोड़ कर उसने समस्त उत्तरी भारत पर अपना अधिकार जमा लिया। उसने अपने आधीनस्थ राज्यों को वश में रक्खा। उसके पश्चात उसके आठ बेटों ने कुछ समय तक राज्य किया। उनमें से किसी एक के समय में यूनान के प्रसिद्ध विजेता सिकन्दर ने देश पर आक्रमण किया। सिकन्दर की सेनायें तक्षशिला के द्वारा होकर पंजाब में प्रविष्ट हुई। पुरु नामक स्वाभिमानी नरेश ने उसका सामना किया। सिकन्दर व्यास नदी तक पहुँचा और आगे बढ़ने की इच्छा कर रहा था परन्तु उसके सैनिकों ने, जिनको भारतीय सैनिकों की असाधारण वीरता का परिचय काफी मिल चुका था, आगे बढ़ने से इन्कार किया। लाचार होकर सिकन्दर को वापस लौटना पड़ा। उसके लौटते समय मालव, यौधेय और क्षुद्रक आदि गण राज्यों ने उसे खूब परेशान किया। सिकन्दर के लौट जाने के पश्चात पंजाब में काफी गड़बड़ी मच गई। इस अशान्तिमय स्थिति से लाभ उठा कर चन्द्रगुप्त मौर्य ने चाणक्य नामक बुद्धिमान ब्राह्मण की सहायता से पंजाब पर अधिकार जमा लिया, और नन्द वंश का नाश करके मौर्य साम्राज्य की स्थापना की।

मौर्य साम्राज्य का अभ्युदय भारत के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस समय से देश में एक ऐश्वर्यशाली युग का आरम्भ हुआ, जो राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से वैभव शाली था। उत्तरी भारत के अनेक छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों का लोप हो गया और देश में सर्वसत्ताधारी स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हुई। इस साम्राज्य का शासन प्रबन्ध इतना सुसंगठित, सुव्यवस्थित और प्रजा को सुख प्रदान करने वाला था कि आजकल भी इसकी प्रशंसा की जाती है। देश में शान्ति स्थापित होने के कारण विद्या का प्रचार और कलाओं का विकास हुआ। भारत का विदेशों से सम्बन्ध स्थापित हुआ। इतना ही नहीं, बौद्ध धर्म के रूप में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का प्रचार भी इस काल में हुआ। (३२१, २६८ ईसवी पूर्व) चन्द्रगुप्त मौर्य इस वंश का संस्थापक और प्रथम सम्राट था। तमिल कवियों की कुछ कविताओं से विदित होता है कि सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक विशाल सैन्य लेकर सुदूर दक्षिण पर आक्रमण किया और मद्रास तथा मैसूर के प्रदेशों तक अपना अधिकार स्थापित किया। उसने सिल्यूकस नामक सेनानी को युद्ध में पराजित किया और उससे काबुल, हिरात, कन्धार और बिलोचिस्तान के प्रान्त ले लिये। सिल्यूकस को अपनी पुत्री को चन्द्रगुप्त के साथ ब्याहना भी पड़ा। इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य बहुत विशाल हो गया। इतिहासकार स्मिथ ने ठीक लिखा है "दो हजार वर्षों से अधिक पहले भारत के प्रथम सम्राट ने उस 'वैज्ञानिक सीमा' को प्राप्त किया जिसके लिये उसके ब्रिटिश उत्तराधिकारी व्यर्थ में आहें भरते रहे, और जिसे सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य कभी पूर्णतया अपने अधिकार में न कर सके।" चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने सुयोग्य मंत्री चाणक्य की सहायता से जिस शासन-पद्धति की स्थापना की, वह निस्सन्देह उच्च कोटि

की थी। इस शासन पद्धति की स्मिथ और हेवेल नामक इतिहासकारों ने बहुत अधिक प्रशंसा की है। मौर्य साम्राज्य का सब से प्रसिद्ध शासक अशोक था। (२७३, २३७ ईसवी पूर्व)। अशोक भारत के ही नहीं बल्कि विश्व के महान सम्राटों में अपना स्थान रखता है। साम्राज्य के विस्तार, शासन की उदारता, प्रजावत्सलता, हृदय की विशालता, शिल्प कला के विकास और धर्म तथा शिक्षा के प्रचार आदि दृष्टिकोणों से विश्व के इतिहास में भारत का यह सम्राट अद्वितीय है। उसके व्यक्तित्व में संसार के अनेक महान सम्राटों के गुण समन्वित थे। वह न केवल एक महान शासक था अपितु एक दयालु एवं शान्तिप्रिय एवं जीवमात्र से स्नेह रखने वाला साधु पुरुष भी था। उसने कलिंग पर आक्रमण किया और युद्ध में विजय पाई। परन्तु भीषण रक्तपात को देखकर उसके दयालु हृदय पर चोट पहुँची। कलिंग के युद्ध में हत तथा आहत सैनिकों की करुणोत्पादक दुख दशा को देखकर उसके हृदय में दया उत्पन्न हुई और उसने कभी युद्ध न करने की प्रतिज्ञा की। वह बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया और उसने इस धर्म का विदेशों में तथा देश के प्रत्येक भाग में प्रचार करने के लिये अनेक प्रयत्न किये।

यद्यपि अशोक बौद्ध धर्म में दीक्षित तो अवश्य हो गया था, किन्तु उसका धर्म संकीर्ण साम्प्रदायिक धर्म न था, वरन् विस्तृत मानव धर्म था। बौद्ध धर्म के अनुयायी होने पर भी उसने ब्राह्मणों, जैनियों और अन्य सम्प्रदाय वालों के साथ समान व्यवहार किया। उसका धर्म सज्जनों का धर्म था। संयम, भाव शुद्धि, कृतज्ञता, दृढ़भक्ति, पवित्रता, साधुता, दया, दान, सत्य, माता-पिता, गुरु और बड़े-बूढ़े की सेवा-सुश्रूषा तथा ब्राह्मण एवं बन्धु-बान्धवों का उचित सम्मान ये ही उसके उपदेश थे। अशोक ने धार्मिक सहिष्णुता पर जोर दिया। शिला लेख १२वें पर वह लिखवाता है: दूसरे धर्मों का किसी न किसी कारणवश सम्मान अवश्य करना चाहिये, नहीं तो मनुष्य अपने धर्म को हानि पहुँचाता है, और दूसरे धर्मों की भी हानि करता है,

अशोक ने प्रजा के कल्याणार्थ अनेक कार्य किये। मनुष्यों और पशुओं के लिये उसने राजमार्गों के दोनों ओर छायादार वृक्ष लगवाये। प्रत्येक मील की दूरी पर धर्मशालायें बनवाईं। मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा के लिये उसने अलग अलग औषधालय खोलवाये। पशुओं की चिकित्सा का यह प्रयत्न विश्व इतिहास में सर्वप्रथम अशोक ने ही किया। उसने साम्राज्य में प्रतिवेदक नियुक्त कर रक्खे थे। ये प्रतिवेदक उसको जनता की परिस्थितियों से सूचित किया करते थे। उसने अपने शिलालेख नं० ६ में लिखा था, "अब मैंने यह प्रबन्ध कर दिया है कि प्रत्येक समय और प्रत्येक स्थान में चाहे मैं भोजन कर रहा होऊँ, चाहे मैं शयनागार में रहूँ या अपने अन्तःपुर में रहूँ, या और कहीं अपनी गाड़ी में होऊँ या प्रमोद उद्यान में, सरकारी सूचना देने वालों को सदा प्रजा के कामों की सूचना मुझे देनी चाहिये, जिसको करने के लिये मैं सदैव ही प्रस्तुत रहता हूँ।" अशोक के लोक कल्याण के इन कार्यों से तथा उसकी धार्मिक उदारता से प्रभावित होकर एच० जी० वेल्स लिखते हैं, "लगभग अट्ठाइस वर्षों तक अशोक ने बुद्धिमत्ता पूर्वक मनुष्यों की वास्तविक आवश्यकताओं के लिये कार्य किया। इतिहास के पृष्ठों में जिन सैकड़ों राजाओं और महान राजाओं के नाम आते हैं उनमें केवल अशोक का ही नाम एक सितारे की भांति चमकता है। उसके नाम का सम्मान वोल्गा से लेकर जापान तक आज भी किया जाता है। चीन तिब्बत और भारत में जहां से बौद्ध धर्म का लोप हो गया है उसकी महानता की रक्षा की जाती है। आज जितने लोग उसकी स्मृति को बनाये हुये हैं उतने लोगों ने कान्स्टेन्टाइन और शार्लमैन के नाम भी न सुने होंगे।"

अशोक के उत्तराधिकारी दुर्बल निकले इसलिये अन्तिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ को मारकर पुष्य मित्र शुंग नामक ब्राह्मण सेनापति ने शासन सूत्र अपने हाथों में ग्रहण किया। उसने आक्रमणकारी यवनों को जो माध्यमिक, साकेत और चित्तौर तक चढ़ आये थे पराजित किया और पंजाब प्रान्त तक ढकेल दिया। उसके शासन-काल में संस्कृत भाषा की बहुत उन्नति हुई। पाणिनि के अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखने वाले पतंजलि इसी युग में हुये थे। इसी समय दक्षिण में सातवाहनों का उदय हुआ। इन राजाओं की राज्यसीमा में काठियावाड़ भी सम्मिलित था। दक्षिण में

गोदावरी और तुंगभद्रा नदी तक इनका राज्य फैला था। इस वंश का सब से प्रमुख शासक गौतमीपुत्र शातकर्णि था उसने अपने भुजबल से शतवाहन वंश के गौरव की फिर से प्रतिष्ठापना की। शक क्षत्रपों को अपने राज्य से भगाक मालवा तथा गुजरात में भी अपना अधिकार जमाया। इसी समय में बाख्त्री यवनों ने देश पर आक्रमण किया था पुष्यमित्र शुंग ने उसको पंजाब तक पीछे ढकेल दिया था, इसका उल्लेख किया गया है। कुछ विदेशी जातियां उत्त भारत के कुछ प्रदेशों पर अपना अधिकार जमाने में समर्थ हो सकी। विदेशी शासकों में कनिष्क और मिनिनेन्दर उल्ले खनीय हैं जो बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये थे। कनिष्क ने बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये समस्त बौद्धों की ए महासमिति बुलाई थी। उसकी राज सभा में अश्वघोष नामक महाकवि तथा नागर्जुन और वसवन्धु जैसे सुविख्या दार्शनिक रहते थे।

तीसरी शताब्दी के अन्त में भारत की विदेशी सत्ता भी अपनी अंतिम साँसें ले रही थी। यौधेय तथा मालव नाम गणतन्त्रों और वाकाटकों तथा भारसिवों ने कुषाण और शक क्षत्रपों की शक्ति का उन्मूलन किया और अप विजय पताका फहराई। इस प्रकार से विदेशी सत्ता का अन्त तो हो गया था परन्तु एक सुसंगठित शासन प्रणाली स्थापना नहीं हो पाई, क्योंकि यौधेय मालवा और मद्रों की राज्य सीमायें अपने-अपने ही देश तक थीं। कदाचित उनव उद्देश्य एक ऐसे साम्राज्य की स्थापना करना न था जो विदेशी आक्रमणों का सामना करे और देश में शान्ति तथा सुव्यवस्था की स्थापना करे। यह महत्त्वपूर्ण कार्य गुप्तों ने किया। गुप्त वंश का उत्थान भारतीय इतिहास स्वर्णयुग कहा जाता है। हमें इसके अभ्युदय के पहिले भारत में जो अराजकता और अनैक्य दिखाई पड़ती है उसव सम्राट समुद्रगुप्त ने अन्त कर दिया। उन्होंने गणतन्त्रों को भी अपने अधीन किया और उत्तरी भारत के समस्त देशों को पराजित कर सम्पूर्ण उत्तरी भारत को एकता के सूत्र में आबद्ध किया। उसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पिता के विजय कार्य को और आगे बढ़ाया। उसने मालवा, गुजरात और काठियावाड़ को जीतकर गुप्त साम्राज्य की प्रतिष्ठ बढ़ा दी। इस प्रकार हमारे देश का एक बहुत बड़ा भाग एकता के सूत्र में ग्रथित हो गया और देश ने एक अभिन राष्ट्रीय चेतना का अनुभव किया। विदेशियों के चंगुल से मुक्त होने पर देश के राजनीतिक जीवन में एक नवीन स्पन्द का संचार हुआ। यद्यपि यह राजनीतिक एकता एक शताब्दी (३६० ई० से ४६० ई०) से अधिक टिक न सकी क्यों कि हूणों के आक्रमणों का सामना बाद के गुप्त नरेश बहुधा सफलतापूर्वक न कर सके, तथापि गुप्त वंश के शास काल में भारत की संस्कृति का इतना विकास हुआ कि इसे स्वर्ण युग कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है।

गुप्तकाल में भारतीय संस्कृति की अभूतपूर्व उन्नति हुई। सम्राट समुद्रगुप्त और उसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय केवल वीर विजेता ही न थे वरन् विद्वानों कवियों और कलाकारों के आश्रयदा थे। सम्राट समुद्रगुप्त तो स्वयं कवि था और वीणावादन में कुशल था। सम्राट चन्द्रगुप्त द्विती की राजसभा में महाकवि कालिदास, वराहमिहिर तथा अन्य जगतविख्यात विद्वान और वैज्ञानिक रहते थे। संस्कृ भाषा देश की राष्ट्रभाषा हो गयी थी। राज्य का सारा कार्य इसी भाषा के द्वारा होता था। विचार प्रकाशन के लिये एक सामान्य भाषा संस्कृत हो जाने से सांस्कृतिक एकता उत्पन्न हो गई और बौद्ध विद्वान भी अपने ग्रन्थ संस्कृत में ही लिखने लगे। कला की ऐसी उन्नति हुई, जोकि पहले कभी नहीं हुई थी, और कदाचित बाद में भी नहीं हुई। एक कला समालोचक का कथन है कि गुप्तकाल में भारतीय कला का सर्वोत्तम रूप देखने को मिलता है। गुप्त नरेशों ने अपनी समस्त जनता को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की। प्रोफेसर राधाकुमुद मुकर्जी का विचार है कि गुप्त राजाओं ने भारत धर्म की प्रत्येक शाखा के साथ निष्पक्षता का व्यवहार किया। देश में जनता भी सुखी थी। फाह्यान के यात्रा-विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शासन उदारता के सिद्धान्तों पर आधारित था, फिर भी चोरी इत्यादि घटनायें बहुत कम होती थीं। लोगों का नैतिक प्रतिमान (Moral Standard) काफी ऊँचा था, वे लोक-कल्याण के कार्यों में एक दूसरे से स्पर्द्धा करते थे। देश धनधान्य से परिपूर्ण था। फाह्यान एक औषधालय को देख कर जहाँ कि लोगों को निःशुल्क औषधि दी जाती थी, चकित हो गया था। ई० बी० हेवेल ने लिखा है कि एक निष्पक्ष इतिहासकार

यह सोचेगा कि ब्रिटिश शासन की सब से बड़ी सफलता इसी बात में होगी कि वह भारत को वे सब वस्तुयें प्रदान कर दे जिनका उपभोग ईसा की चौथी शताब्दी में भारतीय जनता करती थी।''

गुप्त-काल के भारत की सांस्कृतिक जीवनी-शक्ति इतनी अधिक थी कि भारतीय संस्कृति का प्रभाव गंगा की उपकंठ भूमियों से चलकर निकटवर्ती द्वीपों जावा, सुमात्रा, आदि में फैल गया। चीन में भी भारत के बौद्ध संघों ने भारत का सांस्कृतिक प्रभाव फैलाया। यदि आज हमें भारत तथा चीन में कोई सांस्कृतिक एकता दिखाई पड़ती है, यदि भारतीय गौरव की सूचना देने वाले विशाल मन्दिर तथा सुन्दर कला कृतियाँ इन्डोचीन सुमात्रा और बोर्नियो में हमें प्राप्त होती हैं तो इस बात का बहुत बड़ा श्रेय गुप्त-काल को ही दिया जा सकता है। ए० के० कुमारस्वामी ने लिखा है—"लगभग वह सब जिसका सम्बन्ध एशिया की एक सामान्य आध्यात्मिक चेतना से है, जिसके द्वारा उसकी (एशिया) विभिन्नताओं का एकीकरण किया जा सकता है, वह गुप्तकालीन भारत की ही उत्पत्ति है।''[1]

गुप्त-काल के पतन के उपरान्त देश फिर छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। थानेश्वर के वर्द्धन वंश ने एक सुसंगठित शासन की स्थापना की। इस वंश का सब से प्रमुख शासक हर्ष था। हर्ष निस्सन्देह प्राचीन भारत के सर्वोत्कृष्ट शासकों में से था। यद्यपि एक कठिन स्थिति में उसके ऊपर दो राज्यों—कन्नौज तथा थानेश्वर का भार आ पड़ा था, तथापि उसने सम्पूर्ण उत्तरी भारत में इन दोनों राज्यों की प्रतिष्ठा स्थापित की। वह एक उदार तथा न्याय-प्रिय शासक था और नियम पूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन करता था। उसने समस्त भारत को ऐक्य की शृंखला में आबद्ध करने की भावना से दक्षिणापथ के सम्राट पुलकेशिन द्वितीय पर आक्रमण किया। परन्तु वह पराजित हुआ। एक महान योद्धा होने के साथ साथ हर्ष उच्चकोटि का विद्वान तथा विद्वानों का आश्रयदाता था। उसकी राजसभा में बाण भट्ट, मयूर और दिवाकर जैसे सुप्रसिद्ध विद्वान रहते थे। चीनी यात्री ह्वानच्वांग ने हर्ष के गुणों की बहुत प्रशंसा की है। हर्ष का धार्मिक दृष्टिकोण बहुत उदार था। वह वैष्णवों, शैवों और बौद्धों सब के साथ समानता का व्यवहार करता था। हर्ष उच्चकोटि का नाटककार था। उसके द्वारा लिखित नाटकों को हम आज भी पढ़ सकते हैं।

हर्ष हिन्दू भारत का अन्तिम सम्राट था। उसकी मृत्यु के बाद उत्तरी भारत में अनेक-छोटे छोटे राजपूत राज्य स्थापित हो गये, जो आपस में लड़ा करते थे। यह काल भारतीय इतिहास में राजपूत युग के नाम से विख्यात है। इन राज्यों में कन्नौज का राज्य सब से प्रमुख था। इसका शासक यशोवर्मन विद्वानों तथा कवियों का आश्रयदाता था और वीर तथा प्रतापी नरेश था। उसके राजदरबार में संस्कृत का विख्यात नाटककार भवभूति रहता था। इसके अतिरिक्त गुर्जर प्रतिहारों ने कन्नौज पर अपना अधिकार जमाया और बाद में कन्नौज के राजसिंहासन पर गहरवारों का अधिकार हो गया। अजमेर के चौहान, बुन्देलखंड के चन्देले, मालवा के परमार, गुजरात के चालुक्य अथवा सोलंकी और बंगाल के सेन आदि राजवंश थे। इस युग में कला और साहित्य का विकास पर्याप्त मात्रा में हुआ यद्यपि देश में राजनीतिक एकता का अभाव था। इन राज्यों का अन्त बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में मुसलमानों ने किया। राजा भोज स्वयं भी कवि था। दक्षिण के होयसल राजाओं ने कला की उन्नति करने का काफी यत्न किया।

प्राचीन भारत की शासन व्यवस्था

प्राचीन भारत में हमें राजतन्त्रात्मक और गणतन्त्रात्मक दोनों ही शासन प्रणालियाँ प्रचलित दिखाई देती हैं। हम आप को यह बता ही आये हैं कि महात्मा बुद्ध के समय में राजतन्त्रात्मक और गणतन्त्रात्मक दोनों प्रकारों के राज्य विद्यमान थे। प्राचीन भारत में राजत्व का आदर्श अत्यन्त उत्कृष्ट था। यद्यपि राजाओं के दैवी अधिकार का स्मृतिकार समर्थन करते थे, तथापि वह कभी निरंकुश और स्वेच्छाचारी नहीं होने पाता था। उसे आर्यावर्त के नियमों का पालन करना पड़ता था। यदि मनु महाराज ने राजा को "प्रत्यक्ष देवता" मानने का आदेश दिया

[1] A. K. Coomaraswamy—History of Indian and Indonesian Art, Page 91

है और यहाँ तक लिख दिया कि यदि राजा बालक है तो भी उसे छोटा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि वह मनुष्य रूप में देवता है तो उन्होंने राजा का भी परम धर्म लोकानुरंजन ही बताया है। 'राजा प्रकृतिरञ्जनात्।'' अत्याचारी नृपति की उन्होंने तीव्र शब्दों में निन्दा की है और उसके लिये यहाँ तक कि प्राणदंड का विधान भी किया है। अर्थशास्त्र में भी राजा के दैवी अधिकारों के सिद्धान्त का ही पोषण किया गया है, परन्तु राजा के लिये स्पष्ट आज्ञा है कि "प्रजा जनों की प्रसन्नता में ही, राजा की प्रसन्नता निहित है, उनके कल्याण में उसका कल्याण। जो कुछ उसे रुचिकर प्रतीत होता है उसे वह उत्तम नहीं समझेगा, वरन् जो कुछ उसकी प्रजा के लिये कल्याणकारी है उसे वह उत्तम समझेगा।"[1] भारत के साहित्य मे भी हमें राजत्व के उच्चादर्श का परिचय प्राप्त होता है। महाकवि कालिदास ने महाराज दिलीप के लिये लिखा है कि प्रजाओं की रक्षा विनय शिक्षा तथा उनका भरण पोषण करने के कारण वह उनका पिता था, उनके (प्रजाजनों के) पिता तो केवल जन्मदाता ही थे।

"प्रजानां विनयाधानात् रक्षणात् भरणादपि,
स पिता पितरस्तासा केवल जन्म हेतवः।"

इतना ही नहीं वह प्रजा से जो कर वसूल करता था उसका प्रयोग भी वह प्रजा के कल्याण के लिये ही करता था, जिस प्रकार सूर्य समुद्र के जल को केवल सौ गुना करके लौटाने के लिये ही ग्रहण करता है,

"प्रजानामेव भूत्यर्थंसताभ्यो बलिमग्रहीत।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुं आदत्ते हि रसं रविः।"

इस बात के लिये पर्याप्त प्रमाण है कि अधिकांश हिन्दू नरेश इन उत्कृष्ट सिद्धान्तों के अनुसार ही शासन करते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन कुछ कठोर अवश्य था, किन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि उसका शासन विदेशियों को हराकर स्थापित किया गया था और उसके पूर्ववर्ती शासकों की असावधानी से देश में जो अराजकता फैल गई थी, उसका अन्त एक कठोर दंड नीति का आश्रय ग्रहण करने से ही हो सकता था। परन्तु उसके राज्य में भी साधारणतया प्रजा सुखी और सम्पन्न थी। मेगस्थनीज के लेखों से पता चलता है कि कृषकों, कारीगरों और मजदूरों की सुविधाओं का ध्यान रक्खा जाता था और राज्य उनके कष्ट-निवारण के लिये प्रयत्नशील रहा करता था। अशोक और हर्ष जैसे प्रजावत्सल सम्राट प्रत्येक देश और प्रत्येक युग में नहीं उत्पन्न हो सकते। उनकी दयालुता और प्रजावत्सलता को देखकर प्रजातन्त्र के युग में भी हम कुछ क्षण के लिये विश्वास कर बैठते हैं कि राजतन्त्रात्मक शासन प्रणाली सर्वश्रेष्ठ और आदर्श शासन-व्यवस्था है। अशोक के शिला और स्तम्भ लेख बार-बार यह याद दिलाते हैं कि वह अपनी प्रजा के भौतिक कल्याण एवं आध्यात्मिक उन्नयन के लिये सचेष्ट रहता था। फाहियान और ह्वेनसांग के यात्रा विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके समय में शासन की आधारशिला प्रजा की कल्याण सम्बन्धिनी भावना ही थी। हर्ष भेष बदल कर जनता की सच्ची परिस्थिति को जानने के लिये घूमा करता था, और यात्रायें किया करता था। इन यात्राओं में वह गुणवानों को पुरस्कृत करता था और दोषियों को दंड देता था।

प्राचीन भारत की शासन-प्रणाली में प्रजातन्त्रात्मक तत्वों का अभाव न था। राजा को परामर्श देने के लिये

---

[1] प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां च प्रियं हितम्॥

बहुधा मन्त्रिमंडल हुआ करते थे। इन मंत्रियों की सलाह मानने के लिये राजा किसी प्रकार बाध्य तो न था तथापि वह उनके निर्णयों का उल्लंघन करना उचित नहीं समझता था। प्रान्तीय शासन की व्यवस्था भी सन्तोषजनक थी। प्रान्तों का शासन करने के लिये गवर्नर के समान एक अधिकारी हुआ करता था। प्रान्तों को भी जिलों में बाँट दिया जाता था। नगर शासन की व्यवस्था उत्कृष्ट थी। नगरों में नगर पालिकायें होती थी, जिनका शासन जनता द्वारा चुने हुये मन्त्रियों के द्वारा होता था। ई० बी० हेवेल ने चन्द्रगुप्त की राजधानी पाटलिपुत्र की अधिक प्रशंसा की है। उसने लिखा है—"ऐसा प्रतीत होता है कि पाटलिपुत्र सामाजिक विज्ञानों के सर्वोत्तम सिद्धान्तों के अनुसार ही पूर्णतया शासित किया जा रहा था।" इसी प्रकार ग्रामों को भी शासन के क्षेत्र में स्थानीय स्वाधीनता प्राप्त थी। बहुधा केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारें ग्रामों के शासन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करती थीं। गाँवों में आधुनिक पंचायतों के सिवा जनता द्वारा निर्मित संस्थायें होती थी, जिनको लगभग शासन सम्बन्धी सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त होते थे। स्थानीय शासन की व्यवस्था दक्षिणी भारत में विशेष कर चोलों के शासन में विशेषरूप से विकसित थी। ग्राम पंचायतों के शासन कार्यों में गाँव के सभी लोग भाग लिया करते थे। डा० विल डुरेन्ट का विचार है कि भारत की ग्रामीण शासन-व्यवस्था उन सब प्रजातन्त्रात्मक शासन-पद्धतियों से मिलती-जुलती है, जिनका विकास संसार के विभिन्न भागों में हुआ था। गाँवों में स्थानीय शासन की व्यवस्था का प्रभाव ग्रामीण जनता पर हितकर था। ग्रामीण लोगों में स्वाभिमान और स्वावलम्बन के भाव विद्यमान थे। डा० रीज डेविड्स ने ठीक लिखा है—"वे मजदूरी पर काम करना अपमान समझते थे और केवल घोरतम आपत्ति ही उन्हें ऐसा करने के लिये बाध्य कर सकती थी। उन्हें अपनी स्थिति का, अपने परिवार का और अपने गाँव का गर्व था और वे अपने ही वर्ग तथा ग्राम के मुखिया द्वारा शासित किये जाते थे, जिनको कदाचित वे अपने ही रीति-रिवाजों और आदर्शों के अनुकूल चुनते थे।"[1]

प्राचीन भारत में गणतन्त्र भी काफी सुशासित अवस्था में थे। उनकी शासन-पद्धति का विवरण हमें बौद्धधर्म ग्रन्थों से, जिनमें बौद्ध संघ की कार्य-पद्धति का उल्लेख मिलता है, हुआ है। ये बौद्ध संघ गणतन्त्रों की ही भाँति प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों पर आधारित थे। डा० काशी प्रसाद जायसवाल ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "हिन्दू पालिटी" में यह दिखला दिया है कि लिच्छवि आदि गणतन्त्रों की शासन-प्रणाली बौद्ध संघों के विधानों के ही अनुसार थी। संस्थागारों में इन गणतन्त्रों की बैठकें हुआ करती थीं। प्रत्येक बैठक कोरम (उचित संख्या) पूरी होने पर ही होती थी। प्रस्ताव पास करने के पहले उसकी सूचना दी जाती थी। फिर प्रस्ताव प्रस्तुत किया जाता था। प्रस्ताव को प्रतिज्ञा कहा जाता था। प्रस्ताव तीन बार पढ़े जाते थे। प्रस्तावों का निर्णय मतों द्वारा होता था। मतों को छंद कहते थे। मतदान टिकटों (शलाकाओं) द्वारा होता था। ये गणतन्त्र कई मामलों में वर्तमान प्रजातन्त्रात्मक पद्धति से मिलते-जुलते थे और बहुत से लोगों को यह जान कर आश्चर्य होगा कि बौद्धों की सभाओं में दो हजार या इससे भी अधिक वर्ष पूर्व हमारी आधुनिक व्यवस्थापिका सभा के तत्व पाये जाते थे। सभा की सम्मान रक्षा एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति द्वारा जो हमारे हाउस आफ कामन्स के स्पीकर का अपरिपक्व रूप था, की जाती थी। एक दूसरा अधिकारी भी नियुक्त किया जाता था, जिसका यह कर्तव्य था कि वह आवश्यकता पड़ने पर इस बात को देखे कि कोरम पूरा हो जाये। यह हमारी पद्धति के चीफ ह्विप का समान रूप था। जो सदस्य कार्य प्रारम्भ करना चाहता था वह प्रस्ताव द्वारा करता था। तब प्रस्ताव पर बहस होती थी। कभी-कभी यह केवल एक ही बार होता था और कभी-कभी तीन बार। इस प्रकार से हमारी व्यवस्थापिका सभा के इस नियम का पूर्वाभास मिलता है कि बिल के कानून बनाये जाने के पहिले तीन बार पढ़ा जाना चाहिये। यदि बहस से मत विरोध प्रकट होता था तो मामले का निर्णय बहुमत द्वारा होता था। मतदान शलाकाओं द्वारा होता था।"[2] महात्मा बुद्ध ने अजातशत्रु के मन्त्री वस्सकार के यह पूछने पर

१ Buddhist India

२ The Legacy of India की भूमिका

कि क्या लिच्छवियों पर विजय प्राप्त की जा सकती है, उत्तर दिया था कि जब तक लिच्छवि अपने गणतन्त्र के नियमों का पालन करते रहेंगे, तब तक उनको कोई भी शक्ति जीत नहीं सकती। वे तब तक उन्नति ही करते जायेंगे, अवनति नहीं। इस कथन से यह स्पष्ट है कि ये गणतन्त्र बड़े शक्तिशाली होते थे और इनका शासन बड़ी ही कुशलता-पूर्वक किया जाता था। मालव, यौधेय, आदि गणतन्त्रों की शासन-प्रणाली का कोई विशेष उल्लेख हमें नहीं प्राप्त होता।

प्राचीन भारत का धार्मिक जीवन

हम यह पहले बता आये हैं कि उत्तर वैदिक काल में वैदिक काल का सरल और आडम्बर विहीन धर्म जटिल और कर्मकाण्ड प्रधान हो गया था। लोग कर्मकांडों से कुछ ऊब से गये थे और उनसे विमुक्त होने का अनुसन्धान भी कर रहे थे। साधारण लोग ब्राह्मण धर्म के खर्चीले और जटिल कर्मकांडों को नहीं कर सकते थे और उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धान्त उनकी समझ के बाहर थे। इसीलिये वे पूजा और उपासना के सादे ढंग की इच्छा कर रहे थे। जीवन के दोषों से बचने के लिये सरल साधन ढूँढ रहे थे। भारत में भी छठवीं शताब्दी ईसवी पूर्व बौद्धिक अशान्ति की शताब्दी थी। यह विद्रोह का एक युग था। प्राचीन वस्तुओं और नियमों के प्रति अविश्वास, और विरोध का काल था। ठीक इसी समय साधारण जनता की आध्यात्मिक पिपासा की परितृप्ति एवं धर्म के सुधार करने के लिये देश में महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध का आविर्भाव हुआ। ये दोनों महापुरुष क्रमशः जैन धर्म और बौद्ध धर्म के प्रचारक थे।

जैन धर्म के सिद्धान्त

इस धर्म के समस्त आदेश और आचार अहिन्सा और दया के आधार पर स्थित हैं। जैन धर्म में षट्जीवकाय अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस (प्राणी) ये छः प्रकार के जीव माने गये हैं। इनकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये। जैनी अनशन व्रत द्वारा प्राण छोड़ने को अपना धार्मिक कर्तव्य समझते थे। जैन धर्म में उग्र तपस्या को मोक्षप्राप्ति का साधन बताया गया है। सम्यक ज्ञान, सम्यक चरित्र और सम्यक दर्शन ये जैन धर्म के त्रिरत्न हैं। अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त हैं। जैन मत के अनुसार मन, वाणी और कर्म की पवित्रता, अहिंसा, दया, तृष्णा त्याग तथा आत्म संयम के कठोर नियमों से मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। जैन धर्म में यज्ञों का विरोध किया गया है और वेदों को प्रामाण्य मानने में भी अस्वीकृति प्रकट की गई है। जैनियों के लिये अहिंसा का महत्व बहुत अधिक है। प्राचीन भारत में जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या काफी थी, विशेषकर गुजरात और पश्चिमी भारत में। परन्तु आजकल भारत में जैनियों की संख्या लगभग बारह लाख है।

गौतम बुद्ध का जीवन और उनकी शिक्षायें

गौतम बुद्ध का प्रारम्भिक नाम सिद्धार्थ था। उनका जन्म ईसा पूर्व ५६३ के लगभग लुम्बिनी वन में हुआ था। उनके पिता शुद्धोधन शाक्य वंश के क्षत्रिय थे। सिद्धार्थ बाल्यावस्था से ही विचारशील और गम्भीर प्रकृति के थे। एक रोगी वृद्ध और मृतक को देखकर उनके हृदय में संसार से विराग उत्पन्न हो गया और उन्होंने अपनी पत्नी तथा पुत्र को सोता हुआ छोड़कर संसार त्याग दिया। उन्होंने तपस्या द्वारा अपने शरीर को बहुत कष्ट दिया किन्तु इससे उनकी आत्मा को शान्ति नहीं प्राप्त हुई। एक दिन बोद्ध गया में नैरंजना नदी के तट पर पीपल वृक्ष के नीचे समाधि लगाकर बैठने से उन्हें ज्ञान का अनुभव हुआ। उनको यह अनुभव हुआ कि मोक्ष प्राप्ति के लिये तपस्या व्यर्थ है। इसी समय से वे बुद्ध कहलाये। बाद में वे अपने उपदेशों का प्रचार करने के लिये सारनाथ गये, और घूम घूम कर लोगों को शिक्षायें दीं। ४८३ ईसा पूर्व के लगभग कुशी नगर में उन्होंने ८० वर्ष की अवस्था में अपना शरीर त्याग दिया।

महात्मा बुद्ध ने उपदेश दिया कि मनुष्य के हृदय की तृष्णायें ही उसके दुख का मूल कारण हैं। तृष्णा का नाश हो जाने पर उसे मोक्ष प्राप्त हो सकता है। उन्होंने सब जीवों पर दया करने का, ममता, वात्सल्य और करुणा अहिन्सा व्रत के पालन पर जोर दिया। गौतम बुद्ध के उपदेशों का मूल आर्य सत्य चतुष्ट्य कहलाता है। ये चारों सत्य क्रम से दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग कहे जाते हैं। बुद्ध का विश्वास था कि संसार दुखमय है। दुःख निवारण के लिये

तृष्णाक्षय ही सर्वोत्तम उपाय है। तृष्णाक्षय से मनुष्य निर्वाण प्राप्त कर सकता है। निर्वाण प्राप्त करने के लिये मनुष्य को 'अष्टांग' मार्ग का अनुगमन करना चाहिये। उन्होंने बताया कि मनुष्य को न तो भोग प्रधान जीवन बिताना चाहिये, और न तपस्या द्वारा शरीर को कष्ट ही देना चाहिये। बीच के मार्ग पर चलना चाहिये। अष्टांग मार्ग के ये आठ अंग हैं (१) सम्यक् दृष्टि —(२) सम्यक् संकल्प(३) सम्यक् वाक् (४) सम्यक् कर्म, (५) सम्यक् जीवन (६) सम्यक् व्यायामक, (७) सम्यक् स्मृति, (८) सम्यक समाधि। बुद्ध ने कर्मवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, और कर्म को ही बन्धु तथा परिजन बताया। मनुष्य जैसा कर्म करता है वैसा ही फल भोगता है इस सिद्धान्त का उन्होंने प्रतिपादन किया। गौतम बुद्ध ने किसी नवीन धर्म की सृष्टि नहीं की, वरन् वैदिक धर्म की बातों को सुधार कर उन्हें कुछ नवीन रूप में जनता के सम्मुख रक्खा। उनका तत्व-ज्ञान उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धान्तों पर ही आधारित है।

महात्मा बुद्ध की मृत्यु के बाद उनके शिष्यों ने इस धर्म का प्रचार किया। थोड़े ही समय में देश के बहुत बड़े भाग में यह फैल गया, और अनेक राजाओं ने इसे राजाश्रय प्रदान किया। अशोक ने इसे दूर तक फैलाने का प्रयत्न किया। कनिष्क के समय में बौद्धधर्म दो सम्प्रदायों में बँट गया—(१) हीनयान (२) महायान। हीनयान, सम्प्रदाय के लोग महात्मा गौतम बुद्ध की प्रतिमा बनाने के विरोधी थे, जब कि महायान वालों ने बुद्ध को भगवान मान कर उनकी पूजा आरम्भ किया। विदेशों में महायान बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। शनैः शनैः बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा और बारहवीं शताब्दी के बाद से बौद्ध धर्म का भारतवर्ष से लोप हो गया।

अशोक की मृत्यु के उपरान्त ब्राह्मण धर्म ने अपना मस्तक पुष्यमित्र शुंग के शासन-काल में फिर से ऊँचा किया। गुप्त वंश के शासन में भी ब्राह्मण धर्म की उन्नति हुई। ब्राह्मणों ने महात्मा बुद्ध को दशावतार में सम्मिलित कर

ब्राह्मण धर्म

लिया, जिससे जनता का आकर्षण उसके प्रति बढ़ गया। ब्राह्मण धर्म भारत वर्ष से कभी लुप्त नहीं होने पाया, कभी-कभी उसका प्रचार कम अवश्य हो गया। परन्तु अवसर मिलने पर इसने अपनी खोयी हुई शक्ति फिर से प्राप्त कर ली। कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य के प्रयत्नों से देश में ब्राह्मण धर्म का प्रचार हुआ। राजपूत युग में इस धर्म की काफी उन्नतिशील अवस्था थी क्योंकि लगभग सभी राजपूत नरेश इसी धर्म के अनुयायी थे।

यद्यपि भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का प्रभाव किसी समय बहुत बढ़ गया था, तथापि साधारण जनता इस धर्म को नहीं मानती थी। वस्तुतः जनता जिस धर्म को मानती थी, उसे हम न तो ब्राह्मण धर्म कह सकते हैं और न बौद्ध धर्म।

लोक धर्म

उस धर्म में पशु पूजा, वृक्ष पूजा, जादूगरी और मंत्र इत्यादि का समावेश था। लोग ज्योतिषियों को अपना भविष्य बताने के लिये धन देते थे। महात्मा बुद्ध के समय में भी यह धर्म लोक प्रचलित था। उन्होंने स्वयं स्थान-स्थान पर अन्धविश्वासों का बाहुल्य होने के कारण लोक धर्म की निन्दा की है। अशोक के समय में भी यह प्रचलित था और उसने अपने शिलालेखों में इस बात का उल्लेख किया है कि उसके समय में स्त्रियाँ भाँति-भाँति की धार्मिक क्रियायें करती थीं। नवीं शताब्दी में भारतीय धर्म ने तान्त्रिक रूप धारण कर लिया। वैदिक कर्मकांड, मन्दिर मूर्ति-पूजा के साथ बहुत से वाममार्गी और गुप्त समाजों ने जन्म लिया। इनमें वज्रयान वाममार्ग आदि प्रसिद्ध थे। बहुत से समाजों में पंच-मकारों मांस, मत्स्य, मदिरा, मैथुन और मुद्रा का सेवन होने लगा। सर्वसाधारण के धार्मिक जीवन में पौराणिक और तान्त्रिक तत्वों की प्रधानता हो गई। जनता का बुद्धिमान वर्ग एकेश्वरवाद को ही मानता था। मूर्ति पूजा का प्रचार उत्तर वैदिक काल में ही हो चुका था किन्तु गुप्त-काल में विशेष रूप से हुआ और इसी काल से देवी देवताओं के मन्दिर बनवाये जाने लगे।

भारत में कृषि ही सदैव से उसके आर्थिक जीवन का आधार रही है परन्तु कृषि के अलावा अन्य उद्योग धन्धे वैदिक काल से ही प्रचलित रहे हैं। जातकों के अध्ययन से हमें ईसा की सातवीं और छठी शताब्दी पूर्व की औद्योगिक

और व्यापारिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है। इस समय तक विभिन्न उद्योग धन्धों की श्रेणियां बन चुकी थीं। इन श्रेणियों का देश के आर्थिक जीवन में विशेष महत्व था। डा० फिक का कथन है कि व्यापारिक संघ, जो कुछ तो आर्थिक कारणों से बने थे, कुछ पूंजी के अच्छे ढंग से प्रयोग और आदान प्रदान करने की सुविधाओं के कारण और कुछ अपने वर्ग के कानूनी हितों की रक्षा के लिये, भारतीय संस्कृति के प्रारम्भिक काल में ही बन चुके थे। जातकों में लिखा है कि कारीगरों के अठारह संघ थे। लेकिन उनमें सिर्फ चार के ही नाम बढ़इयों स्वर्णकारों चर्म का काम करने वालों तथा रंग साजों के गिनाये गये हैं। रीज डेविड्स ने उन सब की एक सूची तैयार की है, जो निम्नलिखित है :—बढ़ईगिरी का काम करने वाले, (२) धातुओं का काम करने वाले, (३) पत्थरों का काम करने वाले (४) जुलाहे, ये केवल कपड़े ही नहीं बुनते थे, बल्कि बढ़िया रेशमी वस्त्र कम्बल और गलीचे भी तैयार करते थे, (५) चमड़े का काम करने वाले, (६) कुम्हार (७) हाथी दांत का काम करने वाले, (८) रंगरेज, (९) जौहरी, (१०) मछवाहे, (११) कसाई, (१२) शिकार करने वाले (१३) याचक और हलवाई, (१४) नाई और तेल मलने वाले, (१५) मालावार और पुष्प बेचने वाले (१६) नाविक (१७) टोकरी बनाने वाले और (१८) चित्रकार। इनमें से कदाचित शिकारियों का संघ नहीं बना था, बाकी सब उद्योगों के संघ थे। इन संघों को पूग भी कहते थे। संघ के अध्यक्ष को जेट्ठक या प्रमुख कहते थे। इन पूगों को कारीगरी के व्यक्तिगत जीवन में भी हस्तक्षेप करने का अधिकार था। वे कारीगर और उसकी पत्नी में मतभेद होने पर समझौता करा सकते थे। जब एक श्रेणी का दूसरी श्रेणी से कुछ झगड़ा होता था तो उसका निर्णय महासेट्ठी करता था।

आर्थिक जीवन

कृषकों और कारीगरों के अतिरिक्त व्यापारी भी थे जो कि कारवों द्वारा स्थल मार्ग से व्यापार करते थे, और नौकाओं में बैठकर नदियों द्वारा व्यापार की वस्तुयें एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचाते थे। "रेशम के वस्त्र, मलमल और महीन कपड़े, छुरियां, जिरह बख्तर कमख्वाब, जरदोजी के काम, लोइयां, इत्र, फुलेल, दवाइयां हाथी-दांत और हाथीदांत की बनी हुई वस्तुयें, जेवर और सोना (चांदी बहुत कम) ये विशेष वस्तुयें थीं, जिनका व्यापार व्यापारी करते थे।"[1] जातकों में समुद्री यात्राओं का उल्लेख मिलता है जिनसे यह पता चलता है कि इस समय विदेशी व्यापार उन्नत दशा में था।

अर्थशास्त्र के अध्ययन से यह विदित होता है कि मौर्य काल में उद्योग धन्धों और व्यापार की अवस्था पर्याप्त संतोषजनक थी। अर्थशास्त्र में कुछ ऐसे कानून मिलते हैं जिनमे विदेशी व्यापार का उल्लेख प्राप्त होता है। उद्योग धन्धों की श्रेणियों का विवरण हमें अर्थशास्त्र और गुप्तकालीन उत्कीर्ण लेखों से भी प्राप्त होता है जिनसे यह सुस्पष्ट है कि ये श्रेणियां मौर्य और गुप्त सम्राटों के शासन काल में भी विद्यमान थीं। रोम के साम्राज्य की स्थापना से भारत के विदेशी व्यापार को बहुत बड़ा प्रोत्साहन मिला। रोम के साम्राज्य ने व्यापारिक मार्ग को सुगम कर दिया, और भारत की विलास सामग्रियां रोम में बिकती भी बहुत थीं। इसलिये व्यापार की मात्रा बहुत अधिक बढ़ गई, और रोम के इतिहासकार प्लिनी के अनुसार ७००० पौंड के मूल्य के सोने के सिक्के व्यर्थ की पूर्वीय वस्तुओं जैसे इत्र, फुलेल और आभूषण के खरीदने में खर्च हो जाते थे। दक्षिणी भारत में बहुत से सिक्के पाये गये हैं, जो प्लिनी के कथन की सत्यता को सिद्ध करते हैं। पूर्वी देशों से भी व्यापार होता था। व्यापारियों ने ही पूर्वी द्वीप समूह में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रचार किया। ताम्रलिप्ति का बन्दरगाह पूर्वी देशों से व्यापार का केन्द्र था। इस बन्दरगाह के विषय में पेरिप्लस का कथन है :—यह एक विशाल व्यापारिक नगर है जो गंगा के मुहाने के निकट स्थित है। इस का व्यापार प्रमुखतया अत्यन्त महीन तथा सुन्दर वस्त्र का है। एक जापानी लेखक का कथन है कि मुसलमानों के आक्रमण के दिनों तक बंगाल के तट के निर्भीक नाविक प्राचीन समुद्री मार्ग से जाते थे और उन्होंने

[1] Buddhist India by Rhys Davids, Page 61

लंका, जावा और सुमात्रा में अपने उपनिवेश स्थापित कर रक्खे थे। वे चीन और भारत को पारस्परिक व्यवहार में आबद्ध कर देते थे।

भारत की सामाजिक रचना

वैदिक काल में भारतीय समाज की रचना सुदृढ़ सिद्धान्तों पर की गई थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों का निर्माण कार्य विभाजन के आधार पर किया गया था, किन्तु कालान्तर में इनमें जन्म के आधार पर जाति का निर्णय होने लगा, मनुष्य के कर्म के आधार पर नहीं। शूद्रों से कुछ घृणा भी की जाने लगी, और बाद में तो उन्हें लोग काफी घृणा की दृष्टि से देखने लगे। भारतीय समाज में ब्राह्मणों का सम्मान बहुत अधिक होता था, परन्तु उनके आदर का कारण था उनकी विद्वता और चरित्र की शुद्धता। केवल जन्म के आधार पर भी बाद में आदर होने लगा, किन्तु ब्राह्मण शब्द विद्वान और चरित्रवान् व्यक्ति का ही बोधक रहा है। वास्तव में भारतवर्ष ने सदैव ही विद्वानों और दार्शनिकों का सम्मान किया है चाहे वे किसी भी जाति के रहे हों। विद्वता के साथ चरित्र की उत्कृष्टता और विनयशीलता ब्राह्मण का गुण कहा है। महाभारत में युधिष्ठिर और यक्ष के वार्तालाप के प्रसंग में कहा गया है: कोई भी व्यक्ति केवल जन्म के ही आधार पर ब्राह्मण नहीं होता और न वैदिक पांडित्य प्राप्त करने से ही। यह केवल सच्चरित्रता ही है जो किसी को ब्राह्मण बना सकती है। वह शूद्र से भी निकृष्ट है यदि उसका आचरण शिष्ट व्यवहार के नियमों के अनुकूल नहीं है। इस प्रकार के ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा समाज में बहुत अधिक थी। ह्वेनसांग ने लिखा है कि ब्राह्मण सब जातियों में प्रतिष्ठित थे। उस समय भारतवर्ष विदेशियों को 'ब्राह्मण का देश' नाम से ही परिचित था। योद्धाओं और शासकों का भी समाज में आदर था किन्तु ब्राह्मणों और सन्यासियों की अपेक्षा बहुत कम। इस मामले में भारतवर्ष की स्थिति चीन से भिन्न थी, जहां पर सैनिकों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। चीन की भांति भारत ने भी धनवान को कभी उच्च सामाजिक स्तर नहीं प्रदान किया।

भारतीय समाज में वैदिक काल में स्त्री का स्थान आदरपूर्ण था परन्तु बाद में उनका स्थान पहले की अपेक्षा गिर गया। स्मृति युग में यह समझा जाने लगा कि नारी को वैदिक शिक्षा देने से राज्य में गड़बड़ी पैदा होती है, उसे स्वाधीनता का कोई अधिकार नहीं है। सम्पत्ति के मामले में भी स्त्रियों को बहुत कम अधिकार प्राप्त थे। परन्तु प्राचीन भारत में परदे की प्रथा का प्रचलन नहीं था। पत्नी और माता के रूप में नारी का स्थान बहुत सम्मानपूर्ण था। मनु ने स्वयं कहा है, माता का पद पिता से एक सहस्रगुना गौरवशाली है। उन्होंने यह भी कहा है कि जहाँ पर नारी की प्रतिष्ठा की जाती है वहां देवता निवास करते हैं। पाश्चात्य विद्वान भारतीय नारी की स्थिति के विषय में जो कुछ भी कहें और सीता, दमयन्ती, सावित्री आदि नारी आदर्श महिलाओं को वे कविकल्पना से प्रसूत ही क्यों न मानें लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि भारत की नारी अपने सतीत्व और पातिव्रत की भावना के लिये सदैव प्रसिद्ध रही है। उसके समान स्वाभिमान, स्नेहमय और मधुर व्यक्तित्व कदाचित संसार में ढूँढने से भी न मिलेगा। भारत की प्राचीन नारी का ही स्मरण करते हुये स्वामी विवेकानन्द ने कहा था: भारत अपने नारीत्व के सिद्धान्तों को भुला नहीं सकता।

प्राचीन भारत के लोगों की प्रशंसा विदेशी यात्रियों ने बहुत की है। मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारतीय इतने ईमानदार है कि उनको रुपये-पैसे के मामले में गवाहों की आवश्यकता नहीं पड़ती, और वे प्रायः अपने घरों में ताले नहीं लगाते। फाह्यान ने भी लिखा है कि लोगों का व्यवहार बहुत उत्तम है। वे आतिथि सत्कार को अपना कर्तव्य समझते हैं और लोक कल्याण के कामों में परस्पर एक दूसरे से होड़ लेते हैं। ह्वेनसांग ने लिखा है यद्यपि लोगों में गम्भीरता का कुछ अभाव है किन्तु वे सच्चे और ईमानदार हैं। रुपये पैसे के मामले में उनमें धूर्तता नहीं है, और न्याय करने के विषय में उनमें सोच-विचार की भावना बहुत दिखाई पड़ती है: अपने व्यवहार में वे कपटी या धोखेबाज नहीं हैं, और अपनी प्रतिज्ञाओं तथा शपथों का ध्यान रखते हैं। उनके व्यवहार में बड़ी मधुरता और सज्जनता है।

साहित्य

भारत का प्राचीन साहित्य अपनी विविधता, गम्भीरता और विशालता के लिये प्रसिद्ध है। जब तक विदेशी विद्वान संस्कृत भाषा से अपरिचित थे, तब तक इस भाषा के समृद्ध साहित्य की प्रसिद्धि केवल भारत तक ही सीमित थी परन्तु जब विलियम जोन्स ने महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् का अंग्रेजी अनुवाद पाश्चात्य जगत के सामने प्रस्तुत किया तब से योरप और अमेरिका के विद्वानों ने संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया, और वे संस्कृत के उत्कृष्ट साहित्य से बहुत अधिक प्रभावित हुये। अनेक पाश्चात्य साहित्य-समीक्षकों और साहित्यिकों ने संस्कृत के उन्नत साहित्य की अत्यधिक प्रशंसा की है। भारत की साहित्यिक परम्परा ऋग्वेद से आरम्भ होती है। ऋग्वेद में ऊषा की प्रशंसा में जो स्तोत्र कहा गया है उसमें उत्कृष्ट कविता के दर्शन होते हैं। रामायण और महाभारत हमारे देश के दो प्राचीनतम महाकाव्य हैं। भाषा का प्रवाह, वर्णन की मनोरंजक शैली और कल्पना की सजीवता आदि दृष्टियों से ये दोनों काव्य अनुपमेय हैं। इनके लगभग सभी पात्र उदात्त, उन्नत और महान हैं और हमारे मानस-पटल पर वे अपने असाधारण व्यक्तित्व की एक अमिट छाप छोड़ जाते हैं। रामायण के रचयिता वाल्मीकि और महाभारत के प्रणेता वेदव्यास सच्चे अर्थों में कवि थे। उन्होंने मानव-मन की सूक्ष्मतम भावनाओं और गम्भीरतम विचारों को शेक्सपियर के शब्दों में एक "स्थानीय निवास और नाम प्रदान"[1] किया है। चरित्र-चित्रण की कला में दोनों ही महाकवि अतुलनीय हैं, उनके सभी पात्र हमारे जैसे हाड़-मांस के बने जीव हैं, और उनके सामान्य तथा महान्कृत्य हमारी समझ में आ जाने वाले हैं। कहते हैं कि महाभारत में अनेक स्थल प्रक्षिप्त हैं, और यह विचार सत्य भी प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में ऐसी अनेक कथायें और आख्यायिकायें आ गई हैं जिनका मूल कथा-वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं है। इनकी रचना किसने की है, यह नहीं मालूम। ऐसा प्रतीत होता है कि बाद के किसी कवि ने जनता को नीति की शिक्षा देने के लिये इन कथाओं को मूल महाभारत में सम्मिलित कर दिया। इन कथाओं में हमें काव्य-सौष्ठव का प्रायः अभाव ही दिखाई पड़ता है परन्तु नैतिक शिक्षा के दृष्टि-कोण से इनका महत्व विशेष है।

महाकाव्यों की यह परम्परा संस्कृत कवियों ने जारी रक्खी। कवि कुल गुरु कालिदास ने रघुवंशम् और कुमारसम्भवम् नामक दो महाकाव्य लिखे। इस बात में कोई संशय नहीं कि महाकवि कालिदास भारत के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं और विश्व साहित्याकाश के वे एक अत्यन्त देदीप्यमान उज्ज्वल नक्षत्र हैं। उनकी कविता प्रणय भावों की कोमलता, भाषा की प्राञ्जलता, सरलता तथा रसमयता के लिए विख्यात है। उनकी सजीव और उत्कृष्ट उपमायें वर्ण्य विषय का चित्र पाठक के सम्मुख उपस्थित कर देती है, और साथ ही पाठक के हृदय में तदनुकूल भाव भी समुत्पन्न कर देती हैं। जिस समय महाकवि किसी दृश्य का वर्णन करने लगते हैं उस समय भाषा उनकी आज्ञाकारिणी अनुचरी हो जाती है, और वे उस विषय का कोना-कोना तक छान डालते हैं। उनका प्रकृति वर्णन नितान्त स्वाभाविक और मनोमुग्धकर है। 'मेघदूतम्' नामक उनका विरह-काव्य अपने रचना-काल से लेकर आज तक काव्य रसिकों के हृदयों को मोहित करता चला आ रहा है। इनके अतिरिक्त अश्वघोष ने भी बुद्धचरित नामक महाकाव्य लिखा। सौन्दरानन्द भी अश्वघोष का प्रमुख काव्य है। एडविन आर्नल्ड ने बुद्धचरित का अनुवाद अंग्रेजी में 'लाइट ऑव एशिया' नाम से किया है। भारवि कृत किरातार्जुनीयम्, माघकृत शिशुपालवध और श्री हर्ष प्रणीत नैषधचरितम् संस्कृत साहित्य के अन्य प्रसिद्ध महाकाव्य हैं। परन्तु बाद के इन महाकाव्यों में हमें कविता की वह समृद्धि और रससृष्टि करने की वह अनुपम शक्ति लुप्त होती हुई दिखाई पड़ती है, जिसके लिये वाल्मीकि, व्यास और कालिदास की कविता प्रसिद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि परवर्ती संस्कृत-कवियों ने कविता को अपने पांडित्य प्रदर्शन करने का साधन समझ लिया था, और वे मस्तिष्क से कविता की रचना कर रहे थे। उनके हृदयों से काव्यमय भावनायें स्वतः नहीं निकल रहीं थीं।

---

[1] a local habitation and a name

परन्तु पाश्चात्य समीक्षक इन कवियों की चाहे जितनी आलोचना करें हमें इनकी अद्भुत कल्पना-शक्ति और उनके चमत्कारपूर्ण पांडित्य से विस्मय-विमुग्ध होना पड़ता है।

प्राचीन यूनान की भाँति प्राचीन भारत में भी नाटकों की रचना की जाती थी। परन्तु हमारे देश में सुखान्त नाटक ही लिखे गये। दुखान्त नाटकों को लखना हमारे नाटककारों ने अनुचित समझा। नाटक है की परम्परा भी हमारे देश में अति प्राचीन है और भारत का नाट्य-साहित्य इसके समूचे साहित्य को गौरवान्वित करने वाला है. प्रोफेसर कीथ लिखते हैं--"संस्कृत नाटक को यथार्थ में भारतीय काव्य की सर्वोत्कृष्ट उत्पत्ति कहा जा सकता है जिसमें भारतीय साहित्य के [illegible] की साहित्यिक कला की अन्तिम कल्पना का निचोड़ आ गया है।" वस्तुतः [illegible] अन्य [illegible] में काफी निन्दा की गई है भारत के बौद्धिक गौरव के मूल में रहे हैं। जिस प्रकार से उसने भारतीय दर्शन प्रस्तुत किया, उसी प्रकार अपनी प्रतिभा के अन्य प्रयास से उसने नाटक के सूक्ष्म और प्रभावशाली रूप का विकास किया।" भास, कालिदास, भवभूति और श्रीहर्ष संस्कृत के प्रमुख नाटककार थे। भास का सर्वश्रेष्ठ नाटक 'स्वप्नवासवदत्तम्' है। कालिदास का जगत् विख्यात 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' की सर्वोत्कृष्ट कृतियों में से है। जर्मनी का महाकवि गेटे इस नाटक का अनुवाद पढ़कर अत्यन्त चकित और प्रसन्न हुआ था, और उसने मुक्त कंठ से प्रशंसा की थी। भवभूति ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'उत्तररामचरित्रम्' में करुण रस की जो धार बहाई है उससे पाषाण हृदयों में भी रस संचार हो जाता है। सम्राट् हर्ष ने 'नागानन्दम्', 'प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली' नामक तीन नाटक लिखे। विशाख दत्त का प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक 'मुद्राराक्षस' और 'मृच्छकटिक' भी भारत के नाट्य साहित्य की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। संकृत में नाटकों की संख्या बहुत है, और उनमें से सब की नाम गणना भी यहाँ सम्भव नहीं।

संस्कृत का सम्पूर्ण साहित्य प्रकृति के प्रति साहचर्य-भावना और जीवमात्र के प्रति स्नेह के विचारों से ओत-प्रोत है। वाल्मीकि के [illegible] से इतना अनुराग है कि वे पर्वत पर बैठकर अपने समस्त दुःख को भूल जाते हैं। कालिदास [illegible] लगती है तो वह तरु-लताओं से स्नेह-पूर्ण मैत्री है और मृगशावक उसके लिये [illegible] सिंघा राजा दिलीप का स्वागत करती हैं और हर्ष से अपने [illegible] बजाती हैं। यक्ष की प्रकृति के सभी पदार्थ-विरह-पीड़ित दिखते हैं और नदियाँ तो विरह वियोग से दुर्बल हो जाती हैं। भवभूति के राम के लिये वन, वृक्ष और हिरण भी भाई हो जाते हैं। [illegible] मृग-अभिज्ञानों में, प्रकृति के प्रति भावना का यह अगाध स्नेह केवल भारतीय साहित्य में ही इतनी मार्मिकता और सहानुभूति के साथ अभिव्यक्त हुआ है। जैसा कि प्रोफेसर सिलवान लेवी ने कहा है कि साहित्य के क्षेत्र में भारतवर्ष ने जगत को एक अनुपम वस्तु प्रदान की है वह है 'रस' और जिसे एक वाक्य में यह कहा जा सकता है कि कवि प्रकट नहीं करता, केवल ध्वनि करता है।

संस्कृत का गद्य साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। कादम्बरी विश्व की सब से विचित्र आख्यायिकाओं में से है। हर्षचरित और कादम्बरी बाणभट्ट के दो प्रसिद्ध गद्य-ग्रन्थ हैं। 'वासवदत्ता' सुबंधु की और 'दशकुमार चरित्रम' दंडिन की गद्य रचनायें हैं। कथा सरित्सागर एक विशाल ग्रन्थ है जिसमें अनेक मनोरंजक कथायें हैं। प्राचीन भारत के मनीषियों ने एक अत्यन्त प्रभावपूर्ण मनोवैज्ञानिक तथ्य का अनुसन्धान किया था, कि उपदेश देने का कार्य मनोरंजक कथाओं द्वारा करना चाहिये। इसी दृष्टिकोण से जातकों की कहानियाँ और प्रसिद्ध कथा-पुस्तक पंचतन्त्र की रचना की गई थी। इन कथाओं में प्रायः पशु और पक्षी मनुष्य की भाँति में बात-चीत करते हुये दिखाये गये हैं और इनके द्वारा लेखक ने पाठकों को जीवन का बहुमूल्य अनुभव तथा सदाचार की श्रेष्ठ शिक्षायें देने का प्रयास किया है। पंचतन्त्र का अनुवाद संसार की लगभग सभी सभ्य भाषाओं में हो चुका है, और कहा जाता है कि Aesop's Fables पर इस ग्रन्थ का काफी प्रभाव पड़ा है। आर्थर राइडर ने कहा कि इस ग्रन्थ में संसार की सब से अधिक प्रचलित कहानियाँ हैं और उन्होंने फिर कहा है "यदि आगे यह घोषित किया जाय कि पंचतन्त्र संसार में सब से सर्वोत्तम कथा-संग्रह

है तो इस कथन को मिथ्या नहीं सिद्ध किया जा सकता।" भर्तृहरि की नीतिशतकम् भी प्रसिद्ध पुस्तक है। भारत की साहित्यिक प्रतिभा की सब से बड़ी विशेषता यह रही है कि इसने दर्शन, गणित, ज्योतिष और व्याकरण जैसे दुर्बोध विषयों को भी कविता के माध्यम से सरल बना दिया है। इन विषयों की स्वाभाविक शुष्कता छन्दबद्ध वाक्यों में सरसता के रूप में परिणित हो जाती है। और विद्यार्थी के लिए विषय अधिक ग्राह्य और शीघ्र ही स्मरण करने योग्य हो जाता है। गणित पर लीलावती की पुस्तक इस दृष्टि से अनूठी है। भारत में सभी विषयों पर पुस्तकें मिलती हैं। हाथियों को सिखाने घोड़ों की नस्ल तैयार करने आदि विषयों पर पुस्तकें लिखी गई हैं। इनमें से प्रत्येक को एक शास्त्र कहा गया है। राजतरंगिणी इतिहास की प्रसिद्ध पुस्तक है और अर्थशास्त्र कामशास्त्र की पुस्तकें व राजनीति तथा कूटनीति के भी अनुपम ग्रन्थ मिलते हैं।

भारत में वास्तु, स्थापत्य, संगीत तथा चित्रकला आदि कलाओं की काफी उन्नति हुई। हमें भारत की वास्तु-कला के उदाहरण अशोक के समय पहिले के नहीं मिलते। सारनाथ के शिलास्तम्भों पर जो पशु आकृतियाँ

कला

खुदी हुई हैं वे कला और शैली दोनों दृष्टियों से अनुपम हैं। पत्थर पर इतनी सुन्दर खुदाई कभी नहीं हुई। सर जान मार्शल की सम्मति में समस्त प्राचीन संसार में इनके समान कोई वस्तु नहीं मिल सकती। कनिष्क के समय में एक चैत्य बनवाया गया था, जिसे देखकर सब लोग चकित हो जाते थे। उसने कई स्तूप भी बनवाये, और उनमें भगवान बुद्ध के स्मृति-चिन्ह रक्खे। गुप्त-काल के मन्दिर जो मनुष्य की विध्वंसात्मकता से अब भी बचे हैं भारतीय वास्तु-कला का गौरव उद्घोषित करते हैं। झांसी जिले में देवगढ़ का मन्दिर और कानपुर के भिटारी गाँव का ईंट का मन्दिर भवन निर्माण-कला के श्रेष्ठ नमूने हैं। दक्षिण में मन्दिरों की संख्या अधिक है क्योंकि वहाँ धर्मान्ध मुसलमान शासक कम पहुँच सके। दक्षिण के मन्दिरों की शैली द्रविड़ है। खजुराहो और भुवनेश्वर के मन्दिर राजपूत काल की आर्य शैली के सुन्दर नमूने हैं। इनमें खुदाई का जो काम किया गया है वह दर्शनीय है। आबू का जैन मन्दिर श्वेत संगमरमर पत्थर का बना हुआ है, और उसमें पत्थर की खुदाई का काम अत्यन्त उच्चकोटि का है। द्रविड़ शैली के मन्दिर काँची, मामल्लपुरम, तंजौर, मदुरा, श्री रंगम तथा रामेश्वरम् आदि स्थानों में हैं। दक्षिण के प्रायः सभी राजवंश कलानुरागी थे। अतः दक्षिण में वास्तुकला की पर्याप्त उन्नति हुई। तंजौर का मन्दिर द्रविड़ शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। एलोरा का विश्व-विख्यात मन्दिर भी द्रविड़ वास्तु-कला का अनुपम प्रतीक है। अतः विषय में विन्सेन्ट स्मिथ का कथन है यद्यपि एलोरा में प्रदर्शित कला सर्वोच्च कोटि की नहीं हो सकती तथापि कैलाश मन्दिर संसार की वस्तुओं में एक है। यह एक ऐसी वस्तु है जिसके ऊपर कोई राष्ट्र गर्व कर सकता है और जिस राजा के राज्याश्रय में इसका निर्माण हुआ उसके लिये यह सम्मान का कारण है। अलबरूनी नामक मुसलिम इतिहासकार और विद्वान् ने इन मन्दिरों की श्रेष्ठता के विषय में लिखा था हमारे देश के लोग जब उनका (मन्दिरों) अवलोकन करते हैं तब वे उन पर आश्चर्य करते हैं और वे उनका वर्णन करने में असमर्थ हैं, उनके समान किसी वस्तु का निर्माण तो दूर रहा।

भारत की मूर्तिकला के उदाहरण हमें कनिष्क के समय से मिलने लगते हैं। इस समय देश में भागवत और बौद्ध धर्म का प्रचार होने से लोगों ने भगवान बुद्ध की मूर्तियाँ बनाईं। इस समय देश में मूर्तिकला के चार केन्द्र थे गान्धार, मथुरा, सारनाथ और अमरावती। अमरावती की प्रस्तर मूर्तियाँ कला की दृष्टि से काफी उत्कृष्ट हैं। मथुरा में ब्राह्मणों के देवताओं की प्रतिमाएँ बनती थीं। गान्धार यूनानियों के राज्य के निकट अवस्थित था इसलिये गान्धार-कला पर यूनानी स्थापत्य का प्रभाव बहुत अधिक पड़ा। यहाँ की मूर्तियों में महात्मा बुद्ध के मुखाकृति पर न कोई विशेष दीप्ति है, और न उन पर कोई आध्यात्मिक आनन्द की कोई अभिव्यक्ति ही है। यूनानी कलाकारों के प्रभाव के कारण बुद्ध के शारीरिक अवयवों को ही विशेष रूप से परिपुष्ट दिखलाने का प्रयत्न किया है। बहुत समय तक पाश्चात्य कला समीक्षक इन मूर्तियों को भारतीय स्थापत्य के सर्वोत्तम नमूने मानते रहे हैं। परन्तु यूनानी कला का जो प्रभाव भारत की मूर्तिकला पर पड़ा है उसे हम भारतीय कला की दृष्टि से हितकर नहीं कह सकते। पूर्वी कला और

यूनानी कला के आदर्शों में जो अन्तर है उसका कुछ उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं (देखिये चीनी कला और सिन्धु घाटी की कला)। इस आदर्श की विभिन्नता के कारण हम गान्धार की बौद्ध प्रतिमाओं को कला की दृष्टि से उत्कृष्ट नहीं कह सकते। क्योंकि वे उस आदर्श को अभिव्यक्ति नहीं कर पाती, जिसके लिए उनका निर्माण हुआ था। जैसा कि प्रोफेसर कुमारस्वामी ने बताया है कि गान्धार की कला एक गूढ़ मिथ्यात्व का आभास देती है, क्योंकि बुद्ध के मुख की आध्यात्मिक भावों से शून्य अभिव्यक्ति, उनका आडम्बरपूर्ण वेश और मूर्तियों के स्त्रैणभाव, बौद्ध विचारधारा की आध्यात्मिक शक्ति को प्रकट करने में असमर्थ है। भारत की मूर्तिकला का पूर्ण प्रस्फुटन गुप्तकाल में हुआ जब कि भारत पर यूनानी प्रभाव बिलकुल न था और वह समस्त एशिया का गुरु था। विन्सेन्ट स्मिथ ने गुप्तकाल की सारनाथ की बौद्ध प्रतिमा के विषय में यह स्वीकार किया है कि वह गान्धार-कला के प्रभाव से बिलकुल मुक्त है। सारनाथ की प्रतिमा में बुद्ध उपदेश देने की मुद्रा में बैठे हैं और उनके मुख की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति, प्रशान्त मुस्कुराहट और गम्भीर चिन्तन की मुद्रा भारतीय मूर्तिकला की श्रेष्ठता प्रकट करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि महात्मा बुद्ध बैठे हुये एक दैवी प्रभाव विकीर्ण कर रहे हैं। अन्य भारतीय मूर्तियों की विलासमयता को गुप्तकाल के कलाकार का एक उदात्त भाव संयत तथा नियंत्रित कर देता है और एक अलंकृत प्रभा मंडल के द्वारा मूर्ति को चरम आकर्षण का केन्द्र बना देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकार को मूर्तियों के सफल निर्माण के लिये किसी प्रकार की साधना करनी पड़ती होगी। क्योंकि बाह्य रूप और आन्तरिक मनोभाव का यह सुन्दर समन्वय किसी उत्कृष्ट साधना का परिणाम ही हो सकता है। कलाकार में कवि की भावुकता, सच्चे भक्त की श्रद्धा और कलाकार की निपुणता इन तीनों शक्तियों का समन्वय होता था। गुप्तकाल की लगभग सभी बौद्ध मूर्तियाँ श्रेष्ठ और कला-पूर्ण हैं। भगवान विष्णु की मथुरा वाली मूर्ति में, बुद्ध की प्रतिमा की ही भाँति एक स्वर्गीय संतोष तथा गम्भीर विचार मुद्रा दिखाई पड़ती है। उदयगिरि की विशाल वाराह प्रतिमा तत्कालीन कलाकारों की अद्भुत प्रतिभा की प्रतीक मानी गई है। दक्षिण भी मूर्तिकला में पीछे न रहा और घंटसाल नागार्जुनी कोन्द तथा अमरावती की प्रस्तर मूर्तियाँ अपने एक विशिष्ट सौन्दर्य से युक्त हैं। गोली, नागार्जुनी कोन्द घन्टसाल और गुमन्दिर की मूर्तिकला में सजावट और पर्याप्त शक्ति है। स्तूप की शिलाफलकों पर भगवान बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित घटनाएँ खोदी गई हैं। उनके महान निष्क्रमण, ज्ञान प्राप्ति, जन्म और सम्बोधि की घटनाएँ अमरावती की शैली से काफी मिलती जुलती शैली में खुदी हैं। भारतीय मूर्तिकला का प्रभाव सुदूर पूर्व देशों की कला पर पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ता है। भारत की प्राचीन चित्रकला का उल्लेख जो हमें साहित्य ग्रन्थों में मिलता है परन्तु उसके नमूने हमें बहुत बाद से मिलते हैं। प्राचीन चित्रकला के सर्वश्रेष्ठ नमूने हमें एलोरा और बाघ की गुफाओं में मिलते हैं। अजंता के चित्र हमें एक सुन्दर और सजीव विश्व में ले जाते हैं। ये चित्र हमें जीवन के विविध और आकर्षक रूप दिखाते हैं। इन चित्रों से भारतीय कला का जीवन के प्रति जो अनुराग दिखाई पड़ता है वह वस्तुतः सराहनीय है। इनमें हमें सुन्दर स्त्रियाँ, राजकन्याएँ, गानेवाली, नाचनेवाली, बैठी और खड़ी, शृंगार करती हुई, जुलूस के साथ जाती हुई स्त्रियाँ मिलती हैं। इनके अलावा बोधिसत्व की लोकोत्तर महिमा का चित्रण करने में कलाकार ने अद्भुत निपुणता का प्रदर्शन किया है। अजंता के चित्रों में हमें पशु-पक्षियों और पुष्पों के प्रति अपार प्रेम अभिव्यक्त होता दिखाई देता है।

मरणासन्न राजकन्या और 'माता तथा पुत्र' के चित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनकी सजीवता और चित्र को सम्पूर्णता भाव से पूर्ण कर देने की शक्ति श्लाघ्य है। 'मरणासन्न राजकन्या' के चित्र के विषय में फरगुसन नामक कला विशेषज्ञ का कथन है कि चित्र पर प्रकाश डालने और भाव प्रकाशन की शक्ति में तथा अपनी कथा को सुन्दर ढंग से कहने में मैं समझता हूँ कि यह चित्र कला के इतिहास में अद्वितीय है। फ्लोरेन्टाइन चित्रकार और अधिक अच्छी तरह इसे खींच सकता था और वेनीशियन इसमें और अच्छी तरह से रंग भर सकता था परन्तु उनमें से कोई भी इसे श्रेष्ठतर अभिव्यंजना नहीं प्रदान कर सकता था। अजन्ता के चित्रों में रेखाओं की जो सजीवता तथा

कोमलता, रङ्ग की जो चटक, अभिव्यक्ति की जो सजीवता दिखाई पड़ती है, उसके कारण ये चित्र सभी काल के लिये उत्तम और आदर्श हो गये हैं। इन चित्रों का बाद के भारतीय चित्रकारों और जापान, जावा, चीन तथा कम्बोडिया की कला पर काफी प्रभाव पड़ा है। जे० हेरिन्घम नाम की एक अंग्रेज चित्रकार ने अजन्ता के चित्रों को विस्मयकारी और अद्वितीय कहा हैं। ई० बी० हेवेल का कथन है कि इन चित्रों के कारण भारत मानव जाति की कृतज्ञता तथा सम्मान का अधिकारी है।

भारतीय संगीत का उद्गम सामवेद है क्योंकि सामवेद की सभी ऋचायें गेय हैं। भारत के प्राचीन शास्त्रीय संगीत का प्रभाव एशिया के कई देशों पर पर्याप्त है। भारतवर्ष में गायन के साथ वादन भी पर्याप्त विकसित अवस्था में था। विविध प्रकार के वाद्य यन्त्र थे, जिनमें मृदंग बासुरी और झाझ, मंजीरा आदि प्रसिद्ध हैं।

भारत का दार्शनिक साहित्य इतना विशाल और वृहत् है कि उसका पूर्ण रूप से नामोल्लेख करना भी दुष्कर है और भारत के सूक्ष्म दर्शन की विवेचना इस पुस्तक के क्षेत्र की बाहर की बात है। उपनिषद् भारतीय दर्शन के मेरुदण्ड हैं। उनमें जीव, ब्रह्म संसार और आत्मा आदि विषयों पर बड़ी ही सूक्ष्मता से विचार किया गया है। उपनिषदों की भाषा सरल है और उनमें प्रयुक्त रूपक तथा उपमायें बोध गम्य हैं। किन्तु उनके गहन भाव को समझना सरल नहीं है। उपनिषदों के विषय में शोपेनहार का कथन है कि समस्त संसार में कोई ऐसी

भारतीय दर्शन

रचना नहीं है, जिसका अध्ययन इतना उपयोगी, इतना उन्नयनकारी है जितना कि उपनिषदों का। यह सब से ऊँचे ज्ञान की उपज है और एक न एक दिन सम्पूर्ण विश्व का विश्वास इन पर हो कर रहेगा। उपनिषदों के अध्ययन से मेरे जीवन को शान्ति मिली है और यह मेरी मृत्यु के समय भी मुझे शान्ति प्रदान करेगा। गीता का दर्शन उपनिषदों पर ही आधारित है किन्तु कर्म ज्ञान और भक्ति का जो समन्वय इसमें किया गया है वह इस लघुकाय दार्शनिक ग्रन्थ की विशेषता है। यह एक आश्चर्य की बात है कि विभिन्न विचार के पोषकों ने गीता का अध्ययन करके विभिन्न अर्थ निकाले हैं। आधुनिक काल में ही लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी तथा अरविंद घोष ने गीता के विषय में अपनी जो धारणायें व्यक्त की हैं वे एक दूसरे से काफी भिन्न-भिन्न हैं। सात सौ श्लोकों के इस ग्रन्थ में निहित दार्शनिक ज्ञान मानव मस्तिष्क की चरम शक्ति का बोध कराता है। इसके विषय में विलियम वान हम्बोल्ट ने लिखा है। यह सब से सुन्दर कदाचित अकेला सच्चा दार्शनिक काव्य है जो किसी भी ज्ञात भाषा में मिलता है। भारत के षट् दर्शन प्रसिद्ध हैं। उनके नाम इस प्रकार है (१) न्याय वैशेषिक (३) सांख्य (४) योग (५) मीमांसा और (६) वेदान्त। इन छः दर्शनों के विषय में मैक्समूलर का कथन है इस सत्य का मुझ पर अधिकाधिक प्रभाव पड़ा है कि इन छः दर्शनों की विभिन्नता के पीछे कोई ऐसी सामान्य सम्पत्ति है जिसे कि हम राष्ट्रीय या सामान्य दर्शन कह सकते हैं जिससे कि प्रत्येक विचारक अपने उद्देश्य के अनुकूल विचार ग्रहण कर सकता था। दर्शन के ये सब सम्प्रदाय अपनी-अपनी विचार धाराओं में एक दूसरे से काफी भिन्न है परन्तु भारत के एक सामान्य दार्शनिक दृष्टिकोण से सभी प्रभावित है।

जिस प्रकार प्राचीन भारत ने साहित्य, दर्शन और कला में अद्भुत उन्नति की, उसी प्रकार उसने विज्ञान का भी काफी विकास किया। अपने गवेषणा पूर्ण ग्रन्थ हिन्दू केमेस्ट्री में डा० प्रफुल्ल चन्द्र राय ने प्राचीन हिन्दुओं के पदार्थ विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान का उल्लेख किया है। चिकित्सा विज्ञान तथा विभिन्न वानस्पतिक पदार्थों से औषधि निर्माण करने में प्राचीन भारत के निवासी निपुण थे। आयुर्वेद पर चरक का लिखा हुआ ग्रन्थ अपने ढंग का अनूठा है। इस ग्रन्थ में रोगों के लक्षण, कारण तथा निदान का सविस्तार वर्णन किया गया है। भारत का आयुर्वेद विदेशी प्रभावों से सर्वथामुक्त है और चिकित्सा विज्ञान के सम्पूर्ण क्षेत्र की व्याख्या करता है यह शरीर की रचना, इसके अवयवों, पुट्ठों

विज्ञान

जोड़ों तन्तुओं और Vessels का वर्णन करता है। हिन्दुओं का मेटेरिया मेडिका धातुओं वानस्पतिक पदार्थों और पशुओं से तैयार होने वाली औषधियों का उल्लेख करता है। इनमें से कुछ औषधियों को योरप वासियों ने भी ग्रहण कर लिया है। औषधियों को तैयार

करने का हिन्दुओं का ढंग उत्तम और विकसित था और उनके विभाजन तथा उन्हें रोगियों को देने में सावधानी से काम लिया जाता था। इसी प्रकार चीरा-फाड़ी के कार्य में भी प्राचीन भारत में काफी उन्नति कर ली गई थी। हिन्दुओं की चीरा-फाड़ी को एक आधुनिक विद्वान डबल्यू हन्टर ने साहसपूर्ण और कुशल कहा है। इस क्षेत्र में सुश्रुत का नाम उल्लेखनीय है। सुश्रुत ने चीरा-फाड़ी के १२० यन्त्रों का उल्लेख किया है। वे विद्यार्थी को प्रायोगिक कार्य (Experimental work) का आदेश देते हैं। शरीर के किसी भाग का यहाँ तक कि चर्म का भी ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त किये बिना शरीर रचना शास्त्र का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये जो शरीर रचना शास्त्र का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहता है उसे एक मृत शरीर लाकर इसके भागों को सावधानी से निरीक्षण करना चाहिये, क्योंकि आँख के प्रत्यक्ष निरीक्षण और पाठ्य पुस्तकों द्वारा प्राप्त होने वाले ज्ञान को मिलाने से ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। चिकित्सक के लिये उनकी आज्ञायें बड़ी ही महत्त्वपूर्ण हैं : "धन या किसी भौतिक पदार्थ के लिये किसी को अपने रोगियों की चिकित्सा न करनी चाहिये, इसमें चिकित्सक का कार्य अन्य व्यवसायों से अधिक बढ़कर है। जो व्यापार की वस्तु की भाँति ही चिकित्सा को बेचते हैं वे धूल की खोज में सुवर्ण के खजाने को छोड़ जाते हैं।" फिर वे कहते हैं "तुम्हें सब जीवों की प्रसन्नता का ध्यान रखना चाहिये, प्रति दिन उठते बैठते तुम्हें अपनी पूरी शक्ति लगाकर रोगी को आराम पहुँचाने का प्रयत्न करना चाहिये। तुम्हें अपने भरण-पोषण के लिये भी अपने रोगियों से बहुत न माँगना चाहिये। विचार में भी तुम्हें कभी अन्य लोगों की स्त्रियों का स्पर्श न करना चाहिये, और दूसरों के धन की भी इच्छा न करनी चाहिये। तुम्हें स्वच्छ वस्त्र पहनने चाहिये, और तुम्हारी आदतें सन्तुलित होनी चाहिये, न तो तुमको कोई पाप करना चाहिये, और न पाप की उत्तेजना ही देनी चाहिये। तुम्हें मधुर स्पष्ट और सत्य वचन बोलने चाहिये।" भारतीय आयुर्वेद में स्वच्छता पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था।

भारत में ज्यामिति का प्रयोग वैदिक काल से ही आरम्भ हो चुका था, क्योंकि यज्ञ की वेदी आदि के निर्माण में नाप जोख की आवश्यकता अवश्य पड़ती होगी। परन्तु इस विषय में सिकन्दरिया के विद्वान अधिक बढ़े-चढ़े थे। अंकगणित और बीजगणित में भारतवर्ष ही सबसे आगे रहा है। गणित के क्षेत्र में शून्यांक और स्थान मूल्य की दशमलव विधि भारत की ही देन है। आज भारत की ही अंक पद्धति से समस्त संसार गणना करता है। बीजगणित का विकास भारत के प्राचीन निवासियों ने किया। उसकी यूनानियों ने कल्पना भी नहीं की थी। प्रसिद्ध विद्वान आर्यभट्ट की पुस्तक बीजगणित पर कदाचित सब से प्राचीन है। तेईस वर्ष की थोड़ी सी आयु में इस विद्वान ने ज्योतिष और गणित पर अपनी पुस्तकें लिखीं। भास्कर प्रथम (५२२) भारत का दूसरा विख्यात गणितज्ञ है। ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) नामक विद्वान गणितज्ञ और ज्योतिषी दोनों था। बाद में अरब के विद्वानों ने भारतवासियों से गणित सीखी और उनसे योरप ने सिखली। आज से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व लाप्लास नामक विद्वान ने लिखा था "यह हिन्दुस्तान है जिसने हमें सभी संख्याओं को दस चिन्हों के द्वारा प्रकट करने की युक्तिपूर्ण प्रणाली बताई। जिससे कि प्रत्येक चिन्ह का अपना एक मूल्य है और एक उसके स्थान के कारण मिला हुआ मूल्य है. यह एक गम्भीर और महत्वपूर्ण विचार है जो कि अब हमें इतना सरल जान पड़ता है कि हम उसकी वास्तविक विशेषता को भूल जाते हैं. लेकिन इसकी सरलता से ही जो सुविधा हमारी गणनाओं में आ गई है, उसने अंकगणित को उपयोगी आविष्कारों की प्रथम कोटि में ला दिया है और हम इस कृत्य के महत्व को तब समझेंगे जब यह स्मरण रखेंगे कि प्राचीन युग के दो महान लोगों यानी आर्कमिडीज और अपोलोनियस की प्रतिभा से यह विचार बच निकला था।"

भारत के प्राचीन निवासी धातु विज्ञान में भी काफी बढ़े-चढ़े थे। वे लोहे को लाग देना जानते थे, और भारत में लोहे तथा फौलाद की बनी हुई वस्तुएं विदेशों में सम्मान पाती हैं। बहुत सी अन्य धातुओं की यहाँ के लोगों को जानकारी थी, और औषधि के लिये धातुओं के द्रव्य तैयार किये जाते थे। दिल्ली के निकट लोहे का विशाल स्तम्भ भारतीयों की कुशल इन्जीनियरी का बहुत बड़ा प्रमाण है। यह लौह स्तम्भ २३ फीट ८ इंच ऊँचा और इसका व्यास १६.४ इंच तथा शिखर पर १२.५० इंच है। उसके निर्माण कौशल को देखकर पाश्चात्य इन्जीनियर

भी चकित होते हैं, और अभी तक यह पता न लग सका कि यह कैसे बना, क्योंकि इसमें न तो कोई जोड़ दिखाई पड़ता है, न मुरचा लगा है और न ऋतु की प्रचण्डता ही इस पर अपना कोई प्रभाव जमा सकी है। प्राचीन भारतीयों ने सुदूर पूर्व में जो विशाल उपनिवेश स्थापित किये थे, वह बिना जलयान बनाने की कला में निपुणता प्राप्त किये हुये बिना सम्भव नहीं हो सकता था। इससे यह अनुमान निकलता है कि भारत के प्राचीन निवासी जलयान निर्माण की कला में निपुण थे। अब तो यह अनुमान डा० राधाकुमुद मुकुर्जी की खोजपूर्ण पुस्तक 'हिस्ट्री आव इण्डियन शिपिंग' द्वारा सत्य ठहरा दिया गया है।

भारतीय सभ्यता की समीक्षा

भारत की प्राचीन सभ्यता आज भी हमें प्राणवती दिखाई देती है। इसकी उदात्त नैतिक मान्यतायें आधुनिक औद्योगिक सभ्यता के लिये भी हितकारिणी है। इसके कई कारण हैं। प्रथम तो यह है कि भारतीय सभ्यता की आधार शिला दृष्टिकोण की विशालता है। भारत के प्राचीन ऋषियों ने जो इस सभ्यता के जन्मदाता तथा परिपोषक थे कभी भी भारतवासियों की दृष्टि को संकीर्ण नहीं होने दिया। भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में ही ऋषि ने घोषित कर दिया है "ईश्वर एक है उसे लोग अनेक नाम से पुकारते हैं "एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"। स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो के सर्व धर्म सम्मेलन में भारत के उदार और सहिष्णु दृष्टिकोण का उल्लेख करते हुये शिव महिम्नस्तोत्र का यह सुन्दर श्लोक उद्धृत किया है :—

> रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिल नानापथजुषाम्,
> नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव,

अर्थात् "रुचि की विभिन्नता के कारण मनुष्य सरल अथवा कठिन मार्ग का अवलम्बन करके प्रभु तुम तक ही पहुँचते हैं जिस प्रकार सभी नदियाँ समुद्र की ओर ही जाती हैं।" ये उपदेश सभी कालों में भारतीयों के रोम-रोम में समाये हुये हैं इसलिये न तो हम भारत के प्राचीन इतिहास में कहीं धार्मिक उत्पीड़न सुनते हैं, और न यही देखते हैं कि इसके किसी भी युग में भारतवासियों को पूजा व उपासना की स्वतन्त्रता न प्राप्त रही हो। आज भी कोई हिन्दू यह नहीं सोचता कि प्रत्येक अहिन्दू या ईश्वर में न विश्वास करने वाला अवश्यमेव नरक जायगा। जब हमें यह विदित होता है कि धार्मिक सहिष्णुता की भावना का उदय योरप में बहुत बाद में हुआ, तो हमारा विस्मय बढ़ जाता है कि सभ्यता के उषाकाल में ही प्राचीन भारत के ऋषियों ने इस महत्त्वपूर्ण भाव को प्रतिपादित किया था, जब कि भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान के क्षेत्र में लम्बे डग भर लेने पर भी इस भाव का साक्षात्कार न कर सके।

दृष्टिकोण की इसी विशालता से प्रेरित होकर भारत के मनीषियों ने प्रत्येक व्यक्ति को विचारों की स्वतंत्रता प्रदान की थी। विचार स्वातंत्र्य के कारण भारत में एक ओर चार्वाक और बौद्ध जैसे नास्तिक दर्शन पनप सके और दूसरी ओर शंकर के वेदान्त का विकास हुआ। भारतीय सभ्यता के उन्नायक यह जानते थे कि विचारों के पारस्परिक संघर्ष से नवीन विचार उत्पन्न होते हैं तथा विचार स्वातंत्र्य के स्वस्थ वातावरण में ही मानव-मस्तिष्क उच्चतम कल्पनायें कर सकता है और अपनी श्रेष्ठतम आहार-व्यवहार को भेंट कर सकता है। लेकिन साथ ही उन्होंने आचार की स्वतन्त्रता लोगों को प्रदान नहीं की क्योंकि इससे अव्यवस्था फैल जाने की आशंका थी। इस से सभ्य समाज के आदर्श लोगों के आचार को संयमित तथा नियंत्रित रखने की आवश्यकता का अनुभव किया गया क्योंकि उन्हीं का अनुकरण साधारण जन करते हैं। गीताकार ने स्पष्ट कह दिया है कि जैसा श्रेष्ठ जन करता है वैसा अन्य लोग भी करते हैं, वह जिसे ठीक बता देता है संसार उसी का अनुसरण करता है.

> यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः
> स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते.

भारत का प्राचीन ऋषि विश्व-बन्धुत्व की उदात्त भावना से सदैव अनुप्रेरित था। उसने प्रतिपादित किया : "यह मेरा है, यह दूसरे का है, ऐसा विचार तुच्छ लोग करते हैं। उदार चित वालों के लिये यह पृथ्वी ही कुटुम्ब है।"

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्,
उदारचरितानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम्।

जब कि राष्ट्रवाद का उद्भव पश्चिम में हुआ भारत ने सदैव ही मानव भ्रातृत्व का उपदेश दिया है। मानववाद की भावना भारतीय संस्कृति की आधार भित्ति है। ईश्वर से प्रार्थना करते समय उपनिषदों की रचना करने वाला ऋषि समस्त मानव जाति की वरन् यों कहिये प्राणिमात्र की कल्याण-कल्पना करता था।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुखमाग्भवेत

"सभी सुखी और स्वस्थ हों, सब का कल्याण हो, किसी को दुख न प्राप्त हो"। यह आश्चर्य की बात है कि दो महासमरों के सर्व विध्वंसकारी प्रभावों के जान लेने के उपरान्त भी पश्चिमी जगत मानववाद की भावना को ग्रहण नहीं कर सकता, और यदि वहाँ इसकी आवश्यकता अब समझी जाने लगी है तो केवल आंशिक रूप से ही। भारत के मनीषी ने अपनी सहजबुद्धि (Intuition) से ही उसकी आवश्यकता पूर्ण रूप से समझ ली थी और उसका उपदेश भी दिया था। प्राचीन ऋषि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' और 'ब्रह्ममयम् जगत' की पवित्र विचार-धारा को हृदयंगम कर चुका था, और भारत के कवियों और कलाकारों ने इसे अभिव्यक्ति प्रदान कर जनता को सिखाने की चेष्टा की थी। भारतीय साहित्य और कला में हम पशुपक्षी और वृक्ष, आदि के प्रति मनुष्य की जो साहचर्य भावना देखते हैं, वह इस पूत भावना की ही प्रतिफल है। भारत का मनुष्य प्रकृति के नयनाभिराम दृश्यों को देखकर आत्म-विस्मृत हो जाता है। एक यूरोपीय की भांति प्राकृतिक शक्तियों का नियन्त्रण कर उनसे भौतिक लाभ की आकांक्षा नहीं करता। संस्कृत काव्यों के पात्रों से पशुपक्षी इतने हिले मिले हैं कि वे उनके सुख में सुखी और दुख में दुखी होते हैं यहाँ हम न तो मनुष्य का प्रभुत्व जमाने की भावना देखते हैं और न उसकी पाशविक हिंसावृत्ति। वरन् हम 'ईशावास्यमिदं सर्वं' से प्रसूत एक स्नेहपूर्ण भावना का दर्शन करते हैं।

भारतीय सभ्यता की एक प्रमुख विशेषता है उसकी अनुपम जीवनी शक्ति। असंख्य विघ्न बाधाओं का अतिक्रमण करके यह आज भी जीवित है और संसार को कुछ देने में समर्थ है। भारतीय सभ्यता की यह अव्याहत जीवन धारा हम उसके साहित्य, दर्शन और कला की परम्पराओं, जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण और महापुरुषों की प्रत्येक युग में जन्म देने की उसकी अद्भुत शक्ति में देख सकते हैं। प्रोफेसर मैकडानल्ड अपने 'संस्कृत' के इतिहास में लिखते हैं कि भारतीय साहित्य का महत्व समग्र रूप से उसकी मौलिकता में है। जब कि यूनानियों ने ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी के अन्त में पश्चिमोत्तर प्रदेश पर आक्रमण किया उस समय भारतीय अपनी राष्ट्रीय संस्कृति स्थापित कर चुके थे, और इस पर विदेशी प्रभाव नहीं पड़े थे। और यद्यपि ईरानियों, यूनानियों और सीदियनों और मुसलमानों के आक्रमणों की लहरें एक के बाद एक आती रहीं, और वे लोग विजय पाते रहे, भारतीय आर्य जाति के साहित्य और जीवन का राष्ट्रीय विकास अंग्रेजों के अधिकार के समय तक अप्रतिहत और अटूट क्रम से चलता रहा। इन्डो यूरोपियन जाति के किसी शाखा ने पृथक रहते हुये ऐसे विकास का अनुभव नहीं किया। चीन को छोड़ कर कोई भी ऐसा देश नहीं है जो कि अपनी भाषा और साहित्य, अपने धार्मिक विश्वास और कर्मकांड और अपने रीति रिवाजों का तीन सहस्र वर्ष से अधिक का अटूट विकास प्रस्तुत कर सके। वेद जिस समय रचे गये थे, उस समय जिस प्रकार पढ़े जाते थे, उसी प्रकार आज भी पढ़े जाते हैं। हमारी पारिवारिक प्रथा अभी बहुत कुछ वैसी ही है, जैसी तीन हजार वर्ष पहले थी। हमारे सामाजिक रीति रिवाज भी वैसे ही हैं या कुछ ही बदले हुये हैं। और हमारी बौद्धिक परम्परा

अब भी अक्षुण्ण है। यदि आज से पन्द्रह सौ वर्ष पहले भारत ने जगत को कालिदास प्रदान किया था तो इस बीसवीं सदी में उसने रवीन्द्रनाथ को उत्पन्न किया। यदि गुप्त काल में आर्यभट्ट और वाराहमिहिर ने अपनी गणित की खोजों से संसार को धनी बनाया था तो आधुनिक काल में स्वर्गीय रामानुजम और श्री चन्द्रशेखर वेंकट रमण ने अपनी गणित और विज्ञान की खोज से उस परम्परा को जीवित रक्खा है। यह सच है कि पराधीनता के पाश में आबद्ध रहने के कारण भारत की मानसिक शक्ति का प्रवाह कुछ शिथिल अवश्य पड़ गया था, परन्तु वह पूर्ण रूप से शुष्क नहीं होने पाया। श्री अरविंद घोष लिखते हैं कि तीन सहस्र बरसों से अधिक पूर्व से प्रारम्भ होने वाली और अभी तक निःशेष रहने वाली ऐसी महान और सुन्दर मानसिक क्रियाशीलता अद्वितीय है और इस बात का सर्वोत्तम और अकाट्य प्रमाण है कि इस संस्कृति में अवश्य कुछ असाधारणतः स्वस्थ और जीवित तत्व हैं।

यह स्वस्थ और जीवित तत्व क्या है? उत्तर है जीवन के प्रति भारतवासियों का आध्यात्मिक दृष्टिकोण। भारत का निवासी इसी जीवन को अन्तिम लक्ष्य नहीं मानता। इस लोक को वह अपना चिरन्तन निवास स्थान नहीं मानता और वह चर्म चक्षुओं से न दिखाई पड़ने वाले अतीन्द्रिय पदार्थ देखने का प्रयास करता है। वह भौतिक तत्वों को चरम सत्य नहीं मानता और सदैव स्थूल से सूक्ष्म की ओर ही अग्रसर होता है। इतिहास साक्षी है कि इस जीवन को ही सब कुछ मान लेने वाली और जीवन के वास्तविक लक्ष्य को भूलकर साधनों को ही खोजने में सर्वस्व खो बैठने वाली जातियाँ संसार महानाट्यशाला से विदा ग्रहण कर चुकी हैं, किन्तु अध्यात्मवादी भारत आज भी जीवित है और उसकी आत्मा का नाश उस समय भी न होगा जब कि पौराणिक विश्वासों के अनुसार यह सारी पृथ्वी महाप्रलय के कारण जलमयी हो जायगी। हमने जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण विरासत में प्राप्त किया है और सदैव हमने इसकी रक्षा की है। भारत को उस उन्नततम आध्यात्मिक परम्परा का कोष होने का सौभाग्य प्राप्त है जो अकेले ही शताब्दियों तक जीवित रही, और आज भी जीवित है और संस्कृत इस परम्परा का साधन रही है। (प्रोफेसर रेनो)

भारत की संस्कृति अपने समन्वयवाद के कारण ही जीवित रही है। हूण सीदियन और अन्य बर्बर जातियां आईं और उन्होंने विजयों द्वारा भारत के कुछ भू-भाग पर अपना अधिकार कर लिया परन्तु वे ही विजेता जातियाँ संस्कृति और सभ्यता के क्षेत्र में विजिता हो गईं क्योंकि भारत के निवासियों ने उनको अपने में पचा लिया। भारतीय सभ्यता की उत्पत्ति ही समन्वय से हुई है। द्रविड़ों और आर्यों की विकसित सभ्यताओं के समन्वय से। बाद में इसी समन्वयात्मिका शक्ति से सम्पन्न भारतीय संस्कृति ने विदेशी जातियों के कतिपय तत्वों को ग्रहण कर लिया और उनका भारतीयकरण कर लिया क्योंकि भारत में समुद्र की भांति सोखने की शक्ति थी। अपनी इस सांस्कृतिक परम्परा में हम देखेंगे कि समन्वय के लिये यहां एक आन्तरिक प्रेरणा रही है। यद्यपि भारत ने विदेशी तत्वों को उदारता पूर्वक ग्रहण किया तथापि भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि अपनी स्वयं की रही है और बुनियादी बातों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। हम सदैव भारतीय ही रहा है। सी० ई० एम० जोड ने भारतीय संस्कृति के समन्वयवाद का उल्लेख इन शब्दों में किया है. इसका कारण जो कुछ भी हो वस्तुस्थिति यह है भारत की संसार को प्रमुख देन यह रही है कि उसने विचारों और जातियों के विभिन्न तत्वों के समन्वय की और विभिन्नता से एकता उत्पन्न करने की योग्यता और तत्परता दिखाई है।

भारत का प्राचीन मनीषी ज्ञान को संसार की पवित्रतम वस्तु मानता है: 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।' यह विचार उसके जीवन का मूलमन्त्र था। ज्ञान के संरक्षण और संवर्धन के प्रति वह सजग और सावधान था। उसने इस संकीर्ण दृष्टिकोण का विकास कभी नहीं किया, कि ज्ञान किस विशेष जाति की सम्पत्ति है या अन्य जातियाँ ज्ञान से शून्य है। उसने दूसरों से चाहे वे अन्य बातों में कितने ही पीछे क्यों न रहे हों, समुचित ज्ञान ग्रहण करने में कोई संकोच नहीं किया। वह यूनानियों को म्लेच्छ अवश्य कहता था, किन्तु उनके विकसित खगोल शास्त्र के ज्ञान के कारण वह उन्हें ऋषिवत् पूजने को तैयार था, वह गर्व से कहता था—

"म्लेच्छा हि यवनास्तेषु
सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्,
ऋषिवत्तेपि पूज्यन्ते
किं पुनर्दैवविद्द्विजैः ।"

भारत की संस्कृति ने मनुष्य को वे गुण और तत्त्व प्रदान किये हैं जो उसके जीवन को निस्सन्देह ऊंचा उठाते हैं। यदि पश्चिम ने हमें मानसिक निर्भीकता और स्वतंत्रता, व्यक्ति स्वातंत्र्य की भावना तथा सत्यान्वेषण और साहस पूर्ण कार्य करने की अदम्य इच्छा एवं शक्ति दी है, तो भारत से हमें प्राप्त हुये हैं ये त्रिविध गुण- श्रद्धा, संयम और त्याग। यदि पश्चिम का व्यक्ति-स्वातंत्र्य मनुष्य को ऊंचा उठाता है तो भारत की विनय-भावना उसे गौरवाल नत शिर करती है। यदि पहला मनुष्य की आत्मा का गौरव प्रकट करता है तो दूसरी उसकी गम्भीरता को व्यक्त करती है। भारत और साथ ही साथ चीन से ही हमें जीवमात्र के प्रति स्नेह की भावना प्राप्त होती है। मनुष्य के इन सभी गुणों का विकास उसे पूर्णता की ओर अग्रसर करता है। अतएव कौन इसे अस्वीकार करेगा कि मनुष्य के सम्मुख आज सांस्कृतिक समन्वय की महत्त्वपूर्ण समस्या उपस्थित है जिससे वह समस्त मनोवांछित गुणों का विकास कर सके।

प्रायः पाश्चात्य विद्वान भारतीय संस्कृति पर यह दोषारोपण करते हैं कि यह नितान्त कल्पना प्रधान आध्यात्मिक है भारत की संस्कृति के विषय में कोई अन्य धारणा हो सकती है, इसमें हमें कुछ संदेह है। यह सत्य है कि भारत की संस्कृति अध्यात्म प्रधान है परन्तु इसने मनुष्य के भौतिक जीवन का तिरस्कार नहीं किया है। बल्कि कहीं-कहीं पर तो मनुष्य के इस पार्थिव जीवन के प्रति इसने जो लगाव प्रकट किया है वह विस्मय में डालने वाला है। यदि भारत ने अध्यात्म प्रधान और परलोक से सम्बन्ध रखने वाले सूक्ष्म दर्शन का विकास किया है तो उसने दूसरी ओर इहलोकपरक साहित्य, कला और विज्ञान को जन्म दिया है। जिस सभ्यता के द्वारा काम शास्त्र जैसे नितान्त भौतिक विषय का विधिवत अध्ययन किया गया हो उसे हम भौतिक सुखों के प्रति पराङ्मुख नहीं कह सकते। जिन लोगों ने सुदूर एशिया में अपने राजनीतिक उपनिवेश तथा सुविस्तृत सांस्कृतिक साम्राज्य की स्थापना की वे कल्पना गगन में विहार करने वाले जीव न थे, वरन् इसी संसार में रहकर इस जीवन के सुख-दुख आशा निराशायें तथा जय-पराजयों का अनुभव करने वाले साहसी व्यक्ति थे। अजन्ता की गुफा में मानव जीवन के विविध और सजीव चित्र खींचने वाले चित्रकार जीवन के भौतिक सुखों और क्रियाओं के प्रति उदासीन न थे। भारत की प्राचीन कला और संस्कृत का समस्त इहलौकिक परक साहित्य प्राचीन भारतीयों के जीवनानुराग को प्रकट करता है। प्रोफेसर ए० के० कुमार स्वामी ने लिखा है—"भारत की कला भारत की साहित्य की भांति सदैव एक मांग के उत्तर में उत्पन्न की गई है। महान कला को जन्म देने वाली जाति केवल अपने कलानुराग द्वारा ही नहीं अपितु जीवनानुराग द्वारा ऐसा कर सकती है।" वस्तुतः जीवन के इन्द्रिय-जन्य सुखों के प्रति भारतीयों ने एक स्वस्थ और संयमित दृष्टिकोण का विकास किया। वे उनमें इतने आसक्त मग्न नहीं हुये कि जीवन के उद्देश्य को ही भूल जाय इसलिये उन्होंने अपनी सुखोपलब्धि की भावना को संयमित किया। यहाँ भी भारतीय संस्कृति का मूल तत्त्व समन्वय ही प्रमुख दृष्टिगत होता है। उन्होंने भोग और त्याग में समन्वय किया था। उनका भोग भी उन्हें मोक्ष की ओर ले जाता था। उन्हें नीचे नहीं गिराता था। कालिदास ने "त्यागाय संभृतार्थानाम्" और "आसवरहः सुखमन्वभूत" आदि वाक्य खंडों में इसी दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है। कणाद ने धर्म की जो परिभाषा दी है उसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीयों का दृष्टिकोण जीवन के प्रति नकारात्मक न था। "यतोभ्युदय निश्रेयससिद्धि धर्मः" जिससे इस लोक में अभ्युदय और मोक्ष की प्राप्ति हो, वही धर्म है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार चार पुरुषार्थों में से अर्थ और काम मनुष्य के भौतिक

जीवन से तथा धर्म मोक्ष उसके आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्धित हैं। इन चारों पुरुषार्थों में परस्पर जिस संतुलन और संयमन की व्यवस्था की गई, उसने भी भारत की सभ्यता को मरने से बचाया।

भारतीय सभ्यता की देन

भारत ने हिमगिरि के उत्तुंग शिखर का अतिक्रमण कर संसार को अपनी बहुमूल्य भेंट प्रदान की है। भारत का सूक्ष्म दर्शन उसकी मानव सभ्यता को सबसे महत्वपूर्ण देन है। इसमें कदाचित कोई संदेह नहीं कि भारतीय दर्शन संसार का सर्वोत्कृष्ट दर्शन है। विक्टर कजिन का विश्वास है कि मानव जाति के इस पालने में हम उच्चतम दर्शन की जन्मभूमि देखते हैं। काउन्ट हरमन केसरलिंग नामक सुप्रसिद्ध जर्मन विचारक की धारणा है कि "भारत ने गम्भीर आत्म ज्ञान को उत्पन्न किया है जिसे हम जानते हैं" "दर्शन के क्षेत्र में उन्होंने पश्चिम के ऊपर भारत की पूर्ण श्रेष्ठता" का उल्लेख किया। उन्होंने और भी कहा "इस अद्वितीय दार्शनिक राष्ट्र के निकट दार्शनिक और धार्मिक विचारों के लिये इतने अधिक संस्कृत शब्द हैं जितने कि यूनानी लैटिन और जर्मन भाषाओं को मिलाकर भी न मिलेंगे।" संस्कृत भाषा को विलियम जोन्स ने यूनानी भाषा से अधिक पूर्ण तथा लैटिन की तुलना में अधिक सम्पन्न और दोनों की अपेक्षा अधिक परिष्कृत कहा है। भाषा के विश्लेषणात्मक अध्ययन के भारतीय तरीकों ने ही सभ्य संसार को तुलनात्मक भाषा विज्ञान के तत्व सिखलाये। जिस निष्पक्ष दृष्टिकोण से एक वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में अपने प्रयोगों का निरीक्षण करता है या चीर-फाड़ी करके चिकित्सक मानव शरीर के अंग की चीरफाड़ करता है उसी दृष्टिकोण से प्राचीन भारत के मनीषी ने भाषा के विज्ञान व व्याकरण का अध्ययन किया था। पाणिनि का अष्टाध्यायी मानव मस्तिष्क की सर्वोत्कृष्ट रचनाओं में से एक है। "संस्कृत का व्याकरण संसार की समस्त भाषाओं के व्याकरण की तुलना में अधिक पूर्ण और अधिक वैज्ञानिक है। जिस प्रकार चीन ने हमारे मनोरंजन के लिये हमें ताश दिये उसी प्रकार हमें भारत ने ताश से भी अधिक सुन्दर और एक प्रकार की मानसिक कलाबाजी सिखलाने वाला शतरंज दिया जिसको खेल कर कदाचित हम अपनी सैकड़ों मानसिक दुश्चिन्ताओं को भूल सकें।

शिक्षा के क्षेत्र में भारत ने विश्व को जो देन प्रदान की उसकी तुलना शीघ्र नहीं मिल सकती। जब कि मिस्र, मेसोपोटैमिया और चीन की सभ्यताओं में शिक्षा की व्यवस्था अत्यन्त प्राथमिक और अविकसित थी, भारत ने विश्वविद्यालयों की उच्च शिक्षा को जन्म दिया था। प्लेटो के अकेडमी के पहिले ही भारत ने तक्षशिला विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। अकेडमी की भांति इस विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों की संख्या थोड़ी न थी। वरन् दूर-दूर के देशों से ज्ञान पिपासु छात्र यहां विद्या प्राप्त करने आते थे। पढ़ाये जाने वाले विषय केवल अध्यात्म एवं दर्शन न थे जैसा कि बहुधा विश्वास किया जाता है वरन् व्याकरण, तर्क, न्याय, ज्योतिष और आयुर्वेद जैसे लौकिक विषय भी पढ़ाये जाते थे। जीवक नाम का सुप्रसिद्ध चिकित्सक जिसने महात्मा गौतम बुद्ध की चिकित्सा की थी, अर्थशास्त्र के रचयिता चाणक्य और प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनी इसी विश्व विद्यालय के ख्यातनामा स्नातक थे। बाद में देश में नालन्दा, ओदन्तपुरी, विक्रमशिला आदि स्थानों में भी विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने तक्षशिला के विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी, और उसने अपने ग्रन्थ में इसका विस्तारपूर्ण वर्णन किया है।

चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में भारत की देन का वर्णन किया ही जा चुका है। यहां पर हम यह और बता देना आवश्यक समझते हैं कि संक्रामक रोगों को रोकने के लिये टीके लगवाने की जिस प्रणाली को हम पश्चिमी देन समझते हैं उसका प्रयोग प्राचीन भारत में व्यापक रूप से होता था। भारत ने एक विकसित तर्क प्रणाली का विकास किया था भारत की अनुमान पद्धति अरस्तू के सिलाजिज्म (Syllogism) की अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण वैज्ञानिक और प्रत्यक्ष वादिनी है। अब यह धारणा एक सर्वोत्कृष्ट सत्य हो गई है कि भारत ने ही सभ्य जगत को दशमलव पद्धति प्रदान की। मनुष्य के ज्ञान की प्रगति में यह एक महत्वपूर्ण कदम था, और आश्चर्य की बात है कि यूनान इस महत्वपूर्ण वस्तु का अधिकार क्यों नहीं कर सका? इस महत्वपूर्ण आविष्कार के लिये मानवता सदैव ही भारत की ऋणी

रहेगी। संसार में मनोरंजन और शिक्षा प्रद कथा साहित्य का विकास भारत के पंचतन्त्र द्वारा ही हुआ।

परन्तु ये सब देनें तुच्छ और महत्व शून्य प्रतीत होती हैं जब हम यह सोचते हैं कि वह आज भी हमें कुछ अधिक महत्वपूर्ण वस्तु दे सकता है। वे ऐसी वस्तुयें नहीं हैं जो हमारे भौतिक जीवन को अधिक सुखमय बनाती हैं अथवा हमारे विलास साधनों में अभिवृद्धि करती है, वरन् ये वस्तुयें हैं जीव-मात्र के प्रति प्रेम की भावना और उच्च नैतिक सिद्धांत। आज के पारस्परिक विद्वेश और अन्तर्राष्ट्रीय अविश्वास के इस युग में भारत हमें सार्वजनिन प्रेम की शिक्षा दे सकता है। व्यापारिक प्रतिद्वन्दिता के इस काल में वह हमें योगक्षेम की चिन्ता से विमुक्त मस्तिष्क की सन्तोष भावना प्रदान कर सकता है और जब आज संसार में महायुद्ध के काले बादल मँडरा रहे हैं भारत से हमें परिपक्व मस्तिष्क की शान्ति-भावना प्राप्त हो सकती है। भारत ने ऐसा प्राचीन काल में किया है जब उसने सुदूर पूर्व और सीरिया, फिलस्तीन आदि पश्चिमी एशिया के देशों में भारत की श्रेष्ठतर संस्कृत के तत्वों के साथ साथ पारस्परिक स्नेह, बन्धुत्व और करुणा के दिव्य सन्देश भेजे हैं और आज भी वह ऐसा कर सकता है।

समस्त विश्व को आर्य (सभ्य तथा श्रेष्ठ) बनाने को "कृणुध्वं विश्वमार्य" उदात्त भावना से अनुप्राणित होकर भारत ने सर्वत्र सभ्यता के प्रकाश को विकीर्ण करने का सत्प्रयास किया है। भारत का विशाल सांस्कृतिक साम्राज्य जो लोहे की विजय से नहीं अपितु प्रेम की तलवार से स्थापित किया गया था भारत की संसार को अत्यन्त महत्वपूर्ण देन है और वह भारत के लिये गर्व का कारण है। प्रोफेसर सिलवान लेवी ने कहा है "ईरान से चीन समुद्र तक, साइबेरिया [illegible] के टापुओं तक और ओशीनिया से सोकोटरा तक, भारत ने अपने विचारों [illegible] को फैलाया है। उसने मानव जाति के चतुर्थांश पर सुदीर्घ शताब्दियों के और [illegible] इस बात का पूर्ण अधिकार है कि अज्ञान के कारण इसे संसार के इतिहास में जो पद प्राप्त नहीं हो सका है उसको अब प्राप्त करे, और मानव आत्मा की प्रतीक महान जातियों के मध्य अपना उचित स्थान ग्रहण करे। भारत ने सुदूर पूर्वी एशिया में जो उपनिवेश स्थापित किये थे, वे तो आज नहीं रहे, किन्तु भारतीय संस्कृत के प्रभाव उन देशों की कला में, उनके निवासियों और नगरों के नामों में तथा उनके सामाजिक रीति-रिवाजों और धार्मिक मान्यताओं पर आज भी देखे जा सकते हैं।" भारत के इस सांस्कृतिक साम्राज्य का उल्लेख भारतीय सभ्यता के इतिहास में एक गौरवशाली अध्याय लिखना है। अतएव हम इसका संक्षिप्त विवरण देने का प्रयास करेंगे।

वृहत्तर भारत

भारतीय सभ्यता का सुदूर पूर्व के देशों यथा मलाया प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, कम्बोज (वर्तमान कम्बोडिया) तथा अनाम में बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव व्यापारिक संघों तथा धर्म-प्रचारकों के द्वारा पड़ा। बाद में कुछ क्षत्रिय योद्धा भी व्यापारियों, ब्राह्मणों और बौद्ध भिक्षुओं के साथ इन प्रदेशों में आये और उन्होंने वहाँ अपने औपनिवेशिक राज्य स्थापित किये। ये भारतीय उपनिवेश कुछ पूर्वीय देश-समूह तथा इन्डोचीन के विभिन्न भागों में राजनीतिक शक्ति के द्वारा स्थापित किये गये थे। किन्तु हमें यह न समझना चाहिये कि भारत के किसी राज्य विशेष या कुछ राज्यों ने मिलकर अपनी राजनीतिक सत्ता का विस्तार करने की इच्छा से इन उपनिवेशों की स्थापना की थी। इस बात के प्रमाण नहीं मिलते कि किसी भारतीय नरेश ने इन सुदूर देशों में राज्य स्थापित करने के लिये किसी प्रकार का प्रयत्न किया, या किसी भी रूप में सहायता की। ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्तिगत उद्योगों के फलस्वरूप ये उपनिवेश स्थापित किये गये थे। कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह सूचित हो कि भारतीय राज्यों को इस विस्तृत प्रदेश में कोई राजनीतिक लाभ हुआ हो। इस बात में भी सन्देह है कि इन औपनिवेशिक राज्यों का भारतीय राज्यों के साथ कोई राजनीतिक सम्बन्ध था। यहाँ के हिन्दू नरेश अपनी विदेशी प्रजाओं के साथ घुल-मिल गये थे,

और भारत के राजत्व के आदर्शानुसार उनके दुख में दुखी तथा सुख में सुखी रहते थे। जयवर्मन सप्तक नामक राजा ने अपनी जनता के कल्याण हेतु १०२ चिकित्सालय खुलवाये। और समय-समय पर वह उनमें औषधियां भिजवाता रहता था। उसके उत्कीर्ण लेख से उसकी प्रजावत्सलता का आभास मिलता है। "रोगियों का शारीरिक कष्ट मेरे लिये आत्मा का कष्ट हो गया था, और मैं इस कष्ट का अनुभव उन रोगियों से भी अधिक करता था, क्योंकि राज्य के कष्ट ही शासकों के लिये उनकी वेदना के कारण हैं उनका व्यक्तिगत कष्ट नहीं।"[1] उन राजाओं ने अपने देश के धर्म अपने देश के आचार-विचार अपने देश की साहित्यिक एवं कला की परम्परा तथा अपने देश में प्रचलित शासन-व्यवस्था को इन प्रदेशों में फैलाने का प्रयत्न किया। वरन् यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि भारतीय धर्म-प्रचारकों के उत्कृष्ट गुणों और आदर्श चरित्र से प्रभावित होकर यहाँ के निवासियों ने स्वेच्छानुसार भारतीय सभ्यता को ग्रहण कर लिया। इसलिये इन उपनिवेशों को हमें उस अर्थ में समझना न चाहिये, जिस अर्थ में हम बहुधा वर्तमान उपनिवेशों को समझते हैं। ये राजनीतिक दासत्व अथवा आर्थिक शोषण के लिये स्थापित नहीं हुये थे। वरन् एक विशाल सांस्कृतिक साम्राज्य के रूप में थे। जैसा कि डा० कालिदास नाग ने कहा है कि "भारतीय प्रशान्त महासागर के निकटवर्ती देशों में विजयवाहिनी नहीं ले गये अपितु आध्यात्मिक, बौद्धिक और कलात्मक सृजन के क्षेत्र में उन्होंने अपनी उन्नत सभ्यता के उर्वर प्रभाव इन देशों पर डाले, बृहत्तर भारत के विकास के इतिहास में आर्थिक शोषण या राजनीतिक प्रभुता के भद्दे अध्याय नहीं थे क्योंकि यह सम्राट अशोक की परम्परा के अनुसार एक हजार वर्षों तक मैत्री एवं कल्याण के आधार पर भूत सिद्धान्तों को बढ़ाने के लिये प्रयत्न करता रहा (इण्डिया एण्ड द पैसेफिक वर्ल्ड)। उपनिवेशों को दुधारू गाय समझने की कल्पना पश्चिम की उपज है, भारत की नहीं। हम इन उपनिवेशों के राजनीतिक इतिहास का वर्णन न करके उनके ऊपर भारतीय सभ्यता के प्रभाव का ही वर्णन करेंगे।

सुवर्णद्वीप में भारतीय सभ्यता

जातक तथा जैन और बौद्ध ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर सुवर्णद्वीप या सुवर्ण-भूमि का उल्लेख मिलता है। पूर्वी द्वीप समूह और इन्डोचीन को भारतीय सुवर्ण द्वीप ही कहते थे। इन द्वीपों में भारतीय सभ्यता के प्रभाव अब भी देखे जा सकते हैं। यद्यपि यहां जावा के निवासी अब हिन्दू अथवा बौद्ध नहीं हैं तथापि उनके संस्कार अब भी भारतीय ही हैं। यद्यपि जावा के अधिकांश लोग अब मुसलमान हो गये हैं और कुछ ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया है फिर भी वहां के निवासियों ने हिन्दू संस्कृति के कुछ सर्वोत्तम रूपों को अब तक अपना रखा है और बाली द्वीप तो अब तक हिन्दू ही है। बाली द्वीप में हिन्दू प्रभाव इतना अधिक है कि यह एक हिन्दू तीर्थ की तरह लगता है। बोर्नियो जावा, अन्नाम, कम्बोडिया तथा मलाया प्रायद्वीप में जो उत्कीर्ण लेख मिले हैं उनसे यह स्पष्ट पता लगता है कि भारत के साहित्य धर्म और राजनीतिक तथा सामाजिक संगठनों का प्रभाव इन सुदूर प्रदेशों पर पर्याप्त मात्रा में पड़ा था। चम्पा और कम्बोज के लेखों से यह मालूम होता है कि यहां के लोग पौराणिक कथाओं और धर्म से अच्छी तरह परिचित थे। कम्बोज के लेखों में हमें जिस राजसभा और समाज का वर्णन मिलता है उस पर ब्राह्मण संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट रूपेण परिलक्षित होता है। पश्चिमी जावा में भी जो उत्कीर्ण लेख मिले हैं वे भी ब्राह्मण संस्कृति का प्रभाव ही सूचित करते हैं। हमें इनमें विष्णु और इन्द्र के हाथी ऐरावत का उल्लेख मिलता है। हिन्दुओं के माह तथा दूरी के नापने का हिन्दू तरीका आज भी यहां लोग अच्छी तरह से जानते हैं। यहां कुछ नदियों के नाम जैसे चन्द्रभागा और गोमती मिलते हैं, जो भारतीय प्रभाव ही सूचित करते हैं।

बोर्नियो और मलाया प्रायद्वीप में विभिन्न देवी देवताओं की जो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं उनसे उत्कीर्ण लेखों के साक्ष्य की ही पुष्टि होती है। विष्णु ब्रह्मा, शिव, गणेश, नन्दी, स्कन्द और महाकाल की मूर्तियां बोर्नियो में मिली हैं—

[1] Cultural Heritage of India से उद्धृत

दुर्गा, गणेश, नान्दी और योनी की मूर्तियाँ मलाया प्रायद्वीप में पाई गई हैं। विष्णु के हाथों में हम यहाँ भी भारत की भांति शंख, चक्र, गदा और पदम ही देखते हैं तथा शिव यहां भी हाथ में त्रिशूल ही ग्रहण करते हैं। कुछ लेखों में गंगा की पवित्रता का उल्लेख मिलता है। मूर्तियों और लेखों से यह भी सिद्ध होता है कि ब्राह्मण धर्म के अतिरिक्त बौद्ध धर्म का प्रभाव भी इन स्थानों में था। उत्कीर्ण लेख यह भी सिद्ध करते हैं कि संस्कृत भाषा और साहित्य का यहाँ काफी प्रचार था। बहुत से लेख सुन्दर और शुद्ध संस्कृत में लिखे गये थे। सूर्य वर्मन का उत्कीर्ण लेख कहता है उसके चरण पातंजलि के भाष्य है, उसके हाथ काव्य है, इसके छः अंगड़ी षट् दर्शन है और धर्मशास्त्र उसके सिर हैं। शासकों ने बनवाया था एलौरा के कैलाश मन्दिर से बहुत मिलता जुलता है। इसके सुन्दर स्थापत्य चित्र ललित-विस्तर, जावा का बौद्ध स्तूप जिसे श्री विजय की कथायें कह रहे हैं। जावा का सुप्रसिद्ध बोरोबूदर मन्दिर वास्तु कला का अनुपम नमूना है और जावा का सर्वोत्तम मन्दिर है। इस मन्दिर पर भारतीय वास्तु का प्रभाव सुस्पष्ट है। फरगुसन का विचार है कि जावा के मन्दिरों विशेष कर बोरोबूदर का निर्माण करने वाले पूर्वी भारत से आये होंगे। बोरोबूदर मन्दिर के स्थापत्य बुद्ध के जीवन का वर्णन करते हैं और जातक की कथायें भी दीवालों पर खोदी गई हैं।

पुरातत्व से प्राप्त होनेवाला हमारा यह ज्ञान चीनियों के लेखों से और पुष्ट होता है। फाह्यान स्पष्ट कहता है कि यवद्वीप का ब्राह्मण-धर्म समृद्धि की अवस्था में था, और बौद्ध धर्म का प्रचार बहुत कम था। फाह्यान के साथ जो दो सौ व्यापारी जलयान से गये थे, वे सब ब्राह्मण धर्मानुयायी थे, परन्तु बाद में बौद्ध धर्म का प्रचार भी जावा में फैल गया। धर्म और कला के अलावा जावा के सामाजिक विचारों और शासन पद्धति पर भारतीय सभ्यता का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। जावा में क्षत्रिय राजा राज्य करता था और भारतीय नियम के अनुसार उसके आठ ब्राह्मण मंत्री होते थे। चम्पा द्वीप समूह में भारतीय संस्कृति का प्रभाव विशेष रूप से दिखाई पड़ता है। लगभग द्वितीय शताब्दी ईसा के पश्चात भारतीय विचारों का इस द्वीप में प्रवेश हुआ। इसके राजाओं का वंशगत इतिहास हिन्दू नामों से परिपूर्ण है जिन्होंने इस द्वीप पर शताब्दियों तक राज्य किया। जावा के साहित्यिक और उत्कीर्ण लेखों सम्बन्धी साक्ष्य यह सिद्ध करते हैं कि चम्पा द्वीप का सामाजिक संगठन हिन्दू वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार था। भारत की भांति यहाँ भी कुछ थोड़े परिवर्तित रूप में चार वर्णों की प्रथा थी। यहाँ की विवाह-पद्धति और दाम्पत्य सम्बन्ध भी भारतीयों की विवाह-पद्धति और दाम्पत्य सम्बन्ध से मिलते-जुलते हैं। यहाँ सती-प्रथा का प्रचलन भी था। चम्पा में नृत्य और गीत की प्रणालियाँ भी भारत से ही ली गई थीं। चम्पा में संस्कृत का काफी प्रचार था और राजभाषा भी संस्कृत ही थी। यहाँ पर सौ से अधिक संस्कृत के उत्कीर्ण लेख मिले हैं, जो यह बताते हैं कि न केवल संस्कृत की पुस्तकें यहाँ भारत से भेजी जाती थी, वरन नई पुस्तकें भी लिखी जाती थीं। और भद्रवर्मन, इन्द्रवर्मन, आदि नरेश संस्कृत के ज्ञाता थे, और वेदाध्ययन में कुशल थे। भारत के सब से बड़े महाकाव्य रामायण तथा महाभारत और महायान बौद्ध धर्म के ग्रन्थ चम्पा द्वीप में बड़े चाव से पढ़े जाते थे।

कम्बोडिया, जिसे भारत के प्राचीन निवासी काम्बोज कहते थे, में बहुत पहले ही भारतीय संस्कृति के प्रभाव पहुँच गये। इसकी एक नदी मेकांग का नाम मा गंगा से निकला हुआ प्रतीत होता है। कम्बोज के शासक शासन के मामले में कौटिल्य के अर्थ शास्त्र का अनुसरण करते थे। पौराणिक हिन्दू धर्म लोकप्रिय धर्म था। बौद्ध धर्म और वैष्णव धर्म के अनुयायियों की अपेक्षा शैवों की संख्या अधिक थी। हिन्दू-वर्ण व्यवस्था का एक साधारण रूप सामाजिक रचना का आधार था। संस्कृत भाषा का प्रचार था, और उत्कीर्ण लेखों में धर्म-शास्त्रों और हिन्दू गणित तथा चिकित्सा विज्ञान के ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। कम्बोडिया के लेखों को सावधानी से पढ़ने पर पता लगता है कि लोग प्रायः धार्मिक मनोवृत्ति के थे, और इनमें से बहुत से लोग जीवन के आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहा करते थे। कम्बोज में धार्मिक जीवन के अध्यक्ष अर्थात सबसे बड़े पुरोहित और शासक का सम्बन्ध काफी घनिष्ठ था। काम्बोज

के राजाओं को अपने बाल्यकाल में सुविख्यात धार्मिक आचार्यों के यहाँ रह कर शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती थी। वहाँ पर बहुत से आश्रम थे, जो विद्या के केन्द्र थे। इन आश्रमों को राजकीय सहायता प्राप्त होती थी और ब्राह्मण ऋषि आश्रम के अध्यक्ष होते थे।

काम्बोज के प्राचीन मन्दिर गुप्तकालीन भारत के मन्दिरों से पर्याप्त सादृश्य रखते हैं। उनके स्थापत्य तो और अधिक भारतीय हैं। एक विद्वान की धारणा है कि यहाँ की परवर्ती मूर्तियाँ और मन्दिरों का निर्माण भारत के कलाकारों ने किया था जिनको कि उपनिवेश स्थापित करने वाले अपने साथ ले आये थे। कम्बोज के स्थापत्य पर वही दैवी अभिव्यक्ति विशेष रूप से स्वर्गीय मुस्कराहट तथा मुख मंडल की गम्भीर प्रशान्ति दिखाई पड़ती है, जो भारतीय स्थापत्य की विशेषता है। यहाँ की ब्राह्मण मूर्तियों में भी वे ही गुण विद्यमान हैं जो भारत की मूर्तियों में हैं। मन्दिरों को अलंकृत करने वाले bas relief के लगभग सभी दृश्य महाकाव्यों रामायण तथा महाभारत से लिये गये हैं। कम्बोडिया की सर्वप्रसिद्ध कलाकृति अंगकोर का मन्दिर है। इस मन्दिर पर भी जावा के बोरोबुदूर की भाँति भारत की मन्दिर-निर्माण-कला का प्रभाव है। एम० रूनरी मौहर ने इसे देख कर कहा था कि यह "संसार में सब से आश्चर्यजनक भवन है जिसे रोम या यूनान वालों ने कभी नहीं बनाया।"

वे द्वीप समूह जो मलाया प्रायद्वीप के नाम से विख्यात हैं भारतीय संस्कृति के प्रसिद्ध गढ़ थे। वहाँ के भारतीय को वे आज भी ओरन्गकिलग अर्थात् कलिंग निवासी कहते हैं। कलिंग के रहने वालों ने ही मलाया प्रायद्वीप में भारतीय संस्कृति का प्रसार किया था। ईसा की तीसरी शताब्दी में उड़ीसा के कलिंगों और आन्ध्रों ने भारतीय राज्यों की नींव डाली थी। श्री विजय जो आधुनिक सुमात्रा है बौद्ध संस्कृति का केन्द्र था और वहां पर कम से कम एक हजार बौद्ध भिक्षु रहते थे। इस संस्कृति केन्द्र का यश दूर दूर तक फैल गया, और भारत तथा एशिया से बौद्ध विद्वान वहाँ पहुँचे। विक्रमशिला विश्व विद्यालय के कुलपति महोदय श्री ज्ञान दीपंकर ने श्री विजय का भ्रमण किया था। उन्होंने इसे पूर्व में बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र घोषित कर दिया। नालन्दा विश्व विद्यालय के धर्मपाल ने भी अपने जीवन के अन्तिम दिन सुमात्रा में ही व्यतीत किये थे। मलाया प्रायद्वीप में कुछ उत्कीर्ण लेख मिले हैं जिनसे भी यह सिद्ध होता है कि बौद्ध धर्म का प्रचार यहाँ बहुत अधिक था। उनमें से दो लेखों में बौद्ध धर्म के एक प्रसिद्ध सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है। सभी लेख संस्कृत में हैं और उनमें लिपि भी वही है जो ईसा की चौथी व पाँचवीं सदियों में भारत में प्रचलित थी।

बहुत दिनों तक सुदूर पूर्व के इन प्रदेशों में भारतीय संस्कृति फलती-फूलती रही। पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद वहाँ मुसलमान धर्म का प्रवेश हुआ और हिन्दू उपनिवेश नष्ट हो गये। परन्तु इन देशों पर भारत की संस्कृति की अमिट छाप है। जिस समय भारत पर मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे, इन देशों में भारतीय संस्कृति काफी समृद्धि की अवस्था में थी और आज भी ये भारत के प्रति मैत्री का सम्बन्ध रखते हैं।

—:०:—

आठवां अध्याय

ईरान की सभ्यता

प्राचीन ईरान की सभ्यता का गौरव केवल इसी बात में नहीं है कि उसने संसार को एक सुव्यवस्थित और सुशिक्षित शासन प्रणाली प्रदान की, अपितु ईरान में उच्च नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित एक धार्मिक विचारधारा का भी प्रादुर्भाव हुआ। चीन के कन्फ्यूशियस और भारत के महात्मा गौतम बुद्ध की भांति एशिया के इस प्राचीन देश ने जरथुस्त्र नामक एक उपदेशक और मनुष्य जाति को ऊँचा उठाने की शिक्षा देने वाले महात्मा को जन्म दिया। इस बात में तो कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन विश्व के ईरानी साम्राज्य के बराबर विस्तृत साम्राज्य इस समय तक नहीं स्थापित हुआ। अपनी प्रौढ़ावस्था में ईरान का साम्राज्य यूनान और मिस्र से सिन्धु नदी और आरमीनिया से समरकन्द, बोखारा और मध्य एशिया तक फैला हुआ था। मानव सभ्यता के विकास में ईरान वासियों ने अपना सहयोग अवश्य प्रदान किया है। पहले हम ईरान के प्राचीन राजनीतिक इतिहास का वर्णन करेंगे और फिर उसकी सभ्यता का अध्ययन करेंगे।

प्राचीन ईरान का राजनीतिक इतिहास

ईरान का राजनीतिक इतिहास यों तो ईसा पूर्व नवीं शताब्दी ही से प्रारम्भ होता है जब मीडीज नामक एक जाति ने राज्य संस्थापन करने का प्रयत्न किया। ईरान वासियों ने साम्राज्य मीडीज लोगों से ही ग्रहण किया था। अतएव इनके विषय में कुछ जान लेना अनावश्यक न होगा। मीडीज वालों की असीरियावालों से लड़ाई चलती रहती थी। अतएव दयौक्कू नामक नेता के नेतृत्व में मीडीज लोग संगठित हो गये। कालान्तर में मीडीज लोगों ने एक सत्तात्मक राजतन्त्र की स्थापना कर ली और आधुनिक हमदान के निकट 'एकबाटना' नामक नगर में अपनी राजधानी बसा ली। वे कृषि-कार्य द्वारा अपनी जीविका उपार्जित करते थे, और बोझा ढोने वाले पशु ही उनकी मुख्य सम्पत्ति थे। उनके पास घोड़े, ऊँट और खच्चर बहुत बड़ी संख्या में थे। कृषक होने के साथ ही साथ मीडीज लोग पराक्रमी योद्धा और कुशल सैनिक भी थे। मीडीज लोगों ने अपनी वीरता से एलम निवासियों को पराजित किया, और सूसा को अपने अधिकार में कर लिया। साइ-ग्जेरस मीडीज का नेता था, उसने आरमीनिया पर आक्रमण किया, और एशिया माइनर के अर्द्ध पूर्वी भाग को अपने अधिकार में कर लिया। उत्तर में एल्बुर्ज पर्वत तक उसने अपनी राज्य-सीमा बढ़ा ली। पूर्व में पार्थिया के घुमक्कड़ अश्वारोहियों ने उसकी आधीनता स्वीकार कर ली। एलम और दक्षिण में पारस के राजकुमार उसके सामन्त (Vassal) थे। उसके मरने के बाद ऐसा प्रतीत होता था कि असीरिया की ही भांति मीडीज भी अपना विस्तृत साम्राज्य स्थापित करेंगे, किन्तु उसका पुत्र Astyages निकम्मा निकल गया। इसके पौत्र साइरस ने जो एक राजकुमार तथा एन्शान का निवासी था मीडीज और ईरानियों को मिला कर अपने साम्राज्य की स्थापना की। साइरस ने लीडिया, बेबीलोनिया और सीरिया को जीत कर एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया। उसका साम्राज्य पूर्व में भारतवर्ष से होकर पश्चिम में एशिया माइनर तक फैला हुआ था। ५२८ ईस्वी पूर्व में साइरस की मृत्यु हो गई, और उसका पुत्र केम्बसीज सिंहासनारूढ़ हुआ।

केम्बसीज ने साम्राज्य विस्तार का कार्य जारी रक्खा। उसने मिस्र पर आक्रमण किया। मिस्र के फरोह के मित्रों ने उसका साथ न दिया, इसलिये ईरान की सेना ने सहज ही मिस्र पर अधिकार कर लिया। केम्बसीज ने अपने

को ही फरोह मान लिया, और मिस्र के सिंहासन पर बैठ गया। उसकी मृत्यु के समय ईरान के साम्राज्य में मिस्र, सीरिया, एशिया माइनर, मैसोपोटैमिया और ईरान सम्मिलित थे। इसकी सीमायें नील नदी से फारस की खाड़ी और उत्तर में कैस्पियन सागर और भूमध्य सागर से Oxus के मरुस्थलों तक फैली थीं। कैम्बरीज की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र दारा राज्य सिंहासन पर बैठा। उसने शासन प्रबन्ध इतनी योग्यता से किया कि आन्तरिक विद्रोहों की कोई आशंका ही न रही। एक कुशल सेना-नायक होने के साथ ही साथ दारा चतुर शासक भी था। उसने एक बहुत विकसित शासन प्रणाली को जन्म दिया। उसने साइरस के प्राचीन साम्राज्य को पुनः संयुक्त किया और अफ्रीका तथा भारत की उत्तर पश्चिमी सीमा तक उसने अपने राज्य का विस्तार कर लिया। युद्ध में उसे कभी पराजय नहीं प्राप्त हुई, परन्तु मरेथान के युद्ध में उसे यूनानी शक्ति से हार खाकर पीछे लौटना पड़ा। उसके पुत्र जरसीज ने इस युद्ध को समाप्त नहीं होने दिया और विशाल स्थल सेना के साथ-साथ एक सुसंगठित जहाजी बेड़ा तैयार करके उसने यूनान पर विजय प्राप्त करने का विचार किया। ईरान वालों ने आक्रमण किया, परन्तु इस बार भी यूनान वालों ने थर्मोपोली के मैदान में विजय प्राप्त की। ईरान की शक्ति इस पराजय से काफी तहस-नहस हो गई, और ईरान में कोई योग्य शासक ही न हुआ, जो बिगड़ती हुई परिस्थिति को सम्भालता। अन्त में सिकन्दर महान ने ३३१ ईसवी पू० में फारस के प्राचीन राजवंश का नाश कर दिया। कुछ दिनों तक ईरान में सासानी वंश का शासन रहा।

ईरान की शासन व्यवस्था

ईरान में शासन व्यवस्था का प्रधान राजा होता था। उसकी शक्ति निरंकुश होती थी। परन्तु वह अत्याचारी नहीं था। सैद्धान्तिक रूप से राजा की शक्ति पर कोई नियंत्रण नहीं था, परन्तु व्यावहारिक रूप में उसकी शक्ति सात प्रमुख वंशों की एक समिति द्वारा सीमित थी। इस समिति को यह अधिकार था कि गम्भीर विषयों पर इसके सदस्य जिस समय चाहे सम्राट से मिलें और सम्राट उनकी राय लिया करे। एक प्रकार से वे स्थायी मंत्री थे। उनकी सम्मतियों का राजा यथासाध्य आदर करता था। उच्च श्रेणी के व्यक्ति राजा के द्वारा पुरस्कृत होते और उसके द्वारा जागीर प्राप्त करने के कारण उसके अधीन रहते थे। केन्द्रीय शासन कई विभागों में विभक्त होता था। विभाग के प्रधान अध्यक्ष को मंत्री कहा जाता था। साधारणतः ये ही प्रमुख पदाधिकारी होते थे: सेना का सेनापति, सम्राट का अंगरक्षक, न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश, प्रतिहार, राज सम्पत्ति का प्रमुख निरीक्षक, और खोजों व चाकरों के प्रमुख सरदार।

हम यह पहले कह आये हैं कि ईरान का साम्राज्य बहुत विस्तृत था। इस विशाल साम्राज्य को शासन एवं कर संग्रह की सुविधा से विभिन्न प्रान्तों में विभक्त कर दिया गया था। प्रत्येक प्रान्त का शासन गवर्नर करता था, जो उस प्रान्त में राजा का प्रतिनिधि समझा जाता था। प्रान्त के शासक को क्षत्रप कहा जाता था। क्षत्रप अपने प्रान्त के सुशासन के लिये सम्राट के प्रति उत्तरदायी था। इसे इतना पर्याप्त वेतन मिलता था कि वह खूब ठाट-बाट से रहता था। प्रत्येक प्रान्त में प्रान्तीय सेना का अध्यक्ष भी रहता था जो क्षत्रप पर लगाम सी लगाये रहता था। इसके अतिरिक्त प्रान्त में क्षत्रप से स्वतंत्र एक लेखक रहता था, जो प्रान्तीय शासन की प्रत्येक बातों की सूचना राजा तक पहुँचाता था। क्षत्रप के कार्य ये थे, प्रान्त में शान्ति बनाये रखना, न्याय करना, सड़कों की देख-रेख करना, आय व्यय का निरीक्षण करना और सूबे की एक बंधी हुई रकम निकाल कर सम्राट को भेंट करना। प्रान्तों से सम्राट को १४५६० टैलेन्ट अथवा ९.० या था ६५ करोड़ रुपयों की आमदनी होती थी। प्रान्तों में अच्छे शासन और क्षत्रप को शक्ति अनाकांक्षित रूप से बढ़ने न देने के लिये सम्राट किसी भी समय अपने 'नेत्रों और कानों' अर्थात् प्रतिनिधियों को किसी भी समय शासन सम्बन्धी मामलों का निरीक्षण करने के लिये प्रान्तों में भेज देते थे। सम्राट के प्रतिकूल कार्य करने पर क्षत्रप या तो पदच्युत कर दिये जाते थे, अथवा उनको विष देकर मार डाला जाता था। लेखक और क्षत्रप के अधीन प्रान्त में लिपिक (Clerks) थे जो राज्य का इतना अधिक कार्य कर डालते थे कि शक्ति प्रयोग की आवश्यकता बहुत कम पड़ती थी।

एक विशाल साम्राज्य के सुशासन के लिये राजमार्गों की व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक थी। इसीलिये ईरान के शासकों ने कई राजपथ बनवाये। एक सड़क सूसा से सर्डिस तक गई थी जो पन्द्रह मील लम्बी थी। सड़कों पर प्रति तीन मील के फासले पर सराय और राजभवन होते थे, इनमें तेज घोड़े डाक ले जाने के लिये हर समय तैयार रहते थे। एक यात्री को सूसा से सर्डिस तक जाने में ९० दिन लगते थे। परन्तु सरकारी घोड़े डाक लेकर एक सप्ताह से पहिले ही पहुँच जाते थे। ये सड़कें प्रमुखतया शासन और सैनिक दृष्टिकोणों से बनवाई गईं थीं। परन्तु इनके द्वारा व्यापार को प्रोत्साहन मिलता था और मनुष्यों के रीति-रिवाजों, विचारों और विश्वासों में परस्पर आदान-प्रदान होता था। नदियों को पार करने के लिए नावें तैयार रहती थीं, परन्तु ईरानी इन्जीनियर आवश्यकता पड़ने पर सुदृढ़ और विशाल पुल तैयार कर लेते थे। मिस्र का मार्ग सुगम करने के लिये दारा ने लालसागर और नील नदी को एक नहर खुदवा कर मिलवा दिया जिससे भूमध्यसागर का लालसागर से सम्बन्ध स्थापित हो गया। ईरान में गमनागमन के साधन विकसित अवस्था में थे और सड़कें प्रायः सुरक्षित थीं।

ईरानी साम्राज्य की सफलता का रहस्य कुशल शासन था विशाल और सुसंगठित सेना नहीं। ईरान में पन्द्रह से लेकर पचास वर्ष तक की आयु वालों के लिये सैनिक शिक्षा अनिवार्य थी। प्रत्येक प्रान्त में अलग-अलग सेनायें होती थीं और उनकी पोशाकें भी भिन्न-भिन्न होती थीं। भाले, तलवार, बरछे, खंजर, छूरी और तीर कमान सैनिकों के अस्त्र-शस्त्र थे। स्थायी सेना में अधिकतर मीडीज और ईरानी ही भरती किये जाते थे और सेना में उच्च पद भी उन्हीं लोगों को दिये जाते थे। परन्तु सेना में विभिन्न जातियों के होने से समय पड़ने पर ईरान की सेना एकता और अनुशासन नहीं प्राप्त कर पाती थी, इस कारण वश ईरान की सेना विशाल और शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होने पर भी अनुशासन का अभाव होने के कारण दुर्बल थी। ईरानियों ने एक जल-सेना का विकास कर लिया था, जो फीनीशियनों और यूनानियों पर निर्भर थी। व्यापारियों का एक दल भी बन गया था। इस दल ने भी अपना एक जहाजी बेड़ा तैयार कर लिया था जिसके द्वारा यह दल भारतीय समुद्र-तटों के आस-पास व्यापार करता था।

राज्य का सब से प्रधान सम्राट ही होता था। उसके अधीन एक न्यायालय होता था, जिसमें सात न्यायाधीश (दातवर) मुकदमे का फैसला करने के लिये बैठते थे। इसके अलावा राज्य भर में स्थानीय न्यायालय भी थे। वैसे तो साधारणतः पुरुष ही न्यायाधीश बनाये जाते थे किन्तु बाद में स्त्रियाँ भी न्यायाधीश का काम करने लगीं। न्याया-धीशों को निष्पक्ष होकर मुकदमों का निर्णय करना पड़ता था, यदि वे घूस लेते पकड़े जाते थे तो प्राण दंड के भागी होते थे। मुकदमों का फैसला जहाँ तक हो सकता था, जल्दी किया जाता था। मुकदमे वालों में पहले पंचों द्वारा सुलह कराने का प्रयत्न किया जाता था। कानूनी मामलों में सलाह देने वाले वकीलों का उद्भव बाद में हुआ। कानून तो पहले सरल थे किन्तु बाद में जटिल हो गए। शपथ और कठिन परीक्षाओं का प्रयोग किया जाता था। अपराध करने पर चाहे वह हत्या क्यों न हो दंड नहीं दिया जाता था। बार-बार अपराध करने पर राजा के विरुद्ध विद्रोह करने पर या व्यभिचार करने पर कठोर दंड दिया दिया जाता था। विष दे देना, रक्त शोषण करना, सूली चढ़ाना, फांसी देना, अंग भंग करना और कारागार में बन्द कर देना ये ही प्रमुख दंड थे। मामूली अपराधों पर चाबुक लगाये जाते थे।

ईरान की शासन व्यवस्था को हम सफल और श्रेष्ठ ही कहेंगे यद्यपि कभी-कभी दंड कठोर दिये जाते थे। प्रान्तों पर कर बहुत अधिक लगाया जाता था, और यद्यपि बाद के शासक मनमानी करने लगे, तथापि प्रान्तों को काफी स्वतंत्रता प्राप्त थी। अधिक कर लगाये जाने पर भी वे प्रायः सन्तुष्ट रहते थे। ईरान के अधिकांश शासक जरथुस्त्र की शिक्षाओं से अनुप्राणित होने के कारण उदार और प्रजा वत्सल होते थे। प्रत्येक प्रान्त की भाषा, कानून, रीति रिवाज नैतिक आचार विचार, धर्म के क्षेत्र में काफी स्वतंत्रता प्राप्त होती थी। धार्मिक स्वतंत्रता ईरानी शासन की एक प्रमुख विशेषता थी। ईरान का धर्म यह शिक्षा देता है कि शासक अपने देवता के प्रति उत्तरदायी

होता है और अमृतत्व की आशा निष्पक्ष, न्यायपूर्ण और उदार शासन पर अवलम्बित है। इस भावना से प्रेरणा प्राप्त करने के कारण राजा उदारता पूर्वक शासन करते थे। दारा अपने एक उत्कीर्ण लेख में कहता है: "इसलिए अहुर मजदा ने मुझे स्वाथ्य प्रदान किया है चूंकि मैं दुष्ट नहीं था, मैं मिथ्यावादी न अत्याचारी था, न मैं और न मेरे कोई वंश का। हमने सत्यता के अनुसार शासन किया है"।

ईरान ने धर्म के क्षेत्र में पर्याप्त मौलिकता दिखाई और संसार को उसकी यही प्रमुख देन है। पहले ईरानी लोग पशुओं, पूर्वजों, पृथ्वी और सूर्य आदि की पूजा करते थे। उनके मुख्य देवता थे, मिथ्र और अनाहित। मिथ्र सूर्य

ईरान का धर्म

प्रकाश के देवता थे, और अनाहित उर्वरा शक्ति और पृथ्वी की देवी थी। परन्तु कदाचित छठीं शताब्दी में ईरान की भूमि पर दया, करुणा सहानुभूति और सदाचार की शिक्षा देने वाले एक मनस्वी महात्मा का आविर्भाव हुआ। इन महात्मा का नाम जरथुस्त्र था। कुछ इतिहासकार उनके पार्थिव अस्तित्व के विषय में सन्देह करते हैं, परन्तु इस मत के लिये भी कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है कि जरथुस्त्र एक ऐतिहासिक पुरुष न थे। उनकी शिक्षाओं का ईरान के जीवन पर बहुत महत्व पूर्ण प्रभाव पड़ा। ईरानियों की पौराणिक कथाओं के अनुसार उनका जन्म होने पर दैत्यों और प्रेतों ने उनको ग्रसित करना चाहा। परन्तु 'जाको राखै साइयाँ मार सके न कोय' के अनुसार उनका बाल बांका भी न हुआ। पन्द्रह वर्ष की अल्प अवस्था में उनका विवाह हो गया, परन्तु उनका चित्त भौतिक जगत से सदैव विरक्त रहता था। दैवी ज्ञान प्राप्त करने की अदम्य लालसा उनके हृदय में हिलोरें लिया करती थी। अन्त में उन्होंने बुद्ध की भांति अपने सांसारिक सुख को त्याग दिया और आर्तजनों के कष्टों का निवारण करने के लिये वे बद्धपरिकर हो गये। जब वे ज्ञान की खोज में इतस्ततः घूम रहे थे, तभी उनके मस्तिष्क में दैवी ज्ञान सहसा उत्पन्न हो गया। इस ज्ञान द्वारा वे प्राणियों के दुख नाश के हेतु फिर संसार में ही लौट पड़े और अपने सदुपदेशों से अज्ञान से आच्छन्न ईरानी जीवन में ज्ञान रूपी आलोक की किरणें विकीर्ण करने लगे। बहुत दिनों तक उनको कोई शिष्य ही नहीं प्राप्त हुआ परन्तु बाद में उनका चचेरा भाई ही उनका अनुयायी हुआ। फिर बाद में जरथुस्त ने दारा जैसे महान शासक को भी अपने मत का अनुयायी बना लिया।

महात्मा जरथुस्त्र ने बताया कि संसार में सत् और असत् की शक्तियां सदैव संघर्ष किया करती हैं। ये सारे संसार पर अपना अपना अधिकार स्थापित करने की चेष्टा करती हैं। मनुष्य को उचित है कि सत की शक्तियों का समर्थन करे, और असत का विरोध करे। जरथुस्त्र के विचार से ईश्वर ने इस जगत की सृष्टि सत् असत् की शक्तियों के पारस्परिक संघर्ष को प्रदर्शित करने वाली रंगशाला के रूप में की है। उन्होंने यह स्पष्ट बताया कि मनुष्य को इस बात का पूरा-पूरा अधिकार है कि वह विवेक के अनुसार जिसे चाहे चुने। इसके लिये उसे पूर्ण स्वतंत्रता है। इस प्रकार के सत असत के मामलों में उन्होंने व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का प्रतिपादन किया। मनुष्य के व्यक्तिगत उत्तर-दायित्व के कारण उसके लिये पूर्ण नैतिक रहना आवश्यक हो गया है। सृष्टि के समान मनुष्य की आत्मा में भी सत और असत का संघर्ष सदैव होता रहता है। प्रत्येक चाहे अथवा न चाहे, वह या तो देवता या दानव की सेना का सैनिक है। उसके प्रत्येक कार्य से सत या असत की शक्तियों को सहायता प्राप्त होती है। यह एक ऐसा आचार शास्त्र है। जो अध्यात्म विद्या से भी अधिक प्रशंसनीय है क्योंकि वह एक साधारण व्यक्ति के जीवन को भी महत्व और गौरव प्रदान करती है। इस दर्शन में मनुष्य अतिमानवीय शक्तियों के हाथ में निस्सहाय दुर्बल प्राणी नहीं है वरन् विवेक शक्ति से सम्पन्न अपने भाग्य का निर्माता है।

सत की शक्ति के प्रतीक रूप में आहुरमज्दा और असत के प्रतीक रूप में अहिरमन थे। आहुर मजदा प्रकाश और ज्ञान के देवता थे, और अहिरमन अंधकार एवं अज्ञान को अभिव्यक्त करता था। संसार की समस्त श्रेष्ठ वस्तुओं के निर्माता आहुर मजदा थे और उन वस्तुओं का विनाशक तथा हानिकारिणी वस्तुओं का स्वामी अहिरमन था। आहुर मजदा के ये सात गुण थे १–ज्योति, २–सुन्दर ज्ञान, ३–सत्य, ४–आधिपतित्व, ५–पवित्रता, ६–[illegible], ७–कल्याण। बाद में जरथुस्त्र के अनुयायियों ने मजदा के इन सात गुणों को आकार या मूर्तिमान रूप प्रदान कर दिया। जरथुस्त्र ने

आहुर मजदा को संसार की समस्त श्रेष्ठ वस्तुओं का नियामक और कर्ता बतलाया। वे कहते थे "ऐ आहुरमजदा मुझे तू सच सच बतला दे, मैं तुझसे यह पूछता हूँ सूर्य-तारों के पथ को किसने निश्चित किया? वह कौन सी ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा चन्द्र घटता-बढ़ता है? नीचे से पृथ्वी और आकाश को गिरने से कौन सम्भालता है? कौन ग्रहों और समुद्रों को सम्भालता है? कौन वायु और बादलों को द्रुतगामी बनाता है? ऐ आहुर मजदा किसने श्रेष्ठ मस्तिष्क को जन्म दिया। वह्नि, बाढ़, उल्का, झंझा और संक्रामक रोग आदि विनाशकारिणी वस्तुयें अहिरमन के स्वरूप को इस लोक में साकार करती थीं। अहिरमन और उसकी शक्तियों से लड़ने में दया की नहीं अपितु न्याय का अवलम्बन करना चाहिये।

जरथुस्त्र के दार्शनिक सिद्धान्त गाथा अहुनवैती नामक ग्रन्थ में संकलित हैं। इसमें कहीं कहीं बड़ा सुन्दर और दार्शनिक विवेचन मिलता है। सत और असत की विवेचना करते हुये यह बतलाया गया है कि जीवन में इन परस्पर विरोधी शक्तियों का क्या महत्व है। एक के अस्तित्व पर ही दूसरे का अस्तित्व अवलम्बित है। संसार में असत है इसीलिये हम सत का आभास कर पाते हैं। सौन्दर्य का अनुभव और साक्षात्कार हम इसीलिये कर पाते हैं कि इसके साथ-साथ कुरूपता भी विश्व में विद्यमान है। मृत्यु एक भयानक सत्य है इसीलिये जीवन की लालसा अधिक जागरूक है। पुष्प का क्षणस्थायी सौन्दर्य ही उसे हमारे लिये इतना अधिक प्रिय और महत्वपूर्ण बनाता है। संसार में भावों की सृष्टि अभावों से ही संभव है। जरथुस्त्र ने संसार के विकास के लिये सत और असत दोनों की विद्यमानता आवश्यक समझी। उनके मतानुसार जीवन में अभाव उतने ही आवश्यक और महत्वपूर्ण है जितने कि भाव।

आचार के क्षेत्र में जरथुस्त्र ने निस्वार्थ सेवा, परोपकार दया, उदारता और स्नेह आदि मानवीय गुणों पर जोर दिया। उन्होंने उपदेश दिया कि आपत्ति ग्रस्त प्राणी की सहायता करने से अधिक पुण्य कार्य नहीं हो सकता। परस्पर सहानुभूति की भावना मानवता के विकास के लिये सबसे महान साधन है। गीताकार की भांति उन्होंने भी निष्काम कर्मयोग का उपदेश दिया। जीवन के इस पवित्र आदेश का उन्होंने मनसा वाचा और कर्मणा पालन करने के लिये कहा। सत्य भाषण और सदाचरण उन्होंने मनुष्य के आदर्श गुण बतलाये। किन्तु सत्य भाषण के साथ साथ उन्होंने कटु सत्य का निषेध किया और असत्य को भी निन्द्य बताया। यह विचार संस्कृत के इस श्लोक से मिलता-जुलता है।

> सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्
>
> प्रियं चानानृतं ब्रूयात् एवं धर्मं सनातनः

भावी जीवन

मनुष्य के भावी जीवन के विषय में ईरानी धर्म की धारणा बड़ी विकसित थी। मनुष्य का व्यक्तित्व द्वन्दात्मक समझा जाता था जीवन उसके व्यक्तित्व का आध्यात्मिक अंग था, और शरीर उसका एक साधन मात्र था। ईरानियों के लिये मृत शरीर कोई विशेष महत्व का नहीं था। वे मृत शरीर को कुत्तों तथा पक्षियों के खाने के लिये फेंक देते थे। सत और असत की शक्तियों का द्वन्द मनुष्य की मृत्यु के बाद भी जारी रहता था। मनुष्य का इस लोक में आचरण ही उसके भावी जीवन की गति निर्धारित करता है। आहुर मजदा की सेना का सैनिक मृत्यु से निर्भीक रहता था क्योंकि वह संसार में सदाचार मय जीवन व्यतीत करता था। स्वर्ग में श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्य का सुन्दरी परियाँ स्वागत करती थीं। किन्तु अहिरमन की सेना के सैनिक को रौरव नर्क में प्रवेश करना पड़ता था। ईरानियों का विश्वास था कि सत और असत की शक्तियों में जो संग्राम चलता है इसमें अन्ततोगत्वा सत की शक्तियाँ विजय प्राप्त करेंगी। जब मजदा की विजय पूर्ण हो जायगी, तो उसका साम्राज्य इस लोक में छा जायगा, और अहिरमन तथा उसकी विनाशकारिणी शक्तियों का नाश हो जायगा। तब सब श्रेष्ठ आत्मायें ऐसे लोक में सुख से जीवन व्यतीत करेंगी, जहाँ दैन्य कष्ट और असत का नाम भी न होगा। मृत फिर से उठ जायेंगे। शरीरों में पुनः प्राण संचार होगा और वे श्वास लेने लगेंगे। सम्पूर्ण भौतिक विश्व जरामरण

तथा विनाश और दूषण से सदैव के लिये मुक्त हो जायगा।

कालान्तर में जरथुस्त्र की स्वस्थ शिक्षायें पुरोहितों के फल स्वरूप अन्ध विश्वासों और कर्मकाण्डों के सामने धीरे धीरे विलुप्त होने लगी। दारा के समय में ही जिस समय आहुर मजदा की पूजा राजकीय धर्म समझी जाती थी, साधारण जनता अनाहित और मिथ्र (सूर्य के देवता और उर्वरा शक्ति की देवी) की पूजा कर रहे थे। लोग पुरोहितों की अध्यक्षता में फलों फूलों सुगंधित पदार्थों और पशुओं की बलि देते थे। मिथ्र की उपासना का भी प्रचार बढ़ा और जिन वस्तुओं को महात्मा जरथुस्त्र ने मना किया था वे ही उनके धर्म में प्रविष्ट हो गईं। जादू-टोने में लोग विश्वास करने लगे। धार्मिक क्रियाये केवल जादू के मन्त्रोच्चारण द्वारा अपनी शुद्धि तक ही सीमित रह गयी। पुरोहितों का व्यक्तिगत जीवन विशुद्ध और संयमित था इसलिये जनता के ऊपर उनका प्रभाव बहुत अधिक पड़ा था। ये लोग मांस नहीं खाते थे। एक पत्नीव्रत रहते और अनेक संस्कारों एवं सरल जीवन चर्या द्वारा यथाशक्ति पवित्रता रखते थे। ईरान के सम्राट तक उनका आदर करने लगे। पुरोहितों में जो उच्च श्रेणी के थे वे लोग साधु थे। परन्तु निम्न श्रेणी के पुरोहित तारात्रों को देख कर जादू की सहायता से लोगों का भविष्य बता देने वाले ज्योतिषी ही थे। धीरे धीरे करके ईरान के धार्मिक जीवन से जरथुस्त्र की अनुपम शिक्षायें दूर होने लगी, और इसलाम का प्रवेश होने प जरथुस्त्र के अनुयायियों को अपनी धर्म रक्षा के लिये भारत में शरण लेनी पड़ी।

ईरान का साहित्य तथा भाषा और लिपि

ईरानियों के पास साहित्य का अभाव था। आज कल उनका थोड़ा साहित्य ही प्राप्त है। उनके साहित्य में प्रणय गीत थे। परन्तु अब उनके कोई भी चिन्ह अवशिष्ट नहीं हैं। उनके महाकाव्यों के भी केवल कुछ ही अंश प्राप्त हैं। अरेबियन नाइट्स में ईरानियों की कुछ कथायें उपलब्ध हैं परन्तु उन्हें पूर्णतया ईरानी नहीं कहा जा सकता। अवेस्ता नामक उनके धर्म ग्रन्थ में उनका गीत काव्य सुरक्षित है। परन्तु उनके गीत काव्य में हमें उस भाव प्रभावणता और काव्य सौष्ठव के दर्शन नहीं होते जो हिन्दुओं के प्राथना गीतों की विशेषता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ईरानियों के गीतों में हमें एक श्रेष्ठ धार्मिक और नैतिक भावना दिखाई पड़ती है। ईरान में अनेक भाषायें प्रचलित थी, परन्तु संस्कृत से मिलती जुलती एक भाषा उनकी राज्य भाषा थी। प्राचीन ईरान की भाषा दो रूपों में हो गई एक का नाम था जिन्द जिसमें उनके धर्म ग्रन्थ जिन्द-अवेस्ता की रचना हुई थी और पहलवी जिससे आज कल की ईरानी भाषा निकली है। ईरानियों ने अक्षर बेबीलोनिया वालों से ग्रहण किये किन्तु उन्होंने तीन सौ अक्षरों का काम केवल छत्तीस अक्षरों से निकालना आरम्भ किया। इस लिपि का प्रयोग वे केवल दैनिक जीवन के कार्यों में करते थे, इसलिये उनके द्वारा लिखित साहित्य हमें उपलब्ध नहीं होते। श्रुति परम्परा द्वारा ही उनका कुछ साहित्य सुरक्षित रह सका।

शिक्षा

पांच बरसों तक बच्चों को माता की सावधानी में रहना पड़ता था। पांच से सात बरसों तक उनकी देख रेख पिता करता था। सात वर्ष की आयु में बच्चों को पाठशाले में प्रविष्ट कराया जाता था। शिक्षा कुछ सम्पन्न व्यक्तियों तक ही सीमित थी। और पुरोहित ही शिक्षा देने का कार्य करते थे। पुरोहित के घर में मन्दिर में कक्षायें लगा करतीथीं। बाजार के निकट पाठशाला न स्थापित करना एक सिद्धान्त समझा जाता था। शायद वे ऐसा समझते थे कि बाजार के गन्दे वातावरण का जहाँ मिथ्यावादन, शपथ ग्रहण और वंचना का साम्राज्य छाया रहता था, सुकोमलमति छात्रों पर अवांछनीय प्रभाव पड़ेगा! बच्चों को अवेस्ता पढ़ाया जाता था, और धार्मिक शिक्षा ही पाठ्य क्रम का प्रमुख अंग थी। पढ़ाने का ढंग यही था कि बच्चों को पाठ याद करा दिये जाते थे और फिर उनसे पाठ सुने जाते थे। इसी मौखिक प्रणाली से बच्चों को शिक्षा प्रदान की जाती थी। साधारण जनता के बच्चों को पुस्तकीय शिक्षा नहीं दी जाती थी। उनको अश्वारोहण करने, धनुष चलाने और सत्य बोलने की शिक्षा दी जाती थी। उच्च घराने के लड़कों को उच्च शिक्षा प्रदान की जाती थी। उच्च शिक्षा प्राप्त करने की आयु बीस या चौबीस वर्ष तक थी।

कुछ लड़कों को सरकारी नौकरी अथवा प्रान्तीय शासन के लिये तैयार कराया जाता था। इन पाठशालाओं में विद्यार्थियों को अत्यन्त नियन्त्रित एवं अनुशासित जीवन व्यतीत करना पड़ता था। विद्यार्थी प्रातःकाल शीघ्र उठ जाता था और दूर तक दौड़ लगाता था। उसे घोड़ों पर सवार होना पड़ता था। शिकार करने तथा चोरों को पकड़ने का अभ्यास करना पड़ता था। उसे तैरना, ऋतु के परिवर्तन को सहन करना, खेतों में बीज बोना, और पौदे लगाने की भी शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थी को सदैव साधारण भोजन से संतुष्ट रहना पड़ता था। कदाचित इस शिक्षा के द्वारा युवक को वीर, साहसी और कठिन कार्यों में दक्ष बनाने का प्रयत्न किया जाता था। शिक्षा की इस व्यवस्था में मानसिक विकास एक गौण वस्तु समझी जाती थी।

ईरान का समाज

ईरानियों के इतिहास के प्राचीन काल में उनका चरित्र श्लाघ्य था। वे स्वच्छ हृदय वाले, उदार, अतिथि सत्कार करने वाले और स्नेही थे। शिष्टाचार का उनके लिये वही महत्व था जो चीनियों के लिये था। वे मार्ग में कुछ खाना, नाक छीकना या थूकना अनुचित समझते थे। वे दिन में केवल एक बार ही भोजन करते थे। स्वच्छता ईरानियों के लिये जीवन के बाद सबसे महत्वपूर्ण वस्तु थी। इन्द्रिय-जन्य दोषों के लिये कठोर दंड की व्यवस्था थी और व्यभिचार भयंकर अपराध समझा जाता था। परन्तु बाद में ईरानियों का आचरण उतना उन्नत न रह गया।

ईरानी समाज में अविवाहित पुरुषों और अविवाहित नारियों को महत्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त था। समाज में उसी पुरुष का सम्मान किया जाता था, जो विवाह करके गृहस्थ-जीवन बिताता था। परिवार को सबसे पवित्र संस्था समझा जाता था। जरथुस्त्र के समय में ईरान के समाज में नारियों का सम्मान होता था। उसे परदे के भीतर नहीं रहना पड़ता था और सार्वजनिक कार्यों में वह भाग ले सकती थी। वह सम्पत्ति पर अधिकार रख सकती थी, और आवश्यकता पड़ने पर उसका प्रबन्ध कर सकती थी। दारा के बाद स्त्रियों का स्थान निम्न हो गया। प्राचीन ईरान के किसी उत्कीर्ण लेख में हम नारी का नाम तक नहीं पाते। परिवार में पुत्र का स्थान पुत्री की अपेक्षा कहीं अधिक ऊँचा था। बालकों के उत्पन्न होने पर प्रसन्नता प्रकट की जाती थी और पुत्री की उत्पत्ति पर शोक प्रकट किया जाता था।

ईरानी कला

ईरान में कला का विकास न हो सका। स्वभाव से ही ईरानी युद्ध-प्रिय एवं शारीरिक शक्ति को अधिक महत्व प्रदान करने वाले थे। उनका धर्म भी कलात्मक अभिरुचि को जागृत करने वाला न था। उन्होंने कला के तत्व मिस्र या बैबीलोनिया वालों से ग्रहण किये थे, और केवल उनकी वास्तु-कला के ही कुछ उदाहरण हमें आज उपलब्ध हैं। ईरानी सम्राटों ने विशाल भवनों और सरकारी इमारतों का निर्माण कराया। फारसी वास्तु-कला मौलिक न होने पर भी प्रभावशालिनी अवश्य थी। इमारतें किसी पहाड़ी पर बनाई जाती थीं, और उन तक पहुँचने के लिये बड़ी-बड़ी सीढ़ियाँ बनी होती थीं। इमारत के शिखर पर पत्थर साँड़ खड़े रहते थे। यह चाल ईरान वालों ने असीरियों से सीखी थी। भवन के भीतर दीवालों को सजाने के लिये उन पर राजा तथा उसके नौकर के चित्र खींच दिये जाते थे। साइरस की कब्र अधिक सुरक्षित दशा में है। वह अन्य भवनों की अपेक्षा अधिक सादी और श्रेष्ठ है।

ईरान की देन

मानव सभ्यता के लिये ईरान ने शासन व्यवस्था तथा धर्म के क्षेत्र में मौलिक उपहार प्रदान किये। यद्यपि उन्होंने शासन प्रणाली की कल्पना असीरियों से ग्रहण की थी तथापि उन्होंने इसे इस रूप में विकसित किया कि इसका अनुकरण रोमवासियों ने किया। ईरानियों का धर्म मिस्र के अखनातून के सिद्धान्त और उपनिषदों की एकेश्वर भावना को छोड़कर सर्वश्रेष्ठ था। जरथुस्त्र के नैतिक सिद्धान्तों के विषय में कोई अस्वीकृति नहीं प्रकट कर सकता था। उनका सत् विचारों, सत् शब्दों और सत् कार्यों पर जोर देना एक प्रशंसनीय बात है और नितान्त बुद्धिवादी तथा नास्तिक भी धर्म के इस तत्व को सिर झुका कर स्वीकार करेंगे।

भविष्य जीवन के विषय में ईरानियों की कल्पना नितान्त मौलिक थी। इतना ही नहीं ईरान के सम्राटों ने (सासानी सम्राटों को छोड़कर) धार्मिक सहिष्णुता प्रदर्शित की। ईरान वासियों ने हिन्दुओं के साथ जो सद्व्यवहार किया वह इतिहास के लिये एक नवीन बात थी। ईरानियों की एक महत्वपूर्ण देन इस बात में है कि उन्होंने सभ्यता के विभिन्न केन्द्रों को एक ही शासन के अधीन रक्खा, और उनकी सभ्यताओं से उन्होंने एक मिली-जुली सभ्यता का विकास किया तथा इसे मानवता के लिये छोड़ गये।

—:o:—

नवाँ अध्याय

यूनानी सभ्यता

हम आज जिस युग में रह रहे हैं वह प्रजातन्त्रवाद, व्यक्ति-स्वातंत्र्य, वैज्ञानिक प्रगति और बुद्धिवाद का युग है। आज का सभ्य व्यक्ति इन वस्तुओं पर गर्व करता है और इन्हें अपनी सभ्यता की विशेषतायें समझता है। लेकिन कदाचित् उसे न मालूम हो कि ये वस्तुयें आधुनिक-युग की उपज नहीं हैं, वरन् इनका जन्म आज से बहुत पहले भूमध्य-सागर के तटवर्ती एक छोटे से प्रायद्वीप यूनान में हो चुका था। पाश्चात्य सभ्यता बहुत अधिक अंशों में यूनानी सभ्यता की पुत्री कही जा सकती है। योरप की सभ्यता पर यूनान के ऋण को स्वीकार करते हुए अंग्रेजी के अमर कवि शेली ने अपने ग्रन्थ 'हेलाज' की भूमिका में लिखा है, "हम सभी यूनानी हैं। हमारे कानून, हमारा साहित्य, हमारा धर्म, हमारी कलायें, इन सबका मूल यूनान में है।" डा० विल डुरेन्ट ने "लाइफ ऑफ ग्रीस" की भूमिका में लिखा है, "मशीनों को छोड़कर हमारी संस्कृति का कदाचित् ही कोई ऐसा इहलोक-परक तत्व है जिसका उद्भव यूनान में न हुआ हो।" प्राचीन यूनान ने निस्सन्देह एक अत्यन्त उन्नत और समृद्ध संस्कृति को जन्म दिया था। यूनानियों के द्वारा शायद ही ज्ञान की कोई शाखा अछूती बची हो और जिस क्षेत्र में उन्होंने प्रवेश किया उसे अपनी सृजनात्मक प्रतिभा और उत्कृष्ट कल्पना शक्ति द्वारा समलंकृत कर दिया। उनकी सभ्यता के निर्माण और विकास में उनकी भौगोलिक परिस्थितियों का महत्वपूर्ण भाग था। अतः इसे सम्यक् रूप से समझने के लिए हमें यूनान की भौगोलिक स्थिति का अध्ययन कर लेना चाहिए।

यूनान की भौगोलिक स्थिति

प्राचीन यूनानी अपने देश को 'हेलाज' कहते थे। इस हेलाज में वर्तमान यूनान का सम्पूर्ण प्रायद्वीप सम्मिलित था और एशिया माइनर का समुद्रतट तथा एजियन समुद्र के द्वीप इसी के अन्तर्गत थे। यूनान देश में समुद्र दूर तक घुसता हुआ चला गया है जिससे कई उत्तम बन्दरगाह बन गये हैं। इसी कारण से यूनान सदैव ही छोटे-छोटे जलयानों को चलाने के लिए उपयुक्त स्थान रहा है। इसके अतिरिक्त वायु की दिशा भी जहाजरानी के लिए अनुकूल रहती है। यूनान की भूमि कृषि के लिए उपयुक्त नहीं थी और वहां जहाजरानी की सभी सुविधायें विद्यमान थीं। इसीलिए प्राचीन यूनानी सुप्रसिद्ध और कुशल नाविक हो सके। यूनान का प्रायद्वीप अनेक वनों, निम्न पर्वत-श्रृंखलाओं और समुद्र के द्वारा असंख्य छोटे-छोटे भागों में बँटा था। इस भौगोलिक परिस्थिति ने प्राचीन यूनानियों के राजनीतिक संगठन को अत्यधिक रूप से प्रभावित किया। लोग छोटी-छोटी राजनीतिक इकाइयों में विभक्त रहा करते थे और नगर-राज्य की पद्धति प्रमुख शासन-प्रणाली थी। देश में भवन-निर्माण में प्रयुक्त होने वाले अच्छे पत्थर पर्याप्त परिमाण में विद्यमान थे जिससे यूनानी लोग वास्तु और स्थापत्य के अपने अनुपम नमूने संसार के सामने रख सके। इस पत्थर के अभाव में वे अपनी स्थापत्य और वास्तुकलाओं से वंचित रह जाते।

यूनान की जलवायु अच्छी है। तापक्रम समशीतोष्ण है। स्थान-स्थान पर तापक्रम में अन्तर भी रहता है। यूनान के प्रसिद्ध नाटककार यूरीपिडीज ने अपने देश की जलवायु की प्रशंसा इन शब्दों में की है, "हमारा वातावरण शान्तिदायक और कोमल है। शीत-ऋतु की ठण्डक हमारे लिए असह्य नहीं है और सूर्य की तीरें (किरणें) हमें आहत नहीं करतीं।" इस प्रकार की जलवायु सभ्यता के विकास के लिए नितान्त अनुकूल थी, इसीलिए यूनान में एक उन्नत सभ्यता विकसित हो सकी।

यूनानी जाति

यूनानी लोग मूलतः आर्य जाति की इण्डो-यूरोपीयन शाखा के थे और दक्षिणी-पूर्वी योरप के चरागाहों में रहते थे। वे स्वयं चरागाह थे और उपयुक्त स्थान की खोज में इधर-उधर घूमा करते थे। वे हिट्टाइट अथवा क्रीट जातियों की अपेक्षा कम सभ्य थे। उनका प्रथम दल जो एकीयन्स (Achaeans) कहलाता था, यूनान के प्रायद्वीप में २००० ईसवी पूर्व के लगभग पहुँचा। उनका दूसरा दल, डोरियन, दक्षिणी योरप में ईसा पूर्व ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग पहुँचा। डोरियन लोगों ने एजियन और एकीयन लोगों को पराजित किया और क्रीट, ट्राय तथा एशिया माइनर के समुद्रतट पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। बाद में वे वहाँ के निवासियों के साथ घुल-मिल गये और इस प्रकार 'आयोनियन' शाखा का निर्माण हुआ। आयोनियन एथेन्स के आस-पास बस गये और आयोनियन और आगे उत्तर में रहने लगे। १००० ईसवी पूर्व तक इन लोगों ने एजियन द्वीप समूह पर अधिकार कर लिया था। इन जातियों ने एजियन लोगों की सभ्यता के तत्व ग्रहण कर लिये और बाद की यूनानी सभ्यता का विकास किया। ६०० ईसवी पूर्व तक ये आक्रमणकारी एजियन सभ्यता के सम्पर्क के कारण काफी सभ्य हो गये थे। इनके इस समय के जीवन का वर्णन हमें महाकवि होमर के दो सुप्रसिद्ध महाकाव्यों 'ईलियड' और 'ओडीसी' में प्राप्त होता है। होमर ने यूनानियों को 'यूनानी' नहीं कहा है बल्कि उनका वर्णन उनके 'कबीले' के नाम पर किया है।

होमर के समय की यूनानी सभ्यता

यहाँ होमर के इन दो प्रसिद्ध महाकाव्यों में वर्णित सभ्यता का दिग्दर्शन कराने का प्रयास किया जाता है।

होमर ने अपने महाकाव्यों में अभिजात्य वर्ग के लोगों के विषय में लिखा है। राजाओं, सरदारों तथा योद्धाओं के जीवन का ही वर्णन उसने किया है। जन साधारण के जीवन में उसने अपेक्षाकृत कम अभिरुचि प्रकट की है।

होमर के समय का समाज

समाज के लोगों पर एक राजा शासन करता था जिसके अधिकार दैवी समझे जाते थे। राजा प्रधान सेनापति, प्रधान पुरोहित और न्यायाधीश होता था किन्तु वह निरंकुश नहीं हो सकता था। सरदारों की एक सभा होती थी जो उसकी शक्ति पर नियन्त्रण रखती थी। विशेष अवसरों पर जन-साधारण की सभायें भी बुलाई जाती थीं जिनसे राजा और सरदार अपनी नीति का समर्थन प्राप्त करते थे। सभाओं में लोगों को भाषण की स्वतन्त्रता प्राप्त रहती थी। इन बातों से हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यूनान की प्रजातन्त्रात्मक शासन-पद्धति के बीज इस समय वर्तमान थे।

आर्थिक जीवन

'ईलियड' और 'ओडीसी' के अध्ययन से पता चलता है कि इस समय का आर्थिक जीवन कृषि पर आधारित था। गेहूँ और जौ प्रमुख उपजें थीं, बाजरा भी उत्पन्न किया जाता था। बागों में अंजीर जैतून तथा सेब आदि फल उत्पन्न होते थे। फलों से यूनानी मदिरा तैयार करते थे और बहुलता से वे इसका प्रयोग करते थे। पशु पालन पर बहुत ध्यान दिया जाता था। गायों, बैलों, घोड़ों, ऊँटों और अन्य कई पशुओं का उल्लेख मिलता है। यूनानी पशुओं का आखेट भी करते थे और भयङ्कर पशुओं जैसे रीछ, सिंह तथा भेड़ियों का शिकार करने में उन्हें आनन्द आता था।

होमर के समाज में उद्योग-धन्धे भी प्रचलित थे किन्तु वे प्रारम्भिक दशा में ही थे। यूनानियों ने जंगलों को साफ कर के उन्हें अपने खेतों के मैदानों में बदल दिया था। स्त्रियाँ तथा स्त्रियाँ सूत कातती थीं और घरेलू प्रयोग के लिए वस्त्र बुनती थीं। 'ओडीसी' में 'पेनीलोप' अपने प्रियतम के पुनरागमन की प्रतीक्षा करती हुई और वस्त्र बुनती हुई दिखाई गई है। सुनार, कुम्हार, राजगीर, बढ़ई और साज बनाने वाले मोची, ये ही प्रमुख कारीगर थे। सुनार और कुम्हार अपनी दूकानों में काम करते थे और अन्य कारीगर लोगों के घरों में जाकर आवश्यकतानुसार उनकी वस्तुयें बना आते थे। कुशल कारीगरों का समाज में सम्मान था। सोने, चाँदी या ताँबे की बनी हुई विलास-सामग्रियों की काफी माँग थी।

स्थल-मार्ग के द्वारा व्यापार करना कठिन था क्योंकि स्थान-स्थान पर पर्वत मालाओं और छोटे-छोटे झरनों के कारण गमनागमन ठीक से नहीं हो सकता था। प्राकृतिक बन्दरगाहों के कारण जल-मार्गों द्वारा व्यापार खूब सरलता से हो सकता था। व्यापार अधिकतर फोनीशिया के लोग ही करते थे। यूनानी व्यापार से घृणा करते थे। होमर के समय में किसी प्रकार के सिक्के का प्रचलन नहीं था। ताँबे या सोने के टुकड़ों अथवा गाय या बैलों के द्वारा ही मूल्य का निर्धारण किया जाता था। व्यापार की अवस्था विकसित नहीं थी। यूनानी प्रमुखतया कृषक ही थे। उनकी जीविका का साधन कृषि ही थी। व्यापारियों के जहाज़ों को लूटकर भी वे अपने लिए धन प्राप्त करते थे।

नैतिक अवस्था

होमर के समाज की नैतिक अवस्था क़बीले के नियमों के ऊपर आधारित थी। व्यक्ति के अन्दर नैतिक उत्तरदायित्व का कुछ भाव था और पश्चात्ताप, विवेक आदि भावनाओं से भी परिचित था किन्तु इन सब के विषय में उसकी धारणा स्पष्ट नहीं थी। उसका धर्म आचार-प्रधान न था किन्तु देवताओं के प्रति विनम्रता, विश्वास, पवित्रता और भक्ति की भावनाओं को वह आवश्यक समझता था। पारिवारिक बन्धनों को विशेष रूप से पवित्र समझा जाता था और वृद्धों तथा माता-पिता का सम्मान करने पर ज़ोर दिया जाता था। होमर के समाज में नारियों का स्थान जितना सम्मानपूर्ण था उतना बाद के यूनानी समाज में कभी न हो सका। यद्यपि लोग रखैलियों को भी रख लिया करते थे तथापि एक पत्नी रखना ही साधारण नियम था। दोनों महाकाव्यों में दाम्पत्य प्रेम को उच्च स्तर पर रक्खा गया है। पत्नी गृह की स्वामिनी थी और उसका सामाजिक स्तर अपने पति के लगभग बराबर ही था। दासों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था।

सामाजिक आचार 'मित्रों से स्नेह करो और शत्रुओं से घृणा करो' इस सिद्धान्त पर आधारित था। मित्रों के के साथ हिंसा का व्यवहार करना और उनकी सम्पत्ति लूट लेना अपराध समझा जाता था परन्तु शत्रुओं के साथ ये ही व्यवहार उचित समझे जाते थे। अतिथि सत्कार लोगों का एक विशेष गुण था। अतिथियों को बिना उनका नाम या काम पूछे ही पहले बहुधा एक सप्ताह के लिए शरण दे दी जाती थी। लूट-खसोट को इस समय के यूनानी अनुचित नहीं समझते थे क्योंकि इसके द्वारा कुछ लोग जीविकोपार्जन करते थे।

धर्म

होमर के काल का धर्म बाद के यूनानी धर्म से विशेष भिन्न न था। यह अधिक सरल और प्रारम्भिक था। प्रकृति की शक्तियों को देवताओं का रूप प्रदान किया गया था। (Zeus) जीयस देवों का प्रधान था। देवता मनुष्यों की ही तरह थे, केवल अमर होने के कारण मनुष्यों से बड़े-चढ़े थे। सभी लोग देवताओं की कृपा प्राप्त करना चाहते थे और उनके रुष्ट हो जाने पर वे उन्हें मनाया करते थे। होमर की कुछ प्रार्थनायें तो महान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए की गई हैं किन्तु अधिकांश लोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की प्राप्ति के ही लिए देवताओं की प्रार्थना किया करते थे। परलोक के विषय में इस समय के लोगों की धारणा सुनिश्चित नहीं थी। हेड्स नामक स्थान में मृतकों को जाना पड़ता था। यह स्थान अन्धकार पूर्ण था। वहाँ पर ओडीसस से जो मृत आत्मायें मिलने आती थीं, वे पिशाच या भूत-प्रेत होती थीं। बलिदान का रक्त पीकर वे फिर से जीवन प्राप्त करती थीं। होमर के समय की भावी-जीवन सम्बन्धिनी धारणा को एक ऐसा जीवन बताया गया है जिसमें मृत "इतने काफ़ी जीवित हैं कि वे अपने को मृत समझ सकें परन्तु वे यह भूलने के लिये काफ़ी मृत नहीं हैं कि अपने को वे जीवित समझें।" होमर के समय का धर्म बाद के यूनानी धर्म की अपेक्षा अधिक सरल अवश्य था किन्तु देवताओं को मानव समझने की भावना और बिना ध्यान, समाधि अथवा पुरोहितों की सहायता के देवताओं की उपासना करने की धारणा इस धर्म में विद्यमान थी।

होमर के बाद के समय में महत्त्वपूर्ण आर्थिक परिवर्तन हुये। व्यापार की उन्नति हुई, कृषि का विकास हुआ, जनसंख्या बढ़ी और होमर के समय के गाँव छोटे-छोटे नगरों में बदल गये। बहुत से यूनानी काले सागर, ईजियन सागर तथा भूमध्य सागर के तटों पर अपने उपनिवेश स्थापित करके बस गये। विदेशों से व्यापार काफ़ी विकसित परिमाण

होमर के बाद का काल

में होने लगा और शीघ्र ही यूनानियों ने कारथेज तथा फोनीशिया के व्यापारियों को व्यापार में हरा दिया। आर्थिक उन्नति ने सामाजिक वैषम्य को जन्म दिया। इस काल की सामाजिक विषमता का वर्णन हमें हीसियड (Hesiod) नामक कवि की "वर्क्स एण्ड डेज" नामक कविता पुस्तक में मिलता है। हीसियड ने अपनी कविता में जनसाधारण के दुःखों और सरदारों के अत्याचारों का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि सरदार जिले की सर्वोत्तम भूमि पर अपना अधिकार जमा लेते हैं और दीन कृषकों की भू-सम्पत्तियों को छीन लेते हैं। वह इन शोषकों और धनिक व्यापारियों की निन्दा करता है और कहता है कि ये कानून को अपने हाथों में ले लेते हैं और ये सहानुभूति की भावना से नितान्त शून्य हैं।

इन आर्थिक परिवर्तनों ने समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिये। गाँवों के स्थान पर नगर राज्यों की स्थापना हुई। प्रत्येक नगर राज्य में इसके देशभक्त नागरिक थे, तथा इसकी एक अपनी सेना भी रहती थी। नगर-राज्य सार्वभौम-सत्ता-सम्पन्न थे। बहुत से नगर राज्यों में राजाओं का शासन था परन्तु बाद में उनकी शक्ति सरदारों के हाथ से चली गई। सरदारों में द्वेष और प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न हो गई और उनमें प्रभुता के लिये सदैव संघर्ष होने लगा।

अत्याचारियों (Tyrants) का युग

जो बिना उत्तराधिकार के हिन्सा द्वारा शासन पर अपना अधिकार स्थापित कर लेता था उसे अत्याचारी (Tyrant) कहते थे। सभी अत्याचारी शासक निर्दय और प्रपीड़क नहीं थे उनमें से कुछ सुयोग्य शासक थे जो जनता के कल्याण का ध्यान रखते थे। इन शासकों में कोरिन्थ के पेरिआन्डर और एथेन्स के पेस्ट्रिटस के नाम उल्लेखनीय हैं। पेरिआन्डर ने अपने राज्य में व्यापार और विद्या की उन्नति पर ध्यान दिया और पेस्ट्रिटस ने व्यापार, कला-कौशल, ललित-कला, संगीत, नाटक और साहित्य के विकास का प्रयत्न किया।

कोरिन्थ और एथेन्स ने सभ्यता और संस्कृति के विकास की दिशा में जो मार्ग-प्रदर्शन किया उस पर अन्य नगर-राज्य भी चले। इन नगर-राज्यों में बाह्य व्यापार की बहुत उन्नति हुई। यूनानियों के राज्यों से धातुयें, बनी हुई वस्तुयें, और मिट्टी के सामानों का निर्यात किया जाता था और वे अनाज, मछली, अम्बर तथा काँसे के बर्तन दूसरे स्थानों से मँगाते थे। दासों की संख्या काफी बढ़ गई। इन गुलामों के द्वारा ही लगभग सभी कार्य कराये जाते थे जिससे अन्य लोग बौद्धिक कार्यों की ओर अपना ध्यान दे सकें। जलयान अधिक उत्तम बनाये जाने लगे और सिक्कों का प्रयोग होने लगा। सिक्कों पर राजकीय मुहर रहती थी।

एथेन्स में कानूनों का निर्माण

बहुत से लोगों ने यह विचार किया कि केवल रीति-रिवाजों से काम नहीं चल सकता, लिखित कानूनों की भी आवश्यकता है। सबसे पहले ड्रेको (Draco) ने अपने समय के प्रचलित रीति-रिवाजों का संग्रह कर उन्हें कानून का रूप दिया। इसके कानून कठोर थे इसलिये बाद में इसके सुधार की आवश्यकता हुई। सोलन (५६४ ईसवी पूर्व) एथेन्स का एक प्रसिद्ध कानून-सुधारक था। उसने एक ऐसा विधान लिखा जिसमें राजनैतिक शक्ति पर नियन्त्रण रखने के लिये सबको अपने-अपने विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता थी। उसने नागरिकों की 'जूरी' के सामने प्रत्येक नागरिक को अपनी शिकायतों का उल्लेख करने का अधिकार प्रदान किया। सोलन के शासन-विधान में एक सर्वश्रेष्ठ प्रजातन्त्रात्मक तत्त्व यह था कि इसने एक लोकसभा (heliaea) की व्यवस्था की जिसके सदस्य होने का अधिकार प्रत्येक नागरिक को था और मताधिकार भी प्रत्येक नागरिक को प्राप्त था। सोलन के विधान ने कई दोषों को दूर किया किन्तु यह भी पूर्ण रूप से सन्तोषजनक प्रमाणित नहीं हुआ।

५०८ ईसवी पूर्व में शासन हस्तगत कर लेने के बाद क्लीस्थनीज ने एथेन्स के विधान में कुछ महत्त्वपूर्ण सुधार किये। उसने पुराने कबीलों को नष्ट किया और दस नये कबीले बनाये जिनमें जनसंख्या लगभग समान थी। इन नये कबीलों के निर्माण द्वारा क्लीस्थनीज ने कबीलों के पारस्परिक झगड़ों को दूर करने का प्रयास किया। ५०० व्यक्तियों

की एक समिति होती थी जिसमें ५०, ५० सदस्य हर कबीले के होते थे। यह समिति शासन समिति थी। लोकसभा के लिये यह कानून तैयार करती थी। क्लीस्थनीज ने "ओस्ट्रेसिज्म" नामक नियम निकाला। इस नियम के अनुसार, मतदाता जिस व्यक्ति को राज्य के लिये अवांछनीय समझते थे उसका नाम लिख कर दे देते थे और यदि उस व्यक्ति के विरुद्ध अधिक मत डाले जाते थे तो उसे दस वर्ष का निर्वासन दण्ड सहना पड़ता था।

अत्याचारियों के युग में इन नगर-राज्यों में सभ्यता और संस्कृति का काफी विकास हुआ। थेलीज, पाइथागोरस और एनाक्सीमिण्डर जैसे विख्यातनामा लोग इसी युग में उत्पन्न हुये थे। मन्दिरों का निर्माण कराया गया और स्थापत्य कला की भी उन्नति हुई। कलाकारों ने कांसे और संगमरमर पत्थर की बनी हुई अपने वीरों और कुशल खिलाड़ियों की मूर्तियों का निर्माण किया। इस काल में संस्कृति की जो उन्नति हुई उस पर विचार करते हुए डा० ब्रीस्टेड ने कहा है, "संसार के इतिहास में अत्याचारियों का युग महान अध्यायों में से है। समाज, व्यापार, और शासन का नेतृत्व करने के लिए परस्पर जो संघर्ष हुआ उससे एक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और युग के योग्यतम व्यक्तियों के मस्तिष्क आश्चर्य-जनक रूप से विकसित हुए। उन्होंने परम्परा के बोझ को उतार फेंका और विज्ञान तथा दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश किया। यूनान के इस नये शक्तिशाली जीवन की आन्तरिक शक्ति राजनीतिज्ञता में, साहित्य और धर्म में, स्थापत्य और चित्रकला में, वास्तु तथा भवन निर्माण में प्रवाहित हुई।

प्राचीन यूनानियों की शासन-व्यवस्था में नगर-राज्यों को सबसे प्रमुख स्थान प्राप्त था। नगर-राज्य को यूनानी 'पोलिस' कहते थे। पोलिस से अभिप्राय पहले तो एक घिरे हुए नगर से था किन्तु बाद में यह एक सर्व-सत्ता-सम्पन्न

नगर-राज्य

राज्य समझा जाने लगा। इस नगर-राज्य में नगर, एक दुर्ग, तथा नगर के समीप का कुछ भाग सम्मिलित होता था। नगर-राज्य के विकास में देश की भौगोलिक परिस्थिति तथा लोगों की वर्ग सम्बन्धिनी विशेषतायें प्रमुख-तत्त्व के रूप में थीं। लोग उपजाऊ घाटियों में रहते थे और रक्षा के लिए अपने घरों को दुर्ग के निकट बनाते थे। प्रत्येक नगर-राज्य का एक अपना देवता होता था और इसकी अपनी धार्मिक क्रियायें होती थीं। नगर-राज्यों में शासन भी अलग-अलग होता था। बहुत से नगर राज्यों में प्रतिनिधि शासन की व्यवस्था होती थी और इनमें लोकसभा तथा सार्वजनिक स्थान होते थे। जहाँ पर शासन-प्रणाली उच्च-जनतन्त्रात्मक थी वहाँ सभा में केवल आभिजात्य वर्ग के लोग ही सदस्य होते थे और उन्हें आजीवन अपने पद पर बने रहने की आशा थी किन्तु प्रजातन्त्रात्मक शासन वाले राज्यों में लोकसभा का निर्माण चुनाव द्वारा होता था।

इन नगर राज्यों में सदैव आपस में संघर्ष हुआ करता था। विघटनात्मक प्रवृत्ति ही इनकी विशेषता और दुर्बलता

फारस से युद्ध

थी। परन्तु फारस के आक्रमण का सामना करने के लिए और अपनी प्राण-प्रिय स्वाधीनता की रक्षा-हेतु समस्त नगर-राज्य संयुक्त हो गये। फारस का साम्राज्य लीडिया पर अधिकार हो जाने के बाद पश्चिमी समुद्र तक फैल गया। एशिया माइनर के तट पर रहने वाले यूनानी लीडिया के अधीन होने के कारण फारस की अधीनता में चले गये। परन्तु स्वाधीनता-प्रेमी यूनानियों ने विशाल ईरानी साम्राज्य की अधीनता स्वीकार नहीं की। उन्होंने एथेन्स वासियों से सहायता प्राप्त होने पर विद्रोह कर दिया और लीडिया की राजधानी सारडिस नगर को जला दिया। ईरान के शासक दारा महान ने विद्रोहियों को दण्ड देने का निश्चय किया। उसने उनको पराजित भी किया और एथेन्स को जीतने का विचार किया। ईरान और एथेन्स के युद्ध का कारण यह भी था कि ये दोनों व्यापारिक प्रतिद्वन्द्वी थे।

दारा ने यूनान के विरुद्ध आक्रमण कर दिया। परन्तु ईरानियों को मैराथन के युद्ध में गहरी पराजय सहनी पड़ी। संसार के इतिहास में इस विजय का महत्व विशेष है, क्योंकि साम्राज्यवादी सत्ता के ऊपर यह प्रजातन्त्र की विजय थी। यूनानियों ने उस समय के सबसे बड़े साम्राज्य को युद्ध में पराजित कर संसार को यह दिखा दिया कि स्वतंत्रता की शक्ति अजेय है। मैराथन की पराजय के बाद ईरानियों ने Xerxes के राजा होने पर युद्ध की तैयारियाँ कर

लेने के पश्चात् एक बार फिर यूनान पर आक्रमण किया। इस बार ईरानी सेना ने थर्मापोली के युद्ध में यूनानियों को पराजित कर दिया और एटिका पर अधिकार कर लिया। ईरानियों ने एक्रोपोलिस को जला भी दिया लेकिन सालमिस और माइकले में ईरानवासियों की सामुद्रिक-युद्ध में पराजय हो गई। इसके बाद प्लेटा में ईरानी सेना को पूर्णतया यूनानियों ने हरा दिया और ईरान की शक्ति को बिल्कुल तहस-नहस कर डाला। यूनानियों से हार खाने के बाद ईरान की राजनीतिक शक्ति का दिनों-दिन ह्रास होने लगा और फिर कभी यूनानियों को विदेशी शक्ति से लोहा नहीं लेना पड़ा।

विदेशी आक्रमण का सामना करने के लिए समस्त यूनानी नगर-राज्य एकता के सूत्र में आबद्ध तो हो गये किन्तु जब विदेशियों का उन्हें कोई भय न रहा तो वे फिर पारस्परिक झगड़ों में लग गये। इन नगर-राज्यों के संघर्ष

स्पार्टा और एथेन्स

में स्पार्टा और एथेन्स का प्रभुता के लिए संघर्ष इतिहास में विशेष महत्त्व रखता है। इस संघर्ष ने ही यूनान के नगर-राज्यों का विनाश किया। एथेन्स और स्पार्टा का प्रभुता के लिए द्वन्द केवल दो राज्यों का संघर्ष न था अपितु यह दो नितान्त-विरोधी आदर्शों का संघर्ष था। स्पार्टा वाले रूढ़ियों के दास तथा सृजनात्मक कल्पना-शक्ति से शून्य थे और एथेन्स-निवासी उदार दृष्टिकोण के प्रगतिशील तथा कल्पना-शक्ति-सम्पन्न थे। स्पार्टा का राज्य उच्च जनतंत्रात्मक था और कुछ चुने हुए लोगों के अधिकारों की रक्षा करता था, परन्तु इसके विपरीत एथेन्स में प्रजातन्त्रात्मक शासन-पद्धति थी और प्रत्येक नागरिक अपने अधिकारों की रक्षा करने के लिए सदैव सजग रहता था।

स्पार्टा का नगर-राज्य दक्षिणी यूनान में लेसीडेमन की घाटी में स्थित था। इस नगर में डोरियन जाति के लोगों का राज्य था। स्पार्टा का राज्य सैन्य-राज्य था। यहां पर स्वेच्छाचारी शासन था। शासन-शक्ति कुछ थोड़े से लोगों के अधिकार में सीमित थी और जनता के ऊपर उनका पूर्ण अधिकार था। यहां की जेरोसिया में, जो वृद्ध लोगों की

स्पार्टा

समिति थी, दो राजा तथा २८ वृद्ध पुरुष होते थे। पांच मजिस्ट्रेट होते थे जिनको 'इफर' कहते थे। ये ही शासन का लगभग समस्त कार्य देखते थे और असीमित शक्ति से सम्पन्न होते थे। स्पार्टा में जन्म से ही नागरिकों को सैनिक-शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती थी। नियुक्त अधिकारी नवजात शिशु की परीक्षा करते थे। निर्बल और कुरूप बच्चों का पालन-पोषण नहीं किया जाता था। उन्हें नष्ट होने के लिये पहाड़ों पर छोड़ दिया जाता था।

स्पार्टा में केवल सैन्य-शिक्षा की ही व्यवस्था थी। शिक्षा का उद्देश्य स्पार्टा वालों की दृष्टि में मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास करना नहीं था बल्कि उसे एक साहसी सैनिक तथा वीर योद्धा ही बनाना था। आठवीं और सातवीं ईसवी पूर्व में स्पार्टा नितान्त रूप से सैन्य-राज्य नहीं था। अल्कमन नामक कवि के समय में स्पार्टा संस्कृति का केन्द्र था और यहां पर संगीत, नृत्य, तथा कलाओं का प्रचार था। नगर में कलाकार और कारीगर रहते थे किन्तु छठी शताब्दी ईसवी पूर्व के प्रारम्भ में स्पार्टा से कला और संस्कृति का निष्कासन कर दिया गया। बालकों को वीर और कष्ट-सहिष्णु बनाने के लिये उन्हें कठोर सैनिक अनुशासन में रक्खा जाने लगा। सात वर्ष की अवस्था में बच्चों को उनकी माताओं से छीन लिया जाता था और उन्हें युवकों के साथ शिविरों में रहकर सैनिक शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती थी। शारीरिक यातना द्वारा उन्हें बलशाली बनाने का प्रयत्न किया जाता था। जाड़े में वे महीन कपड़े पहनते और नंगे पैर रहते थे। वे बिना बिस्तर के भूमि पर ही सोते थे और स्वयं भोजन बना कर खाते थे। बालकों को साल में एक बार कोड़े लगाये जाते थे। इस प्रकार उनकी कष्ट सहन करने की क्षमता की परीक्षा ली जाती थी। एथेन्स के प्रसिद्ध नेता पेरीक्लीज ने कहा था, "शिक्षा के मामले में जब कि स्पार्टा के लोग बाल्यकाल से वीर होने के लिये कठोर अभ्यास करते रहते हैं, हम सुख से रहते हैं और फिर भी जिन खतरों का वे सामना करते हैं, उनका सामना करने को हम भी उन्हीं की तरह प्रस्तुत हैं।"

स्पार्टा का प्रत्येक नागरिक अनिवार्यतः राज्य का सैनिक समझा जाता था। वे न तो खेती कर सकते थे और न व्यापार। ये काम केवल दास लोग ही करते थे। स्पार्टा के नागरिकों को धन संग्रह करना मना था। स्पार्टा में पारिवारिक जीवन की उचित व्यवस्था नहीं थी। नागरिकों को प्रायः घर से बाहर ही रहना पड़ता था। वे चोरी से रात में घर आ सकते थे। स्त्रियों के स्वास्थ्य पर भी ध्यान दिया जाता था। वे वही शारीरिक शिक्षा प्राप्त करती थीं जो स्पार्टा में पुरुषों को दी जाती थी, जिससे वे वीर मातायें बन सकें। स्पार्टा की स्त्रियाँ समस्त यूनान में अपने सौन्दर्य और शौर्य के लिये विख्यात थीं। जिन माताओं के पुत्र युद्ध में पराजय हो जाने के बाद बच रहते थे, वे शोक प्रदर्शित करती थीं और जिनके पुत्र रणभूमि में वीरगति प्राप्त करते थे वेमालायें पहनती थीं।

स्पार्टा की विवेचना

स्पार्टा के इस कठोर सैनिक अनुशासन ने स्पार्टावासियों को कुशल सैनिक और साहसी योद्धा बना दिया। उनका शारीरिक स्वास्थ्य भी सर्वथा प्रशंसनीय था। प्लेटो को स्पार्टा में औषधालयों और चिकित्सकों का अभाव देखकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई होती। स्पार्टा के नागरिकों का जीवन नियमों द्वारा संचालित था। अपने राज्य के कानून को दैवी मानकर वे उसे शिरसा स्वीकार करते थे। यूनान में सार्वजनिक खेलों का सबसे अधिक प्रचार स्पार्टा वालों ने ही किया और अप्रत्यक्ष रूप में यूनानी स्थापत्य के विकास में सहायता प्रदान की। स्पार्टा के से राज्यभक्त, वीर, साहसी, सादा जीवन व्यतीत करने वाले और अपने ऊपर नियन्त्रण रखने वाले नागरिक यूनान के किसी अन्य नगर-राज्य में नहीं थे। बाद में रोम साम्राज्य के अभ्युदय के बाद ही यौरप में इस प्रकार के नागरिक उत्पन्न हो सके।

परन्तु स्पार्टा के इस अत्यन्त कठोर नियन्त्रण और सैनिक शिक्षा की व्यवस्था ने स्पार्टावासियों को आत्मा तथा मस्तिष्क के उन उच्चतर सुखों से वंचित रक्खा जो मनुष्य को पशु से ऊँचा उठाते हैं। कविता, संगीत तथा चित्रकला जैसी ललित कलायें और गणित, विज्ञान तथा दर्शन जैसे सूक्ष्म विषय, जिनके द्वारा मानवात्मा की महिमा और गरिमा प्रकट होती है, स्पार्टा के दम घुटा देने वाले कठोर सैनिक समाज में पनप न सके। यूनान की समृद्धिशालिनी संस्कृति के विकास में स्पार्टा का योगदान नगण्य ही था। यूनान के इतिहास में भी स्पार्टा का कोई विशेष गौरवशाली अध्याय नहीं है। थर्मोपिली के युद्ध में पारस के राजा के आक्रमण का सामना करने के लिए स्पार्टा के राजा लियोनीडास और उसके सैनिकों का आत्म-बलिदान ही स्पार्टा को उज्ज्वल करने वाली घटना है। परन्तु बाद में एथेन्स के विरुद्ध ईरान वालों से सहायता लेकर स्पार्टा ने अपनी देशभक्ति और वीरता को कलंकित कर दिया। स्पार्टावालों में व्यक्तिगत वीरता का अभाव न था परन्तु उनके हृदयों में देश-प्रेम के वे पवित्र और उन्नत भाव उदय न हो सके जिनका उद्भव स्वातंत्र्य-प्रेम और कर्तव्य-भावना से होता है। अपनी सैनिक शक्ति की सहायता से स्पार्टा ने यूनान के सभी नगर-राज्यों की अपेक्षा अपने को बलशाली बना लिया था और प्रभुता के संघर्ष में उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी राज्य एथेन्स को पराजित भी कर दिया किन्तु आज उसकी स्थिति का पता लगाना भी कठिन है। एथेन्स के एक्रोपोलिस को आज भी मीलों की दूरी से देखा जा सकता है किन्तु स्पार्टा के मन्दिरों और भवनों के भग्नावशेष भी नहीं मिलते जो उसके विगत-वैभव को सूचित कर सकें। स्पार्टा का उदाहरण इस तथ्य की पुष्टि करता है कि इतिहास में केवल उन्हीं जातियों का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जाता है जो मानव-संस्कृति के विकास के लिए कुछ कर जाती हैं।

एथेन्स का नगर-राज्य

ईरान को अपने स्वाधीनता संग्राम में पराजित कर देने के बाद एथेन्सवासियों का उत्साह बहुत बढ़ गया। वे अपने लिए एक उज्ज्वल भविष्य की कल्पना करने लगे और सभ्य संसार पर अपना साम्राज्य स्थापित करने का विचार करना आरम्भ किया। एथेन्स के नेतृत्व में बहुत से यूनानी नगर राज्य संगठित हो गये और उन्होंने अपना एक संघ बना लिया। इस संघ का नाम डेलियन लीग (Delian League) था। कुछ समय के लिए समस्त एजियन प्रदेश पर इस लीग का पूर्ण आधिपत्य रहा। किन्तु एथेन्सवासी एक सुगठित

शासन-व्यवस्था को जन्म न दे सके। आन्तरिक विप्लव जारी रहे और एक केन्द्रीय सरकार की स्थापना नहीं हो सकी। एथेन्स में स्पार्टा के विपरीत प्रजातन्त्रात्मक शासन-पद्धति प्रचलित थी। सरकारी पदों का द्वार सभी नागरिकों के लिए खुला था केवल सम्पत्तिहीन श्रमजीवियों को ही यह अधिकार प्राप्त न था। सेना का प्रधान सेनापति चुना जाता था। अपनी सेना की सहायता से वह राज्य का सबसे प्रमुख अफसर हो सकता था। पेरीक्लीज ने शासन-सत्ता इसी प्रकार ग्रहण की थी।

पेरीक्लीज

पेरिक्लीज का समय यूनान के इतिहास में ही नहीं अपितु विश्व के इतिहास में भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसके शासन काल में एथेन्स ने संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति की। कला, दर्शन, कविता और नाटक की ऐसी उन्नति हुई कि बाद के किसी भी युग में वैसी नहीं हुई। इस सांस्कृतिक प्रगति के लिए यूनान पेरीक्लीज का अनेक अंशों में ऋणी है। वह कलाकारों का आश्रयदाता था। उसकी रुचि भी सांस्कृतिक और कलात्मक थी। अनेक्सागोरस नामक दार्शनिक उसका मित्र था। उसके हृदय में ज्ञान प्राप्त करने की तीव्र उत्कण्ठा थी। उसका दृष्टिकोण भी उदार और विस्तृत था। लगभग तीस वर्षों तक उसके हाथ में शासन-सूत्र रहा। इन तीस वर्षों में उसने एथेन्स को अनेक भव्य भवनों और सुन्दर कलाकृतियों का निर्माण करा कर समलंकृत करने का प्रयास किया। किन्तु वह एक उत्कृष्ट कलानुरागी होने के साथ-साथ कुशल राजनीतिज्ञ भी था। उसका चरित्र उन्नत तथा शुद्ध था। वह आर्थिक मामलों में बड़ा ही ईमानदार था और आजीवन दीन ही रहा। उसने अपने नागरिकों के जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न किया। उसने गर्व के साथ एक बार कहा था, "मेरे कारण किसी भी एथेन्सवासी को शोक नहीं करना पड़ा।" परन्तु इन सेवाओं का पेरीक्लीज को अच्छा पुरस्कार नहीं मिला। उसके ऊपर रुपये खा जाने का मिथ्या आरोप लगाया गया और वह अपने प्रभाव से भी अपने मित्र अनेक्सागोरस को निर्वासित होने से न बचा सका।

एथेन्स का महत्व

एथेन्स के नगर राज्य का महत्व उसकी प्रजातन्त्रात्मक शासन-पद्धति तथा उसकी सांस्कृतिक प्रगति के कारण है। यह सत्य है कि एथेन्स में बिल्कुल आजकल जैसा प्रजातन्त्र न था क्योंकि दासों और स्त्रियों को निर्वाचनाधिकार प्राप्त नहीं था और सभी मतदाता नागरिक सुशिक्षित नहीं होते थे। स्वयं पेरीक्लीज की धार्मिक शुद्धता पर एथेन्सवासियों ने सन्देह किया और देवताओं के विरुद्ध जरा सा कुछ कह देने के कारण एनेक्सागोरस को निर्वासित कर दिया गया। सुकरात का बलिदान एथेन्स के प्रजातन्त्र की कालिमा है। परन्तु इसमें कदाचित कोई अत्युक्ति नहीं कि एथेन्स का नागरिक आज के औसतन नागरिक की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान, चतुर तथा राजनीतिक मामलों में रुचि रखने वाला होता था। एथेन्स में लोगों को पर्याप्त मात्रा में भाषण और विचार प्रकाशन की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। विश्व महायुद्ध के दिनों में लन्दन या न्यूयार्क में किसी ऐसे नाटक को देखने वाले लोग कम मिलते जिसमें शान्ति की प्रशंसा की गई होती और युद्ध में भाग लेने वालों का उपहास किया गया होता। परन्तु जब एथेन्स अपनी आत्मरक्षा के लिए लड़ रहा था तब एरिस्टोफेनीज ने ऐसा ही किया और अपने नाटकों द्वारा योद्धाओं की निन्दा की लेकिन सभी एथेन्सवासी चाहे वे युद्ध चाहते रहे हों या नहीं उसके नाटकों को देखने के लिए थियेटर में जाते थे। अपने विचारों को व्यक्त कर सकने को एथेन्स का नागरिक अपना मौलिक अधिकार समझता था। यूरीपिडीज ने प्रतिपादित किया "दास वह है जो अपने विचारों को व्यक्त नहीं कर सकता।" एथेन्स में इतने अधिक विख्यात व्यक्तियों ने जन्म लिया कि किसी भी अन्य नगर को ऐसे महान व्यक्तियों की जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त न होगा। सुकरात, प्लेटो, एनेक्सागोरस और अरस्तू ख्यातनामा दार्शनिक थे। फिडियास प्रसिद्ध कलाकार था। हेरोडोटस और थ्यूसीडाइडीज नामक इतिहासकार एथेन्स में ही पैदा हुए थे। सोफोक्लीज, यूरीपिडीज, एस्काइलस तथा एरिस्टोफेनीज नामक नाटककारों ने भी यहीं जन्म ग्रहण किया था। कलाकारों, साहित्यकारों और दार्शनिकों की इस गौरवमयी एवं महती शृंखला ने एथेन्स को विश्व-इतिहास में अमर बना दिया है।

एथेन्स के नगर राज्य में यूनानी व्यापारी हो गये और उपनिवेशों की स्थापना करने लगे। सामुद्रिक व्यापार

का काफी विकास हुआ।

एथेन्स में आर्थिक विकास

एथेन्स के जलयान डेन्यूब से पशु और दास ले आते थे और इसके बदले में मिट्टी के बर्तन तथा शराब देते थे। मिस्र तथा मेसोपोटैमिया से व्यापारी गलीचे, कम्बल, बहुमूल्य धातुयें, रेशम और मसाले आदि वस्तुयें लाते थे। पश्चिमी भूमध्यसागर के निकटवर्ती प्रदेशों से अनाज, लकड़ी, चांदी सोने और दूध के बने हुये पदार्थ प्राप्त हो जाते थे और इन वस्तुओं के बदले में एथेन्स वासियों को मदिरा, मिट्टी के बर्तन, चांदी के आभूषण तथा अन्य विभिन्न तैयार माल देने पड़ते थे। औसतन यूनानी कृषक ही था और कठिन परिश्रम द्वारा अपनी जीविका उपार्जित करता था। गेहूँ और जौ उपज की खास वस्तुये थीं और अंजीर, जैतून तथा अंगूर प्रमुख फल थे।

एथेन्स के बहुत से लोग उपनिवेशों में चले जाते थे। व्यापारिक उद्देश्यों से कम, राजनीतिक उद्देश्यों से ही अधिकांश उपनिवेशों की स्थापना हुई थी। तैयार माल को एथेन्स के व्यापारी निर्यात करते थे और कच्चे माल का आयात करते थे। व्यापारियों ने एक प्रकार के सिक्के का प्रचलन भी किया था। एथेन्स के व्यापारी वर्ग को सामाजिक तथा राजनीतिक मामलों में काफी महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त था। यद्यपि एथेन्स निवासी शारीरिक कार्यों से घृणा नहीं करते थे तथापि अधिकांश कार्यों को दास लोग ही किया करते थे। दासों के साथ प्रायः सद्व्यवहार किया जाता था।

एथेन्स का समाज

प्रजातन्त्रात्मक राज्य होने पर भी एथेन्स में पूर्ण सामाजिक समानता नहीं प्राप्त थी। स्त्रियों को पुरुषों के अधिकार में रक्खा जाता था और उन्हें समस्त नागरिक-अधिकारों से वंचित रक्खा जाता था। उनका कार्य क्षेत्र घर की दीवालों के भीतर तक सीमित था और वे अपने पतियों के साथ सामाजिक कार्यों में भाग नहीं ले सकती थीं। पेरीक्लीज का कथन था कि नारी का गौरव इसी बात में है कि निन्दा अथवा स्तुति किसी भी रूप में लोगों की जिह्वा पर उसका नाम न रहे। एथेन्स में कुछ विदेशी स्त्रियां होती थीं जो स्वच्छन्दतापूर्वक पुरुषों से मिलजुल सकती थीं और उनका मनोरञ्जन करती थीं। इससे एथेन्स की स्त्रियों का जीवन अवश्य कुछ कटु रहा होगा। परन्तु एथेन्स के निवासी अपने नारी-वर्ग को तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखते थे। पत्नियों के मर जाने पर पति शोक प्रकट करते थे। एक पति ने अपनी पत्नी की समाधि पर यह शोकपूर्ण वाक्य खुदवाया था, "एक अकेले पति के लिए जिसकी पत्नी मर गई है, इस पृथ्वी पर दुःख के अतिरिक्त अन्य क्या है?"

एथेन्स में दासों के साथ भी सामाजिक असमानता का व्यवहार किया जाता था। उन्हें नागरिक अधिकारों से वंचित रक्खा जाता था। उनके समाज में चालीस प्रतिशत से कुछ अधिक लोग स्वतंत्र नहीं थे अतएव यह कहा जा सकता है कि उनका सामाजिक संगठन समानता की भावना पर आधारित था। एथेन्स में प्रजातंत्रात्मक शासन प्रचलित होने पर भी अपराधियों और पीड़कों में सदैव संघर्ष हुआ करता था। यद्यपि कभी कभी गुलामों को बहुत अधिक काम करना पड़ता था फिर भी साधारणतया उनकी दशा शोचनीय थी। अधिकांश दास कुशल कारीगर होते थे और अपने स्वामियों के साथ भवन-निर्माण आदि कार्यों में सहायता करते थे। बहुत से दास धन-संग्रह करके अपनी दासता से मुक्ति पा जाते थे।

एथेन्स वालों का जीवन

एथेन्स के निवासियों का जीवन आमोद-प्रमोद पूर्ण था। खेल-कूद में भाग लेना प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा का एक प्रमुख अंग था। प्रत्येक चौथे वर्ष एक ओलम्पिक खेल हुआ करता था जिसमें यूनान के सभी नगर राज्य भाग लेते थे। इस खेल-प्रतियोगिता में जो विजय प्राप्त करता था उसका बड़ा सम्मान किया जाता था। प्रत्येक नगर-राज्य में एक व्यायामशाला अवश्य होती थी। यूनानियों के जीवन में खेल-प्रतियोगिताओं का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था। थुसीडाइडीज नामक इतिहासकार अपने मुख्य विषय का वर्णन करते हुए रुक जाता है, जब उसे यह विदित होता है कि उसके नगर के (एथेन्स के) एक निवासी ने खेल-प्रतियोगिता में विजय प्राप्त की है और इस गौरवपूर्ण विजय का उल्लेख वह विस्तार के साथ करता है।

खेलों के साथ साथ धार्मिक पर्व और उत्सव तथा नाटक भी एथेन्सवासियों के मनोरञ्जन के साधन थे। बसन्त ऋतु में सुरा के देवता डायोनीसस के सम्मान में एक्रोपोलिस के निकट नाटक प्रदर्शित किये जाते थे। यहाँ पर सहस्रों की संख्या में एथेन्स के नागरिक आते थे और थियेटर में बैठकर घण्टों लगातार नाटक देखा करते थे। नाटक ही एथेन्स वालों की रुचि का निर्माण करते थे और उनकी आत्मा को प्रभावित करते थे। नाटकों के देखने में इतनी अधिक अभिरुचि दिखाना एथेन्सवालों की उच्च बौद्धिक-स्तर का द्योतक है।

एथेन्स के आदर्श

एथेन्स के आदर्शों का सुन्दर और विश्वसनीय वर्णन हमें थुसीडाइडीज़ के ग्रन्थ में मिलता है। थुसीडाइडीज़ पेरीक्लीज़ के द्वारा उन आदर्शों को उसके भाषण में वर्णित कराता है जो उसने (पेरीक्लीज़) रणभूमि में वीरगति पाने वाले सैनिकों के सम्मान में दिया था। पेरीक्लीज़ ने अपने नगर के आदर्शों का विस्तार पूर्वक उल्लेख किया है। वह कहता है, हमारी शासन-व्यवस्था हमारे पड़ोसियों की शासन-प्रणालियों की अनुकृति नहीं है। हमारा आदर्श वे ग्रहण करते हैं न कि हम उनका। हमारे शासन विधान का नाम प्रजातंत्र है क्योंकि यह बहुसंख्यक लोगों के हाथ में है थोड़े से लोगों के हाथ में नहीं। परन्तु हमारे कानून सबको उनके व्यक्तिगत झगड़ों में न्याय प्रदान करते हैं और हमारा लोकमत (Achievement) कुशलता की प्रत्येक शाखा में गुणों का सम्मान करता है। और चूंकि हम अपने सामाजिक जीवन में सबके साथ सहिष्णुता दिखलाते हैं, इसलिए अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों में एक दूसरे के साथ भी हम उसी सहिष्णुता का प्रदर्शन करते हैं। हम सौन्दर्यानुरागी हैं परन्तु हमारी अभिरुचि सादी है। हम ज्ञान प्राप्त करते हैं किन्तु अपने पौरुष की बलि देकर नहीं। हमारे लिए धन केवल (वैभव के) प्रदर्शन के लिए नहीं है अपितु गुण-प्राप्ति का साधन है। हमारे लिए दरिद्रता कोई लज्जाजनक बात नहीं है लज्जा की बात है उसे दूर करने का प्रयत्न न करना। हमारे नागरिक अपने व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार के कर्तव्यों का पालन करते हैं और अपने व्यक्तिगत मामलों में इतने व्यस्त नहीं हो जाते कि वे अपने नगर के कार्यक्रमों के प्रति उदासीन हो जाँय। हम दूसरों से इस बात में भिन्न हैं कि सामाजिक कार्यों में भाग न लेने वाले को हम शान्त नहीं बल्कि व्यर्थ समझते हैं। राजनीति से सम्बन्धित विषयों पर हम स्वयं सावधानी से वाद विवाद करते हैं और उन पर निर्णय देते हैं क्योंकि हमारी यह धारणा है कि शब्द और कार्य परस्पर एक दूसरे के विरोधी नहीं होते बल्कि जो कार्य बिना पारस्परिक विचार-विमर्श के किये जाँय वे अवश्य नष्ट हो जाते हैं। हम कार्य में अत्यन्त साहसी और उसके पहिले विचारशील होने के लिये विख्यात हैं। मैं यह दावे के साथ कहता हूँ कि हमारा नगर समस्त यूनान की पाठशाला है।"

एथेन्स और स्पार्टा का युद्ध

एथेन्स और स्पार्टा के आदर्शों का पारस्परिक विरोध हम दिखा चुके हैं। ईरान की पराजय के बाद इन दोनों नगर-राज्यों में वैमनस्य बहुत बढ़ गया। एथेन्स में पेरीक्लीज़ ने स्पार्टा के विरुद्ध एक वातावरण उत्पन्न कर लिया और उधर स्पार्टा के लोग भी एथेन्सवासियों से लड़ने को तैयार थे। इन दोनों राज्यों का प्रथम युद्ध पेलोपोनेशस (४५९-४४६ ईसवी पूर्व) में हुआ और बाद में सन्धि हो गई। दूसरे युद्ध में (४३१ ईसवी पू०) एथेन्स के मित्र राज्यों ने उसका साथ छोड़ दिया इसलिए उसको स्पार्टा से अकेले ही युद्ध करना पड़ा। फिर एथेन्स में एक भयंकर प्लेग फैल गया जिससे उसे सन्धि करने के लिए विवश होना पड़ा। वस्तुतः यह समय एथेन्स के पतन काल था। उसका राज-कोष बिल्कुल खाली हो गया था, वस्तुओं के मूल्य काफी चढ़ गये थे, स्वार्थी और अयोग्य लोगों के हाथ में शासन-सूत्र चला गया था और एथेन्स की सैनिक शक्ति का काफी ह्रास हो चुका था। अल्कीबाइडीज़ ने एक बार फिर एथेन्सवासियों को स्पार्टा के विरुद्ध युद्ध करने के लिए उत्तेजित किया और पेलोपोनेशस में ही तृतीय युद्ध हुआ। इस युद्ध में ईरान वालों से स्पार्टा ने सहायता ग्रहण की और अल्कीबाइडीज़ ने भी अपनी देशद्रोहिता का परिचय देते हुए स्पार्टा का साथ दिया। परिणाम यह हुआ कि एथेन्स वालों को ४०५ ईसवी में गहरी पराजय उठानी पड़ी और उन्होंने आत्म-समर्पण कर दिया।

स्पार्टा एथेन्स के साथ अपने प्रभुता-संग्राम में विजयी तो अवश्य हुआ किन्तु उसकी विजय चिरस्थायिनी नहीं

प्रमाणित हुई। जब स्पार्टा के लोग एशिया माइनर को जीतने में लगे हुए थे, थीबीज, एथेन्स, कोरिन्थ और आर्गास उनके विरुद्ध परस्पर संगठित हो गये। थीबीज ने इस संगठन का नेतृत्व किया और स्पार्टा से उसका संघर्ष आरम्भ

नगर-राज्यों का पतन

हुआ। थीबीज नगर को इस युद्ध में विजय प्राप्त हुई और समस्त नगर राज्यों पर उसकी प्रभुता स्थापित हो गई। परन्तु कुछ दिनों के बाद थीबीज का भी पतन हो गया और समस्त नगर राज्यों में अव्यवस्था फैल गई। मेसीडोनिया के आक्रमणकारियों ने इन नगर-राज्यों का अन्त कर दिया।

यद्यपि यूनान में विभिन्न नगर राज्यों के कारण राजनीतिक एकता न थी तथापि उसमें सांस्कृतिक एकता का अभाव न था। यह सत्य है कि यूनान की सांस्कृतिक एकता के तत्व भारत की भाँति दृढ़ नहीं थे। यूनानवासियों का धर्म उन्हें पारस्परिक एकता में संबद्ध करता था। समय-समय पर धार्मिक सम्मेलन और धार्मिक उत्सव हुआ करते थे जिनमें सभी यूनानी भाग लेते थे। ओलम्पिक खेल भी यूनानियों को परस्पर एक करने के प्रमुख साधन थे। यूनानी भाषा भी यूनानियों के हृदय में एक सामान्य संस्कृति के भाव उत्पन्न करती थी। भिन्न-भिन्न नगर राज्यों के निवासी

यूनानी नगर-राज्यों की सांस्कृतिक एकता

अपनी स्थानीय बोलियों को व्यवहार में लाते थे लेकिन सारे यूनानी साहित्य रचना राष्ट्र-भाषा में ही करते थे। इसके अलावा महाकवि होमर की रचनायें सभी नगर-राज्यों में चाव से पढ़ी जाती थीं। जिस प्रकार रामायण और महाभारत तथा वेदों के अध्ययन ने श्री नगर से लेकर कन्याकुमारी तक और अटक से लेकर कटक तक समस्त भारतवासियों को एक सामान्य सांस्कृतिक चेतना से सदैव अनुप्राणित रक्खा था उसी प्रकार यूनान वाले भी 'ईलीयड' और 'ओडेसी' के कारण एक सांस्कृतिक एकता का अनुभव करते थे। होमर सभी नगर-राज्यों में राष्ट्रीय कवि समझे जाते थे तथा चारण और गायक उनकी कविताओं का सस्वर पाठ करते थे। ईलियड और ओडेसी के पात्र सभी यूनानियों को समान रूप से प्रभावित करते थे।

यह सत्य है कि यूनानी अपने देश में राजनीतिक सुव्यवस्था की स्थापना नहीं कर सके परन्तु राजनीतिक अशान्ति उन्हें सभ्यता का विकास करने से रोक न सकी। प्रोफेसर गिल्बर्ट मरे ने लिखा है, "अन्य राष्ट्रों की भाँति

यूनानी नगर-राज्यों की सभ्यता

उनका (यूनानियों का) बाह्य राजनीतिक इतिहास युद्ध और कूटनीति, निर्दयता और धूर्तता से परिपूर्ण है। यह उनका आन्तरिक इतिहास है- विचार, भावना और चरित्र का इतिहास, जो इतना महान है।" यूनानियों के बाह्य राजनीतिक इतिहास का वर्णन किया जा चुका है। यहाँ पर उनके महान 'आन्तरिक इतिहास' के विषय में बतलाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

यूनान का साहित्य प्रचुरता और उत्कृष्टता दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। साहित्य के सभी अङ्गों पर यूनानियों ने रचना की। महाकवि होमर का उल्लेख किया जा चुका है। उनकी कला की सबसे प्रमुख विशेषता है चरित्र-चित्रण। चरित्र-चित्रण में होमर ने जिस सहानुभूति का प्रदर्शन किया है वह निस्सन्देह महाकवि-जनोचित है। उन्होंने ट्राय के

यूनानियों का साहित्य

वीर हेक्टर और यूनान के वीर एकिलीज दोनों का चित्रण करने में एक ही भावना का परिचय दिया है। जब हम हेक्टर के विषय में पढ़ते हैं तो हमारी सहानुभूति उसके प्रति हो जाती है और एकिलीज के विषय में पढ़ने पर वही हमारी सहानुभूति का भाजन हो जाता है। भारत के आदि कवि वाल्मीकि ने भी इसी विस्तृत सहानुभूति का परिचय दिया है। काव्य के नायक राम का चरित्र हमारे मस्तिष्क पर चिरस्थायी प्रभाव छोड़ता है और रावण के व्यक्तित्व का गौरवशाली वर्णन हमें उसकी महानता से अभिभूत कर देता है। पेनीलोप के रूप में होमर ने एक पतिव्रता नारी की सृष्टि की। अपने पति यूलिसिस के वियोग में वह व्यथित है और अपने प्रणयाभिलाषियों की प्रणय-याचनाओं तथा प्रलोभनों का तिरस्कार करके अपने प्राणप्रिय पति के पुनरागमन की प्रतीक्षा करती है। अन्त में उसका अपने पति से मिलन हो जाता है और सच्चा प्रेम आपत्तियों पर विजय प्राप्त करता है। महाकवि होमर ने मानव हृदय के सभी भावों को बड़ी ही कुशलता से अभिव्यक्ति प्रदान की है। उनकी भाषा का मधुर संगीत मनोमुग्धकर है और उनकी वर्णन शैली प्रभावोत्पादिनी। हीसियड नामक कवि ने भी महाकाव्य

लिखे हैं। उसकी कविता में आभ्यन्तरिकता अधिक है। वह अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द करता है। उसकी कृतियों में काव्य-सौष्ठव का प्रायः अभाव है।

सर चार्ल्स लिविंगस्टन के मतानुसार यूनान का नाटक यूनानी मस्तिष्क की पूर्ण परिपक्वता का द्योतक है। नाटक में यूनान ने सुखान्त और दुखान्त दोनों की रचना की है परन्तु दुखान्त नाटकों की रचना यूनान की विश्व-साहित्य को अनुपम देन है। यूनानी नाटकों में अभिरुचि रखते थे और हजारों की संख्या में नाटक देखने के लिये थिएटर जाया करते थे। एसकाइलस को दुखान्त-नाटक का जन्मदाता कहा जाता है। वह एक वीर योद्धा भी था और उसने यूनान के स्वातन्त्र्य-संग्राम में ईरान के विरुद्ध भाग लिया था। मानव जीवन के, इसकी सुन्दरता, वेदना और भयंकरता के प्रति एक आश्चर्यमयी भावना और मनुष्य की महान कर्तृत्व शक्ति के प्रति विश्वास उसके नाटकों की विशेषता है। अंग्रेजी के कवि वर्ड्सवर्थ के वचन पूर्णतया एसकाइलस पर चरितार्थ होते हैं। "हर्ष, पीड़ा और स्नेह तथा मनुष्य का अजेय मस्तिष्क तेरे मित्र हैं।

"Thy friends are exultations, agonies,
And love and man's unconquerable mind."

एसकाइलस देवताओं के न्याय में विश्वास करता है और अपने नाटकों में कहीं कहीं पारलौकिक शिक्षायें भी देता है। 'प्रोमीथीयस बाउन्ड' और एगेमेम्नन' उसकी प्रसिद्ध नाट्य कृतियां हैं। सोफोक्लीज (४९९—४०६ ईसवी पूर्व) अपने नाटकों में वेदनामयी खिन्नता प्रदर्शित करता है। उसकी तुलना अंग्रेजी के महाकवि मिल्टन से की जाती है। मिल्टन के "उदास सन्यासिनी" 'pensive nun', 'मित्रता बहुधा झूठी होती है," "विश्वास टिकता नहीं," "मानव जीवन एक छाया है"—जैसे वाक्य-खण्ड सोफोक्लीज के नाटकों में प्रचुरता से मिलेगें। उसकी नाट्य-कला में यूनानी नाटक अपनी पूर्ण प्रौढ़ता को पहुँच गया। उसने एक सौ नाटक लिखे किन्तु उनमें से सात ही अब बच रहे हैं। एन्टिगोने और एलेक्ट्रा उसके प्रसिद्ध नाटक हैं। यूरीपिडीज की सर्वप्रमुख विशेषता इस बात में है कि वह हमें अपने वर्तमान युग के बहुत निकट जान पड़ता है। वह "संसार के शोक का कवि है।" मानवता के प्रशान्त, दुखमय संगीत को यूरीपिडीज ने बड़े ही ध्यान से सुना है और मानवीय वेदना के उसके वर्णन को पढ़कर हमारे हृदय भर आते हैं। उसकी आत्मा विद्रोहिणी थी। वह तर्क का आश्रय ग्रहण करके अपने समाज के प्रचलित धार्मिक और सामाजिक विश्वासों पर जम कर आघात करता है। यूनान के अनैतिक देवताओं की कामुकता और न्यायहीनता की वह निन्दा करता है और उनका परित्याग करता है। वह दास-प्रथा के औचित्य में सन्देह करता है और नारियों को स्वाधीनता देने की बात कहता है। नारियों के सामाजिक-परिवर्तन के विरुद्ध अपना स्वर ऊँचा करने वाला वह प्रथम एथेन्स निवासी था। अपने नाटक 'मेडीआ" में उसने नारियों के पक्ष का बड़ी सबलता पूर्वक समर्थन किया है और "दी और ट्रोजन वीमेन" में उसने युद्ध द्वारा जनित उन कष्टों का वर्णन किया है जो नारियों को उठाने पड़ते हैं।

नाटक

एरिस्टोफेनीज (४४८-३८५ ईसवी पूर्व) सुखान्त नाटकों का रचयिता था। उसके नाटकों को प्रहसन कहा जा सकता है। उसने अपनी रचनाओं में एथेन्स के समकालीन जीवन की बुराइयों और कमियों का परिहास किया है। उसके नाटकों में एथेन्स का समकालीन जीवन मुखरित हो उठा है। उसने राजनीतिज्ञों और प्रजातन्त्र के ऊपर व्यंग्य कसा है। उसने नाटक को समाज की आलोचना का साधन बनाया। आज के समाचारपत्रों की भाँति एरिस्टोफेनीज के नाटक लोकमत की रुचि का निर्माण करते थे। उसने अपने Frogs नामक नाटक में यूरीपिडीज और Clouds में प्लेटो का उपहास किया है। एरिस्टोफेनीज में व्यंग्य, विनोद, कल्पना और गीत काव्य की मर्मस्पर्शिणी शक्ति का सुन्दर समन्वय था।

गीत काव्य में आत्माभिव्यक्ति प्रधान होती है। कवि अपने हृदय की भावनाओं को सब से ऊपर समझता है

गीत-काव्य

और उनको छोटे-छोटे गीतों में प्रकट करता है। उसके गीतों में भावुकता अधिक होती है। गीत-काव्य के कई प्रकार हो सकते हैं—प्रणय-गीत, शोक-गीत, विलाप-गीत और वीर-गीत। यूनान में गीत काव्य की उत्पत्ति संगीत द्वारा हुई क्योंकि लोग इसे वीणा या बाँसुरी बजाकर गाते थे। आरचीलोकस (७ वीं शताब्दी ईसवी पूर्व) ने अपने गीतों में अपने समय के समाज की अव्यवस्था तथा अपने व्यक्तिगत दुःखों का वर्णन किया है। रोम के समालोचकों ने उसे होमर का स्थान दिया है और आधुनिक समालोचक उसे यूनान का बर्न्स कहते हैं। अलकेअस (Alcaeus) लेसबास नगर का कवि था। उसने अपने नगर की सामाजिक अराजकता और अपने नगर निवासियों की चारित्रिक विशेषताओं का उल्लेख किया है। अपने नगर के राजनीतिक झगड़ों के बावजूद भी उसने इसके प्रति अपनी भक्ति प्रकट की है। प्रणय और सुरा के प्रभावों का भी उसने वर्णन किया है और अपने गीतों में प्रकृति के सुन्दर दृश्यों को चित्रित किया है। साफो (Sappho) यूनान की विख्यात कवियित्री थी। उसके गीत सुन्दर और उपयुक्त शब्द-चयन, पद्य के मधुर संगीत, तीव्र भावानुभूति और उत्कृष्ट कल्पना शक्ति के लिए प्रसिद्ध हैं। उसे फूलों, ओसभरे चरागाह, झरनों, वृक्षों और चन्द्रिकाचर्चित तथा तारकायुक्त आकाश के प्रति बड़ा अनुराग था। अपने एक प्रभावशाली एवं मार्मिक शब्द अथवा वाक्यखण्ड द्वारा वह प्रकृति के किसी रम्य उपादान का चित्र खींच देती थी। उसके विशेषण बड़े ही उपयुक्त और हृदयस्पर्शी होते थे। अपनी इन विशेषताओं के कारण उसने प्लेटो द्वारा "दशम कवित्व शक्ति" (Tenth Muse) की उपाधि प्राप्त की थी। एनाक्रियन (Anacreon) ने बड़ी ही सफलता पूर्वक अपने भावों को अभिव्यक्त किया है। वह सुरा और सुन्दरी का उपासक था। उसके गीत इन्द्रिय सुखों का पूर्णतया उपभोग करने की भावना से ओत-प्रोत हैं। उसने युद्ध की निन्दा की है क्योंकि वह अनेक सुन्दर नवयुवकों का अन्त कर डालता है। उसके गीतों में मदिरा के मादक प्रभावों वर्णन ही अधिक मिलता है तथा उनमें भावों की यथार्थता तथा सरलता का कुछ अभाव है। पिन्डार (Pindar) ने उन गीतों की रचना की है जिन्हें कई लोग साथ मिलकर गाते हैं। उसने अपने गीतों में खेल-प्रतियोगिताओं में विजय प्राप्त करने वालों की प्रशंसा की है। उसे अपनी अद्वितीय प्रतिभा का ज्ञान था और उसने कहीं-कहीं पर आत्मश्लाघा भी की है। किन्तु परवर्ती कवियों ने भी उसकी प्रशंसा करके उसकी निजविषयक गर्वोक्तियों को सत्य प्रमाणित कर दिया है। यूनानियों ने उसे "सबसे बुद्धिमान," "दैवी" और "सबसे अधिक महान" और होरेस नामक रोमन कवि ने उसे "अपोलो का किरीट होने योग्य" कहा है। उसने अपनी सृजनात्मक कल्पना-शक्ति द्वारा अपने वर्ण्य विषयों को सप्राण बना दिया है और उनके चित्रांकन में अपने मौलिकता का परिचय दिया है। उसके रूपक बड़े ही असाधारण हैं और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से लिये गये हैं। उसने अपने गीतों को "बाण" तथा धन को "चमकता हुआ सितारा" कहा है।

प्राचीन यूनानी भारतवासियों की भाँति इतिहास के प्रति उदासीन न थे। हेरोडोटस यूनान का (४८० ईसवी पूर्व) प्रथम इतिहासकार था और "इतिहास का जन्मदाता" कहा जाता है। उसने ईरान के ऊपर यूनान की विजय का इतिहास लिखा है। उसके इतिहास ग्रन्थ को सार्वभौम इतिहास (Universal History) कहा जा सकता है क्योंकि उसने फारस के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए समस्त पूर्वी जगत (चीन तथा जापान आदि को सुदूर पूर्वी देशों को छोड़कर) का वर्णन किया है। उसकी पुस्तक में युद्धों और कूटनीतियों का विवरण मात्र नहीं है बल्कि उसने विभिन्न देशों की सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का भी वर्णन किया है। पीछे हमने बेबीलोनिया तथा मिस्र की

इतिहास

सभ्यताओं का वर्णन करते हुए हेरोडोटस के मत को उद्धृत किया है। सब देशों की यात्रा कर लेने और वहाँ के निवासियों के निकट सम्पर्क में आ जाने के कारण उसका दृष्टिकोण विस्तृत तथा सहानुभूतिपूर्ण हो गया था। अन्य यूनानियों की भाँति वह विदेशियों को बर्बर नहीं समझता वरन उनके जीवन को बड़ी ही सहानुभूति से चित्रित करता है। उसके वर्णनों में सर्वत्र प्रामाणिकता न मिलेगी क्योंकि उसने इतिहास लिखने में जनश्रुतियों और किंवदन्तियों का भी आश्रय ग्रहण किया है और अपने ऐतिहासिक ज्ञान के स्रोत की ठीक से परीक्षा नहीं की है।

थुसीडाइडीज ने (४६०-४०० ईसवी पूर्व) अपने ग्रन्थ में एथेन्स के पतन के काल का वर्णन किया है। उसने अपनी पुस्तक का वर्ण्य विषय पैनोपोनेशस के युद्ध के विवरणों को ही चुना है और जनता की सामाजिक अथवा आर्थिक दशा का वर्णन नहीं किया है। यदि उसकी सूक्ष्म दृष्टि एथेन्स की समृद्धिमय संस्कृति के वर्णन की ओर जाती तो हमें उसका प्रामाणिक और विश्वसनीय विवरण प्राप्त होता। थुसीडाइडीज अपने समय से बहुत आगे था। उसके अन्दर प्रस्तुत साक्ष्यों की प्रामाणिकता का परीक्षण करने की वैज्ञानिक प्रवृत्ति विद्यमान थी। उसने अपने ग्रन्थ का प्रणयन करने में बड़ी छान-बीन दिखलाई है। वह उन इतिहासकारों की निन्दा करता है जो सत्य की बलि चढ़ाकर मनोरञ्जक और भ्रामक तथ्यों का वर्णन करते हैं। उसने लिखा है, "मेरा यह इतिहास-ग्रन्थ पुरस्कार-प्रतियोगिताओं के लिये नहीं लिखा गया है जिसे सुनने के बाद लोग भूल जायँ। यह एक चिरस्थायी सम्पत्ति है।" उसने फिर लिखा है "जिस वस्तु को मैंने अपनी ही आँखों से नहीं देखा है अथवा जिस सुनी हुई बात की ठीक से परीक्षा नहीं की है उसका वर्णन मैंने नहीं किया है।" मेकाले ने थुसीडाइडीज को 'सभी समय के सर्व महान इतिहासकार' की उपाधि से विभूषित किया है। जेनोफन (४३४-३५५ ईसवी पूर्व) ने थुसीडाइडीज के काम को जारी रक्खा और "स्ट्रीट आव टेन थाउजेन्ड" नामक ग्रन्थ लिखा।

यूनानी कला

यूनानी संसार की सबसे अधिक कलानुरागी जातियों में से थे। वे कला को बड़े ही सम्मान की दृष्टि से देखते थे। उनके समाज में कलाकारों का स्थान बड़ा ऊँचा था। उन्होंने अपनी कला के बहुत से तत्व मिस्र और एशिया कलाओं से ग्रहण किये परन्तु अपनी तीव्र सौन्दर्यानुभूति से उन्होंने कला में मौलिकता भी प्रदर्शित की।

यूनानी वास्तुकला

यूनानी नगर-राज्यों के निवासियों ने अपने नगरों को सजाने के लिए अनेक भव्य मन्दिरों का निर्माण कराया। उनके मन्दिर मिस्र या बेबीलोनिया की तरह अत्यन्त विशालकाय नहीं थे। उनकी वास्तुकला में सन्तुलन दिखाई पड़ता है। मन्दिरों का प्रत्येक भाग सम्पूर्ण मन्दिर के आकार को दृष्टि में रख कर बनाया जाता था। यूनान के मन्दिर प्रभावशाली अवश्य हैं। यूनानी वास्तु की तीन प्रमुख शैलियाँ हैं :—(१) डोरिक (२) आयोनिक और (३) कारिन्थियन। शैलियों का निर्धारण स्तम्भ के प्रयोग को देख कर किया जाता है। डोरिक शैली में स्तम्भ बिल्कुल सादा तथा भारी है। आयोनिक शैली के मन्दिरों में स्तम्भ कम भारी और सुन्दर हैं। कारिन्थियन में स्तम्भ काफी ऊँचे हैं। यह शैली अलंकृत थी इसलिए रोमनिवासियों ने इसे ही अधिक ग्रहण किया था। डोरिक शैली का सर्वश्रेष्ठ नमूना एथेन्स में पहाड़ी एक्रोपोलिस पर बना हुआ पारथेनन था। आयोनिक शैली का एक प्रसिद्ध मन्दिर इसी एक्रोपोलिस पर एरेक्थियम Erechtheum का मन्दिर था। इस शैली में बना हुआ एक और प्रसिद्ध मन्दिर था जो एफेसस में आरटेमिस (डियाना) के लिए बनवाया गया था। इस मन्दिर को संसार की सात आश्चर्यजनक वस्तुओं में गिना जाता था। तीसरी शैली कारिन्थियन है। इस शैली का सबसे श्रेष्ठ उदाहरण एथेन्स में लिसीक्रेटीज का स्मारक कहा जा सकता है।

स्थापत्य और चित्रकला

स्थापत्य में ही यूनानियों की कलात्मक अभिरुचि अधिक व्यक्त हुई है। उनकी मूर्तियाँ स्वाभाविक और सुन्दर हैं। उनमें शरीर के अवयवों को पूरी तरह से प्रकट करने का प्रयास किया गया है। यूनानी कलाकार शारीरिक सौन्दर्य के उपासक थे और धार्मिक या नैतिक मान्यताओं से बँधे न थे इसलिए उन्होंने मानव शरीर की नग्न सुन्दरता को चित्रित किया है। उनके सामने किसी सुन्दर स्त्री या पुरुष का नमूना रहता था और ठीक उसी के अनुरूप वे अपनी मूर्तियाँ गढ़ते थे। शारीरिक सौन्दर्य पर ही दृष्टि रखने वाले कलाकार भावाभिव्यक्ति पर कोई ध्यान नहीं देते थे, इसलिए उनकी स्थापत्य-कला फोटोग्राफी मात्र है। यूनानी तक्षण कला का सर्वप्रमुख कलाकार फिडियस था। उसने देवी एथेना की विशाल प्रतिमा का निर्माण किया था जिसे उसने पारथेनन के मन्दिर में रक्खा था। यह मूर्ति सौन्दर्य, पूर्ण स्वाभाविकता,

सन्तुलन की भावना, शान्ति तथा शारीरिक अवयवों की मांसलता के लिए विख्यात है। प्राक्सिटेलीज फिडियस के बाद यूनान का सबसे प्रसिद्ध कलाकार था। उसकी कला में परिष्कार और कोमलता अधिक है। स्कोपस भी मूर्तियों का निर्माण करता था किन्तु उसकी मूर्तियाँ तो अब नहीं मिलतीं केवल उनके चित्र ही प्राप्य हैं। उसने तीव्र भावों को अपनी मूर्तियों में प्रकट किया है।

यूनान की चित्रकला के अधिकांश नमूने अब नष्ट हो चुके हैं इसलिए इसके विषय में हमें अधिक जानकारी नहीं है। सभी प्रकार के बर्तनों पर चित्र बने हुए हैं जिनके द्वारा पुरातत्व वेत्ता यूनान के जीवन के विषय में ज्ञान प्राप्त करते हैं। ईरान की पराजय के समय से यूनान में चित्रकला की उन्नति हुई। पोलीग्नोटस प्रमुख चित्रकार था किन्तु उसकी कलाकृतियाँ अब प्राप्य नहीं हैं जिससे हम उनका मूल्यांकन कर सकें।

धर्म

अपने धार्मिक जीवन में यूनानी लोग बहुदेववादी थे। किन्तु उनके देवता मनुष्य ही थे और मानव जीवन के दोषों से युक्त थे। बहुधा यूनानी देवता कामुक, अनैतिक, झगड़ालू और स्वार्थी पर थे। उनके अन्दर केवल अमरता ही ऐसी वस्तु थी जो उन्हें मनुष्यों से ऊपर उठाती थी। देवताओं के विषय में यूनानियों की कल्पना आध्यात्मिक भावों से नितान्त शून्य थी। वे अपने देवताओं से सदा भयत्रस्त नहीं रहा करते थे और न उनका सदा चिन्तन ही किया करते थे। देवताओं के प्रति उनके हृदय में केवल एक भय-मिश्रित-सम्मान की भावना ही थी। इससे अधिक कुछ नहीं। जीयस (Zeus) यूनानी देवमण्डल का अधिपति था। उसके हाथ में वज्र रहता था। डेमीटर (Demeter) पृथ्वी माता थी और हेडस पाताल लोक का स्वामी था। धनुर्देव एपोलो (Apollo) तथा मदिरा के देवता डायोनीसस (Dionysus), समुद्र के देवता पोसीडन (Poseidon) और विद्या तथा कला की अधिष्ठात्री देवी एथेना ये ही देवता यूनान के विशाल देवमण्डल में प्रमुख थे। देवाधिदेव जीयस अपने पुत्र-कलत्र तथा सहयोगियों के साथ ओलम्पस पर्वत पर निवास करता था। इन सार्वभौम देवताओं के अतिरिक्त प्रत्येक नगर और कबीले के असंख्य देवता थे। यूनानियों के सांस्कृतिक जीवन में उनके देवताओं का महत्वपूर्ण भाग था। यूनानियों ने भारतवासियों की भांति एक मनोरञ्जक पौराणिक साहित्य भी रचा था।

देवताओं की पूजा-उपासना करने में यूनानियों का अधिक समय नहीं व्यतीत होता था। वे भोजन करने के पहले देवताओं को भोजन तथा सुरा समर्पित करते थे और पर्व-दिनों जन्म-मरण तथा विवाहादि अवसरों पर और न्यायालयों के खुलने पर सार्वजनिक रूप से बलि-क्रिया की जाती थी। इस बलि-क्रिया का उद्देश्य यह होता था कि वे अपने देवताओं की इच्छा जान लें और जो देवता उनके मित्र हैं उनके साथ वे अच्छा व्यवहार करें और शत्रु देवताओं को पराजित करें। इन धार्मिक क्रियाओं को करने के लिए यूनान में पुरोहित होते थे। प्रत्येक नगर में सार्वजनिक कार्यों के लिए नगर-अधिकारियों की भाँति पुरोहित नियुक्त किये जाते थे। बहुत से उत्सवों में पुरोहित अध्यक्ष-पद ग्रहण करते थे और लोग उन्हीं के द्वारा देवताओं की इच्छा जानते थे। ७०० और ४०० ईसवी पूर्व के बीच कदाचित यूनानी इस बात का विचार न कर सके कि देवताओं या ईश्वर से प्रत्यक्ष आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। किन्तु यूनान समाज पर पुरोहित-वर्ग का आधिपत्य कभी स्थापित न हो सका वरन यों कहना चाहिए कि यूनान में पुरोहितों ने अपना कोई वर्ग ही नहीं बनाया था। प्रत्येक परिवार में पिता ही पुरोहित समझा जाता था।

यूनान में समय-समय पर सार्वजनिक रूप से धार्मिक उत्सव मनाये जाते थे। इन उत्सवों में से एक उत्सव राष्ट्रीय था। यह उत्सव देवाधिपति जीयस के सम्मान में किया जाता था। इस उत्सव में यूनान के समस्त नगर-राज्यों के प्रतिनिधि आते थे। ओलम्पिक खेल होते थे। इन खेलों के समय सारे यूनानी अपने को एक पवित्र आशा से बँधा हुआ समझते थे और अपने पारस्परिक भेदभावों को भूल जाते थे।

यूनानी भावी जीवन की निश्चित कल्पना के प्रति उदासीन थे। वे मृत्यु के बाद मृतकों के देश में केवल एक दुखमय जीवन की ही कल्पना कर सकते थे। सुकरात जैसे कुछ लोगों ने महान लोगों की आत्माओं के साथ तादात्म्य

स्थापित करने का विचार किया था। कुछ 'रहस्यात्मक' विचार भी यूनानी धर्म में प्रचलित थे। यूनानियों के धार्मिक जीवन के ये विचार प्रमुख अङ्ग थे। ये रहस्यात्मक विचार गुप्त रक्खे जाते थे और केवल उन्हीं लोगों को बताये जाते थे जो उस विचारधारा के सम्प्रदाय(Cult) में दीक्षित कर लिए जाते थे। इन विचारों के द्वारा लोग अमर आनन्द प्राप्त करने की आशा रखते थे और मृत्यु के बाद सुखमय जीवन बिताने की कल्पना करते थे। पुरोहितों के द्वारा रहस्यात्मक सम्प्रदायों के देवता अपने भक्तों को आदेश देते थे।

यूनान में दर्शन का उदय प्रकृति के रहस्यों का पता लगाने की भावना से हुआ। एक आश्चर्य-मिश्रित जिज्ञासा से प्रेरित होकर विचारशील लोगों ने अपने मस्तिष्क से कुछ प्रश्न किये और उन्हीं के उत्तर से दर्शन का जन्म हुआ।

दर्शन और विज्ञान

यूनान के दार्शनिक इहलोकपरक थे इसलिए उन्होंने आत्मा और जीव जैसे सूक्ष्म तथा अभौतिक विषयों पर विचार नहीं किया। सबसे पहले यूनान में दर्शन का जन्म आयोनिया में हुआ। आयोनिया के दार्शनिकों में मिलेटस के थेलीज़ (Thales) का नाम सबसे पहले आता है। उसने एक प्रमुख पदार्थ की कल्पना की जिससे अन्य वस्तुयें उत्पन्न होती हैं और उसने जल को यह पदार्थ बताया। उसने बताया कि बादल, चट्टान, मिट्टी, पौधे तथा पशु आदि जल के ही विभिन्न परिवर्तित रूप हैं। जल सदैव अन्य वस्तुओं में बदलता रहता है और ये वस्तुयें भी अन्त में जल में ही मिल जाती हैं। थेलीज़ का यह दार्शनिक सिद्धान्त अटपटा सा लगता है किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसके इस सिद्धान्त ने सृष्टि की उत्पत्ति का आदि कारण धार्मिक विश्वासों के आधार पर नहीं बताया और अन्य दार्शनिकों को सोचने की प्रेरणा दी। वह एक वैज्ञानिक भी था और उसने ज्यामिति तथा खगोल-शास्त्र का ज्ञान भी प्राप्त किया था। उसने २८ मई, ५८५ ईसवी पूर्व के ग्रहण की भविष्यवाणी की थी और ज्यामिति के कई साध्यों की रचना की थी।

एनैक्सीमैंडर का विश्वास था कि "निस्सीम," जो एक प्रकार का कोहरा था और जिससे भूमि, आकाश, जल तथा वायु उत्पन्न होती थी, बीजतत्व था। उसने जीवन को एक विकास-क्रम के रूप में देखा। उसने प्रतिपादित किया कि परिवर्तन के सतत चलते रहने वाले चक्र से मनुष्य पहले-पहल मछली के रूप में उत्पन्न हुआ। एनक्सामिनीज (Anaximenes) ने थेलीज के मत का समर्थन किया परन्तु बतलाया कि बीजतत्व वायु था, जल नहीं। इन तीनों दार्शनिकों के विचार को 'माइलेशियन सम्प्रदाय' (Milesian School of Philosophy) कहते हैं।

पाइथागोरस और जेनोफेनीज छठवीं शताब्दी ईसवी पूर्व में प्रमुख दार्शनिक थे। पाइथागोरस के हाथों में पड़कर दर्शन केवल इहलोकपरक बौद्धिक जिज्ञासा के रूप में ही न रहा वरन् उसके लिए यह 'जीवन का एक पथ' हो गया। उसने दर्शन के द्वारा नैतिक तथा धार्मिक 'शुद्धीकरण' करने का उपदेश दिया जिससे आत्मा अपने कारागृह (शरीर) से मुक्ति प्राप्त कर सके। पाइथागोरस के दार्शनिक सिद्धान्तों का सार दो प्रश्नों और उनके उत्तर में निहित है। "सब से अधिक ज्ञान की वस्तु क्या है।" "संख्या"। "सबसे अधिक सुन्दर क्या है।" "सन्तुलन" (Harmony)। उसने बताया कि संख्या ही सब सिद्धान्तों का आधार है और जीवन गणित तथा संगीत द्वारा संचालित होता है। पाइथागोरस एक प्रसिद्ध गणितज्ञ था और उसने ज्यामिति का स्वतन्त्र रूप से विकास किया। उसने पृथ्वी, सूर्य तथा चन्द्रमा को गोलाकार बताया और कहा कि ये "स्वर्गीय ग्रह" (Celestial bodies) एक "महान केन्द्रीय अग्नि-पुञ्ज के चारों ओर चक्कर लगाते हैं"। पाइथागोरस की संख्या की विचारधारा उसकी महत्वपूर्ण बात यही कि उसने समस्त सृष्टि को संख्याओं के मिश्रण और ज्यामिति के चित्रों के रूप में ही देखा। जेनोफेनीज (Xenophanes, 480 B. C.) ने प्राचीन धर्म की निन्दा की और होमर तथा हेसियड के बहुदेव-वाद सम्बन्धी विचारों को मिथ्या बताया। उसने देवताओं में विश्वास करने से साफ इन्कार किया परन्तु एक सर्वशक्तिशाली देवता की उसने कल्पना की। उसने कहा मनुष्यों और देवताओं के ऊपर एक देवता है जो शरीर और मस्तिष्क में मरण-

शीलों की भांति नहीं है।'' ''उसकी पूर्ण सत्ता देखती है, उसकी पूर्ण सत्ता सोचती है और उसकीपूर्ण सत्ता सुनती है।'' ''वह अपने मस्तिष्क की शक्ति से बिना ही प्रयास सब वस्तुओं पर नियन्त्रण रखता है।'' देवता 'अपरिवर्तनीय तथा स्वयंजन्मा' है। उसके अनुयायी पारमेनीडीज और जेनो ने उसके समस्त संसार को देवता का रूप समझने वाले सिद्धान्त का प्रचार किया।

एफीसस के हेराक्लिटस (४७५ ईसवी पूर्व) ने बताया कि सृष्टि में मूल पदार्थ पावक था। अग्नि वायु में, वायु जल में और जल भूमि में बदल जाता है। उसने कहा कि संसार में परिवर्तन का प्रवाह सतत रहता है। ''प्रत्येक वस्तु बहती है और प्रत्येक वस्तु नष्ट होती है, कोई भी वस्तु टिकती नहीं। एक नदी में जो जलधारा तुम्हें छूती है वह सदैव भिन्न-भिन्न रहती है। तुम उसी जलधारा में दुबारा कभी नहीं स्नान कर सकते।'' चूंकि इस संसार की प्रत्येक वस्तु बदलती रहती है इसलिए हमारी इन्द्रियाँ जो इन सतत परिवर्तनशील वस्तुओं को ही देखती हैं, हमें अपरिवर्तनशील सत्य का आभास नहीं दे सकतीं। पावक ''सब से अधिक गतिशील, सर्वाधिक परिवर्तनशील, सर्वाधिक क्रियाशील और सबसे अधिक जीवनदायक'' तत्व होने के कारण ''यथार्थता के सतत-प्रवाहमान प्रवाह को'' सबसे अच्छी तरह व्यक्त करता है।

इम्पेडोक्लीज (चतुर्थ शताब्दी ईसवी पूर्व) ने बताया कि प्रमुख तत्व चार हैं। भूमि, वायु, अग्नि और जल। उसने कहा कि इनमें से प्रत्येक अनादि और अनन्त है और इन्हीं के संयोग से संसार बना है। इन्हीं के मिश्रण से समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति होती है और नष्ट हो जाने पर वे इनमें ही मिल जाती हैं। एम्पेडोक्लीज का विश्वास था कि दो शक्तियां सब वस्तुओं को नियन्त्रित करती हैं। स्नेह शक्ति पदार्थों को संयुक्त करती है और घृणा पदार्थों को वियुक्त करती है। डेमोक्रिटस (४६०-३७० ईसवी पूर्व) ने अणु सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसने बताया कि संसार की समस्त वस्तुयें अदृश्य और निरन्तर गतिशील अणुओं के मिश्रण से बनती हैं।

जिस प्रकार चीन और भारत में घूम-घूम कर अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रचार करने वाले दर्शनशास्त्री थे उसी प्रकार यूनान में भी इस प्रकार के दार्शनिक थे। इन दार्शनिकों में 'सोफिस्ट' प्रमुख थे। सोफिस्ट किसी दार्शनिक या वैज्ञानिक खोज को आगे बढ़ाना नहीं चाहते थे बल्कि वे धन लेकर शिक्षा प्रदान करते थे। उनका विश्वास था कि किसी मत को चाहे ठीक से सिद्ध किया जाय अथवा नहीं परन्तु अपने प्रतिद्वन्द्वी को वाद-विवाद में हराना अवश्य चाहिए। प्रभावशाली ढंग से अपने विचारों को प्रकट करने तथा सुन्दर शैली में लिखने पर सोफिस्ट बहुत जोर देते थे। वे किसी भी दर्शन-सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं थे और सभी दार्शनिक मतों का खण्डन करते थे। उन्होंने प्रचलित सिद्धान्तों का खण्डन किया, देवताओं की आलोचना की और नैतिकता में सन्देह किया। गोरगिस (Gorgias 480-395) ने इस दर्शन का सार इन शब्दों में प्रकट किया। ''संसार में किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है और यदि इसका अस्तित्व है तो इसे कोई जान नहीं सकता और यदि किसी को इसका ज्ञान प्राप्त भी हो जाय तो वह इसे अभिव्यक्त नहीं कर सकता।'' प्रोटेगोरस ने कहा ''मनुष्य ही सब वस्तुओं का मापदण्ड है, जो वस्तुयें यहां हैं उनका और जो यहां नहीं हैं उनका भी।'' सोफिस्ट यूनानी युवकों को सामाजिक और राजनीतिक कार्यों में भाग लेने तथा सुयोग्य नागरिक बनने की शिक्षा देते थे किन्तु उनकी अतिशय सन्देह-वादिता ने लोगों की नैतिक भावना को झकझोर दिया। वे विचार को अर्थकारी बनाने के लिए, सत्य को बहुधा भुला दिया करते थे और लोगों को भ्रामक बातें भी बता देते थे। ऐसे समय में एथेन्स में एक सुधारक तथा सदुपदेशक का जन्म हुआ जिसने लोगों को ज्ञान प्राप्ति और सदाचार का उपदेश दिया।

इस सुधारक का नाम था सुकरात (४७० — ३९९ ईसवी पूर्व)। सुकरात एथेन्स के युवकों को बाजारों और अन्य स्थानों में उपदेश दिया करते थे। सुकरात ने सम्यक् ज्ञान को ही मनुष्य का सबसे बड़ा गुण बताया और आत्म-निरीक्षण

को अत्यन्त आवश्यक बताया। उन्होंने कहा, "अपने आपको पहचानना चाहिये।" यह उपदेश संस्कृत के वाक्य खण्ड "आत्मानं विद्" से कितना मिलता-जुलता है। उन्होंने बताया कि कुछ विषयों की जानकारी प्राप्त कर लेना ज्ञान नहीं है वरन् ज्ञान वह है जो मनुष्य को परिवर्तित करके उसमें सद्गुणों की वृद्धि करता है। अज्ञान ही सब नैतिक दोषों का मूल है इसलिये इसको दूर करना चाहिये। सुकरात ने यूनान के प्राचीन नैतिक सिद्धान्त "मित्रों के प्रति सद्व्यवहार और शत्रुओं के प्रति दुर्व्यवहार करो" का खण्डन किया और सबके साथ साधुता का व्यवहार करने की शिक्षा दी। सामाजिक एवं राजनीतिक उत्क्रान्ति के युग में उन्होंने लोगों को सहिष्णुता, मानवता, शान्ति और सत्यान्वेषण का उपदेश दिया। परन्तु उनके उपदेशों को एथेन्स के राजकर्मचारियों ने नास्तिकता के विचारों को फैलाने वाला समझ लिया। सुकरात के ऊपर एथेन्स के नवयुवकों को पथभ्रष्ट करने का आरोप लगाया गया और उन्हें विषपान द्वारा प्राणदण्ड दिया गया। महात्मा सुकरात ने हँसते हँसते विष का प्याला कण्ठ से लगा लिया और अपने बहुमूल्य जीवन को सत्य की बलिवेदी पर चढ़ा दिया।

यूनान का प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो महात्मा सुकरात का शिष्य था। उसने अपने गुरु की शिक्षण-परम्परा को जारी रक्खा और एथेन्स में एक विद्यालय खोला। प्लेटो में कल्पना शक्ति अधिक थी और उनकी शैली भी कवित्वमयी थी। वे एक भयङ्कर युद्ध तथा महती सामाजिक अराजकता के युग में उत्पन्न हुये थे। प्रारम्भ से ही मानवीय संस्थाओं की अनुपयुक्तता तथा मनुष्य की सामाजिक और राजनीतिक दुर्बलताओं से उनका साक्षात्कार हुआ। वे मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों को आदर्शमय बनाकर उसके जीवन को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करते थे। अपनी उच्च कल्पना शक्ति के द्वारा उन्होंने एक आदर्श राज्य की कल्पना कर डाली जिसका वर्णन उन्होंने अपने सुविख्यात ग्रन्थ "रिपब्लिक" में विस्तार के साथ किया है। प्लेटो की धारणा है कि संसार में श्रेष्ठ राज्य वही हो सकता है जहाँ दार्शनिक ही राजा हों अथवा जहाँ के शासक दार्शनिक सिद्धान्तों से भली-भाँति परिचित हों। राजनीतिक शक्ति तथा दार्शनिक ज्ञान का समन्वय कर देने से ही राज्यों के दोष मिट सकते हैं। संसार के विषय में प्लेटो का विश्वास था कि इसे ईश्वर ने बनाया है जो सर्वव्यापी है। प्लेटो ने बताया कि आध्यात्मिक शक्तियाँ या विचार ही संसार की सबसे वास्तविक और चिरस्थायी वस्तुयें हैं। दृश्य वस्तुयें शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं किन्तु उनका विचार कभी भी नष्ट नहीं होता। प्लेटो की धारणा के अनुसार विचारों को तर्क द्वारा ही समझा जा सकता है। पहले मनुष्य पूर्ण और महान था किन्तु किसी प्रकार वह अपनी उस आदर्श दशा से च्युत हो गया। उसे अपने पहले वाले सदाचारमय और श्रेष्ठ जीवन को फिर से प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये।

प्लेटो

अरस्तू प्लेटो का शिष्य और अलेक्जेन्डर का गुरु था। उसने अपने गुरु द्वारा प्रदर्शित पथ का अनुगमन किया परन्तु यथास्थान उसने उनकी आलोचना भी की। जब प्लेटो कहते हैं कि कवियों को आदर्श-नगर में न रहने देना चाहिये तो अरस्तू उस मत का खण्डन करता है क्योंकि कविता को वह एक शक्ति स्वीकार करता है। किन्तु प्लेटो की भाँति उसकी शैली कवित्वमयी नहीं है। अरस्तू दार्शनिक होने के साथ ही उच्चकोटि का वैज्ञानिक भी था। अपनी छोटी सी ही अवस्था में उसने ज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर काफी अधिकार कर लिया था। उसने भौतिक-विज्ञान, तर्कशास्त्र, काव्यशास्त्र (poetics) राजनीति, तत्वज्ञान और आचार-शास्त्र पर पुस्तकें लिखीं। अरस्तू जैसी सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले व्यक्ति प्रत्येक युग में उत्पन्न नहीं होते।

अरस्तू (३८४-३२२ ईसवी पूर्व)

यूनान में विज्ञान की उत्पत्ति दर्शन के द्वारा हुई। हम आपको सुमेरिया की सभ्यता के विषय में बतलाते हुये यह कह आये हैं कि सुमेरीय विज्ञान की उत्पत्ति शास्त्रीय अध्ययन के फल-स्वरूप नहीं हुई थी बल्कि एक सुविकसित आर्थिक-जीवन ने इसे उत्पन्न किया था। यही हाल मिस्र का भी था। परन्तु यूनान में किसी दार्शनिक मत की पुष्टि करने के लिये बुद्धिमान लोगों ने विज्ञान का सहारा लिया। व्यावहारिक या दैहिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये नहीं। भौतिक विज्ञान की नींव डालने वाला अरस्तू था। उसे विज्ञान का

विज्ञान

जन्मदाता कहा जाता है। उसने पशुओं का जो वर्गीकरण किया उससे जीव विज्ञान की नींव पड़ी। उसे शरीर-रचना-विज्ञान, शरीर-विज्ञान तथा भ्रूण-विज्ञान का भी ज्ञान था। विज्ञान की उन्नति हेलेनिस्टिक सभ्यता के केन्द्र सिकन्दरिया में अधिक हुई जिसका विवरण हम आगे आपको बतायेंगे।

चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में हिपोक्रेटीज (४६०-३७० ईसवी पूर्व) का नाम उल्लेखनीय है। उसे "यूनानी चिकित्सा-विज्ञान का पिता" कहा जाता है। उसने यह बताया कि मनुष्य के शरीर में रोगों की उत्पत्ति भूत प्रेत आदि के प्रवेश करने से नहीं होती बल्कि अपनी असावधानियों के कारण वह रोग ग्रस्त होता है। उसने कहा, "रोगों को या अन्य प्राकृतिक प्रभावों को समझाने के लिये देवताओं का आवाहन करना निरी मूर्खता है।" हिपोक्रेटीज ने रोगों की चिकित्सा के लिये स्वच्छता पर विशेष ध्यान दिया। उसने अपने व्यवसाय के सम्बन्ध में जो शपथ-ग्रहण की उसे आज भी चिकित्सा विज्ञान का प्रत्येक स्नातक विद्यालय छोड़ते समय दुहराता है। "जिस पथ्य-नियम का अवलम्बन मैं करूँगा उसे अपनी पूर्ण शक्ति और विचार के अनुसार रोगी के हित के लिये ही प्रयुक्त करूँगा। मैं किसी को विषैली औषधि नहीं दूँगा चाहे मुझसे कोई माँगे ही क्यों न और न मैं किसी को इस विषय की सम्मति ही दूँगा...... जिस घर में मैं प्रवेश करूँगा वहां केवल रोगियों के हित के लिये ही जाऊँगा और स्वेच्छित अपराध या भ्रष्टाचार विशेष कर किसी स्त्री या पुरुष, दास या स्वामी को पाप में प्रवृत करने से अपने आप को बचाऊँगा। रोगियों की चिकित्सा करने में या बाहर भी मैं मनुष्यों के जीवन से सम्बन्धित जो वस्तुयें देखूँगा और जिन्हें मैं गोपनीय समझूँगा उन्हें धार्मिक रहस्य समझ कर उनके विषय में मौनधारण कर लूँगा।"[1]

गणित के क्षेत्र में यूनानी केवल ज्यामिति का ही विकास कर सके। ज्यामिति के सम्बन्ध में पाइथागोरस का उल्लेख किया जा चुका है। प्लेटो ने भी ज्यामिति के अध्ययन पर विशेष जोर दिया किन्तु उन्होंने इस शास्त्र में कोई नये सिद्धान्त का विकास नहीं किया। ज्यामिति की भी उन्नति हेलेनिस्टिक सभ्यता में ही अधिक हुई।

[1] Swain: A History of World Civilization से उद्धृत, Page 159

—:o:—

दसवाँ अध्याय

हेलेनिस्टिक सभ्यता

यूनानी सभ्यता का एक रूप हेलेनिस्टिक सभ्यता के नाम से प्रसिद्ध है। इस सभ्यता का विकास सिकन्दर महान के उदय से हुआ और इसका विकास-क्रम रोमन विजयों तक जारी रहा। ३२३ ईसवी पूर्व से १४६ ईसवी पूर्व तक के समय को हेलेनिस्टिक युग के नाम से पुकारते हैं। मानव सभ्यता के इतिहास में इस युग का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि इस युग में यूनानी सभ्यता यूनान की तुच्छ भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण करके निकट-पूर्वी देशों, मिस्र, मेसोपोटैमिया, सीरिया, फिलस्तीन आदि में फैल गई। इसी युग में सांस्कृतिक समन्वय का भी कार्य हुआ। दो महती सभ्यतायें पाश्चात्य और पौर्वात्य एक दूसरे के निकट आई। हेलेनिस्टिक युग में पूर्व और पश्चिम एक दूसरे से मिले और यद्यपि किसी ने दूसरे के ऊपर सांस्कृतिक राज्य नहीं स्थापित किया, प्रत्येक एक दूसरे के अधिक निकट आया।[1] यूनानी अब दूसरी जातियों को बर्बर नहीं समझते थे बल्कि उनके सहयोग से उन्होंने अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं को फैलाने और सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया। इस युग में समस्त मानव जाति की एकता की भावना का भी विकास हुआ। "विश्व-साम्राज्य", "सभ्य संसार", "मानवता" और "समवाय" आदि शब्द इस युग में मानव एकता की बढ़ती हुई भावनाओं का संकेत करते हैं। रोमन सभ्यता के उत्थान और ईसाई धर्म के अभ्युदय के लिए भी इस युग का विशेष महत्व है। "पाश्चात्य सभ्यता के इतिहास के लिए यह सम्पूर्ण युग प्रमुख महत्व का है क्योंकि बेबीलोनियन संस्कृति ने नहीं अपितु हेलेनिस्टिक (संस्कृति) ने रोमन सभ्यता के लिए प्रत्यक्ष पृष्ठभूमि प्रस्तुत की और ईसाई धर्म के विकास के लिए भूमि तथा वातावरण प्रदान किया।"[2] हेलेनिस्टिक युग अपनी आधुनिकता के लिए भी महत्वपूर्ण है। यद्यपि इस युग में मशीनों का अभाव था तथापि सभ्यताओं के बाह्य तत्वों में यह आधुनिक युग से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। राजनीतिक दृष्टि से भी यह युग कम महत्व का नहीं है। फारस का सुविशाल साम्राज्य यूनानियों के द्वारा विजित हो जाने से और मेसोपोटैमिया आदि पर यूनानी प्रभाव स्थापित हो जाने के कारण एक बहुत बड़े भू-भाग को राजनीतिक एकता प्राप्त हुई। इस विशाल साम्राज्य की स्थापना सिकन्दर महान के द्वारा सम्भव हुई इसलिए पहले हम उसी के विषय में पढ़ेंगे और फिर हेलेनिस्टिक सभ्यता का अध्ययन करेंगे।

हम बता चुके हैं कि यूनान के नगर-राज्यों का पतन मेसीडोनिया के आक्रमण द्वारा हुआ। यह आक्रमण मेसीडोन के राजा फिलिप ने किया था। ईसा के ३३८ वर्ष पूर्व तक समस्त यूनान पर फिलिप का अधिकार स्थापित हो गया। अपने पिता की हत्या के बाद सिकन्दर मेसीडोन के सिंहासन पर बैठा। सिकन्दर बाल्यकाल से ही महत्वाकांक्षी था और विश्व-विजय की कल्पना करता था। उसने समस्त यूनानी राज्यों को इस बात के लिये बाध्य किया कि वे उसका नेतृत्व स्वीकार करें। उसने यूनान के चिरशत्रु ईरान को विजित करने का विचार किया। मेरेथान, थर्मापोली और सालमिस की गौरवशालिनी विजयों के बाद से बहुत से यूनानी इस प्रकार की विजय का स्वप्न समझ चुके थे। उन्होंने तुरन्त सिकन्दर का इस विजय-योजना में साथ देने का निश्चय कर लिया। अपने साथ पैंतीस हजार वीरों को साथ लेकर वह ईरान पर चढ़ आया

सिकन्दर महान और उसका साम्राज्य

---

1. The Great Cultural Traditions, By Turner.
2. Albert A. Trever, History of Ancient Civilisation, Vol I, p. 471.

और कई स्थानों पर उसने ईरानियों को पराजित किया। एजियन सागर से लेकर सिन्धु नदी तक का विशाल ईरानी साम्राज्य सिकन्दर के हाथ में आ गया। इसके बाद वह भारतवर्ष की सीमा में घुसा और पंजाब की व्यास नदी तक अपना अधिकार स्थापित कर लिया। भारत के वीर सैनिकों ने युद्ध में यूनानियों के दांत खट्टे कर दिये थे इसलिये वे और आगे बढ़ना नहीं चाहते थे। इसके अलावा जब उन्होंने यह सुना कि पूर्व में नन्दों के शक्तिशाली साम्राज्य से लोहा लेना पड़ेगा तो उनका रहा सहा उत्साह भी जाता रहा इसलिये सिकन्दर के लाख उत्साह दिलाने पर भी वे आगे बढ़ने का साहस न कर सके। निराश होकर सिकन्दर ने अपने सैनिकों को लौट चलने की आज्ञा दे दी। लौटते समय मालव, क्षुद्रक, यौधेय और अर्जुनायन नामक गणतन्त्रों ने सिकन्दर की सेना को खूब परेशान किया। सिकन्दर के लौट जाने पर पंजाब के भारतवासी फिर से स्वतन्त्र हो गये। जब सिकन्दर लौट ही रहा था कि मार्ग में बेबीलोन के निकट वह मर गया।

सिकन्दर के साम्राज्य का विभाजन

सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य तीन भागों में विभक्त हो गया—(१) सिकन्दर के एक सेनानायक ने सिकन्दरिया में एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित कर लिया। इस राजवंश की अन्तिम सम्राज्ञी क्लीओपेट्रा से आगस्टस ने राज्य हस्तगत किया था। (२) सेल्यूकस ने सिकन्दर के एशियाई साम्राज्य की राजधानी एन्टियोक को बनाया। उसके राज्य में अन्य बहुत से स्वशासित नगर थे। वह अपने को ईश्वर समझता था और चाहता था कि लोग उसके सम्मुख आदर प्रदर्शित करने के लिये अपने सिर झुकाया करें। (३) सिकन्दर के एक अन्य सेनानायक एन्टिगोलस ने थ्रास, यूनान और मैसीडोन पर अपना अधिकार कर लिया। रोमन साम्राज्य के उत्थान के बाद इन राज्यों का अन्त हो गया।

हेलिनिस्टिक युग की सभ्यता

हेलिनिस्टिक युग की सभ्यता को पूर्ण रूप से यूनानी सभ्यता नहीं कहा जा सकता यद्यपि लगभग इसके सभी तत्व यूनानी थे। इस सभ्यता के विकास में पूर्वी देशों के निवासियों ने महत्वपूर्ण सहायता दी। यूनान के नगर-राज्य की सभ्यता के प्रतिकूल हेलेनिस्टिक संस्कृति ऐसे विशाल नगरों की उत्पत्ति थी जिनमें विभिन्न देशों और जातियों के लोग साथ-साथ रहते थे। सभी लोग यूनानी तथा अन्य जातियों के एक ही सामान्य भाषा 'कोइने' का व्यवहार करते थे। इस युग का अधिकांश साहित्य इसी भाषा में लिखा गया था।

आर्थिक जीवन

सिकन्दर महान की विजयों के फलस्वरूप लोगों का आर्थिक जीवन काफी समृद्ध हो गया किन्तु इसके कारण सामाजिक वैषम्य भी बढ़ गया। एक ओर कुछ लोगों के अधिकार में असीमित धन केन्द्रित हो गया और दूसरी ओर श्रमजीवी तथा कृषक वर्ग दैन्य और अभाव का ही जीवन बिताता था। हेलिनिस्टिक युग महान नगरों का युग था इसलिये हमें नगरों के विषय में जान लेना चाहिये।

नगर निर्माण

सिकन्दर ने बहुत से नगरों की स्थापना कराई थी। इन नगरों का आकार-प्रकार यूनानी नगरों से काफी भिन्न था। ये नवीन नगर एक सुनिश्चित योजना के अनुसार बसाये जाते थे। इनमें सीधी और लम्बी सड़कें होती थीं। राजकीय भवन यूनान की अपेक्षा कहीं अधिक विशाल और प्रभावोत्पादक होते थे। नागरिकों के निवास-स्थान भी काफी भव्य और सुविधाजनक होते थे। लोगों के घर पत्थर के बने होते थे और घरों की दीवालें रंगी होती थीं। घरों में नलों का प्रबन्ध होता था और नालियों की भी व्यवस्था होती थी। नगरों में बड़े-बड़े बाजार, थियेटर, व्यायामशालायें तथा स्नानागार होते थे। हेलिनिस्टिक युग के नगरों में सिकन्दरिया सबसे सुन्दर और महत्वपूर्ण था। यह एक प्रसिद्ध बन्दरगाह भी था। इसमें भव्य-भवन, राजकीय पुस्तकालय, संग्रहालय, आलोकस्तम्भ तथा चौड़े राजपथ थे। सिकन्दरिया की जनसंख्या ५००,००० थी और इसमें लगभग सभी राष्ट्रों और जातियों के लोग रहते थे। इस नगर में नाना प्रकार के उद्योग-धन्धे प्रचलित थे और यहां का व्यापार भी समृद्धि की अवस्था में था। तीन शताब्दियों तक यह नगर संसार के एक बहुत बड़े भू-भाग की आर्थिक, व्यापारिक और बौद्धिक राजधानी था। सिकन्दरिया व्यापार और विद्या का केन्द्र था। राजभवन के निकट

संग्रहालय था जो एथेन्स के एकेडमी तथा Lyceum के नमूने पर बनवाया गया था। इस संग्रहालय का काम लेखन, पठन पाठन तथा खोज कार्य (Research) को प्रोत्साहन देना था। इसका व्यय टोलमी (मिस्र का राजा) देता था। जो विद्वान यहां पर अध्ययन या अध्यापन करना चाहते थे उनके भरण-पोषण का प्रबन्ध टालमी करता था। संग्रहालय के पास एक विशाल पुस्तकालय था। इस पुस्तकालय में सात लाख पुस्तकें थीं। पुस्तकें 'पेपीरस' की बनी होती थीं। यूनान की प्रायः सभी पुस्तकें इस पुस्तकालय में रखी गईं थीं और उनकी रक्षा तथा हिफाजत पर पूरा ध्यान दिया जाता था। गणित, भूगोल, विज्ञान चिकित्साशास्त्र और कारीगरी (mechanics) प्रमुख विषय थे। व्याकरण और भाषा-विज्ञान भी बाद में महत्वपूर्ण विषय हो गये।

सिकन्दर के विशाल साम्राज्य के कारण दूर-दूर के प्रदेशों में आर्थिक सम्बन्ध और सहयोग स्थापित हुआ। व्यापार की अत्यधिक उन्नति हुई। पश्चिमी अफ्रीका से लेकर मध्य एशिया और सिन्धु घाटी तक फैले हुये एक विश्व-बाजार का निर्माण हुआ। मिस्र में सिकन्दरिया, सीरिया में अन्टिओक तथा रोडीज विश्व-व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे। एन्टिओक में भारत, मध्य एशिया और ईरान से माल आता था और रोडीज से यह माल भूमध्य सागर के बन्दरगाहों को वितरित कर दिया जाता था। व्यापार की सुविधा के लिये सड़कें बनवाईं गईं और बन्दरगाहों को सुधारा गया। सिकन्दर ने ईरान के राजाओं से एक लाख अस्सी हजार सुवर्ण मुद्रायें प्राप्त की थीं। इस मुद्राओं को उसने प्रचलित करा दिया जिससे सिक्कों का प्रचार बहुत बढ़ गया। सिकन्दरिया उद्योग धन्धों का केन्द्र हो गया। शीशे की वस्तुयें, सूती वस्त्र इत्र-फुलेल आदि तथा धातुयें विदेशी बाजारों में एक बहुत बड़ी तादाद में भेजी जाती थीं।

व्यापार तथा उद्योग-धन्धों की अभिवृद्धि ने कृषि को भी उन्नतिशील बनाया। मिस्र में जैतून तथा अंगूर के बड़े-बड़े बाग दिखाई पड़ने लगे। सीरिया एक उद्यान की तरह हरा-भरा हो गया और अन्न एवं पशुओं का व्यापार बढ़ा। दजला-फरात की घाटी में खेती की प्रणाली में सुधार किया गया। ईरान से घोड़े मँगाकर किसान खेत जोतने में उनका प्रयोग करने लगा। हेलेनिस्टिक-युग के आर्थिक जीवन की एक प्रमुख विशेषता थी—बैंकों की स्थापना। इस समय के बैंक प्रायः उन्हीं नियमों के द्वारा संचालित होते थे जिनके द्वारा आधुनिक बैंकों का संचालन होता है। वे बैंक लोगों से रुपये लेकर उन पर ब्याज देते थे। इस पूँजी से वे और ऊँची दर पर व्यापारियों को रुपये उधार देते थे।

साहित्य

हेलेनिस्टिक युग का साहित्य उस कोटि का नहीं है जिस कोटि का यूनानी (हेलेनिक) साहित्य है। इस युग में साहित्यकारों की अभिरुचि पांडित्य एवं समालोचना की ओर अधिक थी, रचनात्मक मौलिक साहित्य लिखने की ओर अपेक्षाकृत कम। इस युग के साहित्य में उन्नत एवं तीव्र भावना तथा जीवन के प्रति उत्साहमयी विचारधारा का अभाव है। कविगण किसी अन्य कवि की एकाध पंक्ति को चुरा लेना उस कवि का सम्मान करना समझते थे। महाकाव्यों की रचना प्रायः समाप्त हो चुकी थी, केवल सिकन्दरिया के विद्वानों ने एकाध महाकाव्य लिखे थे किन्तु इन महाकाव्यों में काव्य-सौष्ठव का अभाव था। अपोलोनियस रोडियस (Apollonious Rhodius) ने एक उल्लेखनीय महाकाव्य लिखा। इस महाकाव्य का नाम था Argonautica. इसमें जेसन द्वारा सुनहली Fleece की खोज की कथा वर्णित है। जिन पंक्तियों में मीडिया का काव्य के नायक के प्रति प्रेम अभिव्यक्त किया गया है, वे पंक्तियाँ सुन्दर हैं। सुखान्त नाटक के क्षेत्र में मेनेन्डर का नाम उल्लेखनीय है। उसने जनसाधारण के विषय में लिखा है। उसके नाटकों में प्रणय-सम्बन्ध, पारिवारिक संकट और प्रतिदिन के जीवन की घटनायें वर्णित हैं। उसकी कुछ पंक्तियाँ जैसे "जिनसे देवता स्नेह करते हैं वे युवावस्था में ही मर जाते हैं "Whom the gods love die young", मुहावरों के रूप में हो गई हैं। रोम के नाटककारों के लिए मेनेन्डर ने एक नमूना रक्खा था और टेरेन्स तथा प्लाटस के नाटकों पर उसका प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

हेलेनिस्टिक युग का सर्वप्रमुख कवि थियोक्रिटस था। उसने ग्राम जीवन के आनन्दों का वर्णन किया है। चरवाहों के जीवन का उसने सहानुभूति चित्रण किया है। उसकी कविताओं में प्राकृतिक सौन्दर्य के बड़े सुन्दर वर्णन

मिलते हैं। हेलेनिस्टिक युग के कवियों में थिओक्रिटस अकेला ऐसा कवि है जिसकी रचनाओं में स्वाभाविक सौन्दर्य है। उसके बाद के अनेक कवियों ने उसका अनुकरण करने की चेष्टा की परन्तु इसमें भी उन्हें सफलता न मिली। इस इस युग में डेमास्थनीज ने व्याख्यान देने की कला का विकास किया। उसने एथेन्स के मरणासन्न प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए जो भाषण दिया वह बड़ा जोरदार था। उसकी व्याख्यान शैली ने बाद की गद्य शैली को बहुत अधिक प्रभावित किया। पोलिबिअस (१९८-११७ ईसवी पूर्व) इस युग का विख्यात इतिहासकार था। उसके ग्रन्थ का बहुत सा अंश अब नहीं मिलता। उसने रोम की कारथेज, यूनान और पूर्वी देशों पर विजय का हाल लिखा है। यूनान के विस्तार तथा रोम के साम्राज्यवाद ने उसके ऐतिहासिक दृष्टिकोण को विस्तृत कर दिया था। उसके इतिहास में हमें बहुत कुछ आधुनिकता मिलेगी। उसने बताया है कि इतिहासकार को सभी प्रस्तुत साक्ष्यों को देखना चाहिए और देशाटन द्वारा विभिन्न स्थानों का प्राकृतिक भूगोल जानना चाहिए। उसने इतिहास की सत्यता पर बहुत जोर दिया है। रोम की सफलता का कारण उसने उसकी स्वस्थ सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं को बताया है। उसकी रचना का केवल एक दोष यही है कि उसने शैली पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया है, इसलिए उसके ग्रन्थ को पढ़ने से आनन्द नहीं मिलता।

हेलिनिस्टिक युग में वास्तु-कला का विकास नितान्त इहलोकपरक दृष्टिकोण के रूप में हुआ। इस काल में बड़े-बड़े मन्दिर नहीं बनवाये गये वरन विशाल राजभवन, पुस्तकालय, सार्वजनिक स्थान आदि का निर्माण कराया गया। जो कुछ मन्दिर बने वे आकार में छोटे थे। वास्तु-कला की डोरिक शैली लुप्त हो गई और उसका स्थान आयोनिक ने ले लिया। कारिन्थियन शैली को भी भवन-निर्माताओं ने अपनाया। इस युग में स्थापत्य की बहुत अधिक उन्नति हुई। इस समय के कलाकारों ने मूर्तियों में तीव्र भावावेश प्रदर्शित किया। सबसे उत्कृष्ट मूर्तियों में बच्चे, एक मद्यप, एक मरणासन्न सैनिक तथा कष्टापन्न देव का चित्रण किया गया है। लिसिपस नामक कलाकार ने फिडियस और स्कोपस की परम्परा को जीवित रक्खा। उसकी कृतियों में यथार्थवाद और सौंदर्य का अच्छा चित्रण हुआ है। हेलिनिस्टिक युग की स्थापत्य कला में "मरणासन्न गाल" "Dying Gaul" तथा "Laocoon" प्रसिद्ध हैं। "मरणासन्न गाल" नामक कलाकृति में कष्ट और वेदना का स्वाभाविक चित्रण हुआ है। दूसरी कृति को माइकेल एन्जेलो नामक कलाकार ने कला का आश्चर्य कहा है। इस युग की कला में यथार्थवाद पर आवश्यकता से अधिक जोर डाला गया है जिससे मूर्तियों में स्वाभाविकता नहीं दिखाई पड़ती।

कला

हेलेनिस्टिक युग के यूनानी धर्म पर पूर्वी धर्मों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। यूनानी और पूर्वी संस्कृतियों का समन्वय इस युग के धार्मिक जीवन पर स्पष्टतया दिखाई पड़ता है। यूनानी लोग पूर्वी धर्मों की रहस्यवादी विचार-धारा, आकर्षक धार्मिक क्रियाओं, मनुष्य की धार्मिक भावनाओं पर उनके प्रभाव, दुःखान्त कथाओं, व्यक्तिगत पाप तथा मोक्ष पर उनके प्रबल आग्रह एवं एक सुखमय भावी जीवन की आशा से बहुत अधिक प्रभावित हुए। हेलेनिस्टिक धर्म पर पूर्व की धार्मिक विचारधारा के प्रभाव से इसकी देव-विषयक धारणा अधिक आध्यात्मिक, नैतिक और अमूर्त हो गई। प्राचीन देवताओं की भावना का स्थान एक ईश्वर की भावना ने ले लिया। हेलेनिस्टिक युग के धर्म में नास्तिक और रहस्यवादी विचार-धाराओं का समन्वय था। बुद्धिवादी लोग होमर तथा हीसिअड के देवताओं में अविश्वास करते थे और आचार-सम्बन्धी सिद्धान्तों को अधिक महत्वपूर्ण समझते थे। साधारण जन पूर्व की रहस्यात्मकता से प्रभावित थे। परन्तु कालान्तर में बुद्धिवादियों ने भी रहस्यवादी विचार-धारा को स्वीकार करना आरम्भ किया। स्टोइक नाम की दार्शनिक विचार-धारा को बहुत से शिक्षित लोगों ने धर्म का रूप दे दिया।

धर्म

हेलेनिस्टिक युग का दर्शन हेलिनिक दर्शन से पर्याप्त भिन्न है। इस युग में लोग बाह्य-प्रकृति के रहस्यों का पता लगाने के लिए इतने उत्सुक न थे जितना वे अपने आत्मिक आनन्द के लिए प्रयत्नशील थे। लोगों के लिए दर्शन जीवन का एक मार्ग हो गया जो उन्हें वाह्य परिस्थितियों से मुक्त करके आन्तरिक शान्ति प्रदान करता था।

लोग उस "बुद्धिमान व्यक्ति" की कल्पना करने लगे जिसने अपने को जीवन की बाह्य व्यवस्थाओं से ऊपर उठा कर सच्चा सुख प्राप्त कर लिया है। इस युग के दर्शन-सम्प्रदायों ने इसी बात पर जोर दिया है। इस काल की दार्शनिक विचार-धाराओं में स्टोइक, इपिक्यूरियन और सिनिक प्रमुख थीं।

दर्शन

कहते हैं कि जेनो (३५०-२६० ईसवी पूर्व) नामक स्टोइक दार्शनिक विचार-धारा को चलाने वाला था। स्टोइक आचार के अनुसार "गुण" (Virtue) ही सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। अन्य सभी श्रेष्ठ वस्तुयें उतनी अच्छी नहीं हैं क्योंकि उनका भलीभांति प्रयोग करने पर ही वे हितकारिणी हो सकती हैं। केवल "बुद्धिमान" व्यक्ति ही पूर्ण सुखी है; वही वास्तविक रूप में धनवान तथा स्वतन्त्र है क्योंकि वह धन का बुद्धिमत्ता पूर्वक प्रयोग करता है और जीवन की बाह्य परिस्थितियों से मुक्त रहता है। स्टोइक दर्शन के अनुसार सभी मनुष्य आपस में भाई-भाई हैं। "बुद्धिमान व्यक्ति" समाज की ओर से उदासीन तथा राज्य की ओर से पराङ्मुख नहीं हो सकता। सिद्धान्ततः तो यह विचार-धारा प्रचलित थी किन्तु वास्तविक रूप में स्टोइक दर्शन का अनुयायी आत्मकेन्द्रित व्यक्ति था। वह अपने व्यक्तिगत सुख की अधिक इच्छा करता था और प्रायः परिवार, समाज तथा राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन कम करता था। स्टोइक विचार-धारा के अनुसार मनुष्य को बिना किसी भावना के जीवन के दुखों को सहन करना चाहिए। सृष्टि मूलतः श्रेष्ठ और सुखदायिनी है और मनुष्य एक छोटी सृष्टि होने के कारण इस महान सृष्टि के साथ Harmony स्थापित कर सकता है। यद्यपि मनुष्यों के पास भौतिक पदार्थ असमान रूप से होते हैं तथापि आत्मिक श्रेष्ठता में सभी समान हो सकते हैं। मनुष्य अपने कर्मों के लिए अपने आप उत्तरदायी है। यदि मनुष्य प्रकृति के नियमों के अनुकूल अपना जीवन व्यतीत नहीं करता तो उसे दुष्ट समझना चाहिए। उसकी परिस्थिति चाहे जैसी हो वह आन्तरिक रूप में एक दास से कुछ भी अधिक नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि वह बुराइयों पर ध्यान न दे और उनको जीतने का प्रयत्न करे। संसार में अन्ततोगत्वा असत् की विजय और सत् की पराजय नहीं हो सकती। स्टोइक विचार-धारा के बहुत से तत्व प्रारम्भिक ईसाई धर्म में ग्रहण कर लिये गये।

स्टोइक

इस दर्शन के अनुसार सुख ही जीवन का आदि और अन्त है। गुण को इपिक्यूरस उसी अवस्था में श्रेष्ठ मानता है जब उससे प्रसन्नता की प्राप्ति होती है। उसने कहा, "यदि गुण से कोई सुख नहीं प्राप्त होता तो मैं उससे घृणा करता हूँ।" इपिक्यूरस ने सुख-प्राप्ति पर बहुत जोर दिया किन्तु सुख सम्बन्धिनी विचारधारा इन्द्रिय सुखों को सर्वश्रेष्ठ सुख नहीं मानती। जिस सुखोपलब्धि से वेदना नहीं उत्पन्न होती उसे ही वह चरम सुख मानता है। मानसिक कार्यों से मिलने वाला आनन्द इसी प्रकार का सुख है क्योंकि इससे वेदना की उत्पत्ति इन्द्रिय सुखों की तुलना में कम होती है। इन्द्रिय-सुख किसी प्रकार भी तुच्छ नहीं हैं लेकिन चूंकि उनसे बाद में कष्ट भी मिलता है, इस लिए वे बौद्धिक जीवन के आनन्द से निकृष्ट हैं। मनुष्य को इन्द्रिय सुखों के विषय में विवेक और सन्तुलन का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। आध्यात्मिक आनन्द निस्सीम है किन्तु भौतिक पदार्थ सीमित हैं इसलिए प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए अपनी सम्पत्ति को बढ़ाने से कोई लाभ नहीं है। आवश्यकतानुसार वासनाओं को नियन्त्रित और सीमित कर लेने में ही सच्ची प्रसन्नता सन्निहित है। इपिक्यूरस ने जीवन में सन्तुलन उत्पन्न करने के लिए मनुष्य की इच्छाओं को तीन भागों में बांटा—(१) वे इच्छायें जो न स्वाभाविक हैं और न आवश्यक। (२) वे इच्छायें जो स्वाभाविक तो हैं किन्तु आवश्यक नहीं और (३) वे इच्छायें जो स्वाभाविक और आवश्यक दोनों हैं। प्रथम कोटि की इच्छाओं को सन्तुष्ट करने से मनुष्य को सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक मिलता है। दूसरी कोटि की इच्छाओं की पूर्ति विवेकपूर्ण ढंग से करने से मनुष्य सुख प्राप्त करता है। तृतीय वर्ग की इच्छाओं की सन्तुष्टि सदैव की जा सकती है किन्तु इसमें भी अति का वर्जन करना चाहिए। इपिक्यूरस ने 'सुख' को खूब विस्तारपूर्वक समझाया परन्तु बाद में उसके अनुयायियों ने इन्द्रिय सुखों को ही सबसे उत्तम मान लिया।

इपिक्यूरियन

इपिक्यूरस ने सृष्टि-रचना के विषय में अपनी धारणा डेमाक्रिटस के अणुवाद से ग्रहण की। उसने बताया कि सृष्टि अणुओं के संग्रह से बनी है। यहाँ तक कि उसने आत्मा और देवताओं को भी अणुनिर्मित बताया। मनुष्य और देवताओं की शारीरिक रचना में अन्तर इतना ही है कि देवताओं के अणु मनुष्यों के अणुओं से अधिक श्रेष्ठ होते हैं। इपिक्यूरियन विचारधारा के अनुसार देवताओं का मानव जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वे मनुष्यों से बहुत दूर रहते हैं। राज्य के विषय में इपिक्यूरस ने बताया कि राज्य व्यक्ति के लिए ही होता है न कि व्यक्ति राज्य के लिये स्टोइक लोगों की भाँति इपिक्यूरस के अनुयायी भी राज्य और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का वहन नहीं करते थे। वे सामाजिक दोषों के लिए किसी प्रकार भी अपने को उत्तरदायी नहीं मानते थे। उसने जीवन के लिए मित्रता को आवश्यक बताया क्योंकि मित्रों के संसर्ग से मनुष्य को सुख प्राप्त होता है।

सिनिक्स

सिनिक दर्शन के मानने वालों ने सामाजिक नियमों की अवहेलना की और शासकों का परिहास किया। अभिजात व्यक्ति की, जिसको अपनी विद्वत्ता, सुसंस्कृत, अभिरुचि तथा खेल-कूद के पौरुष का अभिमान होता है, सिनिक लोगों ने खूब हँसी उड़ाई। उन्होंने धन के असमान-वितरण का विरोध किया और धनवानों का उपहास किया। अतीन्द्रिय पदार्थों का अस्तित्व उन्होंने स्वीकार नहीं किया और कहा कि आँखों से दिखाई पड़ने वाली वस्तुयें ही यथार्थ हैं। उन्होंने शारीरिक कार्य के महत्व को बढ़ाकर बताया और विद्या की उपयोगिता में सन्देह किया।

विज्ञान

हेलिनिस्टिक-युग में विज्ञान की उन्नति बहुत हुई। इस युग में विज्ञान का स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ, दर्शन के सहारे नहीं। विज्ञान की सभी शाखाओं की अत्यधिक उन्नति हुई, केवल पदार्थ-विज्ञान में ही महत्वपूर्ण प्रगति न हो सकी। यूक्लिड (Euclid) ने ज्यामिति पर एक पुस्तक लिखी जो बहुत दिनों तक विद्यालयों में पाठ्य-पुस्तक के रूप में पढ़ाई जाती रही। इसमें तेरह अध्याय हैं जिनमें ४६५ propositions समझाये गये हैं। एपोलोनियस (Apollonius) ने भी एक पुस्तक लिखी जिसमें उसने ज्यामिति के cone तथा conic विभागों पर ३८७ propositions लिखे। उसने ellipse, parabola और hyparbola जैसे नवीन शब्दों का प्रयोग किया। हिपारकस (Hipparchus) (१६०-१२५ ईसवी पूर्व) एक सुविख्यात खगोल-वेत्ता था किन्तु उसने plane and spherical trigonometry की खोज की। हेरन Heron अपने आविष्कारों के लिये विख्यात था किन्तु उसने बीजगणित के साधारण propositions का आविष्कार किया। हेलिनिस्टिक युग के गणितज्ञ बड़े सूक्ष्म विचारक थे और उन्होंने गणित के क्षेत्र में काफी महत्वपूर्ण कार्य किया

भौतिक-विज्ञान के क्षेत्र में आर्कमिडीज का नाम अग्रगण्य है। उसकी मौलिकता विस्मयोत्पादिनी है। गणित में भी उसके सिद्धान्त बड़े ही महत्वपूर्ण हैं। उसने भौतिक-विज्ञान को दर्शन से पृथक किया और इसे प्रायोगिक-विज्ञान का रूप दिया। उसने तैरने वाली वस्तुओं के सिद्धान्त की खोज की और आपेक्षिक घनत्व के सिद्धान्त का भी आविष्कार किया। कहते हैं कि वह अपनी वैज्ञानिक-खोजों में इतना व्यस्त रहता था कि वह कभी-कभी भोजन करना भी भूल जाता था। आपेक्षिक घनत्व के सिद्धान्त की खोज करने पर वह इतना प्रसन्न हुआ था कि स्नानागार से निकलकर यूरेका "मैंने जान लिया" कहता हुआ सिकन्दरिया के राजपथों पर दौड़ पड़ा था। उसी ने यह प्रसिद्ध घोषणा की थी; "मुझे खड़े होने का स्थान दे दो और मैं समस्त संसार को हिला दूँगा।"

चिकित्सा विज्ञान की भी हेलिनिस्टिक युग में काफी उन्नति हुई। शरीर-रचना-विज्ञान चिकित्सा शास्त्र का प्रमुख अंग हो गया। चीरा-फाड़ी का काम सिकन्दरिया में ईसा की तीसरी शताब्दी पूर्व से होने लगा था। हेरोफिलस (Herophilus 300 B. C.) को "शरीर रचना-विज्ञान का जन्मदाता" कहा जाता है। उसने सबसे पहिले मानव-शरीर की चीरा-फाड़ी की। उसने अपने अध्ययन के आधार पर यह बताया कि शरीर को चार शक्तियां नियन्त्रित

करती है—(१) पोषण-जो लीवर के द्वारा सारे शरीर में भेजा जाता है, (२) उष्णता, जिसको हृदय भेजता है, (३) नाड़ियां जिनके द्वारा मनुष्य स्पर्शानुभव करता है और (४) मस्तिष्क जिसके द्वारा मनुष्य विचार करता है। एरेसीट्रेटस (Erasitratus) "शरीर-विज्ञान का जनक" कहा जाता है। यह हेरोफिलस का प्रतिद्वन्दी था और इसने उसके मत का खण्डन किया था।

खगोल-विद्या के क्षेत्र में हेराक्लिटीज (३८८-३१५ ईसवी पूर्व) का नाम सबसे पहले आता है। उसने बताया कि पृथ्वी अपनी कीली पर चौबीस घंटे में एक बार घूम जाती है। उसने यह भी बताया कि Mars और Venus नाम के ग्रह सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करते हैं। एरिस्टा— [illegible] कि सूर्य अपने स्थान पर स्थिर रहता है और पृथ्वी तथा अन्य ग्रह उसके चारों ओर [illegible] दूरी का जो अनुमान लगाया वह बहुत कुछ ठीक था। उसने यह भी बताया कि [illegible]।

वनस्पति-विज्ञान में अरस्तू के शिष्य थिओफ्रेस्टस ने महत्वपूर्ण कार्य किया। उसने "पौधों का इतिहास" लिखा। उसके बाद वनस्पति-विज्ञान की उन्नति रुक गई। यन्त्र-निर्माण के क्षेत्र में हेलिनिस्टिक युग में काफी महत्वपूर्ण आविष्कार हुए। इस विज्ञान में भी आर्कमिडीज पहला व्यक्ति है। उसने उन सिद्धान्तों को समझाया जिनके अनुसार लीवर काम करता है। उसने एक पेंच का निर्माण किया जिसकी सहायता से पानी उन पर उठाया जा सकता था। आधुनिक काल में उसकी पेंच Archimedean Screw और वाष्प-चक्की Steam turbine जीवन का एक महत्वपूर्ण भाग हो गई। उसने उन सिद्धान्तों को भी बताया जिनके द्वारा चरखी चलाई जाती है। आर्कमिडीज के अलावा दो अन्य आविष्कर्ता हुए—Ctesibius और Hero of Alexandria के नाम उल्लेखनीय हैं। Hero of Alexandria ईसा के प्रथम शताब्दी में हुआ था। उसने Ctesibius के आविष्कारों का उल्लेख किया है किन्तु यह ठीक-ठीक नहीं बताया है कि उसके आविष्कार कौन-कौन से हैं। Ctesibius बहुत बड़ा आविष्कार था। उसने अनेक यन्त्रों का आविष्कार किया जिनमें वाष्प इन्जन, अग्नि इन्जन, जल घड़ी, Slot machine छेद वाली मशीन तथा तरल पदार्थ निकालने के लिए मुड़ी हुई एक नली अधिक प्रसिद्ध थीं। इतने आविष्कारों के बावजूद भी यन्त्र-निर्माण-विज्ञान की बहुत अधिक उन्नति न हो सकी क्योंकि मानवीय श्रम सस्ता होने के कारण लोग यन्त्रों का प्रयोग कम करते थे।

भूगोल विद्या की उन्नति हेलिनिस्टिक युग की वैज्ञानिक उन्नति की एक प्रमुख विशेषता है। Dicaerchus ने संसार का एक मानचित्र बनाया जिसमें उसने पर्वतों की ऊँचाई तथा आकार की गणना करने का प्रयत्न किया। वैज्ञानिक भूगोल का जन्मदाता एरेटास्थनीज Aratosthenese था। वह सिकन्दरिया के पुस्तकालय का अध्यक्ष और सर्वतोन्मुखी प्रतिभा वाला विद्वान था। उसने पृथ्वी की परिधि की वैज्ञानिक ढंग से गणना की और यह आश्चर्य की बात है कि उसकी गणना काफी ठीक निकली। उसने भूगोल की एक पुस्तक भी लिखी और एक मानचित्र की रचना की। Pytheas ने कई देशों का भ्रमण किया और उनके भौगोलिक वृत्तान्त लिखे। उसने यह भी बताया कि समुद्र में ज्वार चन्द्रमा के प्रभाव के कारण आते हैं।

—:०:—

ग्यारहवाँ अध्याय

यूनानी सभ्यता की समीक्षा और यूनान की देन

यूनानी सभ्यता की सर्वप्रमुख विशेषता इस बात में है कि इसकी आधारशिला स्वातंत्र्य- भावना थी। स्वतन्त्रता यूनानियों के जीवन की केन्द्रबिन्दु थी और उनके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसी का स्फुरण हुआ। ईरान के विशाल साम्राज्य को युद्ध में पराजित कर उन्होंने अपने इतिहास को अपने ही लहू की बूँदों से लिखा। इस युद्ध में लड़ते हुए प्रत्येक यूनानी सैनिक के हृदय में अपनी प्राणादपि गरीयसी स्वतंत्रता की भावना ही लहरें मार रही थीं। आक्रमण के ठीक पहिले यूनान के नेताओं ने उनसे कहा था, "ईरानियों से युद्ध करने में सब वस्तुओं से पहिले स्वतन्त्रता को याद रक्खो।" यह असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है कि हम मरेथान, थर्मापोली और सालमिस के युद्ध-वर्णन पढ़ें और स्वतन्त्रता की भावना से भर न जाँय। यूनानियों का साहित्य उन के स्वाधीनतानुराग से ओत-प्रोत है। एस्काइलस ने अपने एक नाटक में लिखा है कि ईरान की रानी को यह बताया गया कि यूनानी अपनी सबसे बहुमूल्य वस्तु (स्वतन्त्रता) की रक्षा करने के लिए स्वतन्त्र नागरिकों की हैसियत से लड़ रहे हैं। रानी पूछती है "क्या उनका कोई स्वामी नहीं है?" उसे उत्तर मिलता है, "नहीं, यूनानियों को कोई भी दास या परतन्त्र नहीं कहता।" एस्काइलस ने अन्यत्र लिखा है कि यूनानी जब फारस की सेना पर आक्रमण करने लगे तो उन्होंने इस गगनभेदी निर्घोष से रणभूमि गुँजा दिया, "यूनान के पुत्रो! स्वतंत्रता के लिए, अपने देश की स्वतंत्रता के लिए, बच्चों, और पत्नियों की स्वाधीनता के लिए, पूजा की स्वतन्त्रता के लिए और अपने पूर्वजों की समाधियों की स्वतन्त्रता के लिये।" यूरीपिडीज़ ने अपने अमर नारी-पात्र इफिजेनिया के मुख से जो ओजस्विनी वक्तृता दिलाई है उसका अन्त स्वतन्त्रता की रक्षा करने की भावना से ही होता है। अपने देश की स्वतन्त्रता को बचाने के लिए वह अपूर्व आत्म-बलिदान करती हुई अपनी माँ से कहती है, "माँ विजय हो, यूनानियों की विजय हो। बर्बर इस देश पर शासन नहीं कर सकते, यह हमारा देश है। वे परतन्त्र हैं, हम स्वतन्त्र हैं।"

जैसा कि कहा गया है यूनानियों का सम्पूर्ण जीवन स्वतन्त्रता की भावना से अनुप्राणित था। यूनानियों और प्राचीन भारतीयों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि पूर्ण स्वाधीनता के वातावरण में ही उच्च कोटि की सभ्यता जन्म ले सकती और फल फूल सकती है। यूनानियों ने स्वतन्त्र शासन संस्थाओं का विकास किया और यह सिद्ध कर दिया कि राजाओं और सम्राटों के बिना भी देश का शासन किया जा सकता है। उनके इतिहास के प्रथम अध्याय में ही हम देख चुके हैं कि होमर-कालीन समाज में, लोक सभा और समितियों में स्वशासन के बीज वर्तमान थे। ये ही शासन-संस्थायें बाद में उस पूर्ण प्रजातन्त्र के रूप में परिवर्तित हो गईं जिसमें भाव-प्रकाशन की स्वतन्त्रता नागरिकों को पूर्ण रूप से प्राप्त थी। हम यूनान के इतिहास में अत्याचारियों के युग (Age of Tyrants) का नाम सुनते हैं किन्तु जैसा कि हमने देखा है, इसका शीघ्र ही अन्त हो गया। इस युग में भी ऐसे कानून बनाये गये जिनसे प्रजातन्त्रात्मक शासन-पद्धति का विकास ही हुआ। यूनानी स्वतन्त्रता को सबसे अधिक मूल्यवान समझते थे, जैसे ही किसी शासक ने उनकी स्वतन्त्रता पर आघात करने की चेष्टा की वे उसका अन्त कर डालने का प्रयत्न करते थे। यदि उन्हें पूर्ण स्वाधीनता न प्राप्त होती तो सम्भवतः वे इतनी उच्च संस्कृति का विकास न कर सकते। "व्यक्तिगत तथा सामूहिक स्वतन्त्रता की

इस गौरवमयी भावना से ही यूनानियों को अपने प्रत्येक कार्य में शक्तिशाली प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, उनकी स्वतन्त्रता ने ही उनको कलाओं और विद्या, विज्ञान तथा दर्शन में विस्मयकारिणी सफलता प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया।

राजनीतिक स्वतन्त्रता ने यूनानियों के अन्दर मानसिक स्वतन्त्रता और निर्भीकता के भाव उत्पन्न कर दिये। संगठित धर्म, पुरोहित, परम्परा अथवा अन्य रूढ़ियां उनके मानसिक स्वातन्त्र्य को न रोक सकीं। धर्म और पुरोहितों का आधिपत्य उनके जीवन पर बिल्कुल न था और परम्पराओं के बोझ से उनका मस्तिष्क आक्रान्त नहीं था। वे निर्द्वन्द हो कर प्रकृति के विभिन्न रहस्यों का उद्घाटन करने के लिये प्रयत्नशील थे। सत्यान्वेषण की वैज्ञानिक प्रवृत्ति और एक सदैव अतृप्त रहने वाली ज्ञान-पिपासा उनके चरित्र की प्रमुख विशेषतायें थीं। प्लेटो के ग्रन्थ Timaeus में हमें एक बड़ी मनोरंजक बात पढ़ने को मिलती है। मिस्र के एक वयोवृद्ध पुरोहित ने सोलन से कहा "अरे सोलन, तुम यूनानी बच्चे ही हो, और कभी भी कोई यूनानी वृद्ध पुरुष नहीं हुआ।" सोलन ने उसके कथन का तात्पर्य पूछा। उसने उत्तर दिया "मेरा अभिप्राय यह है कि मस्तिष्क में तुम सभी बच्चे हो, प्राचीन परम्परा से तुम्हें कोई विचारधारा प्राप्त नहीं हुई है और न तुम्हारे निकट कोई प्राचीन विज्ञान ही है।" मिस्र के पुरोहित का यह कथन यूनानियों की चारित्रिक विशेषताओं पर काफी प्रकाश डालता है। वे सदैव एक बालोचित जिज्ञासा की आश्चर्यमयी भावना से परिपूर्ण रहा करते थे जिस को प्लेटो ने दर्शन की उत्पत्ति का कारण बताया है। सत्य का साक्षात्कार करने की उनके हृदय में सदैव एक प्रगाढ़ अभिलाषा बनी रहती थी और वे जानते थे कि अन्ध-श्रद्धा का आश्रय ग्रहण करने से सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती इसीलिये उन्होंने तर्कवाद को अपने जीवन का मार्ग बनाया। सुकरात ने कहा "हमें तर्क का अनुसरण करना चाहिये, इसका परिणाम चाहे जो हो।" इस तर्क की सहायता से उन्होंने विज्ञान और दर्शन को इहलोकपरक बनाया और उन्हें धर्म के प्रभाव से मुक्त किया। उनकी तर्कवादिनी प्रवृत्ति की प्रतिच्छाया उनके समस्त जीवन पर देखी जा सकती है। यूनानी विचारक और कवि कल्पना के ऊपर तर्क को प्रधानता देता है और कभी भी कल्पना के प्रवाह में नहीं बहता। "इसीलिये यूनानी साहित्य आधुनिक है अथवा इसे समकालीन कहना चाहिये। हमारे लिये दान्ते या मिल्टन को समझना कठिन है किन्तु यूरीपिडीज और थुसीडाइडीज मानसिक दृष्टि से हमारे निकट-सम्बन्धी (akin) हैं और हमारे युग से सम्बन्ध रखते हैं और ऐसा इसीलिये है कि यद्यपि कथायें (myths) विभिन्न हो सकती हैं, तर्क वैसा ही रहता है और तर्क का जीवन अपने अनुरागियों को सर्वत्र और सब कालों में भाई भाई बना देता है।"[1]

जैसा ऊपर कहा गया है ज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा यूनानियों के राष्ट्रीय चरित्र की प्रमुख विशेषता थी। कदाचित् योरप के पुनरुज्जीवन काल में भी ज्ञान और विद्या का इतना सम्मान नहीं था जितना प्राचीन यूनान में। प्लेटो ने राष्ट्रों की विभिन्नता बतलाते हुये कहा है "मिस्र और फोनीशिया के लोग धन से प्रेम करते हैं और हमारे देश की प्रमुख विशेषता ज्ञान के प्रति अनुराग है।" दिन-रात यूनान के निवासी नई-नई बातों को जानने के लिये उत्सुक रहा करते थे। "एथेन्सनिवासी और वहां पर घूमने वाले विदेशी किसी दूसरी बात में नहीं, केवल नई बातें बताने या सुनाने में ही अपना समय व्यतीत करते हैं।" ऐसा सेन्ट ल्यूक नामक यात्री ने कहा था।

जीवन के प्रति यूनानियों का दृष्टिकोण सौन्दर्य-भावना द्वारा प्रभावित था। यूनानी संसार के सबसे अधिक सौन्दर्यानुरागी लोगों में से थे। उनके सौन्दर्य-प्रेम ने ही उन्हें ललित कलाओं तथा कविता, नाटक और संगीत का विकास करने को प्रेरित किया। सौन्दर्यानुराग उनके जीवन का एक अभिन्न अंग था, यह केवल कलाकारों और कवियों के लिये आराधना की वस्तु न था। यूनानी विचारकों के लिये सौन्दर्य ही सत्य था और सत्य सुन्दर था। अंग्रेजी के कवि कीट्स की ये पंक्तियाँ यूनानी जीवन-दर्शन पर पूर्णरूपेण चरितार्थ होती हैं "सौन्दर्य ही सत्य है, सत्य सौन्दर्य

[1] Life of Greece—By will Durant, p. 436.

है, यही सब कुछ है जो तुम संसार में जानते हो और यही जानने की आवश्यकता है।"[1] यूनानियों का जीवन 'सत्य, शिवं और सुन्दर' के त्रिविध सिद्धान्तों द्वारा सञ्चालित था। ये शब्द आज भारतीय साहित्य में इतने प्रचलित हो चुके हैं और भारतीय जीवन-दर्शन के इतने अनुकूल हैं कि ये हमारे देश की ही उत्पत्ति ज्ञात पड़ते हैं किन्तु ये हैं यूनानी शब्दों के अनुवाद मात्र। कवीन्द्र रवीन्द्र ने अपने उपास्य देव से प्रार्थना करते हुए एक ऐसे संसार में अपने देश को जगाने की प्रार्थना की है "जहां पर मनुष्य का मस्तिष्क निर्भीक और उसका मस्तक गर्वोन्नत रहता है, जहां ज्ञान स्वतन्त्र है, जहां पर शब्द सत्य की गहराई से निकलते हैं, जहां तर्क का निर्मल स्रोत मृत रूढ़ियों के मरुप्रदेश में शुष्क नहीं होने पाया है और जहां मनुष्य पूर्णता प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्न करता है तथा जो स्वतन्त्रता का स्वर्ग है।" यूनानियों ने अपने लिये कदाचित एक ऐसे ही जगत् का निर्माण किया था और उसमें वे सानन्द निवास करते थे।

मानववाद यूनानी सभ्यता की एक अन्य विशेषता है। यूनानी दृष्टिकोण के अनुसार जीवन के इस विस्तृत रंगमञ्च का प्रमुख अभिनेता मनुष्य ही है। यूनान के दार्शनिक प्रोटागोरस ने कहा, "मनुष्य ही सब वस्तुओं का मानदण्ड है" और "विश्व की सब आश्चर्यजनक वस्तुओं में मनुष्य ही सबसे अधिक विस्मय कारक है।" यूनानियों ने अपने देवताओं को भी मनुष्यों का सा रूप दिया। वे मनुष्यों के इह लौकिक जीवन में इतनी अधिक रुचि रखते थे कि उसके भावी जीवन की कल्पना ने उनके मस्तिष्क को कभी चिन्तित नहीं किया। वे भूत और भविष्य की चिन्ता से मुक्त होकर अपने वर्तमान जीवन के सुखों का पूर्ण रूप से उपभोग करते थे मानववाद की ही भावना से यूनानियों में जीवनानुराग की उत्पत्ति हुई थी। यूनानी अपने जीवन से पूर्ण अनुराग रखते थे और "समय का उपभोग करो" उनके जीवन का लक्ष्य था। उनका यह दृष्टिकोण उनके साहित्य, दर्शन तथा उसकी कला में परिलक्षित होता है। उनकी कलाकृतियों में मानव शरीर को बिल्कुल नग्न भी दिखाया गया है। उनके कवियों और नाटककारों ने जीवन के साधारण सुखों का प्रशंसामिश्रित उल्लेख किया है। होमर ने लिखा है, "हमें दावत और बीन और नृत्य तथा वस्त्रों के परिवर्तन एवं उष्ण स्नान और प्रणय तथा शयन सदैव प्रिय है।" उनकी खेल-प्रतियोगिताओं और नाटकों के अभिनय से उनकी इसी रुचि का द्योतन होता है। किन्तु सुखों का पूर्ण उपभोग करने की शिक्षा देने वाले कवि और नाटक-कार मानव जीवन की वेदना और इसकी क्षणभंगुरता से अनभिज्ञ न थे। दुखान्त नाटकों की रचना बिना दुखानुभूति के सम्भव नहीं है। पिन्डार नामक कवि ने, जिसने अपने गीतों द्वारा खेल प्रतियोगिताओं के सुखद अनुभवों का वर्णन किया है, जीवन के प्रति ये महत्त्वपूर्ण वाक्य लिखे हैं, "मरणशीलों के लिये आनन्द का समय अत्यन्त संक्षिप्त है और फूल थोड़ी ही देर के लिये खिलता है। बाद में निष्ठुर दैव उसे नष्ट कर देता है। एक दिन की वस्तुयें हम क्या नहीं। मनुष्य छाया का स्वप्न मात्र।" लेकिन जीवन के दुखों ने उनके हृदय को निराश नहीं किया और जीवन के वरदानों को प्राप्त करने से वंचित नहीं किया।

यूनानियों के जीवन में सन्तुलन और विवेकमय आत्म-नियन्त्रण का पूर्ण से समावेश था। अपने इन्हीं गुणों के कारण वे इन्द्रिय सुखों का पूर्णरूप से उपभोग करते हुये भी पशुत्व से सदैव ऊपर उठे रहे। उनके बुद्धिवाद ने उन्हें आत्मा को ऊँचे उठाने वाले सुखों को ग्रहण करने के लिये प्रेरित किया। आत्मा और शरीर के सुखों का उन्होंने बुद्धिमत्तापूर्वक विभाजन किया और अपनी शिक्षण पद्धति में दोनों प्रकार के सुखों को स्थान दिया। उनकी सुसंस्कृत अभिरुचि ने उन्हें क्षणिक इन्द्रिय सुखों से सन्तुष्ट नहीं होने दिया और साहित्य कला तथा दर्शन का आश्रय लेकर उनकी आत्मा को ऊर्ध्व संचरण के लिये समर्थ बनाया।

[1] "Beauty is truth, truth beauty"—that is all Ye Know on earth, and all ye need to know. Ode on a Grecian Urn.

आजकल की पाश्चात्य सभ्यता से यूनानी सभ्यता की बहुधा तुलना की जाती है किन्तु एक महत्वपूर्ण विषय पर प्राचीन यूनानी आज के योरोपियनों और अमेरिकनों से पर्याप्त भिन्न थे। जीवन के प्रति यूनानियों का दृष्टिकोण निरा भौतिकवादी न था और उनके जीवन में धन का प्राधान्य नहीं था। उन्होंने समस्त भौतिक सम्पत्तियों की अपेक्षा मानव-व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास को अधिक महत्वपूर्ण बताया। उनके जीवन का लक्ष्य धन-संग्रह नहीं था, वरन् धन उनके लिए उच्च उद्देश्यों की प्राप्ति के निमित्त साधन-स्वरूप था। जैसा कि पेरिक्लीज ने कहा था, "धन हमारे लिए वैभव के प्रदर्शन के लिए नहीं है, अपितु इसका उपयोग हम गुण प्राप्ति के लिए करते हैं।" जीवन को भौतिक धरातल से उठाकर यूनानियों ने उसे बुद्धिवाद के धरातल पर रक्खा। भारत ने इस जीवन को अध्यात्म के धरातल पर रक्खा।

ओलिवर गोल्डस्मिथ ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'ट्रेवलर' में अनियन्त्रित स्वतन्त्रता के दोषों का उल्लेख किया है। एक अन्य विद्वान ने इसे दुधारी तलवार कहा है। यूनान के लिए स्वतन्त्रता जहाँ एक वरदान प्रमाणित हुई वहीं अन्त में वह इसके लिए अभिशाप भी सिद्ध हुई। यूनानी नगरराज्यों के पारस्परिक संघर्ष के कारण यूनान में राजनीतिक एकता स्थापित नहीं हो सकी। कदाचित उनकी उत्कट स्वाधीनता के ही कारण उनका दृष्टिकोण सीमित रहा। वे अपने नगर-राज्य के हितों के अतिरिक्त शायद कुछ अधिक ऊँचे हितों का विचार भी नहीं कर सकते थे। भारत और चीन की मानव-भ्रातृत्व भावना का विकास इसी कारण उनमें न हो सका। उन्होंने जीवन के जिस पथ का अनुगमन किया उसमें स्थायित्व का अभाव था इसीलिए उनकी सभ्यता अपने मौलिक तत्वों की रक्षा करते हुए चिरजीवी न हो सकी।

पिछले अध्यायों में पूर्वी सभ्यताओं का जो वर्णन किया गया है उससे अब यह सुस्पष्ट हो गया है कि हेनरी मेन की यह उक्ति "प्रकृति की शक्तियों को छोड़कर इस संसार में अन्य कोई जंगम वस्तु नहीं है जिसकी उत्पत्ति यूनान में न हुई हो" अत्युक्ति मात्र है। परन्तु जैसा कि पहले निर्देश किया गया है यूनान की सभ्यता का योरप की सभ्यता पर विशेष ऋण है। अपने साहित्य, दर्शन, कला, धर्म, शासन-व्यवस्था, विज्ञान, कानून और सामाजिक तथा आर्थिक विचारों के लिए यूरोपीय लोग यूनानी सभ्यता के ऋणी हैं। हमें यह याद रखना चाहिए कि इस योगदान में केवल यूनान के नगर-राज्यों की सभ्यता का ही हाथ नहीं था बल्कि हेलिनिस्टिक सभ्यता का भी महत्वपूर्ण भाग था। रोमवासियों ने हेलिनिस्टिक सभ्यता से ही अपनी सभ्यता के तत्व ग्रहण किये थे और बाद में उन्हें जगत को प्रदान कर दिया। योरप का पुनरुज्जीवन (Renaissance) अधिकांशतः लैटिन भाषा के अध्ययन के कारण हुआ, यूनानी भाषा के कारण अपेक्षाकृत कम। लेकिन लैटिन साहित्य था यों कहना चाहिए कि रोम की सभ्यता यूनान की सभ्यता पर पूर्ण रूप से आधारित थी। रोम ने अपनी भाषा, साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान, धर्म, सामाजिक रीतिरिवाज, शिक्षा, राजनैतिक सिद्धान्त और संस्थायें तथा बहुत कुछ अंशों में अपने कानून के नमूने यूनानी सभ्यता से ग्रहण किये थे। इसलिए हम पुनरुज्जीवन काल की योरपीय सभ्यता को यूनानी सभ्यता का एक रूप कह सकते हैं।

यूनान की देन

यूनानी भाषा और साहित्य का प्रभाव समस्त यूरोपीय भाषाओं तथा साहित्य पर देखा जा सकता है। यूनानी भाषा के बहुत से शब्द यूरोपीय भाषाओं में इतने प्रचलित हो गये हैं कि उनके बिना काम ही नहीं चल सकता। थियेटर प्रीस्ट, आइडिया, फेज, पोयट, प्रिंसिपल, मशीन, मेकेनिक, पालिटिक्स, एकनामिक्स, डेमोक्रेसी आदि और आटो (auto) से प्रारम्भ होने वाले शब्द यूनानी भाषा के ही हैं। यूनानी भाषा की सहायता से ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के पारिभाषिक शब्द बने हैं जिनका प्रयोग आज लगभग समस्त पाश्चात्य संसार में होता है। पश्चिम के दर्शन, साहित्य और विज्ञान का अध्ययन करने में हम भी उन शब्दों का बहुलता से प्रयोग करते हैं। पाश्चात्य साहित्य की विभिन्न शाखाओं के जन्मदाता यूनानी ही थे और इपिक, ड्रामा, ट्रेजेडी, कामेडी, लिरिक, पेस्टोराइम,

इडिलिक, ओड आदि शब्द यूनानी भाषा के ही हैं। यूनानियों के साहित्य के विषय में पढ़ने से आपको यह मालूम हो गया होगा कि इन सभी शाखाओं पर उन्होंने महत्वपूर्ण रचनायें की थी। वैसे तो समस्त यूरोपीय साहित्य पर यूनान के साहित्य का प्रभाव है किन्तु यदि हम केवल अंग्रेजी को ही लें तो हमें यह प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ जायगा। मिल्टन नामक महाकवि की रचनाओं पर यूनानी और लैटिन साहित्यों का प्रभाव सुस्पष्ट है। "ओडीसी" और "ईलिएड" के नमूने पर उसने "पैराडाइज लास्ट" लिखा। उसके 'सेम्सन' एगनास्टिस' पर यूनानी दुखान्त नाटक की छाया है, यद्यपि इसका विषय यूनानी नहीं है। अंग्रेजी कविता पर 'प्लेटोनिज्म' का प्रभाव स्पष्टतः यूनानी है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध रोमान्टिक कवियों, वर्डस्वर्थ, कालरिज तथा शैली पर विशेषरूप से प्लेटोनिज्म का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा है। अंग्रेजी के "क्लासिकल एज" के कवियों ड्राइडेन, डा० जान्सन तथा पोप पर अरस्तू के प्रभाव को देखा जा सकता है। कीट्स, टेनीसन तथा मेथ्यू आर्नाल्ड भी यूनानी साहित्य से बहुत प्रभावित हैं। कीट्स की कविताओं पर यूनान की सौन्दर्योपासना का विशेष प्रभाव दृष्टिगत होता है और बिना यूनान के प्राचीन साहित्य का कुछ ज्ञान प्राप्त किये हुए उसकी कविताओं को समझना कठिन है।

यूनान के दर्शन ने यूरोप को बहुत अधिक प्रभावित किया। बरनेट नामक पश्चिमी विद्वान ने यूनानी दर्शन के इतिहास को "हमारे आध्यात्मिक अतीत का इतिहास" कहा है। यूनान के प्रचुर दार्शनिक साहित्य के विषय में पढ़ने से आपको यह मालूम हो गया होगा कि यूनान के विचारकों ने प्रकृति के रहस्यों को विशुद्ध तर्क की सहायता से जानने की चेष्टा की थी। यूनानियों ने ही दर्शन की विभिन्न शाखाओं को जन्म दिया और उनका नामकरण किया। आत्म-दर्शन (मेटाफिजिक्स), आचारशास्त्र, (एथिक्स), तर्कशास्त्र, (लॉजिक), तथा प्रामाण्यवाद (एपिस्टेमालोजी) को जन्म देने वाले यूनानी ही थे। पाश्चात्य दर्शन में प्रयुक्त होने वाले अनेक शब्द यूनानी भाषा से ग्रहण किये गये हैं। दर्शन की इन समस्याओं पर जैसे ईश्वर, संसार, काल, स्थान, कारण, परिवर्तन, विकास, दोष, यथार्थता, सत्य का वास्तविक स्वरूप आदि, यूनान के विचारकों ने स्वतन्त्र रूप से विचार किया था। आधुनिक दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय जैसे आदर्शवाद (आइडियलिज्म) भौतिकवाद, पैन्थीज्म, अज्ञानवाद (एग्नास्टिसिज्म), इम्पिरिसिज्म, स्केप्टिसिज्म, और प्रकृतिवाद (नेचुरलिज्म) आदि अपने बीज रूप में यूनानी दर्शन में विद्यमान थे। मध्यकाल के योरपीय दर्शन पर प्लेटो एवं अरस्तू का अत्यधिक प्रभाव था। स्कालिस्टिक दार्शनिकों के लिए अरस्तू ने स्वतन्त्र तर्क पद्धति का स्थान ग्रहण कर लिया था। लोग अपने मत की पुष्टि के लिये तर्क का आश्रय न ग्रहण करके अरस्तू के मत को ही उद्धृत करना अलम् समझते थे। तर्कशास्त्र के क्षेत्र में अरस्तू के कथन ब्रह्म-वाक्य समझे जाते थे।

योरप का आधुनिक-विज्ञान यूनानी-विज्ञान के प्रभाव से दर्शन की अपेक्षा अधिक मुक्त है किन्तु उसकी नींव प्राचीन यूनान में ही पड़ी थी। आधुनिक विज्ञान की समस्त शाखाओं के नाम यूनानी हैं। "फिजिक्स (भौतिक-विज्ञान), केमिस्ट्री, (रसायन-विज्ञान), बाटनी (वनस्पति-विज्ञान) चिकित्सा-विज्ञान, (एस्ट्रालोजी) खगोल विद्या शरीर-विज्ञान (फिजियालोजी), शरीर रचना-विज्ञान (अनाटोमी) तथा यन्त्र-विज्ञान पर यूनानियों ने प्रसिद्ध ग्रन्थों का प्रणयन किया। रसायन-विज्ञान पर यूनानियों का प्रभाव बहुत कम है किन्तु अन्य विज्ञानों पर यूनानी-विज्ञान का पर्याप्त प्रभाव है। वनस्पति-विज्ञान के क्षेत्र में अरस्तू और उसके शिष्यों का कार्य उल्लेखनीय है। अरस्तू को इस विज्ञान का जन्मदाता कहा जाता है। चिकित्सा-विज्ञान में यूनानियों की देन अधिक महान और महत्वपूर्ण है। जैसा कि बताया जा चुका है हिपोक्रेटीज के द्वारा बनी हुई शपथ आज भी चिकित्सा-विज्ञान के प्रत्येक स्नातक को ग्रहण करनी पड़ती है। ज्यामिति में यूक्लिड और अपोलोनियस ने जो महत्वपूर्ण कार्य किया वह अभी बहुत पहले तक सर्वांगपूर्ण और मान्य समझा जाता था। इसमें सुधार उन्नीसवीं शताब्दी के बाद किया गया है। भूगोल के क्षेत्र में उन्होंने हमें सभी महासागरों की एकता, ज्वार-भाटा के कारण, एटलान्टिक और हिन्द महासागर के विषय में महत्वपूर्ण भौगोलिक तथ्य और अक्षांश तथा देशान्तर आदि की निधि बताई।

शासन-व्यवस्थाओं के क्षेत्र में हमें यूनान की देन अधिक महत्वपूर्ण भले ही न प्रतीत हो किन्तु इस बात में

तनिक भी सन्देह नहीं कि हमारे वर्तमान प्रजातन्त्र का मूल प्राचीन यूनान में ही विद्यमान था। शासन-सम्बन्धी बातों पर वैज्ञानिक पद्धति से सबसे पहले विचार करने वाले लोग प्राचीन यूनानी ही थे। उन्होंने व्यक्ति के महत्व को स्वीकार किया और न्याय, स्वतन्त्रता, समानता, प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक कानून आदि समस्याओं पर विचार किया। उन्होंने राज्य के कर्तव्यों की सैद्धान्तिक व्याख्या की और विभिन्न शासन-प्रणालियों के गुण-दोषों का उल्लेख किया। प्रजातन्त्र की सफलता के लिए उन्होंने नागरिकों को सुशिक्षित करने की आवश्यकता बताई। शासन-विधान को यूनान के राजनीतिक विचारकों ने सबसे प्रधान बताया। इसोक्रेटीज ने शासन-विधान को "राज्य की आत्मा" कहा और अरस्तू ने तो यहाँ तक कह दिया कि "शासन-विधान ही राज्य है।" एक इतिहासकार ने ठीक लिखा है, "यूनान के इतिहास का केन्द्रीय विचार और जिसे इसकी आत्मा कहा जा सकता है, वह इसकी वैधानिकता है।" प्राचीन संसार के इतिहास में हम कहीं भी शासन-प्रणालियों की इतनी विभिन्नता नहीं देखते जितनी यूनान में। यदि कहा जाय कि यूनान और भारत के गणतन्त्रों को छोड़कर प्राचीन विश्व में सच्चे अर्थों में राजनीति थी ही नहीं तो कदाचित् कोई अत्युक्ति न होगी। प्रोफेसर जिमर्न ने लिखा है "राजनीतिक अध्ययन के लिए यूनानियों की प्रथम देन इस बात में है कि उन्होंने इसका आविष्कार किया। यह कहने में अत्युक्ति नहीं है कि पांचवी शताब्दी ईसवी पूर्व के यूनान में राजनीति का कोई अस्तित्व ही न था। शक्तियाँ और राज्य थे, सरकारें और प्रजायें थीं परन्तु राजनीति का अस्तित्व उसी प्रकार नहीं था जिस प्रकार कीमियां के युग में रसायन का अस्तित्व न था। जैसा कि प्लेटो ने हमें सिखाया है, किसी विचार की अनुकृति विचार नहीं है और न किसी विज्ञान की अनुकृति विज्ञान है। रैमेसेज और नेबूनेचेड्जार, लीडिया के क्रोसस और फारस के साइरस महान साम्राज्यों के ऊपर शासन करते थे किन्तु उनके राज्यों में राजनीति न थी क्योंकि सार्वजनिक मामले न थे। केवल सम्राट और शासक वर्ग के व्यक्तिगत मामले ही थे। सरकार और उससे सम्बन्धित सब कार्य, सैनिक सेवा और कर संग्रह से लेकर राजकीय अन्तःपुर के लिए स्त्रियां जुटाना, केवल शासक की शक्ति और इच्छाओं का ही द्योतन करते थे। जो महान प्रगति यूनान ने की वह यह है कि उसने यह स्वीकार किया कि सार्वजनिक अथवा साधारण हितों का भी अस्तित्व है और प्रथम उसने उनका प्रबन्ध किया तथा द्वितीय उनके अध्ययन की व्यवस्था की। दूसरे शब्दों में यूनानी लोगों ने सबसे पहिले राजनीति के शरीर को मायावी चिकित्सकों से रक्षा करके उसे चिकित्सकों को समर्पित किया।"[1]

यूनान की समृद्ध संस्कृति के तत्व रोमवासियों ने ग्रहण किये और बर्बर जातियों के आक्रमणों से उनकी रक्षा करके उन्हें संसार को प्रदान कर दिया। इसलिए हम अगले अध्याय में रोमवासियों की सभ्यता के विषय में पढ़ेंगे।

[1] The Legacy of Greece Edited By R. W. Livingstone.

—:o:—

बारहवाँ अध्याय

रोम की सभ्यता

यदि यूनान ने एक सुविकसित संस्कृति को जन्म दिया तो रोम ने उसकी रक्षा की और उसे दूर देशों तक फैलाया। एक विस्तृत साम्राज्य की, जो अफ्रीका से लेकर उत्तर में इंग्लैण्ड तक तथा पूर्व में बेबीलोन से लेकर पश्चिम में स्पेन तक फैला था, स्थापना कर के रोमवासियों ने सभ्यता और संकृति का सुदूर प्रदेशों में विस्तार किया। यूनानियों के आदर्शवाद को उन्होंने व्यावहारिक रूप प्रदान किया और अपनी अद्वितीय व्यावहारिक प्रतिभा की सहायता से उन्होंने संसार को एक उन्नत न्याय-शास्त्र प्रदान किया। रोम ने सांस्कृतिक एकता और सातत्य (Continuity) का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। प्राचीन और आधुनिक सभ्यताओं के बीच रोमनों ने ही एक पुल का निर्माण किया जिससे प्राचीन सभ्यता के कुछ अत्यन्त श्रेष्ठ तत्व मध्यकालीन विश्व को प्राप्त हुये और मध्यकाल की सभ्यता से उन तत्वों को आधुनिक सभ्यता ने प्राप्त किया। एच० एच० एस्विथ ने रोम को "महान मध्यस्थ" (Great Intermediary) कहा है। मानव सभ्यता के लिए रोम की सेवाओं का उल्लेख प्रोफेसर हेरन्शा ने इन शब्दों में किया है, "उसने (रोम ने) एक विश्व शान्ति की स्थापना की, उसने अपने विशाल साम्राज्य को सुन्दर सड़कों के जाल से जोड़ दिया, उसके पास कानून और न्याय की एक अद्वितीय व्यवस्था थी। उसने अपने समस्त प्रान्तों में भव्य सार्वजनिक भवन बनवाये। उसने एक विस्तृत व्यापार का विकास किया। उसने हेलेनिक पूर्व की संस्कृति को सुरक्षित रक्खा। उसने केल्टिक पश्चिम के बर्बरों को शिक्षित किया। प्रजा जनों ने उसके उदार शासन को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया। उसने जो शान्ति और सुरक्षा स्थापित की उसके लिए उन्होंने आनन्द प्रकट किया और वे रोम की नागरिकता और साम्राज्य की नौकरी को अपनी आकांक्षा का चरम लक्ष्य समझने लगे। सिकन्दर के उदाहरण का अनुसरण करते हुए उसने जाति और धर्म की सीमाओं को तोड़ दिया जिन्होंने अभी तक मनुष्यों को विभाजित कर रक्खा था, यूनानी और बर्बर तत्वों को एक ही राजतन्त्र में मिला दिया। पूर्व और पश्चिम को परस्पर निकट लाने का प्रयत्न किया और सभ्य संसार में एकता की एक चेतना उत्पन्न की जो आज तक भी पूर्णतया नष्ट नहीं होने पाई है।" रोम ने भी अपनी सभ्यता की बहुत सी बातें एट्रस्कन लोगों से ग्रहण कीं, इसलिए हमें पहले एट्रस्कन लोगों के विषय में जान लेना चाहिए।

रोम के विस्तार के पहिले इटली में एट्रस्कन लोग सबसे अधिक सभ्य और शक्तिशाली थे। वे एशिया के मैदान से इटली के पश्चिमी केन्द्रीय तट पर आये। उनके प्राचीन इतिहास के विषय में हमें कुछ विशेष विवरण नहीं प्राप्त होता क्योंकि उनकी भाषा को अभी तक विद्वान लोग पढ़ नहीं सके हैं। हेरोडोटस ने कहा है कि एट्रस्कन लोग एशिया माइनर के मूल निवासी थे। उसका यह मत पुरातात्विक साक्ष्यों से भी प्रमाणित हो चुका है। उनका बेबीलोनिया वालों से अवश्य एक सांस्कृतिक सम्पर्क रहा होगा क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने बलि के पशुओं को देखकर मनुष्य के भावी जीवन के विषय में भविष्यवाणी करना बेबीलोनिया के पुरोहितों से ही सीखा था।

एट्रस्कन जाति

यद्यपि एट्रस्कनों के अभिलेख अभी तक पढ़े नहीं जा सके हैं तथापि उनके नगरों के ध्वंसावशेष हमें उनकी कलाओं तथा उनके जीवन के विषय में काफी बातें बतलाते हैं। वे इटली के मूल निवासियों की अपेक्षा कहीं अधिक सभ्य थे। वे गाँवों में किसानों और चरवाहों की भाँति नहीं रहते थे बल्कि वे नगरों में रहते थे। उनके नगरों को चारों ओर से

मजबूत दीवालें घेरे रहा करती थीं । साधारण लोग झोपड़ों में रहते थे लेकिन सरदारों के मकानों में कई कमरे बरामदे तथा आँगन होते थे । उनके मकान लकड़ी और पकाये हुये ईंटों के बनते थे । पत्थर के मकानों के ध्वंसावशेष अभी तक प्राप्त नहीं हुये हैं । उनके मकानों में जो चित्र बने हैं उनके द्वारा हमें यूट्रास्कनों के जीवन का हाल मालूम होता है । वे खेल-कूद की प्रतियोगितायें किया करते थे और धार्मिक उत्सवों, दावतों, संगीत तथा नृत्य आदि में खूब भाग लिया करते थे । उनके समाज में स्त्रियों का जीवन सुखमय था । उनकी शिक्षा पर ध्यान दिया जाता था ।

यूनानी नगरों की भाँति यूट्रास्कनों के स्वतन्त्र नगर भी आपस में लड़ा करते थे । कदाचित उनकी राजनीतिक शक्ति के पतन का कारण उनका पारस्परिक वैमनस्य ही था । प्रत्येक नगर एक स्वतन्त्र राजनीतिक इकाई था । पहले नगर पर एक राजा राज करता था किन्तु बाद में निर्वाचित मजिस्ट्रेट शासन करते थे । उत्तरी और इटली के यूट्रास्कनों के नगर कभी कभी एक ही संगठन शक्ति में आबद्ध हो जाया करते थे, यद्यपि वे धार्मिक भावनाओं से प्रेरित हो कर ही ऐसा करते थे । यूट्रास्कन लोग उद्योग धन्धों में बड़े निपुण थे । उन्होंने जंगलों को साफ करके और दलदलों को सुखा कर खेती करना आरम्भ किया । वे लोहे तथा ताँबे को खानों से प्राप्त करते थे । उन्होंने जलमार्गों, बन्दरगाहों और नालियों का निर्माण किया । यद्यपि वे कुशल इन्जीनियर और भवन निर्माता थे तथापि उनकी वास्तु-कला यूनानी प्रभाव से मुक्त नहीं है । वे मिट्टी के बर्तन बनाने, सूती कपड़े बुनने और काँसे, सोने तथा चाँदी की कलापूर्ण वस्तुएँ बनाने की कलाओं से भलीभांति परिचित थे । रोमनों को सार्वजनिक भवनों का निर्माण कराना उन्हों ने ही सिखाया । वे बड़े ही कुशल नाविक थे । सातवीं शताब्दी ईसवी पूर्व से ही वे कारथेज, यूनान के नगरों और फोनीशिया के लोगों से सामुद्रिक व्यापार करते थे । उनके जलयान व्यापार के लिए एथेन्स तक पहुँचा करते थे । कुछ समय के बाद यूट्रास्कन लोगों ने सिक्के भी चलवाये ।

यूट्रास्कन लोग धातुओं के आभूषण बनाना जानते थे । सोने के भांति भांति के सुन्दर आभूषण वे बनाते थे । काँसे के दर्पण, प्याले तथा मूर्तियाँ भी वे बनाते थे । उनकी स्थापत्य कृतियाँ बड़ी सजीव हैं किन्तु यूनान की कला-कृतियों से वे तुलना नहीं कर सकती । उनकी चित्रकारी भी सुन्दर एवं आकर्षक है । वे लोग अपने मृतकों को गाड़ते थे किन्तु बाद में वे उनको जलाने भी लगे थे । कब्रों में खुदी हुई आकृतियां, गहने, बर्तन आदि वस्तुयें रक्खी हुई मिलती हैं जिनके द्वारा यूट्रास्कनों के आठ सौ वर्षों के जीवन पर काफी प्रकाश पड़ता है । उनका धर्म अन्धविश्वास-मय था और मनुष्य के भावी जीवन के विषय में उनकी धारणा निराशाजनक थी । वे मृत लोगों की आत्माओं को पूजते थे और उन्हें नर-बलि भी चढ़ाते थे । कदाचित इसी प्रथा से उस द्वन्द्व-प्रतियोगिता का जन्म हुआ जिसमें दासों को भयंकर पशुओं से निहत्थे लड़ने के लिए छोड़ दिया जाता था । बाद में रोमनों में इस प्रतियोगिता का बहुत अधिक प्रचार हुआ । यूट्रास्कनों के देवमण्डल में एक देवता और दो देवियां थीं । टाइनिया (जुपिटर) जूनी, (जूनो) और मेनर्वा (मिनर्वा) देवमण्डल की प्रमुख देव-देवियां थीं । यूट्रास्कनों ने मन्दिरों का निर्माण कराया । रोम में उन्होंने जुपिटर का एक मन्दिर बनवाया था । उनके समाज में राज्य तथा धर्म का सम्बन्ध अविच्छिन्न था । शासक पुरोहित भी होता था और जनता के ऊपर अधिकार जमाने में राजा को धार्मिक भावना से बड़ी सहायता प्राप्त थी ।

चूँकि यूट्रास्कन लोग अपने साथ पूर्व से एक विकसित सभ्यता लाये थे इसलिये उनको ही इटली में सभ्यता को जन्म देने तथा उसका प्रसार करने का श्रेय दिया जा सकता है । उनके बिना यूनानी सभ्यता भी रोम में न फैल पाती और इटली एक असभ्य तथा अप्रगतिशील देश रह गया होता । होमो नामक विद्वान ने कहा है, "यदि रोम को इटली निवासियों की जननी कहलाने का अधिकार दिया जा सकता है तो हमें न भूलना चाहिये कि यूट्रीया को मातामही का नाम दिया जा सकता है । यूट्रास्कनों ने रोम और इटली में एक नगर सभ्यता का विकास किया । उनके आगमन के पूर्व इटली में कम बसे हुये छोटे-छोटे गाँव ही थे और रोम भी उन गांवों में से एक था । जहां जहां भी वे गये, उन्होंने वहां नगरों की स्थापना की और कभी-कभी उन नगरों को राजनीतिक दृष्टि से एक करने का प्रयास भी

किया। ईसा के लगभग ७५० वर्षों पूर्व रोम पर एक यूट्रास्कन राजा राज करता था। उसने रोम को एक नगर राज्य का रूप प्रदान किया और विशाल भवनों का निर्माण करा कर रोम को एक सुन्दर और दर्शनीय नगर बना दिया। किन्तु ५०६ ईसवी पूर्व में रोमनों ने यूट्रास्कनों को रोम से भगा दिया और एक स्वतन्त्र गणतन्त्र स्थापित किया।

रोम के गणतन्त्र का विकास

रोम में गणतन्त्र की स्थापना कर लेने के उपरान्त शीघ्र ही रोमवासियों ने अपने विरोधियों से अपनी रक्षा करने के लिये लेटियम के नगरों से मित्रता कर ली। एक सौ पचास वर्षों तक यह मित्रता जारी रही। इस काल में रोमनों ने अपने शत्रुओं से युद्ध किया और उनका दमन किया। रोमन गणतन्त्र के विकास का सूत्रपात यहीं से होता है। यद्यपि यह सत्य है कि ३९० ईसवी पूर्व में रोम पर गाल नाम की एक केल्टिक जाति ने आक्रमण कर दिया और नगर को पूर्णतया नष्ट कर डालने का विचार किया। रोमवासियों ने गाल लोगों को खदेड़ दिया और फिर से वे रोमन गणतन्त्र की सीमा को विस्तारित करने के लिये सचेष्ट हो गये। उन्होंने यूट्रास्कनों के प्रमुख नगर वेई (Veii) पर दस वर्ष तक घेरा डाले रहने के उपरान्त अधिकार कर लिया। सेन्टिनम नामक स्थान में रोमनों ने सैम्नाइट्स लोगों को पराजित कर दिया। दक्षिणी इटली में यूनानियों का प्रभुत्व बढ़ा। सभी नगर-राज्यों ने रोम को पराजित करने के लिये परस्पर सन्धि सम्बन्ध स्थापित कर लिया। ऐसा प्रतीत होता था कि यूनानी इटली के सम्पूर्ण प्रायद्वीप को अपने अधिकार में कर लेंगे क्योंकि इपिरस के नेता पिरहस ने, जो सिकन्दर का वंशज था, अपनी सैनिक शक्ति काफी बढ़ा ली और रोमनों के उपनिवेशों को नष्ट करने की इच्छा की। परन्तु उससे लड़ने में रोमनों को कारथेज से सहायता मिली। युद्ध में पिरहस की गहरी पराजय हुई। इसके उपरान्त रोमनों ने यूनानी नगरों को जीता। यह एक स्मरणीय बात है कि रोम ने अपने विजितों को अपनी नागरिकता प्रदान की। सबसे पहले लैटिन लोगों ने, जिनकी सहायता द्वारा रोमनों ने यूट्रास्कनों और सैम्नाइट्स लोगों पर विजय प्राप्त की थी, रोम की नागरिकता की मांग की। पहले तो रोमनों ने रोम की नागरिकता देने से इन्कार किया लेकिन बाद में लैटिन लोगों को नागरिकता प्रदान कर उन्होंने अपनी राजनीतिक बुद्धिमत्ता का परिचय दिया। रोम की सफलता का यह एक रहस्य था। जबकि यूनानी अपनी नागरिकता किसी भी ऐसे व्यक्ति को नहीं देते थे जो यूनान की सीमाओं के बाहर उत्पन्न हुआ हो, रोम के चतुर राजनीतिज्ञों ने इस भांति के दोष को समझ लिया। उन्होंने अनुभव कर लिया कि परिवर्जन की इस नीति का प्रतिफल केवल राजनीतिक दौर्बल्य ही होगा। इसीलिये जब नये राज्य विजित किये गये तो वहां के निवासियों को पूर्ण नागरिकता प्रदान की गई। इसका परिणाम रोम के लिये बड़ा हितकर प्रमाणित हुआ। इससे अधिक नागरिकों के कारण सेना के लिये सच्चे सैनिक प्राप्त होने लगे और विजित प्रदेशों पर उसकी धाक अच्छी तरह से जम गई।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि रोमनों को पिरहस के विरुद्ध कारथेज से सहायता प्राप्त हुई थी किन्तु रोम और कारथेज की मित्रता अधिक दिनों तक टिक न सकी। दोनों में लड़ाई छिड़ गई। इतिहास में इन युद्धों को प्यूनिक युद्ध कहते हैं। 'प्यूनिक' शब्द लैटिन भाषा का है जिसका अर्थ होता है "कारथेज का" अथवा "कारथेज सम्बन्धी।"

कारथेज के साथ संघर्ष (प्यूनिक युद्ध)

कारथेज ने अपने को रोम का प्रबल प्रतिद्वन्द्वी प्रमाणित किया। कारथेज और रोम दोनों ही पश्चिमी भूमध्य सागरीय प्रदेश में अपनी सत्ता की स्थापना एवं अपनी सभ्यता के प्रसार के लिये व्यग्र और प्रयत्नशील थे। कारथेज निवासी बड़े ही कुशल व्यापारी और नाविक थे। पश्चिमी भूमध्यसागरीय तट पर उनके अनेक व्यापारिक केन्द्र स्थित थे। रोम की सेना अधिक शक्तिशालिनी थी किन्तु कारथेज की सामुद्रिक शक्ति रोम से अधिक थी। भूमध्य-सागरीय प्रदेश में कारथेज सबसे विशाल और समृद्ध नगर था। इसका राज्य सुदूर भागों पर था किन्तु उनका शासन भली प्रकार से नहीं किया जाता था। रोम और कारथेज की शत्रुता २६४ ईसवी

पूर्व से लेकर १४६ ईसवी पूर्व तक रही और उनमें परस्पर तीन युद्ध हुये। प्रभुता के संघर्ष में विजयश्री रोमनों के हाथ रही। प्रथम प्यूनिक युद्ध के परिणामस्वरूप कारथेज वालों को सामुद्रिक-समर में पराजय प्राप्त हुई और रोम ने सिसली, कारसिका तथा सारडीनिया के द्वीपों पर अधिकार कर लिया। कुछ दिनों बाद कारथेज के नेता हैनीबाल ने जान बूझ कर स्पेन के सैनटम नामक नगर को जीत लिया। यह नगर रोम द्वारा रक्षित था अतएव युद्ध अवश्यम्भावी था। प्रारम्भ में हैनीबाल को कई विजयें प्राप्त हुईं किन्तु जमा (Zama) के युद्ध में उसे पराजय सहनी पड़ी। कारथेज को दण्ड-कर-स्वरूप १०००० टैलेन्ट्स रोम की सेवा में भेजने पड़े। कारथेज के कई जलयान भी उसके हाथ से निकल गये और उसे यह वचन देना पड़ा कि बिना रोम की आज्ञा के उसे युद्ध करने का अधिकार न रहेगा। तृतीय प्यूनिक युद्ध का कारण रोम के प्रसिद्ध व्यक्ति केटो का कारथेज के प्रति भयंकर रोष ही था। उसने रोमनों को खूब उत्तेजित किया और "डेलेन्डा एस्ट कारथेगो" "कारथेज का विध्वंस किया जाना चाहिये" का नारा लगा कर उसने उनकी क्रोधाग्नि को भड़का दिया। अन्त में तीन वर्ष का घेरा डाले रहने के बाद रोमवासियों ने १४६ ईसवी पूर्व में कारथेज को जीत लिया। नगर के आधे निवासियों को, जो युद्ध की विभीषिका से बच रहे थे, दास बना कर बेच दिया गया। नगर को बिल्कुल नष्ट कर दिया गया और इसके पूर्ण विनाश को प्रदर्शित करने के लिये हल चलाया गया और इस स्थान को फिर से बसाने वाले को धमकी दी गई। कारथेज का विनाश रोमन सभ्यता की हिन्साश्रित नीति का द्योतन करता है। सन्धि के बाद केवल कारथेज के व्यापारिक गौरव और आर्थिक समृद्धि से ईर्ष्यालु होकर एवं एक झूठा बहाना ढूँढ़ कर रोम का कारथेज पर आक्रमण करना और उसे मिट्टी में मिला देना निन्द्य तथा अनुचित है। और जब हमें यह पता चलता है कि इस समय कारथेज रोम का व्यापारिक प्रतिद्वन्दी नहीं था तब हमें रोम का यह अशोभन आक्रमण और अधिक अनौचित्य-पूर्ण जँचता है।

पूर्वीय भूमध्यसागरीय प्रदेश की विजय

कारथेज पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात रोम का ध्यान पूर्व की ओर गया। मेसीडोनिया के राजा फिलिप ने हैनीबाल को रोम के विरुद्ध सहायता दी थी इसलिए रोम ने प्रतिहिन्सा की भावना से प्रेरित होकर मेसीडोनिया पर आक्रमण कर दिया और उसे जीत लिया। मेसीडोनिया के बाद कोरिन्थ पर रोम का अधिकार स्थापित हो गया। रोमनों ने एजियन को पार करके एशिया माइनर से एन्टिओकस को निकाल बाहर कर दिया। १६८ ईसवी पूर्व में मिस्र ने भी रोम की अधीनता स्वीकार कर ली। १४८-१४६ ईसवी पूर्व में रोम ने मेसीडोनिया और यूनान को अपने प्रान्तों में बदल दिया और यूनान की चिरपालित एवं चिरवांछित स्वाधीनता का अन्त कर दिया।

प्लीबियनों और पेट्रीसियनों का संघर्ष

रोम के गणतन्त्र में प्रभुता के लिए प्लीबियनों और पेट्रीसियनों में बहुत दिनों तक संघर्ष चलता रहा। पहले गणतन्त्र का शासन आभिजात्य वर्ग के कुछ लोगों के हाथों में केन्द्रित था। पेट्रीसियन लोग आभिजात्य वर्ग के थे और प्लीबियन जनसाधारण। प्लीबियनों को शासन सम्बन्धी कार्यों में भाग लेने का कोई अधिकार न प्राप्त था। जब उन्होंने अपने अधिकारों के लिए संघर्ष किया तो ट्रिब्यून की स्थापना हुई। अब प्लीबियन लोग किसी भी अधिकारी यहाँ तक कि कानून के कार्यों का प्रतिनिषेध कर सकते थे और किसी भी कानून को पास होने से वे रोक सकते थे। किन्तु पेट्रीसियनों की शक्ति ट्रिब्यून के बावजूद भी कम न हो सकी। वे प्लीबियनों को शासन के महत्वपूर्ण कार्यों में भाग न लेने देते थे। उनकी आर्थिक परिस्थिति पेट्रीसियनों की तुलना में काफी गिरी हुई थी। लेकिन उनके अन्दर जागृति उत्पन्न होने लगी। वे यह समझने लगे कि गणतन्त्र के लिए उनकी सेवायें बहुमूल्य हैं अतएव उन्हें अधिकार भी काफी मिलने चाहिएँ। ४५० ईसवी पूर्व में जब कानूनों का संग्रह तैयार हुआ तो उन्होंने एक महत्वपूर्ण विजय प्राप्त की। इस विजय के फलस्वरूप पेट्रीसियन न्यायाधीश की शक्ति सीमित हो गई। इसके बाद प्लीबियनों के आन्दोलन जारी रहे। कुछ दिनों बाद उनको शासन के महत्वपूर्ण पदों को प्राप्त करने का अधिकार मिल गया। ३०४ ईसवी पूर्व में उनको सीनेट में जाने का भी अधिकार मिल गया। २८७ ईसवी पूर्व तक शासन सम्बन्धी कार्यों के लिए और न्याय के सम्मुख पेट्रीसियन तथा प्लीबियन

समान समझे जाने लगे। उनको जनरल असेम्बली में वोट देने का अधिकार मिल गया। परन्तु प्लीबियनों के नेताओं ने उनके साथ विश्वासघात किया। वे अपने को आभिजात्य वर्ग का समझने लगे और पैट्रीसियनों के साथ वैवाहिक एवं मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने लगे। एक बार फिर प्लीबियनों को अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए उठना पड़ा। उन्होंने प्रबल संघर्ष प्रारम्भ किया। अपने नेताओं को सीनेट से निकल आने को कहा। उनके नेताओं ने ऐसा करने से इन्कार किया। इस पर रोम में गृह युद्ध मच गया और चारों ओर एक अव्यवस्था सी फैल गई। इस अव्यवस्था के परिणाम-स्वरूप रोम में गणतन्त्र का पतन होना आरम्भ हो गया और अधिनायकों की शक्ति काफी बढ़ने लगी।

गणतन्त्र का पतन

इस समय तक रोम के गणतन्त्र में अनेक दोष आगये थे। जैसा कि ऊपर संकेत कर दिया गया है, बहुत से सीनेट-सदस्यों ने राज्य की भू-सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया। सीनेट के सदस्यों ने भू-सम्पत्ति सम्बन्धी कानूनों की काफी अवहेलना की। सीनेट में अनुत्तरदायित्व पूर्ण एवं स्वार्थी सदस्यों का बहुमत था। उनके अन्दर शासन सम्बन्धी योग्यता एवं निपुणता का अभाव भी था। राज्य की अधिकांश भूमि पर उनका अधिकार हो जाने से समाज में घोर आर्थिक वैषम्य उत्पन्न हो गया। जनसाधारण के अधिकार में बहुत ही कम भूमि थी। टाइबेरियस और गेयस ग्रेकस नामक दो भाइयों ने इस विषमता को दूर करने का प्रयत्न किया। परन्तु वे विफल ही रहे। टाइबेरियस ने भूमि सुधार के सम्बन्ध में एक कानून बनाने का आग्रह किया जिससे जलकर सीनेट के सदस्यों ने उसका वध कर दिया। गेयस यूनानी प्रजातन्त्र के अनुकरण पर कुछ सुधार करना चाहता था किन्तु जब उसने अपनी आकांक्षाओं पर तुषारपात होते देखा तो उसने आत्महत्या कर ली।

धीरे-धीरे सीनेट के विरुद्ध आन्दोलन होने लगे और कुछ ही समय में इन आन्दोलनों ने वेग पकड़ लिया। ऐसे समय में मेरियस नामक व्यक्ति ने लोगों का नेतृत्व अपने हाथों में ग्रहण किया। उसने उत्तरी अफ्रीका के नूमीडिया नामक राज्य में जुगारथा को हराकर लोगों का ध्यान अपनी सैन्य-निपुणता की ओर आकर्षित किया। उसने जर्मन आक्रमण-कारियों को भी हराया जिससे उसे 'इटली का रक्षक' की उपाधि मिली। वह डिक्टेटर (अधिनायक) हो गया किन्तु उसके अन्दर राजनीतिक कुशलता का अभाव होने के कारण उसे अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा। मेरियस के त्याग-पत्र दे देने के बाद अराजकता और अविक फैल गई। निकट पूर्व में रोमन-शासन के विरुद्ध उपद्रव होने लगे। इन आन्तरिक एवं बाह्य विप्लवों का दमन करने के लिये सला (Sulla) नामक सैन्य अधिकारी नियुक्त किया गया। उसने समस्त शक्ति सीनेट को सौंप कर स्वेच्छापूर्वक अपने कार्य से अवकाश ग्रहण कर लिया। इसके बाद पाम्पी (Pompy) का प्रभुत्व बढ़ा। उसने एसेम्बली और ट्रिब्यून को उनकी खोई हुई शक्ति फिर से लौटा दी। भूमध्य सागर के जहाजी लुटेरों का उसने सफलतापूर्वक दमन किया। जब वह पूर्व में था तो रोम के जूलियस सीजर नामक जनरल ने अपनी शक्ति बढ़ा ली। इस समय से पाम्पी और जूलियस सीजर में प्रभुता के लिये संघर्ष छिड़ गया। पाम्पी के रोम लौटने पर सीजर ने क्रैसस को साथ लेकर और पाम्पी को भी मिला कर प्रथम ट्राइमविरेट (First Triumvirate) का निर्माण किया। इस पारस्परिक संगठन के फलस्वरूप सीजर को कान्सल बनाने का वचन दिया गया, पाम्पी को स्पेन का गवर्नर बनाया गया और क्रैसस को यह अधिकार दिया गया कि वह सीरिया पर आक्रमण करने के लिये सेना का नेतृत्व करें। सीजर जब आधुनिक फ्रान्स के निकट गाल प्रदेश को जीतने के लिए रोम से बाहर चला गया तो उसकी अनुपस्थिति में पाम्पी ने उसके विरुद्ध सीनेट का साथ दिया। यहां पर हमें स्मरण रखना चाहिये कि इस समय तक सीनेट की शक्ति बिल्कुल नाममात्र की ही रह गई थी; वास्तविक शक्ति तो अधिनायकों के हाथ में थी। सीनेट के सदस्य शक्ति पुनः हस्तगत करने के लिये प्रयत्नशील थे।

सीजर गाल से शीघ्र ही लौट आया और पाम्पी को युद्ध में पराजित कर दिया। अब उसकी शक्ति को चुनौती देने वाला कोई न रह गया। शासन सत्ता स्वयं हस्तगत कर लेने पर उसने कुछ सुधार किये। उसने प्रान्तीय गवर्नरों को अपने प्रति उत्तरदायी बनाया और उनका वेतन निश्चित किया। गवर्नरों के व्यवहार एवं उनकी नीति की सूचना देने

के लिये उसने कुछ अन्य अफसर भी नियुक्त किये। उसका एक सुधार बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था। उसने रोम की नागरिकता के क्षेत्र को विस्तृत किया और अन्य प्रान्तों के निवासियों को भी उसने रोम का नागरिक स्वीकार किया। जनता के हित के लिये उसने कुछ रुपये भी दिये। सीजर बहुमुखी प्रतिभावाला व्यक्ति था। वह एक महान योद्धा, योग्य शासक कुशल राजनीतिज्ञ और सुप्रसिद्ध विद्वान एवं साहित्यक व्यक्ति था। वह एक उच्च कोटि का गद्य लेखक एवं व्याख्यानदाता था। रोम का अधिनायक हो जाने के बाद भी उसने कभी निरंकुशता अथवा स्वेच्छाचारिता प्रदर्शित नहीं की। परन्तु सीनेट के कुछ सदस्यों ने, जिनमें ब्रूटस का नाम अधिक उल्लेखनीय है, उसके विरुद्ध षडयन्त्र रच कर उसका बध कर डाला (४४ ई० पू०)। षडयन्त्रकारियों ने यह सोचा था कि सीजर का बध कर देने से रोम में अधिनायकवाद का अन्त हो जायगा और गणतन्त्र की पुनरुस्थापना होगी। परन्तु रोम में फिर कभी गणतन्त्र की स्थापना न हो सकी और सीजर की मृत्यु के बाद रोम में (२७ ई० पू०) साम्राज्यवाद का उदय हुआ। गणतन्त्र के समय की रोमन सभ्यता का अध्ययन कर लेने के बाद हम अगले अध्याय में रोम के साम्राज्यवाद के विषय में पढ़ेंगे।

गणतन्त्र के समय में रोमन सभ्यता

प्रारम्भ से ही रोम में गणतन्त्रात्मक शासन-पद्धति का प्रचलन था। परन्तु यह गणतन्त्र यूनानी प्रजातन्त्र से भिन्न था। रोम में दो काउन्सल चुने जाते थे। दो काउन्सल को चुनने का उद्देश्य यह था कि किसी एक काउन्सल की शक्ति बहुत अधिक न बढ़ने पावे। दोनों काउन्सल एक दूसरे के ऊपर नियंत्रण रखते थे। इन काउन्सलों का निर्वाचन प्रतिवर्ष होता था। काउन्सलों के अतिरिक्त कुछ अफसर होते थे जिनको मजिस्ट्रेट कहा जाता था। प्रेयटर्स (Praetors) न्यायाधीश, क्वेस्टर्स (Quaestors) खजान्ची और एडिलीज (aediles) पुलीस मजिस्ट्रेट आदि अन्य अधिकारी होते थे। सीनेट नाम की एक सभा होती थी जिसकी शक्ति काफी अधिक थी। यद्यपि सिद्धान्ततः इसका कार्य केवल मन्त्रणा देना ही था तथापि वास्तविक रूप में रोमन गणतन्त्र में इसी को प्रमुख शक्ति प्राप्त थी। मजिस्ट्रेट, प्रेयटर्स और एडिलीज आदि अफसर केवल एक वर्ष के लिये ही चुने जाते थे किन्तु सीनेट के सदस्य अपने पद पर आजीवन बने रहते थे। सीनेट के अधिकांश सदस्य वे लोग थे जो मजिस्ट्रेट रह चुके थे और अट्ठाइस वर्ष से अधिक आयु के थे। वे शासन सम्बन्धी समस्त विषयों पर बहस करते थे और काउन्सल के कार्यों पर नियन्त्रण रखते थे। सार्वजनिक व्यय, वैदेशिक नीति, प्रान्तीय-शासन और सेना का संगठन आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर सीनेट नियन्त्रण रख सकती थी। सीनेट की नीति के ऊपर ही रोम का शासन अवलम्बित था। यदि सीनेट के सदस्य सुयोग्य और ईमानदार होते थे तो रोम का शासन भली भाँति चला करता था किन्तु जब सीनेट में उत्तरदायित्वहीन सदस्यों का बाहुल्य हो जाता था तो रोम के शासन की व्यवस्था अत्यन्त शोचनीय हो जाया करती थी। कमिशिया सेन्चुरिआटा Comitia Centuriata रोमन लोगों की मुख्य निर्वाचक संस्था थी। मजिस्ट्रेटों का चुनाव तथा कानूनों का निर्माण यही संस्था करती थी।

गणतन्त्र की शासन व्यवस्था

ज्यों-ज्यों रोमन गणतन्त्र की सीमा का विस्तार होता गया त्यों त्यों उसकी शासन व्यवस्था का विकास होता गया। प्रान्तों का शासन करने के लिये गवर्नर नियुक्त किये जाते थे। वे एक वर्ष तक के लिये ही अपने पद पर रह सकते थे और उनको वेतन नहीं मिलता था। प्रान्तों के गवर्नरों को अपने प्रान्तों में सभी विषयों में पूर्ण अधिकार प्राप्त था। वे इस बात का ध्यान रखते थे कि उनके प्रान्तों के निवासियों को अपनी भाषा तथा धर्म की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो। कर-संग्रह की व्यवस्था दूषित थी। व्यापारवर्ग प्रान्त-कर परिसंग्रह का ठेका ले लेते। ये परिसंग्रहकर्ता एक निश्चित रकम सरकार को दे देते थे बाकी सब अपने जेब में रखते थे। गवर्नरों को भी कुछ वेतन नहीं मिलता था इसलिये वे भी जनता का खूब शोषण करते थे।

प्रान्तीय सरकार

प्राचीन रोम निवासी प्रकृति की शक्तियों या प्रकृति के उपादानों में आत्मा का आरोपण करते थे। ये आत्माएँ

मनुष्य के ऊपर किसी न किसी प्रकार का शुभ अथवा अशुभ प्रभाव डालती थीं। जेनस-द्वार की आत्मा थी। वेस्ता Hearth की आत्मा थी। भाण्डारगृह की भी एक आत्मा थी और भूसम्पत्ति की भी एक आत्मा थी। इन आध्यात्मिक शक्तियों की प्रत्येक गृह में पूजा की जाती थी। पुरोहित का कार्य सबसे वयोवृद्ध पुरुष करता था। बहुत से पूर्वी देशों की भांति रोमन गणतन्त्र में भी यह विचार बहुत अधिक प्रचलित था कि मृत व्यक्ति की आत्मा उसके निर्जीव शरीर के निकट ही रहती है और यदि इसे उचित रूप से दफ़नाया न जायगा तो यह अपने घर के प्राणियों को कष्ट पहुँचायेगी।

धर्म

रोमन गणतन्त्र का विस्तार होने पर कुछ देवताओं को राष्ट्रीय रूप प्राप्त हो गया। पहले जो देवता आराधित किये जाते थे उनके अतिरिक्त अब अन्य कई देवताओं की भी लोग पूजा करने लगे। अधिकांशतः ये नवीन देवता यूनानी देवताओं के रोमन स्वरूप थे। नीचे की सूची से यह स्पष्ट हो जायगा:—

रोमन देवता	कर्तव्य	यूनानी देवता
जुपिटर (Jupiter)	देवाधिदेव	जीयस
मार्स (Mars)	युद्ध के देवता	Ares
वीनस (Venus)	प्रेम की देवी	एफ्रोडाइट (Aphrodite)
बेकस (Bachchus)	सुरा के देवता	डायोनिसस (Dionysius)
जूनो	आकाश, विवाह तथा जन्म की देवी	हेरा (Hera)
मिनर्वा	ज्ञान एवं व्यापार की देवी	एथेना (Athena)
सेरेज़ (Cerers)	खेतों की देवी	डिमीटर
नेप्च्यून (Neptune)	समुद्र के देवता	पोसीडन (Poseidon)
मरकरी (Mercury)	देवताओं का सन्देश वाहक	हेरमीज़ (Heremes)

रोमनों का विश्वास था कि देवताओं की पूजा करने से और बिल्कुल ठीक तरीके से इनको प्रसन्न करने की क्रियाओं के सम्पादन से देवता प्रसन्न अवश्य होते हैं। ऐसा करने से देवताओं और उपासकों में एक कानूनी सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और उपासकों के ऊपर दया दृष्टि दिखलाने के लिए देवता बाध्य हो जाते हैं।

रोम में पूर्वी देशों की धार्मिक विचार धारा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। पूर्व के कई देवताओं को पूजा होने लगी और पूर्व का रहस्यवाद अनेक बुद्धिजीवी रोमनों को आध्यात्मिक सन्तोष प्रदान करने लगा। मिस्र की एक देवी आइ-सिस की पूजा का रोम की नारियों में बहुत अधिक प्रचलन था। बेबीलोन और काल्डिया की भविष्य वाणी की रीति का प्रचार भी लोगों में बहुत अधिक फैल गया। रोमन गणतंत्र के अन्तिम दिनों में रोम के अपने धर्म का ह्रास होने लगा और साथ ही साथ उच्च वर्ग के लोगों का नैतिक पतन भी आरम्भ हो गया। इस काल के रोमनों का धार्मिक दृष्टिकोण काफी उदार और सहिष्णु था किन्तु जन साधारण की धार्मिक विचार-धारा अन्धविश्वासों से परिपूर्ण थी।

दर्शन के क्षेत्र में रोमनों की कोई मौलिक देन थी। हेलिनिस्टक दर्शन के प्रमुख सम्प्रदायों को रोम-निवासियों ने ग्रहण कर लिया था किन्तु उनका रूप रोमनों से काफी विकृत हो गया था। ईसा की दूसरी शताब्दी पहिले रोम में इपिक्यूरियन विचार-धारा का प्रवेश हुआ किन्तु यह एक शताब्दी के बाद ही लोकप्रिय हो सकी। हम हेलिनिस्टक दर्शन के विषय में पढ़ते हुए यह देख चुके हैं कि इपिक्यूरस सुखोपभोग की जिस विचार-धारा का पोषण करता था उसमें बौद्धिक एवं मानसिक सुखों का प्राधान्य था किन्तु रोमनों ने उसके मत का गलत अर्थ लगाया। वे इन्द्रिय सुखों को ही सर्वस्व समझने लगे। रोम के विलास प्रिय लोगों और नवयुवकों ने इपिक्यूरियन विचार-धारा को अपना सर्वप्रिय दर्शन

समझ लिया और अपनी विलासिता का औचित्य वे अपने दर्शन के मतों को उद्धृत करके दिखलाने लगे। यद्यपि यह सत्य है कि ये नवयुवक इपिक्यूरस के विचारों को ठीक-ठीक समझ नहीं पाये थे। ल्यूक्रेटियस नामक कवि ने इपिक्यूरियन दर्शन को बिल्कुल ठीक-ठीक समझा था और उसने अपनी कविताओं द्वारा इसका प्रतिपादन भी किया था।

स्टोइक दर्शन का भी रोम में प्रचार था। रोम के अधिकांश गम्भीर स्वभाव वाले लोगों ने इसे ग्रहण किया था। स्टोइक दर्शन ने रोम के देवताओं तथा यूनान के बहुदेववाद के स्थान पर एक सार्वभौम "तर्क" का प्राधान्य बताया। इस "तर्क" को स्टोइक विचार-धारा के अनुसार दूसरा नाम 'विश्व आत्मा' भी मिला। संसार को स्टोइक लोगों ने दैवी और विचारशील समझा। मनुष्य के अन्दर 'दैवी तर्क' की स्फुलिङ्ग होने के कारण, उसे भी विचारशील समझना चाहिए। मनुष्य निस्सहाय और दुर्बल प्राणी नहीं है बल्कि वह दैवी तर्क से सम्बन्धित है। रोमन गणतन्त्र में स्टोइक दर्शन ने सभी मनुष्यों को एक दूसरे से सम्बन्धित बताया। स्टोइक दर्शन की इस विचारधारा ने कि मनुष्य के कर्तव्यों और उसके कानूनों का मूल स्रोत "दैवी तर्क" या प्रकृति के सार्वभौम नियम में है, रोम के विचारकों और और रोम की कानूनी विचारधारा को बहुत अधिक प्रभावित किया। सिसरो के ऊपर भी स्टोइक दर्शन का काफी प्रभाव था।

साहित्य के क्षेत्र में रोमनों ने कोई मौलिकता नहीं दिखाई। उन्होंने प्रायः यूनानी साहित्य का अनुकरण ही किया। संस्कृति के लगभग समस्त तत्वों को रोमनों ने यूनानियों से ग्रहण किया। सुप्रसिद्ध कवि होरेस ने भी कहा है कि संस्कृति के क्षेत्र में यूनानियों ने विजेता रोमनों को पराजित कर दिया। रोमन गणतन्त्र के प्रारम्भ में जो साहित्य रचा गया वह उत्कृष्ट नहीं है। केवल होमर के ओडीसी और इलीयड के अनुवाद ही किये गये और किसी मौलिक साहित्य की सृष्टि नहीं की गई। कैटेलस (Catallus) (८७-५४ ईसवी पूर्व) रोम का प्रसिद्ध कवि था। उसका गीत काव्य लैटिन भाषा की मृदुता और विशुद्धता के लिए विख्यात था। उसके सम्मुख यूनान की प्रसिद्ध कवियित्री सेफो तथा एलकेयस का नमूना था और उसने उसके आधार पर ही कवितायें लिखी हैं, इसलिए उसके भावों में मौलिकता नहीं है। किन्तु जहाँ पर कवि के भाव उसके हृदय के अन्तरतम प्रदेश से निकले हैं, वहाँ पर उसका काव्य अनूठा, आकर्षक और मर्मस्पर्शी बन पड़ा है। उसने अपनी प्रेयसी लेस्बिया को अपने [illegible] अमर कर दिया है। रोमन गणतन्त्र में एक ऐसा भी कवि उत्पन्न हुआ जिसने अपनी मौलिकता, बुद्धिमत्ता एवं दृष्टिकोण की नैतिकता के कारण संसार के प्रमुख कवियों में अपना एक गौरव पूर्ण स्थान बना लिया है। उस कवि का नाम है ल्यूक्रेटियस (Lucretius)। उसका लक्ष्य महान था। वह अपनी रचनाओं द्वारा लोगों के मस्तिष्क से अन्धविश्वास और मृत्यु का भय निकाल देना चाहता था। उसकी कविताओं में स्थान-स्थान पर उसका नैतिक उत्साह अभिव्यक्त हुआ है। उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "डी रेरम नेचुरा" में सभ्यता के विकास का जो वर्णन किया है वह बड़ा ही स्वाभाविक एवं वैज्ञानिक है। यह वर्णन इतना यथार्थ है कि आस्बार्न नामक लेखक ने अपने सुविख्यात ग्रन्थ "ओल्ड स्टोन एज" में ल्यूक्रेटियस के विचारों को विस्तार के साथ उद्धृत किया है। आधुनिक खोजों के द्वारा हमें मनुष्य के प्रागैतिहासिक जीवन के विषय में जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त हुआ है वह ल्यूक्रेटियस के वर्णनों से आश्चर्यजनक रूप में मिलता जुलता है। कदाचित किसी भी अन्य लेखक में कल्पना और बुद्धि की उत्कृष्टता, वैज्ञानिक निरीक्षण की प्रवृत्ति और अपने लक्ष्य से अनुप्राणित नैतिक उत्साह की भावना, इन सब गुणों का एकत्र समन्वय मिलना दुर्लभ है। उसकी कवित्व सम्बन्धिनी श्रेष्ठता भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। उसकी रचनाओं में भावों की तीव्रता, वर्णनों की सजीवता एवं प्रकृति के प्रति अनुरागमयी भावना सम्यक रूपेण परिलक्षित हुई है।

नाटककारों में टेरेन्स और प्लोटस के नाम उल्लेखनीय हैं। रोम में दुखान्त नाटकों की रचना नहीं हुई, सुखान्त नाटक ही लिखे गये। टेरेन्स नामक नाटककार ने यूनानी (हेलिनिस्टिक) नाटकों का अनुकरण किया है। प्लोटस के

नाटक प्यूनिक युद्ध के समय लिखे गये थे। उसने लगभग बीस नाटकों की रचना की थी। उसके Menaechmi नाटक का अनुकरण शेक्सपीयर ने अपने "काँमेडी आव एरर्स" में किया है। प्लेटस न तो कोई कुशल साहित्यिक कलाकार था और न गम्भीर विचारक। उसकी भाषा अनलंकृत थी। उसकी रचनाओं में नाटक सम्बन्धी दोष बहुत अधिक हैं। फिर भी उसकी सम्वाद-कुशलता, मानव जीवन के यथार्थ वर्णन, लैटिन भाषा पर उसके अधिकार एवं उसकी भाषा की सशक्तता के कारण उसके नाटक सभी कालों में पठनीय हैं। टेरेन्स प्लेटस की अपेक्षा कम मौलिक था किन्तु वह एक कुशल नाटककार था। उसने अपने नाटकों में अपने समकालीन रोम का नहीं अपितु एथेन्स के जीवन का चित्रण किया है। अपने पात्रों में उसने अधिक मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता प्रदर्शित की है और उसके पात्रों में प्लेटस के पात्रों की अपेक्षा व्यवहारकुशलता तथा शिष्टाचार के नियमों की अभिज्ञता अधिक है। टेरेन्स ने मानव मनोभावों की गहराई और सूक्ष्मता को समझने में अधिक सफलता प्राप्त नहीं की है।

रोमन गणतन्त्र के समय में गद्य-साहित्य की श्रीवृद्धि भी हुई। इस क्षेत्रमें सिसरो का नाम अग्रगण्य है। सिसरो ने पत्र-लेखन की प्रणाली का सूत्रपात किया। उत्कृष्ट और सजीव भाषा में उसके द्वारा लिखे गये पत्र आज भी हमारे सम्मुख उसके समकालीन जीवन का दृश्य समुपस्थित कर देते हैं। वह एक कुशल व्याख्यानदाता था किन्तु उसका प्रमुख गौरव इसी बात में है कि उसने लैटिन भाषा को विविध-विचारों का वाहन बनाया। वह एक गम्भीर एवं सूक्ष्म विचारक नहीं था किन्तु उसको यह भली-भाँति मालूम था कि भाषा एवं शैली को किस प्रकार आकर्षक बनाया जाता है और विचारों को कैसे मर्मस्पर्शी बनाना चाहिए। उसके निबन्धों में सुसंस्कृत अभिरुचि, श्रेष्ठ भावनाओं और सद्विचारों का सुन्दर समन्वय है। वह बड़ा ही अध्ययनशील व्यक्ति था। वह दिन रात भाँति भाँति की पुस्तकों के अध्ययन में व्यस्त रहा करता था। राजनीति से अवकाश प्राप्त कर लेने पर सिसरो ने सम्वाद-शैली में कई दार्शनिक पुस्तकें लिखीं। किन्तु उसके दार्शनिक विचार मौलिक नहीं थे। उसने यूनानी दार्शनिकों के विचारों का एक संकलन सा किया है और उसने उन विचारों को लैटिन भाषा के द्वारा रोमनों के सम्मुख रखने का प्रयास किया है। रोमन गणतन्त्र के प्रसिद्ध अधिनायक जूलियस सीजर ने "गैलिक युद्धों" के नाम से एक इतिहास ग्रन्थ लिखा। इस पुस्तक में उसने गाल पर किये गये अपने आक्रमणों का वर्णन किया है। पुस्तक में सात अध्याय हैं। अपने गैलिक कार्यों के साथ साथ सीजर ने अपने विजित प्रदेशों के निवासियों और उनकी संस्कृति के विषय में भी लिखा है। सीजर की भाषा सरल और कठोर है। उसने अपने ग्रन्थ में अपना उल्लेख सर्वत्र अन्य पुरुष में ही किया है। "सीजर ने आक्रमण किया—सीजर बोला" आदि। उसने "आन द सिविल वार" में अपने जीवन के अन्तिम दिनों में रोम की स्थिति का वर्णन किया है।

रोमन गणतन्त्र का आर्थिक जीवन कृषि पर केन्द्रित था। रोम में हल उतना ही आवश्यक था जितना उसके लिए तलवार का महत्व था। जैसे-जैसे रोम के गणतन्त्र की भौगोलिक सीमायें अधिक विस्तृत होती गई कृषि का महत्व उतना ही बढ़ता गया। कृषि-कार्य ही रोम का मेरुदण्ड बन गया। कई विभिन्न देशों और सुदूर प्रान्तों में रोम के गणतन्त्र का अधिकार होने के कारण भाँति-भाँति की वस्तुयें उत्पन्न की जाती थीं। अन्नों में गेहूँ, जौ, एक प्रकार की मटर तथा बाजरा साधारण फसलें थीं। विविध प्रकार के तरकारियों की उपज होती थी जिसमें प्याज, लहसुन, गाजर और चुकन्दर प्रमुख थीं। फलों में अंगूर की उत्पत्ति सर्वत्र होती थी और सेब भी बहुतायत से होती थी। जैतून की खेती रोम वालों ने यूनानियों से सीखी थी। खेती के काम में रोम वाले गदहों और बैलों का प्रयोग करते थे। उन्होंने हल में कोई विशेष सुधार नहीं किया था। अन्न को एक स्थान से दूसरे स्थान से ले आने और ले जाने के लिए रोमवासियों ने एक साधारण प्रकार की गाड़ी बनाना सीख लिया था। वे पशु पालन भी करते थे। बकरी और गाय से दूध प्राप्त करते थे। रोम वालों के भोजन में निरामिष तत्वों का प्राधान्य था।

आर्थिक जीवन

व्यापार तथा उद्योग-धन्धे

रोम के गणतन्त्र में खेती की जितनी उन्नति हुई उतनी उद्योग-धन्धों और व्यापार की नहीं हो सकी। दूर देशों को अपने अधीन कर लेने पर रोम वाले उन देशों से होने वाले व्यापारिक और औद्योगिक लाभों की ओर कम ध्यान देते थे। इसका कारण यही था कि रोम वालों के अन्दर व्यापार और उद्योग धन्धों के प्रति घृणामयी भावना थी। जब कि भूमि का स्वामी होना वे आभिजात्य व्यक्ति के लिए परम आवश्यक समझते थे, व्यापार करना वे उसके गौरव के विरुद्ध समझते थे। औद्योगिक नगरों के कोलाहलमय जीवन की अपेक्षा गाँवों के शान्तिपूर्ण जीवन में उन्हें अधिक आनन्द मिलता था। रोम एक विख्यात नगर था किन्तु उसकी जनसंख्या कभी भी पाँच लाख से अधिक नहीं हो सकी। रोम सिकन्दरिया की भाँति पश्चिमी जगत की व्यापारिक और औद्योगिक राजधानी न हो सका।

सामाजिक जीवन

रोमनों का सामाजिक जीवन उनकी परिवार-प्रथा के ऊपर आधारित था। उन्होंने अपने पारिवारिक जीवन के सम्यक् संचालन के लिए बड़ी ही सुन्दर व्यवस्था की थी। उन्होंने आज्ञापालन के भावों को परिवार के प्रत्येक प्राणी के लिए आवश्यक बताया। एक रोमन परिवार के सभी सदस्य अपने वयोवृद्ध व्यक्ति की आज्ञाओं को सहर्ष शिरोधार्य करते थे। परिवार के सब से बड़े बूढ़े व्यक्ति के अधिकार अपने क्षेत्र में असीमित थे। रोमनों के अन्दर आज्ञाकारिता के भाव उनकी परिवार-प्रथा के ही कारण उत्पन्न हुए थे।

रोम के समाज में स्त्रियों को उच्च स्थान प्राप्त था। यूनान की स्त्रियों की भाँति वे पर्दे के भीतर नहीं रक्खी जाती थीं अपितु उनको सार्वजनिक कार्यों एवं उत्सवों को देखने का अधिकार प्राप्त था। वे शिक्षा भी प्राप्त कर सकती थीं। रोम की नारी अपने गृह की स्वामिनी थी। बच्चों के पालन-पोषण तथा उनकी शिक्षा का उत्तरदायित्व उसी के ऊपर था। अपने पति के कार्यों में वह कभी-कभी हाँथ बँटाया करती थी। समाज के सभी लोग उसको सम्मान की दृष्टि से देखते थे। जब कभी वे राजपथों पर दिखलाई पड़ती थीं लोग उनको रस्ता देने के लिए सदैव सजग हो जाया करते थे।

अपने मनोरञ्जन के साधनों के विषय में रोमनों की रुचि यूनानियों की भाँति परिष्कृत नहीं थी। इस बात में वे मिस्र और बेबीलोनिया वालों से भी पीछे थे। द्वन्द्व प्रतियोगितायें, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, रोम वासियों का मनोरञ्जन करती थीं। नाटक, संगीत तथा नृत्य आदि का प्रचार उन लोगों में बहुत कम था। रोमन गणतन्त्र का विस्तार होने पर समाज में आर्थिक वैषम्य भी बहुत अधिक बढ़ गया और सारा धन शासनाधिकारियों के हाथों में केन्द्रित होने लगा। वे अपने धन का बहुत अधिक दुरुपयोग करते थे किन्तु दास प्रथा रोम में अपने सबसे भद्दे रूप में थी। रोम वाले अपने दासों के साथ क्रूर और दयाशून्य व्यवहार करते थे। दास जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के उपभोग से भी वंचित किये जाने पर यन्त्रणामय जीवन ही व्यतीत करते थे। यदि हम इस बात को अपने ध्यान में रखकर उनके (रोमनों के) चरित्र का मूल्यांकन करें तो वे हमें बड़े असभ्य ही लगेंगे। रोमनों के समाज में मानव की असमानता के कारण असंख्य मानव रोया करते थे। कवि की यह उक्ति "कि मनुष्य की मनुष्य के प्रति अमानवीयता असंख्य मनुष्यों को रुलाती है"[१] उनके समाज पर चरितार्थ होती है।

वास्तु कला

कलाओं के क्षेत्र में रोम वासियों की कोई मौलिक देन न थी। भवन निर्माण के क्षेत्र में उन्होंने पहले एट्रस्कन वालों और बाद में यूनानियों की नकल की। पहले पहले वे मन्दिरों का निर्माण ही करते थे, बाद में उन्होंने aqueducts, amphitheatres और basilicas बनाना भी सीख लिया। राजमार्गों के निर्माण और सुधार पर रोमनों ने विशेष ध्यान दिया था। उन्होंने सिकन्दरिया नगर की भांति अपने नगरों में भी सड़कों का निर्माण कराया। रोम वाले सीधी और चौड़ी सड़कें बनवाना अधिक पसन्द करते थे। संकीर्ण या टेढ़ी सड़कें नहीं। लेकिन सड़कों के निर्माण में रोमवासियों ने जो

---

१ "Man's inhumanity to man"
Makes countless thousands mourn

निपुणता दिखाई वह यूनान वालों ने नहीं दिखाई थी। उन्होंने जो पहली सड़क विया अपिया नाम की बनवाई थी उस पर से आज भी दो हजार वर्षों से अधिक बीत जाने पर व्यापारी अपने सामान के भारी बोझों का गमनागमन कर सकते हैं। यह सड़क रोम से लेकर दक्षिण में समुद्र तक फैली थी।

स्थापत्य और चित्रकला के क्षेत्र में रोमवासियों ने यूनान का अनुसरण करना ही पर्याप्त समझा। वस्तुतः उन्होंने जिस स्थापत्य एवं चित्रकला को जन्म दिया वह यूनानी स्थापत्य और चित्रकला की अनुकृति मात्र थी। उनकी चित्रकला पर मिस्री चित्रकला का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। रोमन लोग अपने मृत पुरुषों की शव-यात्रा के साथ में अपने पूर्वजों के मोम निर्मित चित्र भी ले चलते थे जिससे मूर्तियों की काफी माँग थी। इस कारण मूर्तिकला को अवश्य कुछ प्रोत्साहन मिला होगा। इसके अतिरिक्त रोम के वीर और प्रख्यात पुरुषों की प्रतिमायें भी नगरों के प्रमुख स्थानों पर रक्खी जाती थीं जिससे कलाकारों की स्थापत्य की ओर अवश्य विशेष अभिरुचि उत्पन्न हुई होगी। इन मूर्तियों और रोमन गणतन्त्र के काल में निर्मित अन्य प्रतिमाओं में जो सजीवता और यथार्थता है उसका यूनानी स्थापत्य में अभाव था। रोमनों की चित्रकला के हमें अधिक नमूने नहीं मिलते जिससे हम उसका यथार्थ मूल्याङ्कन कर सकें।

स्थापत्य एवं चित्रकला

साम्राज्यवादी रोम

सीजर की मृत्यु के बाद शासन-सूत्र आक्टेवियन ने अपने हाथों में ग्रहण किया। उसने अपने प्रतिद्वन्द्वियों, एन्टोनी और लेपिडस को पराजित किया और स्वयं सर्वसत्ताधारी बन बैठा। उसने सीनेट के अधिकारों को छीनने का कोई प्रयत्न नहीं किया अपितु उसने स्वेच्छापूर्वक स्वयं सीनेट को अधिकार प्रदान किया। सीनेट ने भी शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करने में अपनी विवशता का अनुभव करके आक्टेवियन को ही सेना-नायकत्व, और सीमाप्रान्तों का नियन्त्रण तथा एक Tribune की सारी शक्तियाँ दे दीं। वास्तविक रूप में आक्टेवियन एक सम्राट था। उसकी शक्ति का विरोध करने की शक्ति किसी में न थी। उसने "आगस्टस और प्रिन्सेप" की उपाधियाँ ग्रहण कीं तथा उसने अपनी शक्ति और प्रभुता का सिक्का लोगों पर पूरी तरह से जमाने के लिए कवियों को अपनी रचनाओं द्वारा सम्राट-पूजा के भावों को प्रसारित करने को कहा। उसके दरबारी कवि वरजिल ने यह कार्य सफलतापूर्वक किया और लोगों के हृदयों में सम्राट की दैवी उत्पत्ति तथा उसके दैवी अधिकारों के भाव उत्पन्न कर दिये।

शासन सत्ता ग्रहण कर लेने के उपरान्त आगस्टस ने शासन में कई महत्वपूर्ण सुधार किये। उसने सेना का नये सिरे से संगठन किया और सैनिकों की संख्या में भी अभिवृद्धि की। उसके समय में रोम की सेना में २२५,००० सैनिक थे। प्रान्तीय गवर्नरों की नियुक्ति के विषय में वह विशेष सजग था और उनकी नियुक्ति करते समय वह उन्हें अपने प्रान्तों की सुरक्षा और शान्ति का उत्तरदायित्व सौंप देता था। उसने स्वयं दो प्रान्तों को छोड़कर अन्य प्रान्तों का भ्रमण किया था और उसके बुद्धिमत्तापूर्ण शासन के अधीन रोमन प्रान्तों में समृद्धि और शान्ति के युग का प्रादुर्भाव हुआ। प्रान्तों के निवासियों ने अवश्य सम्राट के प्रति स्वामिभक्ति और आदर के भाव भी उत्पन्न हुये। आगस्टस के आर्थिक सुधार भी कम महत्वपूर्ण न थे। कर-संग्रह की प्रणाली में उसने ऐसा वांछनीय सुधार किया कि कर कम न करने पर भी लोगों को इस सम्बन्ध में कोई शिकायत न थी। रोमन गणतन्त्र की दूषित कर संग्रह प्रथा का उसने उन्मूलन किया। इस कार्य के लिए उसने सरकारी अफसर नियुक्त किये।

आगस्टस ने अपने युग की दूषित सामाजिक एवं नैतिक प्रवृत्तियों को रोकने के लिए कानून जारी किये। निस्सन्देह वह कानूनों का आश्रय ग्रहण करके अपने युग के नैतिक स्तर को उच्चतर करना चाहता था। उनकी यह भी प्रबल इच्छा थी कि वह रोमन नागरिकों में राष्ट्रीय सेवा एवं आज्ञा पालन के भाव उत्पन्न कर दे जिनका गणतन्त्र के पतन-काल में काफी ह्रास हो चुका था। यद्यपि आगस्टस स्वयं एक आदर्श नैतिक चरित्र का व्यक्ति नहीं था और उसका पारिवारिक जीवन भी श्रेष्ठ न था तथापि उसने रोम की ह्रासोन्मुखी परिवार-प्रथा को ही उसके नैतिक पतन

का कारण समझ कर इसे दूर करने का प्रयत्न किया। विवाह की अनिवार्यता बतला कर उसने परिवार को फिर से जीवित करने और शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया। इस सम्बन्ध में आगस्टस ने कई कानून जारी किये। उसने चरित्रहीनता के ही कारण ओविड नामक कवि को एवं अपनी पुत्री जूलिया को देश-निष्कासन का दण्ड दिया। किन्तु वह रोम में अपने इन प्रयत्नों में सफल नहीं हो सका। अपने जीवन के प्रारम्भ से ही उसने मनुष्य की आत्मा और बुद्धि का विकास करने वाली शिक्षा प्राप्त की थी। उसकी शिक्षा राजनीतिक एवं सैनिक विषयों तक सीमित न थी। स्वयं आदर्श नैतिक चरित्र न रखने के कारण वह अपनी प्रजा में इस प्रकार के भाव उत्पन्न न कर सका। उसकी राजसभा के कवि होरेस और वरजिल, जो उसके प्रबल समर्थक तथा उसके विचारों के प्रचारक थे, स्वयं अविवाहित थे। उसके कानूनों को जारी कराने वाले दो काउन्सल भी विवाहित नहीं थे। इन कारणों से केवल कानूनों के बल पर ही आगस्टस अपने देशवासियों के चरित्र को उन्नत न कर सका।

आगस्टस का शासन-काल (२७ ई० पू०-१४ ई०) रोमन संस्कृति का स्वर्ण युग कहा जाता है। इस समय रोम में कविता की अभूतपूर्व उन्नति हुई। आगस्टस स्वयं कवि था और कवियों का आश्रयदाता भी था। वह संसार के सबसे कुशल शासकों एवं राजनीतिक संगठनकर्ताओं में से था किन्तु उसका बौद्धिक स्तर भी काफी ऊँचा था। अपने जीवन के प्रारम्भ से ही उसने मनुष्य की आत्मा और बुद्धि का विकास करने वाली शिक्षा प्राप्त की थी। उसकी शिक्षा राज-नीतिक एवं सैनिक विषयों तक सीमित न थी। उसे दर्शन, महाकाव्य एवं नाटक से प्रेम था और कवियों के प्रति उसकी उदारता इतनी अधिक थी कि वह जहां कहीं भी जाता कविगण उसे घेरे रहते। उसके राजाश्रय ने ही साहित्य जगत को वर्जिल और होरेस प्रदान किया और अन्य अनेक कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा आगस्टस के शासन काल को काव्यमय बना दिया। इस युग की साहित्यिक प्रगति के कारण इसकी तुलना पेरीक्लीज और एलिजाबेथ के युगों से की जाती है किन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि आगस्टस का शासन काल इन युगों की भांति एक सृजनात्मक युग नहीं था। इस युग में काव्य शैली एवं भाषा को परिष्कृत तथा अलंकृत करने की ओर ही कवियों का ध्यान अधिक था, मानव मन की विभिन्न भावनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करने की ओर अपेक्षाकृत कम। काव्य का बाह्यरूप ही कवियों के लिये अधिक महत्वपूर्ण था, उसकी अन्तरात्मा उनके लिये गौण थी। इस प्रकार की रचनाओं में हमारे हृदयों को प्रभावित करने की शक्ति कम होती है। आगस्टस के राजाश्रय ने कवियों की काव्यशक्ति को सीमित एवं कुंठित भी किया। वे अपनी रचनाओं [illegible] विचारों को फैलाने की चेष्टा अधिक करते थे, अपने ही हृदय से स्वतः प्रसूत होने वाली भावनाओं को कविता के रूप प्रदान करने की ओर से वे प्रायः उदार न थे। इसके अतिरिक्त यूनानी साहित्य का अन्धानुकरण करने की प्रवृत्ति के कारण कवियों के अन्दर नवोन्मेषशालिनी और अपूर्ववस्तु-निर्माण प्रतिभा का विकास न हो सका। यही कारण है कि आगस्टस के युग में न तो हमें कोई यूरीपिडीज दिखलाई देता है न एस्काइलस। रोम के ही कवि ल्यूक्रेशियस की जोड़ का दूसरा कवि फिर रोम में उत्पन्न न हो सका। इस युग का मानव जीवन के साथ कोई प्रगाढ़ सम्बन्ध न था, इसलिये यदि हम इसे गोष्ठी साहित्य की संज्ञा दें तो कोई अनुचित न होगी। परन्तु यदि हम भाषा के परिष्कार और शृङ्गार तथा काव्य शैली के अलंकरण को देखना चाहते हों तो हमें आगस्टस युग के लैटिन साहित्य को पढ़ना चाहिये। होरेस, वर्जिल और ओविड ने लैटिन भाषा को काव्यमयी अभिव्यक्ति के रूप में प्रौढ़ता की चरम सीमा पर पहुँचा दिया। बाद में फिर कभी लैटिन भाषा में वह समृद्धि एवं मधुरता नहीं उत्पन्न हो सकी, जो हम इस युग के महत्वपूर्ण कवियों की रचनाओं में देखते हैं।

आगस्टस के द्वारा स्थापित किये हुये साम्राज्य की नींव सुदृढ़ थी। कुछ शासकों की उदासीनता और अकर्मण्यता साम्राज्य रूपी भवन को शीघ्र ढहा नहीं सकती थी। आगस्टस का साम्राज्य लगभग पाँच सौ वर्षों तक टिका रहा और अन्त में बर्बर आक्रमणों ने (४७६ ई०) इसका नाश कर दिया। आगस्टस की मृत्यु के बाद सम्राटों की शक्ति दिनोदिन बढ़ती ही गई। वे समस्त शक्ति और सत्ता के स्रोत समझे जाने लगे। रोम ने कई सुयोग्य सम्राटों को जन्म दिया

जिनके नाम इस प्रकार हैं—क्लेडियस (४१-५४ ई०), वेस्पेसियन (६६-७६ ई०), ट्राजन (६८-११७ ई०) और हेड्रियन (११७-१३८ ई०)। इसके प्रतिकूल रोम का इतिहास अत्याचारी एवं निरंकुश शासकों के कुकृत्यों से भी भरा पड़ा है। नीरो और कैलिगुला संसार के सबसे अधिक निकृष्ट और अत्याचारी शासकों में से थे। रोम के सम्राटों में मारकस अरिलियस का नाम सबसे अधिक विख्यात है। वह एक दार्शनिक था। उसने "मेडिटेशन्स" नामक एक पुस्तक लिखी है जिसमें उसके दार्शनिक विचार अभिव्यक्त हुये हैं। मारकस अरिलियस सादा जीवन व्यतीत करने वाला मनुष्य जाति का शुभचिन्तक सम्राट था। उसका व्यक्तिगत चरित्र शुद्ध था और अपने स्टोइक दर्शन के अनुसार वह "दैवी तर्क" के नियमों द्वारा ही अपने जीवन को संचालित करता था। शेक्सपीयर ने ब्रूटस के लिये "सभी रोमनों में सबसे श्रेष्ठ" जिस विशेषण का का प्रयोग किया है, उसे हम मारकस अरेलियस के लिये भी प्रयुक्त कर सकते हैं। वह शान्तिमय जीवन व्यतीत करने का पक्षपाती था और युद्ध से उसे हार्दिक घृणा थी। वह युद्ध को मकड़ियों, शिकारियों तथा डाकुओं के कार्यों की कोटि में रखता था। उसकी मृत्यु के बाद रोमन साम्राज्य का गौरव शनैः शनैः लुप्त होने लगा।

सन् १७४ ई० में रोम का साम्राज्य पूर्वीय और पश्चिमी साम्राज्यों में विभक्त हो गया। रोम के विशाल साम्राज्य में चारों ओर अशान्ति तथा असन्तोष के चिन्ह स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। सेना के सैनिकों के चरित्र तथा शौर्य में भी पतन होने लगा। डायोक्लीशियन नामक सम्राट ने (२८४-३०५ ई०) रोमन साम्राज्य के विगत वैभव को फिर से लौटाने की चेष्टा की और अपने को विशुद्ध और पवित्र सम्राट घोषित कर दिया। किन्तु उसकी निरंकुशता रोम में अधिक दिनों तक न टिक सकी और उसे सन् ३०५ ई० में रोम के राजसिंहासन को छोड़ना पड़ा। कान्स्टेन्टाइन ने भी रोम में अपने को पूर्ण निरंकुश सम्राट के रूप में दिखलाना चाहा। उसने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया और इस धर्म के प्रसार का प्रयत्न करने लगा। ३३७ ई० में कान्स्टेन्टाइन की मृत्यु हो गई। इसके बाद दिन प्रति दिन रोमन साम्राज्य की अवस्था गिरती ही गई और सन् ४७८ ई० में रोम के साम्राज्य का विनाश हो गया।

साम्राज्यवादी रोम की सभ्यता

आर्थिक जीवन

रोमन साम्राज्य की सीमा का विस्तार हो जाने से और आगस्टस के शान्ति एवं सुव्यवस्था कर देने से रोम में आर्थिक समृद्धि के युग का सूत्रपात हुआ। दूर दूर के प्रान्तों से कर के रूप में अपार धन रोम में आने लगा और व्यापार की भी वृद्धि हुई। रोमन साम्राज्य की प्रारम्भिक दो शताब्दियों का समय रोम के इतिहास का सबसे समृद्ध युग कहा जाता है। प्राचीन सभ्य संसार का एक बहुत बड़ा भाग एक ही शासन व्यवस्था के अधीन हो जाने से विभिन्न देशों में एक सुदृढ़ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गया।

कृषि

इस समय भी कृषि ही रोम के आर्थिक जीवन की आधार-भूमि थी। रोमनों ने कृषि प्रणाली में कोई महत्वपूर्ण मौलिक सुधार नहीं किया किन्तु सारे साम्राज्य में शान्ति स्थापित हो जाने से कृषि और व्यापार की अवस्था में परिवर्तन अवश्य हुआ। वनों को काटकर और दलदली भूमि को सुखा कर कृषि योग्य भूमि प्राप्त करने का प्रयास किया गया। ब्रिटेन, गाल, राइनलैण्ड और डेन्यूब नदी की घाटी में वन-प्रदेशों के वृक्षों को लोगों ने काट डाला और उनको कृषि योग्य बना दिया। उत्तरी अफ्रीका के मरुस्थल तक में खेती की जाने लगी और एक बहुत बड़ी जनसंख्या कृषि की उपज पर अपनी जीविका निर्वाह के लिये अवलम्बित रहने लगी। सभी स्थानों में जैतून के कुंज दिखाई पड़ने लगे। इटली और यूनान के ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि के अत्यधिक कटाव के कारण कृषि की अवस्था शोचनीय थी किन्तु अन्य स्थानों में खेती इतनी उन्नत और समृद्ध अवस्था में थी कि वहां के लोगों को भोजन के कष्ट का अनुभव नहीं होता था।

साम्राज्यवादी रोम में खेती गुलामों द्वारा नहीं कराई जाती थी बल्कि स्वतन्त्र कृषक और कोलोनी

लोग इसे करते थे। ये कोलोनी न तो स्वतन्त्र नागरिक थे और न दास थे। वे मध्ययुग के serfs से इस बात में मिलते थे कि वे कृषि पर ही निर्भर थे। उनका समाज में निम्नतम स्तर था और वे थोड़े से पारिश्रमिक पर घन्टों तक कठिन परिश्रम किया करते थे। रोम में साम्राज्यवादी विजयों के फलस्वरूप भूमि के स्वामित्व और वितरण में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये। बहुत सी विजित भूमि पर राज्य का अधिकार था। मध्यवर्ग के छोटे भूपति बड़े-बड़े भूपतियों की बराबरी नहीं कर सकते थे। राज्य भी बड़े भूपतियों को ही अधिक सहयोग और सहायता प्रदान करता था इसलिये छोटे भूपतियों को अपनी भूमि बड़े जमींदारों को दे देनी पड़ती थी। छोटे छोटे स्वतन्त्र कृषकों की संख्या दिनानुदिन घटती ही गई। धनिकों के हाथ में अधिकांश भूमि का स्वामित्व चला गया और सीनेट के जिन सदस्यों को उनके राजनीतिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया था वे भी भूमि पर ही अपना अधिकार जमा कर अपना जीवन निर्वाह करते थे।

कृषि-प्रणाली में रोमनों ने बाद में कुछ सुधार किये। उन्होंने कृत्रिम तरीकों से भूमि की उर्वरता बढ़ाना सीख लिया। वे इस कार्य के लिये चूने और खाद का प्रयोग करते थे। उर्वर भूमि के उपजाऊपन को स्थिर रखने के लिये वे फसलों के हेर-फेर की प्रणाली का प्रयोग करते थे। दाल के और अन्य हरे पौधों को उत्पन्न कर उन्हें भूमि में ही मिला कर भी वे भूमि को उपजाऊ बनाते थे। खेती के कामों के लिये घोड़ों, गधों और बकरों को पालते थे। अंगूर, अंजीर तथा जैतून आदि फलों और जौ, बाजरा, गेहूँ आदि अनाजों की उपज खूब होती थी।

रोमन गणतन्त्र के शासन में व्यापार की अधिक उन्नति न हो सकी थी किन्तु इस काल में शान्ति स्थापना और विशाल राजमार्गों का निर्माण हो जाने के कारण बाह्य और आन्तरिक व्यापार की काफी उन्नति हुई। सिक्कों के एक समान हो जाने और चुँगी की दर से भी व्यापार को काफी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। भोज्य-पदार्थों का व्यापार काफी बढ़ गया और बेल्जियम में उत्पन्न होने वाला hams इटली तक भेजा जाता था। भूमध्य सागर के तटवर्ती नगरों में जो मछलियाँ पकड़ी जाती थीं उनका निर्यात लगभग समस्त पाश्चात्य जगत में किया जाता था। आल्प्स की झीलों में पकड़ी जाने वाली ताजी मछलियाँ रोम के बाजारों में बिकती थीं। अन्न रोम के सैनिकों की आवश्यकता के लिए, राइनलैण्ड तक भेजा जाता था। नमक, चूने, भवन-निर्माण की सामग्रियाँ, सोना, चाँदी, ताँबा, टीन और लोहे आदि वस्तुओं की माँग बहुत अधिक बढ़ गई। ऊन और ऊनी कपड़ों का व्यापार काफी होने लगा। सुदूर-पूर्व से विलास सामग्रियाँ बहुत बड़े परिमाण में रोम में आती थीं। भारत से मसाले, बढ़िया सूती और मलमल के वस्त्र, हाथी दाँत की बनी हुई सुन्दर वस्तुयें, तथा रेशमी वस्तुयें रोम में भेजी जाती थीं और रोम का बहुत अधिक धन भारत में खिंचा चला आता था। चीन से रोमवासी बहुमूल्य रेशम प्राप्त करते थे।[1] सीरिया के अरबों से कुछ बहुमूल्य मसाले रोम प्राप्त होते थे। बाल्टिक के तटों से जर्मनी तक अम्बर लाया जाता था और इस निरर्थक पदार्थ के लिये जर्मनों को जो मूल्य मिलता था उससे वे आश्चर्य चकित होते थे। बेबीलोनिया की दरियों (गलीचों) और अन्य पूर्वी वस्तुओं की बहुत अधिक माँग थी, परन्तु विदेशी व्यापार प्रमुखतया अरब और भारत से होता था।[1] यह एक स्मरण रखने की बात है कि विदेशी व्यापार से रोम को हानि ही अधिक होती थी लाभ बिल्कुल नहीं, क्योंकि रोम आयात अधिक करता था निर्यात बहुत ही कम और रोम की यह आर्थिक पराश्रयापेक्षिता अन्त में उसके पतन का एक महत्वपूर्ण कारण प्रमाणित हुई।

व्यापार

रोमन साम्राज्य की सीमा का विस्तार हो जाने के कारण उद्योग धन्धों का भी बहुत अधिक विकास हुआ। साम्राज्य भर में सर्वत्र छोटी-छोटी दूकानें थीं जिनमें मिट्टी की वस्तुएं, कांसे के बर्तन, सोने तथा चांदी की मूर्तियां, शीशे की वस्तुयें तथा मेज कुर्सी आदि वस्तुयें बनाई जाती थीं। इन विकसित उद्योगों के अतिरिक्त कसाई, सुनार, रंगरेज, राजगीर, नाऊ, तथा चमड़ा बनाने वालों के उद्योग भी

उद्योग धन्धे

[1] Gibbon—"Decline and Fall of the Roman Empire"

प्रचलित थे। औद्योगिक संघ थे किन्तु उनका उद्देश्य अधिकांश रूप में धार्मिक और सामाजिक ही था, औद्योगिक नहीं। रोमन साम्राज्य में औद्योगिक कलाकारों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता बिल्कुल ही प्राप्त न थी। उनके ऊपर भांति-भांति नियन्त्रण लगाये जाते थे जिससे उनकी कार्य कुशलता का भी ह्रास होता था।

रोमन साम्राज्य के आर्थिक जीवन का यह संक्षिप्त अध्ययन हमारे सामने रोम की आर्थिक स्थिति का ऐसा चित्र उपस्थित करता है जिसे देखकर हम सरलतया जान लेते हैं कि रोम आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी न था। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि रोम के आर्थिक जीवन की अपेक्षा प्राचीन मिस्र, सुमेरिया या किसी अन्य प्राचीन देश का आर्थिक जीवन कहीं अधिक विकसित था। न तो रोम के नागरिक ही व्यापार और उद्योग धन्धों की ओर ध्यान देते थे और न रोम की सरकार ही रोम के आर्थिक और औद्योगिक विकास की कोई विशेष आवश्यकता समझती थी। रोम के नागरिक व्यापार और उद्योग धन्धों से घृणा करते थे और जब कभी औद्योगिक कार्यों से कोई व्यक्ति अधिक धन उपार्जित कर लेता था तो सरकार अविलम्ब ही उसे छीनने का प्रयत्न करती थी। बैंकों इत्यादि की कोई समुचित व्यवस्था न थी। जिस समय रोमन साम्राज्य अपनी आर्थिक समृद्धि की पराकाष्ठा पर था उस समय भी उसका व्यापार उतना विकसित नहीं था जितना कि वर्तमान न्यूयार्क नगर के किसी बड़े बैंक का व्यापार है।

रोमन गणतन्त्र के पतन-काल में रोम के सुदीर्घ गृह युद्धों के फलस्वरूप चारों ओर अशान्ति और अव्यवस्था सी फैल गई थी। अन्य प्रान्तों से रोम में पर्याप्त धन आता था जो शासक वर्ग तथा उच्च वर्ग के लोगों को प्राप्त होता था। धन के आधिक्य ने उच्च वर्ग के लोगों को परोपजीवी, निर्बल, कामुक एवं मदान्ध कर दिया। उनके सम्मुख

सामाजिक अवस्था

जीवन का कोई महान या उदात्त लक्ष्य न था। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण नितान्त भौतिकवादी था। अर्थलोलुपता और विलास प्रियता उनके चरित्र की 'विशेषतायें' थीं। यदि हम साहित्य को किसी युग विशेष की मनोभावनाओं और विचारधाराओं का दर्पण मानें तो साम्राज्यवादी रोम के गीत-काव्यों को पढ़ने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस समय रोम के लोगों के लिये इन्द्रियपरता ही जीवन की सर्वोत्कृष्ट वस्तु थी। समाज के उच्च स्तर के लोगों का नैतिक चरित्र अत्यन्त गिरा हुआ था। स्त्रियों के अन्दर सतीत्व-रक्षा और पातिव्रत असाधारण गुण समझा जाता था क्योंकि अधिकांश स्त्रियाँ अपने नैतिक चरित्र को विशुद्ध एवं आदर्श रखने के लिये सचेष्ट न थीं। उनके अन्दर भी पारिवारिक अथवा सामाजिक उत्तरदायित्व के भाव नहीं रह गये और समाज में उनका वह गौरवमय तथा सम्मानपूर्ण स्थान नहीं रह गया जो रोम के प्रारम्भिक समाज में नारियों को प्राप्त था। तलाक, अनुचित प्रेम, सन्तानहीनता की कामना एवं निरादर्श दाम्पत्य जीवन ने रोम की सामाजिक शक्ति को खोखला कर दिया। जैसा कि बताया जा चुका है कि आगस्टस ने कानून द्वारा इन गर्हणीय बातों को रोकने की चेष्टा की थी किन्तु उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। उसके शासन काल के उपरान्त रोम में नैतिक पतन का यह स्रोत अबाधित गति से प्रवाहित होता रहा और रोम के प्रारम्भिक जीवन के पवित्र प्रवाह को गंदला और दूषित कर दिया।

अर्थलोलुपता और जीवन के प्रति निरुद्देश्यता की भावना केवल उच्च कहे जाने वालों तक ही सीमित न थी वरन् समाज के सभी लोग "येन केन प्रकारेण" धन प्राप्त करने के लिए अहर्निश चिन्तित रहा करते थे। धन के असमान वितरण ने साधारण लोगों के जीवन को कष्टमय बना दिया था। अधिकांश लोग बेकारी का जीवन व्यतीत करते थे क्योंकि उन्हें कोई व्यवसाय कठिनता से ही प्राप्त हो सकता था। उन्हें अशनाच्छादन की कोई सन्तोषजनक सुविधा प्राप्त नहीं थी। उनकी प्राण-रक्षा का भी पुलीस की ओर से कोई विशेष प्रबन्ध न था। सरकार ने उनकी दशा को सुधारने का प्रयत्न किया किन्तु इस कार्य में कोई सफलता नहीं मिली। रोम का यह सामाजिक वैषम्य उसके पतन का एक महत्वपूर्ण कारण सिद्ध हुआ।

यह बतलाया जा चुका है कि रोमन गणतन्त्र के अन्तिम दिनों में रोम के अपने धर्म का ह्रास होने लगा था। आगस्टस ने इस धर्म को फिर से प्रचलित करने के लिये कानून जारी किये। उसने इटली के प्राचीन देवताओं की उपासना पर जोर दिया और स्थानीय देवताओं की आवश्यकता बतलाई। उसने अपने साम्राज्य में कई मन्दिर भी बनवाये और पुरोहितों को नियुक्त किया। इसके अतिरिक्त आगस्टस ने लोगों के हृदयों में सम्राट-पूजा के भाव उत्पन्न करने के लिए लोगों की धार्मिक भावना को राज्य और सम्राट के साथ सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया। चूँकि यूनानी दर्शन की यह धारणा रोम में काफी फैल गई थी कि मनुष्य के अन्दर दैवी स्फुलिंग वर्तमान है इसलिए आगस्टस को लोगों ने महामानव या अर्ध-देवता मानने में आपत्ति नहीं की। उसके व्यक्तित्व को रहस्यवादिता के आवरण से ढँक दिया गया। उसे अपोलो का अवतार समझा जाने लगा। इस रूप में लोग उसे प्रकाश एवं शान्ति का उत्पादक समझने लगे। उसे लोग यह भी समझने लगे कि वही संसार में सभ्यता और समृद्धि लाने वाला है। सम्राट के सम्मान में स्थान-स्थान पर उत्सव इत्यादि हुआ करते थे। इस प्रकार की धार्मिक भावना कृत्रिम थी और इसका एक राजनीतिक उद्देश्य था।

धर्म

रोम में अधिक दिनों तक आगस्टस के द्वारा चलाई हुई धार्मिक भावना टिक न सकी। उसकी मृत्यु के बाद शनैः शनैः इसका लोप होना आरम्भ हुआ और पूर्व के धर्मों का रोम में प्रचार बढ़ा। इन धर्मों में जूडाइज्म (यहूदी धर्म) भी एक था। यहूदियों ने बड़े जोश और उत्साह के साथ अपने धर्म का प्रचार करना आरम्भ किया और उन्हें अपने कार्य में सफलता भी मिली। ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्त से ही रोम और इटली में बहुत से लोगों ने यहूदी धर्म ग्रहण कर लिया। परन्तु रोम में एक कानून पास कर दिया गया जिससे अयहूदियों का यहूदी धर्म स्वीकार करना अनुचित और अवैध करार कर दिया गया।

रोम में फारस के मिथ्र-धर्म का भी खूब प्रचार हुआ। ईरान के धर्म में तो मिथ्र को अहुरमज्दा का सेवक समझा जाता था किन्तु पश्चिमी जगत में उसको समस्त प्रकाश और सत का स्रोत समझा जाने लगा। मिथ्र धर्म में रोम में प्रचलित अन्य धर्मों की कामपरता और हिंसात्मकता का समावेश नहीं था। यह लोगों को असत् और अन्धकार की शक्ति अहिरमन के विरुद्ध संघर्ष करने के लिये प्रकाश और सत की शक्ति अहुरमज्दा का साथ देने का अनुरोध करता था। मिथ्र समाज के सभी लोगों का, चाहे वे निर्धन रहे हों अथवा धनवान, देवता था। वह दुखियों और उत्पीड़ितों को सन्तोष और सान्त्वना प्रदान करने वाला समझा जाता था। ईरान में ही मिथ्र की उपासना रहस्यमयी धार्मिक क्रियाओं के साथ संयुक्त कर दी गई थी, रोम में इस प्रकार की क्रियाओं का और अधिक प्रचलन हुआ। मिथ्र-सम्प्रदाय को मानने वाले से यह आशा की जाती थी कि वह यज्ञ में बलिदान किये जाने वाले पशु का मांस खा सकेगा और उसका रक्त भी पी सकेगा। यह रहस्यवादी धार्मिक क्रिया मनुष्य की आध्यात्मिक परिशुद्धि की प्रतीक थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मिथ्र धर्म लोगों के सम्मुख आचार का एक उन्नत आदर्श उपस्थित करता था। यह लोगों को अवांछनीय वस्तुओं और कार्यों से दूर रहने का नकारात्मक उपदेश ही नहीं देता था अपितु उन्हें सदैव श्रेष्ठ कार्यों को करने के लिये प्रेरित एवं प्रोत्साहित करता था। अतः इस उन्नत नैतिक विचारधारा के कारण रोम में मिथ्र धर्म ईसा मसीह के धर्म का प्रबल प्रतिद्वन्दी हो गया।

ईसा की दूसरी शताब्दी में रोम में रहस्यात्मक विचारधाराओं और अन्धविश्वासों की एक बाढ़ सी आ गई। शिक्षित वर्ग के लोग भी अपशकुनों, स्वप्नों, भविष्यवाणियों और बलिदान के पशुओं के जिगर को देखकर भविष्य बतलाने की क्रिया में विश्वास करते थे। जादूटोनों और मन्त्रों का बहुत अधिक प्रचार हुआ। प्लूटार्क ने अपने लेखों में इन अन्धविश्वासपूर्ण क्रियाओं का जो प्रबल विरोध किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका रोम में बहुत अधिक प्रचार था। लेखक भी इनके प्रभाव से मुक्त न थे। रोम के प्रसिद्ध इतिहासकार टैसीटस के ऊपर इन विचारों का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है और प्लिनी नाम के दोनों लेखक स्वप्न इत्यादि में विश्वास करते थे। स्यूट-

केलिया काल में पूजा करने वाले अपने शरीर को बकरे के रक्त से रंग लेते थे और सड़कों पर नाचा करते थे। वे स्त्रियों को खाल के टुकड़ों से छू कर उनके बन्ध्यापन को दूर करते थे। १७ दिसम्बर से २३ दिसम्बर तक सेचुरनेलिया (Saturnalia) का उत्सव मनाया जाता था। इस उत्सव में नृत्य आदि होते थे और मोमबत्तियाँ जलायी जाती थीं। सिबेली जो "देवताओं की महीयसी माता" समझी जाती थी, उसकी पूजा में हिन्सात्मक क्रियाओं का अत्यधिक समावेश था। पवित्र वृक्षों के नीचे वेदियाँ बनाई जाती थीं और लोग ढोल, बाँसुरी तथा मजीरा बजा बजा कर उन्मत्त होकर नाचते थे और ऐसा करने से वे अपने लक्ष्य को प्राप्त करने की आशा करते थे। वे लोग अपने शरीर को स्वयं आहत कर लेते थे और जब वे नाचते नाचते बिल्कुल थक जाते थे तो पृथ्वी पर गिर पड़ते थे और उनके शरीर से रक्त की धार बह निकलती थी।

ईसा की दूसरी शताब्दी में ही जहाँ एक ओर अन्धविश्वासों से परिपूर्ण धार्मिक क्रियाओं का प्रचुरता से प्रचलन था वहीं दूसरी ओर एक ऐसी विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ जिसे हम ज्ञानवाद (Gnosticism) की संज्ञा दे सकते हैं। इसमें धार्मिक, दार्शनिक और ज्योतिष-सम्बन्धिनी विचारधाराओं का समन्वय था। रोम में ज्ञानवाद के ३० सम्प्रदाय प्रचलित थे जिनको चलाने वाले विद्वान अपने को दैवी-प्रेरणा सम्पन्न मानते थे। प्रत्येक सम्प्रदाय के कुछ पुरोहित भी थे और इसकी कुछ गुप्त क्रियायें थीं जिनकी सहायता से वे लोगों को अपने सम्प्रदाय में दीक्षित कर लेते थे। अधिकांश ज्ञानवादियों की दो मौलिक विचारधारायें ये थीं—(१) केवल एक विशेष ज्ञान द्वारा ही मुक्ति प्राप्ति की जा सकती है और (२) आत्मा के पूर्णतया प्रतिकूल होने के कारण पदार्थ असत है। मुक्ति के लिये जादू तथा धार्मिक क्रियाओं द्वारा ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है। लोग केवल तर्क की सहायता से ही ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते थे बल्कि ज्ञान "आत्मा का उपहार" समझा जाता था। प्रायः सभी ज्ञानवादी ईसाई धर्म की निन्दा करते थे।

रोम में ईसाई धर्म

रोम वालों ने पूर्व के धर्मों के प्रति दृष्टिकोण की उदारता का परिचय दिया किन्तु यहूदियों के धर्म और ईसाई धर्म का रोम में दमन किया गया। इसका कारण यह था कि ये दोनों धर्म सम्राट पूजा का विरोध करते थे। ईसाई धर्म की उत्पत्ति आगस्टस के शासन काल में हुई थी। इस समय से लेकर सन् २१३ ई० तक रोम में सम्राट पूजा का प्रचलन प्रधान था इसीलिये ईसाई धर्म का वहाँ प्रचार न हो सका। ईसाई लोग सम्राट की पूजा करने से इन्कार करते थे इसलिये उनके साथ राज्य की ओर से कोई अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता था। बहुत से ईसाइयों ने रोम की सेना में भरती होना इस आधार पर अनुचित समझा कि ऐसा करने से वे मनुष्य का रक्त बहायेंगे जिससे उनके धार्मिक नियमों का उल्लंघन होगा। प्लिनी ने रोम के सम्राट ट्राजन के पास जो पत्र भेजा था और उसे जो उत्तर मिला था उससे ईसाई धर्म के प्रति रोमनों के दृष्टिकोण का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। प्लिनी जब समय एशिया माइनर में शासन करता था और जब उसके पास ईसाई कहे जाने वाले कुछ लोगों की शिकायत पहुँची तो उसने उनके साथ व्यवहार करने के सम्बन्ध में सम्राट से पूछा—"मुझे बहुत से लोगों के विषय में एक गुमनाम सूचना प्राप्त हुई है। कुछ लोगों ने कहा कि वे कभी न तो ईसाई रहे हैं और न अभी ही ईसाई हैं, उन्होंने मेरे सामने देवताओं की एक प्रार्थना दुहराई, और आपकी मूर्ति के सम्मुख मदिरा तथा incense अर्पित किया (जिसे कि मैंने देवताओं की मूर्तियों के साथ इसी उद्देश्य के लिये उन्हें अपने साथ लाने के लिये आज्ञा दी थी, और यहाँ तक कि ईसा के प्रति अपशब्द कहे...) ट्राजन ने उत्तर दिया, "तुम ईसाइयों की खोज में बिल्कुल अपने को भूल मत जाओ। यदि वे तुम्हारे सामने लाये जाँय और उनका कसूर साबित हो जाय तब तुम उन्हें दण्ड दो। लेकिन इस बात का ध्यान रहे कि जब वह व्यक्ति ईसाई होने से इन्कार करे तब बिना उसके प्रति पूर्व सन्देहों का कुछ विचार किये हुये उसे क्षमा कर देना चाहिये। गुमनाम सूचना के आधार पर अपेक्षाकृत दण्ड न देना चाहिये। यह एक अत्यन्त भयंकर उदाहरण प्रस्तुत करना है और यह हमारे युग की आत्मा के प्रतिकूल है।" हमें यह न भूलना चाहिये कि ट्राजन एक उदार सम्राट था परन्तु ईसाई धर्म का

दमन करना वह आवश्यक समझता था। मारकस ओरिलियस जैसे दार्शनिक सम्राट के शासन काल में भी ईसाइयों का धार्मिक आधार पर उत्पीड़न किया गया। नीरो नामक निर्दय सम्राट के समय में यह धार्मिक अत्याचार पराकाष्ठा पर पहुँच गया। परन्तु शासकों की धर्मान्धता या तलवारों की शक्ति अथवा मृत्यु-दण्ड की धमकी किसी भी सच्चे धर्म या विचार को कुचल नहीं सकती। अत्याचार का परिणाम सदैव अभिप्रेत उद्देश्य के विपरीत होता हुआ ही देखा गया है। रोमन सम्राटों के अत्याचारों के बावजूद भी ईसाई धर्म के अनुयायियों की संख्या बढ़ती ही गई।

अन्त में सन् ३१३ ईसवी में कान्स्टेन्टाइन नामक सम्राट ने एक कानून द्वारा यह घोषणा कर दी कि समस्त साम्राज्य भर में ईसाई धर्म वैध समझा जायगा और किसी भी ईसाई के साथ धार्मिक अत्याचार नहीं किया जायगा। कान्स्टेन्टाइन की यह धार्मिक उदारता उसकी राजनीतिक चाल का प्रतिफल जान पड़ती है क्योंकि इस समय ईसाई धर्म की इतनी अधिक उन्नति हो चुकी थी कि बिना उसके सहयोग के साम्राज्य में एकता और शान्ति स्थापित हो ही नहीं सकती थी। कुछ दिनों के बाद कान्सेन्टाइन ने ईसाई धर्म को राज्यधर्म घोषित कर दिया और धीरे-धीरे अन्य धर्मों का लोप होने लगा। ईसाई धर्म के विषय में अधिक विस्तार के साथ हम आपको आगे बतायेंगे।

साहित्य

जैसा बताया जा चुका है कि आगस्टस के समय में साहित्य की अत्यधिक उन्नति हुई थी। इस युग का सर्वप्रमुख कवि वरजिल था। वरजिल ने रोम के लिये लैटिन भाषा में एक महाकाव्य लिखा। परन्तु महाकाव्य ''एनीड'' वरजिल की परिणत वयस की रचना है। इसके पूर्व उसने ''जारजीज'' नामक पुस्तक तथा ग्राम्य जीवन से सम्बन्धित कवितायें लिखी थीं। उसने अपनी कविताओं में ग्राम्य-जीवन को आदर्श रूप में चित्रित किया है और यद्यपि शैली तथा भाव के लिये वह हेलिनिस्टिक युग के प्रसिद्ध कवि थियोक्रिटस का बहुत अधिक ऋणी है तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग्राम्य-जीवन के आनन्दों का उसे सच्चा अनुभव था। ''जारजीज'' में वर्जिल ने खेती को अपना वर्ण्य-विषय बनाया है और बतलाया है कि विभिन्न प्रकार की भूमियों पर किस प्रकार खेती करनी चाहिये, बोने तथा काटने का उचित समय कौन सा है, पशु पालन कैसे करना चाहिये, जैतून पैदा करने की विधि क्या है इत्यादि। वरजिल ने कृषि कार्य को बड़ा ही पुण्य और गौरवपूर्ण बताया है। उसने लिखा है कि मनुष्य के नैतिक चरित्र का निर्माण और विकास खेतों में ही होता है। जनाकीर्ण नगरों से दूर हरियाली से परिपूर्ण खेतों में ही मनुष्य की आत्मा सृजनात्मक जीवनी-शक्ति का अनुभव करती है और वहीं पर वह श्रद्धा और आदर की तथा धार्मिक भावनाओं से भर जाती है।

''एनीड'' लिखने में कवि का एक सुनिश्चित उद्देश्य था। कवि की स्वान्तः सुखाय कलात्मक प्रेरणा से इसका प्रणयन नहीं किया गया है। वर्जिल ने होमर का अनुकरण बहुत अधिक किया है किन्तु उसका महाकाव्य ''एनीड'' ''ओडीसी'' की भाँति उत्कृष्ट नहीं हो पाया है। वरजिल के अन्दर होमर की सजीव तथा स्वाभाविक वर्णन शैली, चरित्र चित्रण की निपुणता और स्वाभाविकता, उपमा और चित्रांकन की उत्कृष्टता एवं सृजनात्मक कल्पना शक्ति का अभाव है। स्थान स्थान पर वरजिल ने रोमन देशभक्ति का जो निरूपण किया उससे काव्य का ह्रास हुआ है। परन्तु जीवमात्र के प्रति कवि की व्यापक सहानुभूति, उसकी लैटिन भाषा का सरल एवं स्निग्ध संगीत तथा मानव मनोभावों के उसके सूक्ष्म ज्ञान इत्यादि गुणों के कारण ''एनीड'' सभी कालों और सभी देशों के लिये एक पठनीय काव्य ग्रन्थ हो गया है। प्रयत्न से लाये गये अलंकारों के बीच में जहाँ पर कवि ने वेदना का चित्रण किया है वहाँ पर उसे अनुपम सफलता प्राप्त हुई है।

रोम का एक अन्य प्रसिद्ध कवि होरेस था। उसने बहुत सी फुटकल कवितायें लिखीं। किसी महाकाव्य की रचना उसने नहीं की। उसकी कविताओं का विषय बहुत अधिक विस्तृत है। उसने अपने 'ओड्स' में अपने अनुभवों तथा अपनी भावनाओं को व्यक्त किया है। मित्रता, भोजन तथा मद्यपान की दावतों, प्रणय-सम्बन्धों और मनुष्य के दैनिक जीवन के आनन्दों का उसने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उसके ये गीत मनुष्य के इहलौकिक जीवन से ही सम्बन्धित

हैं। उसके प्रणय गीतों में अनुभूति की तीव्रता नहीं है तथापि उसके गीत बहुत अधिक लोकप्रिय हैं। बहुत से परवर्ती कवि उसके गीतों से प्रभावित हुये हैं। अपने कवि जीवन के प्रारम्भिक काल में उसने कुछ ऐसी कवितायें लिखी हैं जिनको उसने "सरमन्स" 'Sermons' वार्तायें कहा है। कवि की अपरिपक्वावस्था की रचनायें होने की कारण इनमें कवित्व का अभाव है। स्वयं इन कविताओं के रचनाकार ने स्वीकार किया है कि अपने जीवन की इतिवृत्तात्मकता के कारण ये बिल्कुल गद्यमयी हैं। केवल छन्द के ही कारण इन्हें कविता की संज्ञा दी जा सकती है। परन्तु इन कविताओं में उसने रोम के अपने समकालीन जीवन को दर्पण के सदृश प्रतिबिम्बित किया है। उसने अपने युग के पतन का उल्लेख किया है और धनलोलुपता को इस पतन का कारण बताया है। जब कभी रोम का कोलाहलमय जीवन उसके चित्त और मस्तिष्क को आक्रान्त करने लगता है, तब उसकी आत्मा ग्राम-जीवन के सुखों का उपभोग करने के लिये छटपटाने लगती है। अपने जीवन के अंतिम दिनों में वह अपना अधिकांश समय गांवों में ही बिताने लगा था, केवल कभी कभी ही वह रोम चला आया करता था। अपने युग के दोषों की उसने कड़ी आलोचना की है और "मानव जाति के सम्मुख उसने इस संसार के मनुष्य और शिष्ट व्यक्ति के नमूने रक्खे हैं। उसने यह दिखाया है कि बिना उच्च कुल में जन्म ग्रहण किये या धन संग्रह किये, बिना चिन्ता या आकांक्षा के या बिना उच्च कोटि के बौद्धिक गुणों या जीवन की अप्राप्य साधुता के भी कैसे इसे प्राप्त किया जा सकता है।"[1]

होरेस की कविताओं का महत्व इस बात में है कि उनमें उनके रचियता का व्यक्तित्व घुल मिल गया है। उन कविताओं में आवश्यकतानुसार कवि कभी तो गम्भीर हो जाता है और कभी विनोदप्रिय। उनके अन्दर कवि की सच्चाई तथा स्पष्टता, उसकी विनोदप्रियता एवं प्रसन्नता बहुत अच्छी तरह अभिव्यक्त हुई है। अपनी परिष्कृत ग्राम्य रुचि, विस्तृत सहिष्णुता एवं दृष्टिकोण की बुद्धिसम्मत और तर्कगम्यता के कारण होरेस अपने पाठकों के हृदयों को अपनी ओर खींच लेता है। उसने अपने एक एक गीत को बड़ी ही सजगता से सजाने तथा सँवारने का प्रयत्न किया है। उसकी रचनाओं में हमें काव्य के श्रेष्ठ रूप की कलात्मकता तथा परिष्कृति अपने प्रौढ़तम रूप में दिखाई पड़ती है। इन गुणों के साथ साथ उसके अन्दर कतिपय दोष भी हैं। उसने साधारण विषयों की अनावश्यक रूप से पुनरुक्ति की है, उसमें अन्तरगाम्भीर्य का अभाव है और अपने जातीय गुण व्यावहारिकता के अतिशय आग्रह के कारण उसकी कविताओं की कलात्मकता का ह्रास हो गया है। भावों की तीव्र अनुभूति, शैली की उन्नतता, एवं काव्य के विभिन्न संगीत इत्यादि गुणों में वह पेरिक्लीज के समय के कवियों से कहीं अधिक पीछे है। होरेस को कालिदास, शेक्सपीयर, यूरीपिडीज अथवा तुलसीदास की पंगत में नहीं बैठाया जा सकता। हाँ द्वितीय कोटि के कवियों यथा एनाक्रियन, शैली, मेनेन्डर आदि की पंक्ति में उसका स्थान गौरवपूर्ण है।

रोम में अनेक ऐसे कवि हुये हैं जिन्होंने केवल प्रणय सम्बन्धिनी कवितायें लिखी हैं। मानव जीवन के मंगलमय सौन्दर्यमय और संघर्ष मय पक्ष से जिनका कोई सम्बन्ध नहीं है। रोम के इस काव्य और जीवन के बीच हमें एक गहरी खाई दिखाई पड़ती है। कवियों के लिये उनकी शारीरिक प्रेम सम्बन्धी भावनायें ही सर्वोपरि थीं और वे कभी भी कामुकता से ऊपर उठ कर किसी अन्य पवित्र प्रेम की कल्पना भी न कर सके। उनकी प्रणय भावनायें उनके दाम्पत्य प्रेम से सम्बन्धित नहीं हैं वरन् वे निम्न कुलों में उत्पन्न स्त्रियों, वेश्याओं अथवा पर-स्त्रियों की रूप-प्रशंसा, उनके हाव-भाव तथा अपने प्रति उनकी उदासीनता के वर्णन में ही अपने काव्य का दुरुपयोग करते हैं। इन कवियों में हृदय की सच्ची अनुभूति का अभाव होता था इसलिये वे शैली और भाषा के अलंकार द्वारा इस अभाव की पूर्ति करना चाहते थे। इन कविताओं को हम श्रेष्ठ और उच्च नहीं कह सकते क्योंकि इनमें भावों की सरलता और यथार्थता नहीं है और आडम्बर तथा अस्वाभाविकता से वे बोझिल हैं। इस युग की काव्य-धारा को विल डुरेन्ट ने "कामुकता का विद्रोह" कह कर अभिहित किया है। एलिम्बयस टिबिलस इस प्रकार के कवियों में प्रथम है जिसकी रचनायें हमें आज

[1]The Legacy of Rome, Page 310, Under the Heading "Literature" By J.W. Mackail

भी पढ़ने को मिलती है। इस कवि में एक गुण यह है कि यह कभी कभी अपनी प्रणय भावनाओं के बीच में मनुष्य के जीवन का कुछ चित्र खींच देता है और दन्त कथायें सुनाने लगता है। सेक्स्टस प्रापर्टियस ने अपने प्रणय का वर्णन किया है और अपनी प्रेयसी को उसने कहीं कहीं पर कोसा भी है। रोम के कम विख्यात कवियों में उसका महत्वपूर्ण स्थान है उसने काव्य को सुन्दर और आकर्षक बनाने का प्रयास किया किया है और भाषा तथा शैली पर उसका अधिकार है। उसके चित्र, जो उसने अपनी कविताओं में खींचे हैं, श्रेष्ठ और स्वाभाविक हैं।

ओविड के प्रणयगीतों में अपने पूर्व कवियों की सफाई का अभाव है। उसका प्रेम भी अस्थिर और चंचल है। उसकी विनोदप्रियता के कारण उसकी कविताओं में एक सौन्दर्य उत्पन्न हो गया है और वह भद्देपन से बच जाता है। यद्यपि अपने युग के अन्य कवियों की भांति उसने भी अपनी कविताओं में शैली को सजाने पर ध्यान रक्खा है और विनोदप्रियता के द्वारा वह अपनी कविताओं को मनोहर बनाता है तथापि सचाई के अभाव और वीभत्स कामुकता के कारण उसकी कवितायें चित्त पर केवल क्षणिक प्रभाव ही डालती हैं, एक स्थायी प्रभाव नहीं। लेकिन इन सब दोषों के बावजूद भी ओविड का परवर्ती कवियों पर काफी प्रभाव पड़ा है।

साम्राज्यवादी रोम में गद्य की उतनी अधिक उन्नति नहीं हो सकी जितनी काव्य की हुई थी। सिसरो रोम का सर्वोत्कृष्ट गद्य लेखक था और उसके बाद गद्य की अवनति होने लगी। आगस्टस के समय में रोम का प्रसिद्ध इतिहासकार लिवी हुआ जिसने रोमन गणतन्त्र का इतिहास लिख कर लैटिन भाषा की कलापूर्ण गद्य शैली का नमूना प्रस्तुत किया। लिवी एक निष्पक्ष इतिहासकार नहीं था क्योंकि उसने अपने देशवासियों के साथ कहीं-कहीं कुछ पक्षपात दिखाया है। थुसीडाइडीज की भांति उसने अपने ऐतिहासिक ज्ञान के स्रोत की ठीक से परीक्षा नहीं की है। हम उसके घटना सम्बन्धी तथ्यों पर निर्भर नहीं रह सकते क्योंकि उसने रोम की दन्तकथाओं को सत्य मानकर उन्हें उद्धृत किया है और उनके आधार पर अपने ग्रन्थ को लिखा है। लेकिन यदि हम उत्कृष्ट गद्य शैली, चित्रमय वर्णन या नैतिक उत्थान की भावना से अनुप्राणित ओजपूर्ण शब्दों का चयन देखना चाहें तो हमें लिवी के इतिहास को पढ़ना चाहिए। अपने युग के प्रति उसे तीव्र असन्तोष था और अपने देशवासियों के गिरे हुए नैतिक स्तर को वह उन्नत करना चाहता था। उसने रोमन चरित्र के उन गुणों का उल्लेख किया है जिनके कारण पहले रोम महान और शक्तिशाली था। उसने बताया है कि प्राचीन काल में (रोमन गणतन्त्र के प्रारम्भिक काल में) रोमवासियों के अन्दर ये गुण विद्यमान थे—कथित वचनों की पवित्रता का ध्यान रखना, नागरिक कर्तव्यों के ऊपर अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की बलि चढ़ा देना, व्यावहारिक बुद्धि की प्रधानता, उन्नत देश प्रेम तथा सन्तुलित ज्ञान। लिवी ने कहा है कि इन्हीं गुणों की सहायता से रोम एक नगर से विशाल साम्राज्य में परिणित हो गया। घटनाओं का वर्णन करते हुए लिवी ने बीच-बीच में नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने के लिए व्याख्यान शैली को ग्रहण किया है। वह एक सच्चे और कुशल इतिहासकार की अपेक्षा एक उत्कृष्ट गद्य लेखक अधिक था। उसके ग्रन्थ को पढ़ते समय हमारा चित्त कभी ऊब नहीं सकता।

गद्य

रोम का दूसरा प्रसिद्ध इतिहासकार टेसीटस (५५-११७ ईसवी) था। उसने दो ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखे हैं। एक पुस्तक में उसने अपने देश का समकालीन इतिहास लिखा है और दूसरे में आगस्टस की मृत्यु से लेकर नीरो की मृत्यु तक की ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन किया है। उसका दूसरा ग्रन्थ, जिसे अंग्रेजी में Annals कहा जा सकता है, दो प्रमुख दोषों से परिपूर्ण है। उसने रोमन साम्राज्य के इतिहास को सम्राटों की जीवन गाथाओं के रूप में लिखा है और राज-भवन के विलासमय जीवन, राजनीतिक षड्यन्त्र, सरदारों और नौकरों की चाटुकारिता तथा सम्राटों और उनके नौकरों के दोषों का आवश्यकता से अधिक वर्णन किया है। उसे रोम के साम्राज्यवादी शासन के प्रति घृणा थी इसलिए उसने अपने इतिहास को विद्वेष-भावना से युक्त होकर लिखा है। उसने सम्राट टाइबेरियस के विषय में जो निर्णय दिया है वह इस तथ्य की पुष्टि करता है। उसने लिखा है कि टाइबेरियस के जीवन में जो श्रेष्ठताएँ थीं वे केवल दिखावटी ही थीं लेकिन उसकी बुराइयाँ निसर्गगत थीं। अपने जर्मेनिया ग्रन्थ में उसने जर्मन जाति के लोगों का वर्णन

किया है। उसने रोम के उच्च वर्ग के लोगों के विलासमय जीवन की जर्मनों के सादे और कठोर जीवन से तुलना करते हुए अपने युग के नैतिक पतन पर प्रकाश डाला है। उसने इन दोषों का, जैसे शासकों की सुधार-विरोधिता की कट्टरता, प्राचीन नागरिक भावना का लोप, तथा लोगों की उदासीनता आदि का उल्लेख किया जिनके कारण रोम का पतन हुआ था। टेसीटस की विशेषता भी लिवी की भांति उसकी विशिष्ट गद्य शैली में सन्निहित है। अपनी शैली का निर्माता वह स्वयं है और उसकी शैली पर किसी अन्य लेखक का प्रभाव नहीं है। संक्षिप्तता तथा कटु व्यंग उसकी शैली की विशेषतायें हैं। उसने शब्दों का नितान्त मौलिक और साहसपूर्ण प्रयोग किया है। उसके ग्रन्थों में यत्र-तत्र अनेक स्मरणीय वाक्य मिल जाते हैं जिनको पढ़कर पाठक उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। उसकी पुस्तकों का अनुवाद करना बड़ा कठिन है। टेसीटस की कृतियों का विशुद्ध ऐतिहासिक महत्व बहुत ही कम है किन्तु एक साहित्यिक ग्रन्थ के रूप में उनका चिरकालीन महत्व है। सूटोनियस ने "लाइव्ज ऑव सीजर्स" नामक ग्रन्थ में सम्राटों की जीवनियां लिखी हैं। उसने मनोरञ्जक किन्तु असत्य एवं भ्रामक लोकश्रुतियों और लोक-वार्ताओं का भी आश्रय ग्रहण किया है। प्लूटार्क (४६-१२० ईसवी) ने यूनानी भाषा में रोम के छियालिस ख्याति प्राप्त व्यक्तियों की जीवन-कथायें लिखी हैं। रोम के इतिहासकारों की भांति प्लूटार्क ने भी तथ्यों के सम्यक् निरूपण का कोई प्रयत्न नहीं किया है बल्कि नैतिक उन्नयन को ही उसने अपने ग्रन्थ का ध्येय बनाया है। प्लूटार्क का जीवनी ग्रन्थ बहुत दिनों तक सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है। लूसियन ने भी यूनानी भाषा में ही लिखा है। उसने सम्वादों के रूप में अपने समकालीन सोफिस्टों और तर्कवादियों पर विनोदपूर्ण और कटु व्यंग्य कसे हैं और उसने कुछ निबन्ध इत्यादि भी लिखे हैं। उसे यूनान के प्राचीन साहित्य का विशद ज्ञान था और होमर, एरिस्टोफेनीज तथा प्लेटो के ग्रन्थों से उद्धरण देकर उसने अपनी रचनाओं को सजीव बनाने का प्रयास किया है।

रोम के साम्राज्यवादी युग में जिस वास्तुकला का विकास हुआ उसकी कुछ विशेषतायें हैं। रोमनों की व्यावहारिक बुद्धि उनकी वास्तुकला में अच्छी तरह से अभिव्यक्त हुई है। रोम को इस बात का गौरव प्राप्त है कि उसने

कलायें

वास्तुकला का उपयोग इहलौकिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया। "कदाचित् इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं कि रोम संसार में पहला नगर था जहाँ पर महान इहलोक परक वास्तुकला थी" और "रोमन वास्तुकला 'मानववाद' की वास्तुकला थी। यह वह स्रोत था जहां से हमारी इहलोक परक सार्वजनिक निर्माण (कला) का उद्गम हुआ है।"[१] साम्राज्यवादी रोम में ही सबसे पहले एक बड़े पैमाने पर सार्वजनिक सेवा तथा नगर-जीवन की आवश्यकतायें भवन निर्माण कला द्वारा पूरी की गई। वास्तु के क्षेत्र में रोमनों की देन इस बात में है कि उन्होंने मेहराब और गुम्बद को खूब विस्तृत रूप से प्रयुक्त किया। रोमनों के अधीन ही तथा रोम की साम्राज्यवादी वास्तु की सेवा में ही ये आवश्यक उर्वर तत्व हो गये, जो सम्भावनाओं से परिपूर्ण थे और जिन पर दूसरों से ग्रहण कर अपने भवनों के निर्माण में यूरोप निर्माण कला की सम्पूर्ण भावी उन्नति और उसके बड़े पैमाने पर इतिहास को निर्भर होना था।[२]

रोम की वास्तुकला के महत्वपूर्ण नमूनों में पेन्थीयन (Pantheon) का उल्लेख किया जा सकता है। यह रोम नगर में एक सुन्दर मन्दिर था और यूनानी मन्दिर से इस बात में विभिन्नता रखता था कि यह गोल था, चौकोर (rectangular) नहीं और इसके ऊपर गुम्बद बना हुआ था। रोम में अनेक भव्य विजय-सूचक तोरणों (triumphal arches) का निर्माण कराया गया और रोम के बाजार में, जिसे फोरम कहते थे, विभिन्न प्रकार की वस्तुयें बनवाई गई थीं। रोम में सबसे बड़ी इमारत कदाचित् सरकस मैक्सिमस थी जिसमें दो लाख पच्चीस हजार व्यक्ति

---

१ The Legacy of Rome, Edited by Cyril Bailey Page, 393.

२ Under the Heading "Architecture and Art" by G. McRushforth, page 389

एक साथ बैठाये जा सकते थे। यह इमारत rectangular थी। दूसरा थियेटर भवन कोलोसियम (amphitheatre colosseum) था। यह काफी छोटा था और गोलाकार बना हुआ था। रोम में भवन-निर्माण-कला पर विट्रूवियस ने De Architecture ("On Architecture") नामक पुस्तक लिखी।

स्थापत्य कला के क्षेत्र में रोमन कलाकारों का उद्देश्य यह होता था कि वे अपनी कृतियों द्वारा उन लोगों को अमर कर दें जिनकी मूर्तियाँ वे बनाते थे। "कला के लिए कला" या "सौन्दर्य के लिए कला" पर उनका ध्यान कम था। रोम के साम्राज्यवादी युग में स्थापत्य की उतनी अधिक उन्नति नहीं हो सकी जितनी गणतन्त्र के काल में हुई थी। रोम की परवर्ती स्थापत्य कला में कलात्मकता, सजीवता और स्वाभाविकता भी अपेक्षाकृत कम है। कुछ मूर्तियाँ निस्सन्देह सुन्दर और कलापूर्ण हैं। मारकस ऑरिलियस की एक प्रतिमा श्रेष्ठ मूर्तिकला का नमूना प्रस्तुत करती है। मूर्तियों की अपेक्षा bas relief में रोमनों को अधिक सफलता मिली। पेन्थीयन में जो frice हमें दिखाई पड़ती है और टीटस के मेहराब पर जुलूस का जो अंकन किया गया है वह सजीव, स्वाभाविक और गतिशील (mobile) है। ट्राजन के Column के चारों ओर bas relief के द्वारा सम्राट के दो आक्रमणों को पूर्ण रूप से दिखाया गया है। यह अंकन भी उत्कृष्ट और कलात्मक है।

चित्रकला में कलाकार ऐतिहासिक विषयों को चुनते थे और अपने चित्रों द्वारा [illegible] की स्मृति बनाये रखने अथवा राजनीतिक विषयों का प्रचार करने की चेष्टा करते थे। रोम की [illegible] में पाम्पी नगर के ध्वंसावशेषों द्वारा प्राप्त हुये हैं। उनको देखकर हम यह जान सकते हैं कि ईसा की प्रथम शताब्दी में रोम में एक सुविकसित और सुन्दर चित्रकला विद्यमान थी। पौराणिक विषयों से सम्बन्धित जो चित्र हैं उन पर यूनानी चित्रकला का प्रभाव है किन्तु Landscape की चित्रकारी में रोमन कलाकार यूनानियों से आगे बढ़े थे। लगभग ईसा की दूसरी शताब्दी तक रोम में चित्रकला का ह्रास हो गया किन्तु ईसाई धर्म का अधिक प्रचार हो जाने पर चित्रकला की फिर से उन्नति हुई। बाइबिल के कतिपय अंशों और ईसाई सन्तों की जीवन घटनाओं को चित्रित किया गया।

रोम का विज्ञान

रोम में विज्ञान की अधिक उन्नति नहीं हुई। रोमनों का अतिशय व्यावहारिक दृष्टिकोण जो प्रत्येक वस्तु और विषयों को उपयोगिता की तुला पर तौलता था विशुद्ध विज्ञान के विकास के लिए उपयुक्त और अनुकूल नहीं था। वैसे भी रोम में विज्ञान की थोड़ी बहुत उन्नति उन्हीं स्थानों में हो सकी जहाँ पर यूनानी संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव था। रोम के वैज्ञानिकों के विज्ञान सम्बन्धी निष्कर्ष प्रयोग अथवा सूक्ष्मनिरीक्षण द्वारा नहीं निकाले गये थे बल्कि वे दार्शनिक मत-विवेचन के प्रतिफल थे। इसीलिए उनमें अशुद्धियाँ भी काफी थीं। एल्डर प्लिनी (Elder Pliny) रोम का प्रसिद्ध वैज्ञानिक था। उसने "प्राकृतिक इतिहास" नामक एक ग्रन्थ की रचना की जिसे उसने प्रकृति के प्रति शास्त्रीय दृष्टिकोण कहा था। इस पुस्तक के लिखने में प्लिनी ने बहुत अधिक परिश्रम किया था। उसने बहुत सी पुस्तकों का अध्ययन किया था और अनेक स्थानों का उसने भ्रमण किया था। वह विद्वान था और उसके हृदय में ज्ञान-प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा थी किन्तु उसके अन्दर आलोचनात्मक बुद्धि का नितान्त अभाव था। सुप्रसिद्ध इतिहासकार गिबन ने प्लिनी की पुस्तक को "वह विशाल पोथा" कहा है "जिसमें उसने (प्लिनी ने) मानवसमाज की खोजों, कलाओं और अशुद्धियों को एकत्र किया है।" प्लिनी की पुस्तक में आठ भाग हैं जिनमें समस्त प्राकृतिक ज्ञान का वर्णन करने की लेखक ने चेष्टा की है। ये भाग निम्नलिखित रूप में विभाजित किये गये हैं—

(१) अध्याय १ भूमिका (Introductory)

(२) ,, २ सृष्टि विषयक (Cosmology)

(३) अध्याय ३ से ६ तक भूगोल (Geography)

(४) अध्याय ७ नृवंश शास्त्र (Anthropology)

(५) ,, ८ से ११ तक जन्तु-विज्ञान (Zoology)

(६) ,, १२ से १९ तक वनस्पति विज्ञान (Botany)

(७) ,, २० से ३२ तक चिकित्सा-विज्ञान (Medicine)

(८) ,, ३० से ३७ तक धातु विज्ञान और कला (Mineralogy)

प्लिनी ने उपर्युक्त भागों में प्रत्येक को जितने अध्याय दिये हैं, वे उनकी आवश्यकता और उपयोगिता के अनुसार ही हैं, इसलिए उसकी पुस्तकों का यह विभाजन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्लिनी ने अपनी सम्पूर्ण पुस्तक में यह सिद्धान्त प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि प्रकृति की समस्त वस्तुयें मनुष्य की सेवा के लिए हैं। वह लिखता है, "प्रकृति और पृथ्वी हमें प्रशंसा से भर देती हैं, जब हम पौधों की महती विभिन्नता पर विचार करते हैं और यह पाते हैं कि वे मानव जाति की आवश्यकताओं अथवा उपभोग के लिए हैं।"

सेनेका (३ ईसवी पूर्व—६५ ईसवी) रोम का दार्शनिक और वैज्ञानिक दोनों था। यद्यपि उसके सिद्धान्त और निष्कर्ष उसके अपने नहीं हैं तथापि उसके अन्दर आलोचनात्मक बुद्धि का अभाव नहीं है। उसकी पुस्तक "क्वेस्चनस नेचुरलस" में प्राकृतिक वस्तुओं का एक साधारण विवरण है परन्तु यह विवरण अपूर्ण एवं सुव्यवस्थित नहीं है। उसके ग्रन्थ में ज्योतिष और भूगर्भविज्ञान तथा प्राकृतिक भूगोल के सिद्धान्त वर्णित हैं। सेनेका ने भूकम्प तथा उससे सम्बन्धित अन्य विषयों में विशेष अभिरुचि दिखाई है। अपने वैज्ञानिक विषयों के अतिरिक्त उसने आचारशास्त्र तथा नियमों का प्रतिपादन किया है। सेनेका पहले एक आचारशास्त्री था, वैज्ञानिक बाद में। अपने इस दृष्टिकोण के कारण उसने मध्य-युग के विचारकों पर काफी प्रभाव डाला था।

चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में रोम की कोई नवीन या मौलिक देन न थी परन्तु रोम का महत्व इस बात में है कि उसने स्वच्छता पर बहुत अधिक जोर दिया और चिकित्सालयों का निर्माण कराया। रोम की सरकार ने प्रत्येक नगर में एक चिकित्सालय की व्यवस्था की थी जिसमें एक चिकित्सक नियुक्त किया जाता था। मिस्टर चार्ल्स सिंगर ने "द लेगेसी आफ रोम" में 'साइन्स' शीर्षक लेख में लिखा है, "चिकित्सा-विज्ञान के लिए रोम की यह महान देन है—और यह अति महान है—चिकित्सालयों की व्यवस्था।" लेकिन रोम के चिकित्सा-शास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्त प्राथमिक ही थे। रोम के अधिकांश लोग जादू टोने इत्यादि में बहुत अधिक विश्वास करते थे इसलिए वे रोगों की चिकित्सा के विषय में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार नहीं कर सकते थे। मानव शरीर की चीराफाड़ी द्वारा मानव-शरीर-रचना-शास्त्र का प्रायोगिक ज्ञान प्राप्त करना रोम में अनुचित समझा जाता था। ईसा की तीसरी शताब्दी पूर्व सिकन्दरिया में हेरोफिलस तथा एरेसिस्ट्रेटस ने इस शास्त्र का प्रायोगिक ज्ञान प्राप्त करने का काम आरम्भ कर दिया था किन्तु साम्राज्यवादी रोम में टरटुलियन (१५५-२२२) और आगस्टाइन (३५४-४३०) ईसवी) ने इसका विरोध किया। सिकन्दरिया में भी मानव-शरीर की चीराफाड़ी बाद में बिल्कुल बन्द कर दी गई थी जिससे गेलेन नामक चिकित्सा शास्त्री को शरीर-रचना-विज्ञान का ज्ञान पशु-शरीरों के निरीक्षण द्वारा ही करके सन्तुष्ट होना पड़ा था।

रोम ने गेलेन (१३०-२०० ईसवी) नामक सुप्रसिद्ध चिकित्साशास्त्री को जन्म दिया। उसने मेरुदंड हृदय, respiratory system, तथा muscles का सम्यक अध्ययन किया और उनको वैज्ञानिक रीति से समझाया। गणित तथा ज्यामिति के क्षेत्र में रोमनों ने कोई उन्नति नहीं की। जब रोम एक बहुत बड़े साम्राज्य का निर्माण कर रहा था तब भी वहाँ गणित के प्रति एक गहरी उदासीनता विद्यमान थी। सिसरो ने इस बात पर शोक प्रकट किया कि "यूनानी गणितज्ञ विशुद्ध ज्यामिति में नेतृत्व करते हैं (अर्थात् बहुत बढ़े-चढ़े हैं), जब कि हमने अपने को गिनने तथा नापने के अभ्यास तक ही सीमित कर रक्खा है।"

रोमनों ने भूगोल में कुछ उन्नति की। रोम वाले भारत और चीन के कुछ अधिक निकट सम्पर्क में आये जिससे उनके भौगोलिक ज्ञान का क्षितिज अधिक विस्तृत हुआ। टोलमी (Ptolemy) नामक विद्वान ने जो मानचित्र तैयार किया था वह हेलिनिस्टिक युग के मानचित्र से अधिक श्रेष्ठ था। उसने मानचित्र तैयार करने में parallels तथा meredians का प्रयोग किया। आगस्टस की आज्ञा से रोम के एक सेना नायक एग्रिप ने रोमन साम्राज्य का पूरी तरह से भ्रमण किया और संसार का एक मानचित्र खींचा। इस मानचित्र में देशान्तर और अक्षांश रेखाओं द्वारा किसी स्थान या नगर विशेष की दूरी का निर्धारण नहीं किया गया था बल्कि नगरों की दूरी का आधार उनका रोम से फासला था।

रोम की शिक्षा-पद्धति

रोम में शिक्षा की एक स्वतन्त्र राष्ट्रीय पद्धति का विकास नहीं हुआ। रोम के लोग अपने बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध यूनानियों के अधीन कर देते थे जिनको वे यूनान से दास बना कर लाते थे। बच्चों को रोमन कानून याद करने पड़ते थे। केटो रोम की इस शिक्षा का प्रबल विरोधी था। उसने कहा कि रोम के बालकों को यूनानी दासों से शिक्षा दिलाना सर्वथा अनुचित है और यह प्रतिपादित किया कि उनको कृषि, नागरिकता, तथा युद्ध की शिक्षा दी जानी चाहिए। उसने अपने पुत्रों को स्वयं शिक्षा दी। पाठशालाओं में बालकों को व्याकरण, तर्क आदि की शिक्षा दी जाती थी और अङ्कगणित, चिकित्साविज्ञान आदि विषयों का ज्ञान उन लोगों को करना पड़ता था जो उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे। पाठशालाओं का अनुशासन बहुत कठोर था और बालकों को अध्ययन में असावधानी दिखलाने पर कठोर दण्ड दिया जाता था।

प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद विद्यार्थियों को यूनानी शिक्षा की ललित कलाओं का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था। वे यूनानी कविताओं को कंठस्थ कर लेते थे। उनको कविता रचने की शिक्षा भी मिलती थी किन्तु रोम में संगीत को शिक्षा के क्षेत्र में वह उन्नत स्थान प्राप्त न था जो यूनानी शिक्षा-पद्धति में था। इसी प्रकार यूनान की शारीरिक शिक्षा को भी रोम के शिक्षा विशारद उचित नहीं समझते थे यद्यपि धीरे-धीरे रोम में इसका प्रचार बढ़ने लगा। विद्यार्थियों को वक्तृत्व-कला में निपुणता प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था और कुशलता से भाषण दे सकना अथवा प्रभावशाली व्याख्यान तैयार कर सकना शिक्षित व्यक्ति का प्रमुख गुण समझा जाता था। दर्शन की शिक्षा को भी रोम की उदार शिक्षा (liberal education) का प्रमुख अङ्ग समझा जाता था। सिसरो ने शिक्षा का श्रेष्ठतम आदर्श प्रस्तुत किया। उसने एक विस्तृत सांस्कृतिक एवं उदार शिक्षा पर जोर दिया और साहित्य तथा व्याख्यान देने की कला के साथ साथ इतिहास, कानून, तथा दर्शन को आवश्यक बताया। सिसरो के मतानुसार इस प्रकार की शिक्षा ही मनुष्य को पूर्ण शिष्ट और सभ्य बना सकती है। सिसरो के समय में देशाटन द्वारा और यूनान में जाकर अध्यापकों से उच्च शिक्षा प्राप्त करना बहुत अधिक महत्वपूर्ण कार्य समझा जाता था।

एथेन्स रोमन प्रजातन्त्र के समय में भी शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ पर हजारों की संख्या में छात्र उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे किन्तु प्राचीन लोगों के विवरणों के अनुसार विद्यार्थियों का ध्यान अपने पाठ्य क्रम की ओर कम था और वे अपना अधिकांश समय निरर्थक आमोद-प्रमोद में नष्ट करते थे। उनके वार्तालाप का विषय ज्ञानार्जन अथवा अध्ययन नहीं था बल्कि "सुरा, सुन्दरी और संगीत" के विषय में वे परस्पर वार्तालाप करते थे। विद्यार्थियों में अनुशासन का अभाव होता था और वे अपने अध्यापकों के व्याख्यानों को नहीं सुनते थे।

क्विन्टीलियन रोम के साम्राज्यवादी युग का प्रमुख शिक्षा-विशारद था। उसने दर्शन तथा शिक्षाशास्त्र को नियमित रूप से पढ़ाये जाने वाले विषय के रूप में बताया और तर्क, साहित्य, संगीत, गणित तथा शारीरिक व्यायाम को शिक्षा पद्धति में स्थान दिया। कुछ रोमन सम्राटों के समय में उच्च शिक्षा प्रदान करने वाले अनेक विद्यालय थे। हेड्रियन ने एथेनीयम की स्थापना की थी जहां पर ललित-कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। सेवेरस ने व्याकरण, चिकित्सा विज्ञान, गणित और वास्तु-कला की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध किया।

मानव सभ्यता को रोम की सब से महत्वपूर्ण देन उसकी विकसित कानून व्यवस्था थी। रोम का न्याय-शास्त्र केवल सामाजिक रीति-रिवाजों पर ही आधारित नहीं था वरन् इसमें तर्क को भी काफी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

रोम का कानून

यह समय-समय पर परिवर्तित और विकसित भी होता रहा। रोमन कानून ने एक बहुत महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि उसने सभी नागरिकों को के समान समझा। रोम में कानून के बड़े-बड़े पण्डित होते थे जो आवश्यकता पड़ने पर लोगों को कानून की बारीकियां समझाते थे। रोम में कानून के कई विभिन्न अङ्ग थे। रोम का सिविल कानून बाद में पाश्चात्य सभ्यता का एक महत्वपूर्ण तत्व हो गया। कानून के आधार पर सम्पति को कई भागों में बांटा गया जैसे पवित्र सम्पति; सामान्य सम्पत्ति और व्यक्तिगत सम्पत्ति।

समझौते का कानून (Law of Contract) रोमन कानून का एक महत्वपूर्ण अंग था। इस कानून के द्वारा व्यक्तियों के पारस्परिक सहयोग को कानूनी रूप दिया जाता था। जस्टीनीयिन के समय में रोमन कानून का पूर्ण विकास हुआ। उसने बहुत से प्राचीन और निरर्थक कानूनों को दूर किया। रोम का न्याय-शास्त्र मानव सभ्यता की सर्वोत्कृष्ट वस्तुओं में से है। रोमन कैथोलिक चर्च के कानून और कैनन ला का स्रोत रोम का न्याय शास्त्र है। मध्य-युग में सभी देश इसे ही अपने कानून का आधारभूत सिद्धान्त मानते थे। आधुनिक योरप के अनेक देशों पर रोम के न्याय-शास्त्र का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। रोम के न्यायशास्त्र ने व्यक्तिगत सम्पति के विषय में जो कानून बनाये वे बड़े ही महत्वपूर्ण थे। इसमें जनप्रिय राजसत्ता के विचार भी विद्यमान थे जिससे इसके द्वारा बाद में प्रतिनिधि शासन को महत्वपूर्ण प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। रोम का न्याय-शास्त्र रोम वासियों के राष्ट्रीय चरित्र की विशिष्ट उत्पत्ति होता हुआ भी एक अन्तर्राष्ट्रीय सभ्यता की उत्पत्ति जान पड़ता है क्योंकि समानता और मानवता इसके मूलभूत तत्व थे।

रोम के पतन के कारण और रोमन सभ्यता की देन

एक विद्वान का कथन है कि "इतिहास में दो सबसे बड़ी समस्यायें है, रोम के उत्थान और रोम के पतन के कारणों का पता लगाना।" वास्तव में रोम के पतन के कारणों का ठीक-ठीक निर्णय करना कोई सरल कार्य नहीं है परन्तु हमें यह बात अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि रोम का पतन कोई आकस्मिक घटना नहीं थी बल्कि कई विभिन्न कारणों और परिस्थितियों ने मिलकर रोम का अन्त किया। जिस समय रोम का साम्राज्य अपने उत्कर्ष और वैभव की पराकाष्ठा पर था उस समय भी उसमें विनाश के बीज अविकसित रूप में विद्यमान थे। लगभग पूरे तीन सौ वर्षों के दीर्घ जीवन के उपरान्त रोमन साम्राज्य का पतन हुआ और इस जीवन-काल में उसके पतन की पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। "जितने दिन रोम के पतन में लगे उतने दिनों तक कुछ राष्ट्र जीवित भी न रह सके।"[1]

रोम के पतन का कारण उसकी सामाजिक एवं आर्थिक रचना, उसके निवासियों के नैतिक पतन, उसके गृह-युद्ध, उसकी आर्थिक परमुखापेक्षिता, उसकी नौकरशाही की शासन नीति, उसके साम्राज्य विस्तार तथा घोर सामाजिक वैषम्य में सन्निहित थे। एम० आई० रोस्टोजेफ ने अपने पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ "रोमन साम्राज्य का सामाजिक और आर्थिक इतिहास" में रोमन सभ्यता के पतन का कारण इस बात में बताया है कि वह कभी भी जनसाधारण तक पहुँच न सकी। यह उन थोड़े से सम्पत्तिवान आभिजात्य वर्ग की एकाधिकारिणी सम्पत्ति ही रही जो रोमन साम्राज्य के अन्तिम दिनों में निष्क्रिय, उदासीन, आत्म-सन्तुष्ट और नितान्त स्वार्थपरक हो गये। अधिकारविहीन, शोषित और उत्पीड़ित जन साधारण अपनी हीन दशा से सन्तुष्ट न थे और अपने सम्पन्न देशबन्धुओं के प्रति वे तनिक भी सहानुभूति नहीं रखते थे। रोम के पतन का यह एक महान कारण था परन्तु इसके अलावा अन्य कारण भी थे। प्रोफेसर ट्रेवर ने अपनी

---

[1]Story of Civilization, Vol III Caesar and Christ, By Dr. will Durant.

पुस्तक "प्राचीन सभ्यता का इतिहास" में साम्राज्य विस्तार को रोम के पतन का कारण माना है। हम उन कारणों पर कुछ अधिक विस्तार के साथ विचार करेंगे जिन्होंने रोमन साम्राज्य के विशाल भवन को धराशायी कर दिया।

अंग्रेजी भाषा के एक कवि ने सत्य ही लिखा है कि "किसी जाति को महान और बलवान उस जाति के लोग ही बनाते हैं पुष्कल सुवर्ण नहीं।[2] प्राचीन काल में और कुछ अंशों में आधुनिक काल में भी किसी जाति को शक्तिशाली बनाने में उसकी जनसंख्या का बहुत अधिक महत्वपूर्ण भाग। रोमन साम्राज्य के परवर्ती युग में उसके नागरिकों की संख्या असाधारण रूप से कम होने लगी। हेड्रियन के शासन काल के उपरान्त पश्चिम में जनसंख्या का आश्चर्यजनक ह्रास हुआ। सिकन्दरिया में, जिसको अपनी जनसंख्या पर गर्व था, बिशप डायोनिसियस ने गणना के द्वारा यह बताया कि जनसंख्या आधी हो गई थी। उसे यह देखकर बहुत अधिक दुख हुआ कि रोम के निवासियों की संख्या तो कम हो रही थी किन्तु बर्बर आक्रमणकारियों तथा पूर्व के लोगों की संख्या बढ़ती जा रही थी। हमें जनसंख्या के ह्रास का कारण जानने की चेष्टा करनी चाहिए। हम देख चुके हैं कि रोम में आगस्टस ने कानून द्वारा परिवार को फिर से शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया था किन्तु उसे सफलता न मिल सकी। रोम में साम्राज्यवादी युग के प्रारम्भ होते-होते परिवार प्रथा काफी विशृंखलित हो चुकी थी और और अधिकांश लोग अविवाहित रह कर अनियन्त्रित जीवन बिताना अपना अधिकार समझते थे। कृषक वर्ग के लोग रोम की जनसंख्या के मेरुदण्ड थे किन्तु जब उनके अन्दर भी अविवाहित रहने की प्रवृत्ति प्रधान हो गई तब रोम की जन-संख्या खूब गिरने लगी। यद्यपि गर्भ-निरोध के उपायों का अवलम्बन करना अपराध समझा जाता था तथापि लोग इसे करने से बाज न आते थे। लोगों की अनियन्त्रित कामुकता ने भी उनकी सन्तानोत्पादन की शक्ति को कम कर दिया होगा। युद्धों, संक्रामक रोगों और गर्भ गिराने के कारण भी जनसंख्या कम हो गई।

रोम के आर्थिक जीवन पर विचार करते हुए हमने यह देख लिया है कि वह आर्थिक दृष्टि से नितान्त परावलम्बी था। रोम जितना अधिक आयात करता था उसके मुकाबले में वह निर्यात नहीं कर पाता था जिससे उसका बहुत अधिक धन विदेशों को चला जाता था। रोम के उद्योग-धन्धे दासों द्वारा किये जाते थे किन्तु जब दासों का मिलना कठिन हो गया तो रोम का औद्योगिक जीवन निष्प्राण हो गया। रोम के सम्राटों की अत्यधिक विलासिता और सेना तथा भवन-निर्माण पर उनके आवश्यकता से अधिक व्यय ने रोम के आर्थिक जीवन को खोखला बना दिया। रोम की दीन जनता पर अधिक से अधिक कर लादे गये जिससे लोगों में तीव्र असन्तोष फैलने लगा। न केवल उनके अन्दर "कोउ नृप होउँ हमें का हानी" के भाव ही उत्पन्न हो गये बल्कि वे रोम के पूर्ण विनाश की प्रतीक्षा भी करने लगे। "रोमन सरकार के विशाल भवन में लोगों को अपने असह्य भार का ही ध्यान था और वे मूक तथा शान्त होकर अपनी मुक्ति की प्रतीक्षा करते थे।[3] खेती की उपज कम हो गई। निरन्तर शासकों तथा धनिकों के अत्याचारों की चक्की में पीसे जाने के कारण कृषकों, श्रमजीवियों तथा कलाकारों के हृदय में उदासीनता ने घर कर लिया। सामुद्रिक और स्थलीय मार्ग सुरक्षित न रह गये और लोगों की क्रय शक्ति दिन पर दिन घटती ही गई। कर-प्रणाली, जो कभी प्रशंसनीय थी, रोमन साम्राज्य के अन्तिम दिनों में इतनी अधिक शोचनीय अवस्था में हो गई कि लोगों को अपना जीवन भारतुल्य प्रतीत होने लगा। प्रोफेसर रोस्टोवजेव ने लिखा है कि "राज्य और कर-दाताओं का सम्बन्ध बहुत कुछ संगठित डाकेजनी पर आधारित था।"

नागरिकों के विशेष कर उच्च वर्ग के लोगों के नैतिक पतन ने रोम के पतन में बहुत बड़ी सहायता की। जब साम्राज्य के प्रान्तों से अथाह धन आ आकर एकत्र होने लगा तो जिन लोगों के हाथ यह धन लगा वे पूर्ण उन्मत्त

[2]Not gold but only men can make a people great or strong.

[3]The Legacy of the Ancient World. Page 268. By W. G. De Burgh.

हो गये। वे साधारण जनता का शोषण करने लगे और अपनी विलास-आवश्यकताओं की परितृप्ति के लिए धन को पानी की तरह बहाने लगे। जिन लोगों को इस धन का कुछ भी भाग न मिला वे बहुत अधिक असन्तुष्ट हुये। इटली के प्रान्त में चारों ओर समृद्धि छाई हुई प्रतीत होती थी किन्तु वास्तव में वैभव की इस छटा के नीचे दरिद्रता, गन्दगी, बीमारी और भुखमरी का साम्राज्य था। अधिकांश लोगों के लिए जीवन व्यतीत करना एक अतीव दुष्कर कार्य हो गया। धनवानों को अपने धन का प्रमाद था और निर्धनों को था अपनी शोचनीय दशा से पूर्ण असन्तोष। एच० जी० वेल्स ने ठीक लिखा है कि "धन ने रोमनों के पैर जमीन से खिसका दिये।" रोस्टोजेव ने भी लिखा है कि "जो लोग रोमन साम्राज्य में रहते थे उन्होंने अपना सन्तुलन बिल्कुल खो दिया था।" आगे वे बताते हैं कि चारो ओर घृणा और वैमनस्य का राज्य था। किसान भूमिपतियों और अफसरों से घृणा करते थे, नगर के श्रमजीवी बूर्जुआ लोगों से घृणा करते थे और सेना के सैनिकों को सभी लोग घृणा की दृष्टि से देखते थे। ईसाइयों से रोमन लोग घृणा करते थे और उनको उत्पीड़ित भी करते थे।

जिन गुणों के कारण रोमवासियों ने अपने नगर को सुविशाल साम्राज्य में परिवर्तित किया था उन गुणों का साम्राज्यवादी रोम में बहुत अधिक ह्रास हो गया। रोम के प्राचीन निवासी आज्ञाकारिता, कष्टसहिष्णुता, आत्म-त्याग, राज-भक्ति अथवा स्वदेश प्रेम के गुणों के कारण प्रसिद्ध थे। वर्जिल ने लिखा है कि राष्ट्रों के मध्य रोम की महानता उनके "पितृभूमि के प्रति प्रेम तथा सम्मान की निस्सीम पिपासा" के कारण थी। दांते नामक मध्य युग के कवि ने रोमन नागरिक के त्याग का उल्लेख करते हुये कहा है कि वे "अत्यधिक परिश्रम, दरिद्रता, निर्वासन, वियोग तथा जीवन और शारीरिक अंगों की हानि" सहर्ष सहन कर लेते थे। विलासिता और उच्छृंखलता के कारण रोमनों के उपर्युक्त गुण नष्ट हो गये, उनका साहस लुप्त हो गया और उनकी भावनायें उन्नत न रह गईं। उनके हृदयों से स्वदेश प्रेम के भाव जाते रहे और राज्य भक्ति की भावना से वे इस प्रकार उदासीन हो गये जैसे उनका इससे कभी परिचय ही न रहा हो। जब बर्बर आक्रमणकारियों ने रोम पर आक्रमण किया तब रोम के साधारण लोगों ने इसको बचाने की तनिक भी आवश्यकता न समझी बल्कि धनवानों और भूमिपतियों को लूटने में उनका साथ दिया। रोम का इतिहास हमें इस महत्वपूर्ण तथ्य की शिक्षा देता है कि जिस समाज की आधारशिला विषमता है, वह अवश्य किसी न किसी दिन गिर कर टूट जायेगा।

सुविख्यात इतिहासकार गिबन और दार्शनिक नीत्से ने ईसाई धर्म को रोम के पतन का कारण माना है। उनका कथन है कि इसने रोमनों की साहसिकी शक्ति, राज्यभक्ति की भावना तथा व्यावहारिक समर्थता को नष्ट कर दिया। सम्राट पूजा की भावना का विरोध करके इसने साम्राज्य की एकता को नष्ट कर दिया और लोगों की विचारधारा को इस संसार से हटाकर उनको भावी जीवन की तैयारी करने के लिये प्रेरित किया और पूर्वी रहस्यवाद के समावेश के कारण रोमनों की कार्य शक्ति का ह्रास हो गया। ईसाई धर्म के प्रचार ने रोम की सैनिक शक्ति का ह्रास अवश्य किया होगा लेकिन रोम में ईसाई धर्म का प्रचार उस समय हुआ जब रोमन साम्राज्य पतनोन्मुख था। ईसाई धर्म की उन्नति रोम के विनाश का कारण नहीं थी बल्कि उसका प्रतिफल थी। रोम के नैतिक पतन का कारण प्रान्तों से बिना परिश्रम के प्राप्त होने वाला धन था। ईसाई धर्म की शिक्षाओं का रोमनों के चरित्र और आचार पर लाभकारी प्रभाव पड़ा। लोगों को राज्य के प्रति श्रद्धा नहीं रह गई थी और न उन्हें राज्य की ओर से कोई आशा या विश्वास ही रह गया था। क्योंकि राज्य सम्पत्तिवानों की रक्षा करता था, उन्हें अधिकार प्रदान करता था तथा निर्धनों की रक्षा का कोई उपाय नहीं करता था और उनके ऊपर अत्याचार करता था। अभिजात वर्ग के लोगों की विलासिता को सुरक्षित रखने के लिये राज्य गरीबों के जीवन को असह्य करभार से आक्रान्त करता था। जब निर्धन लोगों ने अपने को दुर्भिक्ष, युद्धों, रोगों और अत्याचारों से अरक्षित समझा और जब वे सम्राटों की ओर से उदासीन और निराश हो गये तो उन्होंने शान्ति, सहिष्णुता तथा प्रेम का उपदेश देने वाले ईसा मसीह की शरण में जाना उचित समझा। ईसा ने उनके

निराश जीवन में आशा का संचार किया और उनके दारिद्रय पूर्ण जीवन को एक गौरव प्रदान किया। इसलिये यह कहना कि ईसाई धर्म के प्रादुर्भाव ने रोमन साम्राज्य को पतन की ओर उन्मुख किया, असत्य है।

बर्बर आक्रमणों के समय रोमन साम्राज्य का बाह्य ढाँचा ही शेष रह गया था। उसमें से प्राण निर्गत हो चुके थे। रहे सहे प्राणहीन शरीर को बर्बर आक्रमणों के एक प्रबल झोंके ने भूलुण्ठित कर दिया। विल डुरेन्ट के कथन को उद्धृत कर हम अपने इस विषय को समाप्त करते हैं "एक विशाल राज्य के टुकड़े टुकड़े होकर टूटने के इस भयंकर नाटक में आंतरिक कारण अदृश्य प्रमुख अभिनेता थे, आक्रमणकारी बर्बर केवल वहीं घुस सके जहां पर दुर्बलताओं ने द्वार उन्मुक्त कर दिया था और जहां शारीरिक, नैतिक, आर्थिक और राजनीतिक राजनीतिज्ञता ने रंगमञ्च को अव्यवस्था, निराशा एवं विनाश के लिये छोड़ दिया था।"

मानव सभ्यता को रोम की देन

मानव सभ्यता को रोम की देन दो प्रकार की है। पहली देन तो इस बात में है कि उसने भूमध्य सागरीय प्रदेश को विजित कर उसकी सभ्यता को ग्रहण कर लिया और दो सौ वर्षों तक सम्पूर्ण प्रदेश में जो शान्ति स्थापित की उसके द्वारा इस सभ्यता का विकास किया और फिर अगले दो सौ वर्षों तक बर्बर आक्रमणों से इसकी रक्षा की तथा अपने पतन के पूर्व उसने इस सभ्यता को पाश्चात्य जगत की भेंट किया। रोम की दूसरी देन उसके मौलिक उपहारों में है। संसार की सभ्यता को रोम ने कुछ मौलिक तत्व प्रदान किये। पुनरुज्जीवन काल के उपरान्त ये तत्व हमारी आधुनिक सभ्यता के प्रमुख और अविभाज्य अंग हो गये। रोम की सभ्यता हमारी आधुनिक सभ्यता के अत्यन्त सन्निकट जान पड़ती है। लैटिन सभ्यता, जिसकी अभिव्यक्ति लैटिन साहित्य में हुई है, केवल इस योग्य ही नहीं थी कि वह सभी के विदेशी तत्वों को अपने अनुकूल परिवर्तित कर सकी बल्कि वह रचनात्मक और सृजनात्मक भी थी। जिस रूप में हम वर्तमान सभ्यता को देखते हैं उसकी उत्पत्ति तो यूनान में हुई थी किन्तु तत्वतः वह रोमन ही अधिक है। जैसा कि निर्देश किया जा चुका है, पुनरुज्जीवन अधिकांशतः लैटिन भाषा के अध्ययन का प्रतिफल था, यूनानी भाषा का अपेक्षाकृत कम। हम रोमनों की भांति ही विचार और कार्य करते हैं और अपनी भावाभिव्यक्ति भी रोमनों की तरह करते हैं, यूनानियों की तरह नहीं। योरप में जहां कहीं भी हम जाते हैं हमारे पैर उन्हीं सड़कों पर पड़ते हैं जिनको रोमनों ने बनवाया था। अपने आन्तरिक और बाह्य व्यापार, अपनी सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं, अपनी शासन पद्धति और न्याय व्यवस्था, अपनी नगर व्यवस्था और सामाजिक जीवन के लिये समस्त पाश्चात्य जगत रोम का ऋणी है।

रोम की सबसे मौलिक देन कानून और शासन-पद्धति के क्षेत्र में है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शासन की विभिन्न पद्धतियों के लिए हमें यूनान का ऋण स्वीकार करना पड़ता है और रोम की शासन व्यवस्था में अनेक राजनीतिक गलतियां की, परन्तु आज जिस रूप में शासन-पद्धति प्रचलित है उसे हमने रोम से ही प्राप्त किया है। कार्यकारिणी और धारा-सभा को एक दूसरे से पृथक और स्वतंत्र रखने के विचार का उद्भव रोम से ही हुआ। कुछ दिनों तक रोम की सरकार में राजतन्त्र, उच्च जनतन्त्र और प्रजातन्त्र का इतना सुन्दर एकीकरण रहा कि दार्शनिकों, इतिहासकारों और प्रजाजनों ने इसकी प्रशंसा की। इसने अनेक नगरों को स्वशासन (म्युनिसिपल रीजिम) की स्वतन्त्रता प्रदान की। रोम की सरकार ने मरुभूमियों में भी सभ्यता के हरे-हरे वृक्ष लगाये और भव्य-भवनों तथा सार्वजनिक हित की वस्तुओं का निर्माण करा कर उन्हें अलंकृत किया। यदि रोम ने संसार को लूटा खसोटा तो उसने उसे सभ्यता प्रदान करने का भी प्रयत्न किया। साम्राज्य के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक विशाल नगर दिखलाई पड़ने लगे जिनकी मन्दिर थियेटर, स्नानागार, आदि शोभा बढ़ाया करते थे। ब्रिटेन, गाल, स्पेन, उत्तरी अफ्रीका और एशिया माइनर जैसे सुदूर प्रदेशों में आज भी रोमन सभ्यता के प्रभाव को सूचित करने वाले ध्वंसावशेष विद्यमान हैं। रोमनों के द्वारा बनवाये हुए स्नानागार ब्रिटेन में दिखलाई पड़ते हैं। फ्रान्स के निमेस नामक स्थान पर एक भव्य मन्दिर, एक पुल और नौ सौ मील लम्बा और एक सौ साठ फीट ऊँचा एक Aqueduct फ्रान्स में विद्यमान है, सीरिया में सूर्य देवता के कई सुविशाल मन्दिर हैं और उत्तरी अफ्रीका में एक उत्तम नगर के ध्वंसावशेष वर्तमान हैं जिनको देख कर हम यह

जान सकते हैं कि उक्त नगर में एक forum, सम्राटों की प्रतिमायें तथा प्रमुख राजपथ पर कई झरने थे। रोमन शासन ने सीमावर्ती कुछ नगरों को छोड़कर सर्वत्र शान्ति स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। रोमनों की तरह व्यावहारिक बुद्धि-सम्पन्न कदाचित् कोई अन्य जाति नहीं थी। साम्राज्य भर में फैला हुआ अच्छी सड़कों का एक जाल, रोमनों के द्वारा स्थापित किये हुए विद्यालय और न्यायालय और अपनी विभिन्न प्रजाओं की आवश्यकताओं के अनुकूल शासन पद्धति में परिवर्तन एवं सुधार कर लेना इत्यादि महत्वपूर्ण कार्य रोमनों की व्यावहारिक बुद्धि का ही द्योतन करते हैं। रोम के कानून का अध्ययन आज कानून के समस्त विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य है।

लैटिन भाषा पाश्चात्य जगत को रोम की एक प्रमुख देन है। मध्ययुग की स्थानीयता और अनेकता के मध्य लैटिन भाषा ने सांस्कृतिक एकता स्थापित की। सम्पूर्ण मध्य युग में इतिहास, दर्शन, धर्मशास्त्र, शिक्षा, कानून और चर्च की भाषा लैटिन ही थी। योरप की समस्त भाषाओं पर लैटिन का उतना ही व्यापक प्रभाव है जितना संस्कृत का भारतीय भाषाओं पर है। इटली, रुमानिया, फ्रान्स, स्पेन, पुर्तगाल और लैटिन अमेरिका आदि प्रदेशों में लैटिन भाषा व्यवहृत की जाती हैं। कानून तथा चिकित्सा विज्ञान में आज भी हम लैटिन भाषा के अनेक शब्दों का प्रयोग करते हैं। अंग्रेजी भाषा के अनेक शब्दों के विशेषण हमें लैटिन से ही मिलते हैं।

साहित्य में रोमनों ने यूनानियों का अनुकरण ही अधिक किया किन्तु लैटिन साहित्य ने मध्य-युग और आधुनिक युग के योरपीय साहित्य पर यूनानी साहित्य की अपेक्षा अधिक प्रभाव डाला। यूनानी साहित्य की तुलना में लैटिन साहित्य का हमारा मूल्यांकन चाहे जो कुछ भी हो यह लैटिन साहित्य था, यूनानी नहीं, जिसने केवल मध्य युग में ही नहीं बल्कि आधुनिक युग में भी शिक्षा, विचार-पद्धति तथा साहित्यिक शैली का निर्माण करने में अधिक प्रधान तथा प्रत्यक्ष प्रभाव डाला। चाहे महाकाव्य हो चाहे ग्रामीणों के गीत हों, चाहे नीति-काव्य हो, यह वर्जिल ही है, यूनान के होमर, थिओक्रिटस या हीसियड नहीं जिसने परवर्ती अंग्रेजी तथा यूरोपीय साहित्यों पर प्रत्यक्ष प्रभाव डाला है। व्याख्यान-कला में सिसरो के विषय में भी यही कहा जा सकता है। डेमास्थनीज के विषय में नहीं। साहित्यिक समालोचना तथा अलंकार शास्त्र के क्षेत्र में क्विन्टिलियन और सिसरो के विषय में यही बात है। अरस्तू तथा डायोनिसीज के विषय में नहीं। एरिस्टाफेनीज या मिनेन्डर की अपेक्षा प्लॉटस और टेरेन्स के विषय में सुखान्त नाटकों में यही बात है, दुःखान्त नाटकों में सेनेका का भी यही हाल है, अद्वितीय रूप से अधिक महान सोफोक्लीज तथा यूरीपिडीज का नहीं। गीत-काव्य के क्षेत्र में सापो, अल्केयस तथा सिकन्दरिया के कवियों की अपेक्षा कैटेलस तथा होरेस ने ही अधिक प्रभाव डाला है, एपिक्यूरस की अपेक्षा ल्यूक्रेटियस का प्रभाव ही अधिक है। इतिहास में थ्युसीडाइडीज और पोलिबियस की अपेक्षा लिवी और टेसीटस का प्रभाव ही अधिक है और यूनानी स्टोइकों से अधिक प्रभाव रोमन स्टोइकों ने ही डाला है।[1] रोम के महाकवि वर्जिल का प्रसिद्ध फ्रान्सीसी कवि वोल्टेयर पर प्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है। मिल्टन ने अपने सुविख्यात ग्रन्थ "पेराडाइज़ लास्ट" में नर्क की जो कल्पना की है उस पर वर्जिल और मध्य युग के प्रसिद्ध कवि दाँते का प्रभाव पड़ा है। इस ग्रन्थ की शैली पर भी 'एनीड' छाया वर्तमान है। वर्जिल ने अपने महाकाव्य के चतुर्थ सर्ग में शान्ति के अग्रदूत और मानवता के सेवक के अवतार की जो भविष्य वाणी की है, उसे मध्य युग के ईसाई सन्त ईसा के विषय में जान कर बड़ी रुचि से औरेन्टेथिरो पढ़ा करते थे और इस सर्ग का प्रभाव उनकी रचनाओं में देखा जा सकता है। कीट्स ने वर्जिल के महाकाव्य का अनुवाद किया। अपनी 'लेमिया' और "हाइपेरियन" नामक कृतियों में वह वर्जिल से बहुत अधिक प्रभावित दीख पड़ता है। इसी प्रकार टेनीसन और मैथ्यू आर्नल्ड पर भी वर्जिल का बहुत अधिक प्रभाव है। वर्जिल की भांति होरेस और ओविड ने भी योरप की काव्य-धारा पर अपने अपने प्रभाव छोड़े हैं। मध्य युग में तो ओविड बहुत अधिक लोकप्रिय कवि था।

गद्य के क्षेत्र में तो रोमनों की देन और अधिक महान है। सिसरो का प्रभाव अनेक यूरोपीय लेखकों पर स्पष्ट

---

[1] A History of Ancient Civilization, Vol II, The Roman World, By Prof. A. Trever

देखा जा सकता है। "विचार-वाहन के रूप में यूरोपीय गद्य सिसरो की कृति है।"[१] यह एक आश्चर्यजनक बात है कि रोम के कम महत्वपूर्ण कवियों और लेखकों ने भी यूरोप के परवर्ती साहित्य पर बहुत अधिक प्रभाव डाला है। सेनेका के आचारशास्त्र सम्बन्धी लेखों ने आचार और व्यवहार का प्रतिमान स्थिर करने में महत्वपूर्ण भाग लिया क्विन्टिलियन की शिक्षा सम्बन्धी प्रसिद्ध पुस्तक "इन्स्टीट्यूटिओं" का उपयोग आज भी शिक्षा विशारद करते हैं। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों की वास्तुकला विट्रुवियस की "डी आरकीटेक्चरा" के आदर्शों से अत्यधिक रूप में प्रभावित है। प्लिनी की "नेचुरल हिस्ट्री" का प्रयोग आज भी विद्वानों द्वारा किया जाता है।

विज्ञान के क्षेत्र में रोम की कोई मौलिक देन नहीं है किन्तु अपनी सभ्यता के प्रसार और अपने सुख साधनों की अभिवृद्धि के लिए विज्ञान का प्रयोग करना हमने सबसे पहले रोमवासियों से ही सीखा। चिकित्सा विज्ञान में गेलेन की पुस्तक बहुत दिनों तक अत्यन्त महत्वपूर्ण रही। योरपवासियों ने चिकित्सालयों के निर्माण की भावना रोम वासियों से ही ग्रहण की। इन्जीनियरी, वास्तु और स्थापत्य कलाओं में भी रोम की देन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। रोमनों ने स्थापत्य में यूनानियों का अनुकरण ही किया किन्तु अपनी व्यावहारिक प्रतिभा की सहायता से उन्होंने अपनी कला-कृतियों को जो यथार्थता प्रदान की उसका यूनानी कला में अभाव था। मेहराब तथा गुम्बद का प्रयोग उन्होंने दूसरों से ही सीखा परन्तु इन वस्तुओं के कुशल प्रयोग द्वारा उन्होंने जिस वास्तु-कला को जन्म दिया वह बहुत अंशों में अनुपमेय है। विशाल सार्वजनिक भवनों का निर्माण हमने रोमनों से ही सीखा है। उन्होंने जगत को वास्तुकला की एक परम्परा प्रदान की जिसका आज भी भवनों के निर्माण में बहुलता से प्रयोग किया जाता है। नगरों की अधिकांश सार्वजनिक इमारतें रोमन वास्तु के नमूने के अनुरूप ही बनायी जाती हैं। "दिल्ली के नूतन सरकारी भवन, लन्दन की नवीनतम इमारतें जैसे कि केन्द्रीय कौन्सिल हाल और पोर्ट आफ लन्दन आफिस (और हम कह सकते हैं कि अमेरिका के नवीनम भवन भी) सबों ने समान रूप से रोमन वस्तु-कला के आदर्शों को ग्रहण किया है।"[२]

योरप में धार्मिक परम्परा के विकास में भी रोम का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। ईसाई धर्म ने रोमन धर्म की बहुत सी बातों को अपना लिया। रोम के देवालयों की व्यवस्था को ईसाइयों ने ग्रहण किया। यहाँ तक कि रोम के अनेक देवी-देवताओं की उपासना को भी ईसाई धर्म में महत्वपूर्ण स्थान मिल गया। पर्वों और उत्सवों की ईसाई धर्म में प्रधानता रोमन-धर्म की ही अनुकृति है। ईसाई धर्म भी पेपेसी का संगठन रोमनों से ही ग्रहण किया गया है। ईसाई चर्चों में लैटिन ही व्यवहार की भाषा रही है और आज भी है। इन सब देनों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि रोम का विशाल साम्राज्य तो नष्ट हो गया किन्तु रोमन सभ्यता की देनें आज भी जीवित हैं।

१ Legacy of Rome Page 333.

२ The Legacy of Rome.

—:०:—

तेरहवाँ अध्याय

मध्ययुग की सभ्यताएँ

सुविधा की दृष्टि से हम इतिहास को विभिन्न युगों में विभाजित कर लेते हैं। मानव सभ्यता के इतिहास को तीन युगों में बाँटा गया है—(१) प्राचीन सभ्यताओं का युग, (२) मध्य-कालीन सभ्यताओं का युग और (३) आधुनिक सभ्यता का युग। इस विभाजन को हम बिल्कुल पृथक रूप में नहीं देख सकते क्योंकि राजनीतिक घटनाओं के समान सभ्यता का जन्म आकस्मिक रूप में नहीं होता, वरन् मनुष्य के अनवरत प्रयास उसे जन्म देते हैं। यही कारण है कि हम विश्व सभ्यता के इतिहास में कोई स्पष्ट और निश्चित समय विभाजक रेखा खींच नहीं सकते। फिर भी सभ्यता के प्रवाह में कुछ परिवर्तन और गत्यावरोध उत्पन्न हो जाने के कारण हम इस युग की सभ्यता को, जिसके स्वरूप पर हम विचार करने जा रहे हैं, 'मध्य युगीन सभ्यता' की संज्ञा देते हैं।

मध्ययुग का तात्पर्य

यूरोप में विशाल रोमन साम्राज्य के पतन के बाद से मध्य-युग का आरम्भ होता है और कुस्तुनतुनिया के पतन तक यह युग जारी रहता है। फिर बाद में आधुनिक युग प्रारम्भ होता है। यह काल (मध्य युग) सन् ४७६ ईसवी से लेकर १४५३ तक माना जाता है परन्तु हम इस काल के अन्तर्गत उन घटनाओं और परिस्थितियों का भी यथास्थान वर्णन करेंगे जिनका सम्बन्ध तो इससे नहीं है लेकिन जिन्होंने आधुनिक-युग के निर्माण में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कोई सहयोग दिया है। भारतवर्ष में मुसलमानों के आक्रमणों से मध्य युग शुरू होता है और चीन में यह शुङ्ग वंश के पतनोपरान्त मंगोलों के आक्रमणों से होता है। योरप और सुदूर पूर्व के मध्य-युग में तिथि का जो भी अन्तर हो किन्तु इस युग की परिस्थितियाँ और प्रवृत्तियाँ प्रायः समान रहीं। योरप में सभ्यता के पतन का काल रोमन साम्राज्य के अन्तिम दिनों में ही प्रारम्भ हो चुका था और बर्बर आक्रमणों ने कुछ काल के लिये सभ्यता के प्रवाह को शिथिल कर दिया। इसी प्रकार हर्ष की मृत्यु के बाद भारत की सभ्यता उस वेग से उन्नति न कर सकी जैसी कि उसने पहले की थी। भारतीय प्रतिभा की मौलिकता और सृजनात्मिका शक्ति का कुछ ह्रास हो जाता है और काव्यों तथा नाटकों के स्थान पर टीकाओं तथा निबन्धों का प्रणयन होने लगता है। मुसलमानों के आक्रमणों ने भारत की प्राचीन सभ्यता को एक धक्का सा लगता है परन्तु वह अपने को फिर से संभाल लेती है और अपने वास्तविक स्वरूप की रक्षा करने के लिये प्रयत्नशील हो जाती है। कुछ समय के बाद जब मुसलमान इस देश के आक्रमणकारी न रह कर यहाँ के निवासियों के साथ घुल-मिल जाते हैं तो एक मिली-जुली सभ्यता का विकास होता है। योरप में भी इस प्रकार का सांस्कृतिक समन्वय हमें देखने को मिलता है जब बर्बर आक्रमणकारियों की सभ्यता के तत्वों का सम्मिश्रण रोमन सभ्यता के साथ होता है। चीन में शुङ्ग वंश के गौरवशाली शासन के उपरान्त मंगोलों के आक्रमण के फलस्वरूप चीनी सभ्यता का विकास-क्रम अवरुद्ध हो गया। चीनी अपनी सभ्यता की रक्षा तो कर सके किन्तु उसमें कुछ विशेष उन्नति नहीं कर सके। कला और साहित्य का ह्रास हो गया। कुछ समय के बाद चीनियों ने मंगोलों को अपने देश से बाहर खदेड़ दिया और मिंग वंश का शासन प्रारम्भ हुआ। मिंग वंश के शासन काल में चीनी सभ्यता की कुछ अधिक उन्नति हुई। जिस प्रकार मध्यकालीन यूरोप में सामन्त-प्रथा का प्रचलन था उसी प्रकार जापान में भी सामन्त-प्रथा प्रचलित थी। भारत में भी समाज की आधार-भूमि सामन्तवाद ही थी किन्तु भारत के सामन्तवाद का स्वरूप योरप की सामन्त-प्रणाली से भिन्न था।

कतिपय विद्वानों ने यूरोप के "मध्य युग" को "अन्ध युग" की संज्ञा दी है। परन्तु इस प्रकार का नाम बिल्कुल भ्रान्तिपूर्ण है। पुनरुज्जीवन काल के विद्वानों ने मध्य युग को "अन्ध युग" इसलिए कहा है कि इस समय लोगों का ध्यान यूनान और रोम के प्राचीन साहित्य के अध्ययन की ओर बहुत कम था और मध्य युग के प्रारम्भिक समय के विषय में उनकी जानकारी नहीं के बराबर थी। किन्तु आज जब कि हमारा ऐतिहासिक ज्ञान मध्य-युग के विषय में काफी बढ़ गया है, हम 'अन्ध-युग' शब्द का प्रयोग अनुचित समझते हैं। शिक्षा का इतिहास लिखते हुए एक आधुनिक विद्वान ने विनोदपूर्ण ढंग से कहा है कि आज की खोजों ने 'अन्ध युग' को बहुत पीछे कर देने का काम जारी रक्खा है और शायद कुछ दिनों बाद किसी भी समय के लिए (मध्य युग के प्रारम्भिक काल के लिए भी) इस शब्द का प्रयोग न किया जा सके। यह अवश्य है कि जर्मन आक्रमणों ने योरप में सभ्यता के विकास को रोक दिया था किन्तु बाद में आक्रमणकारियों ने रोमन सभ्यता के सम्मिश्रण द्वारा प्राचीन सभ्यता की आधारशिला पर एक नूतन सभ्यता का भवन खड़ा किया। "प्रारम्भिक मध्य युग की बर्बरता ही वह मूल तत्व थी जिसने मानवीय मस्तिष्क और दृढ़ इच्छा शक्ति के द्वारा सभ्यता के उन नवीन रूपों का सृजन किया गया जो मौलिकता और महानता दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं।" मध्य युग में ही अरबों और बाइजेन्टाइन साम्राज्य की विकसित सभ्यता का पालन-पोषण हुआ था और मध्यकालीन सभ्यता के अनेक तत्वों द्वारा ही आधुनिक युग की सभ्यता का जन्म हो सका। हम आगे के अध्यायों में आपको मध्य युग के सांस्कृतिक जीवन तथा उसकी सांस्कृतिक देनों के विषय में बतायेंगे। उससे यह और अधिक स्पष्ट हो जायगा कि 'अन्ध युग' शब्द का प्रयोग अनुचित है। योरप में मध्य युग का सूत्रपात करने वाले जर्मन आक्रमणकारी ही थे इसलिए हमें पहले इनके विषय में ही जान लेना चाहिए।

रोम के विजेता

हम पिछले अध्याय में आपको बता चुके हैं कि रोमन साम्राज्य को बर्बर आक्रमणकारियों ने धराशायी कर दिया था। ये आक्रमणकारी जर्मन जाति के, जो आर्य जाति की एक शाखा थी, लोग थे और कुछ समय पहले काले सागर तथा कैस्पियन सागर के निकट से योरप में आये थे। जूलियस सीजर ने अपनी एक पुस्तक में जर्मनों के विषय में लिखा है किन्तु हमें रोम के इतिहासकार टेसीटस के ग्रन्थ 'जरमेनिया' से जर्मनों के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त होती है। टेसीटस ने उनके रंग रूप के विषय में लिखा है कि उनकी "आंखें डरावनी और नीली थीं, उनके बाल कुछ लाल रंग के थे, उनके शरीर बड़े विशाल और आक्रमण करने के लिए विशेष रूप से शक्तिशाली थे, किन्तु वे कठिन कार्य करने के लिए सक्षम न थे, वे गर्मी और प्यास कम सहन कर सकते थे यद्यपि जलवायु तथा भूमि के कारण उनको भूख और शीत सहन करना पड़ता था।" पहले जर्मनों के जीवन और उनकी सभ्यता का वर्णन किया जायगा फिर बाद में संक्षेप में रोम पर उनके आक्रमण का उल्लेख किया जायगा।

यूनानियों और रोमनों ने इन जर्मन आक्रमणकारियों को 'बारबेरी' Barbari कहा है। यह शब्द संस्कृत के 'बर्बर' शब्द से काफी मिलता-जुलता है जिसका अर्थ होता है असभ्य और निर्दय। किन्तु हमें जर्मनों को 'बर्बर' कहने में आपत्ति है। यदि वे बर्बर ही होते और उनके अन्दर गुणों का अभाव होता तो वे व्यापार और युद्ध कला में चार शताब्दियों तक रोमन सभ्यता की बराबरी नहीं कर सकते थे। उन्होंने लेखन-प्रणाली सीख ली थी और स्थायी कानूनों के आधार पर उन्होंने अपनी शासन-व्यवस्था स्थापित की थी। वे नैतिकता में रोमनों और यूनानियों से कहीं अधिक बढ़े-चढ़े थे। उनके व्यक्तिगत चरित्र विशुद्ध और उन्नत होते थे। यह सत्य है कि उनके चरित्र में एक सुसंस्कृत समाज के गुणों का अभाव था लेकिन साहस, आतिथ्य सत्कार और शुचिता के गुणों द्वारा वे रोमनों को लज्जित कर देते थे। वे निर्दय अवश्य थे किन्तु वे उन 'सभ्य' रोमनों की अपेक्षा कम निर्दय थे, जो अपने दासों को भयङ्कर पशुओं से निहत्थे लड़ने के लिए नाट्यशाला में छोड़ देते थे और दासों के आहत किये जाने या मार डाले जाने पर हर्ष निनाद करते थे। जर्मनों को इस बात का दुःख था कि रोमन कानून में अपराध स्वीकार कराने के लिए लोगों को यातनायें देने का विधान

था। वे पूर्णरूप से व्यक्ति-स्वातंत्र्य के प्रेमी थे किन्तु रोमन लोग बहुत पहले ही अपने स्वातंत्र्य भावों को भुला चुके थे। जर्मनों के समाज में जो लोग उच्च स्तर के थे, वे साहित्य और कला की महत्ता के प्रति बिल्कुल उदासीन न थे। उनमें से कुछ लोग तो रोम के सांस्कृतिक जीवन में प्रवेश पा चुके थे और उन्होंने ऐसी लैटिन भाषा लिखी जिसकी प्रशंसा कुछ रोमन विद्वानों ने भी की थी। वे आक्रमणकारी, विशेष करके गोथ लोग, इतने सभ्य तो अवश्य थे कि वे रोम की सभ्यता को समझ सके और उसके तत्वों को उन्होंने ग्रहण भी किया। दो सौ वर्षों तक उन्होंने रोमन साम्राज्य की सीमा के भीतर निवास किया और इसकी रक्षा का प्रयत्न किया। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए हमें इन आक्रमणकारियों को 'बर्बर' कहने के पहिले अपनी धारणा बदल लेनी पड़ेगी अन्यथा इनको बर्बर कहने का कोई औचित्य नहीं दीख पड़ता।

जर्मनों की शासन पद्धति

अपनी शासन पद्धति में जर्मन लोग प्रजातन्त्रात्मक विचारों वाले थे। उनके राजाओं के अधिकार तो बहुत थे किन्तु उनका निर्वाचन किया जाता था। समय समय पर स्वतंत्र नागरिक लोक सभा में इकट्ठे हुआ करते थे और शासन के महत्वपूर्ण मसलों को तै किया करते थे। न्याय के मामलों में पुरोहितों को राजाओं की अपेक्षा अधिक अधिकार था। विद्रोहियों और धोखेबाजों को प्राणदण्ड दिया जाता था। छोटे अपराधों के लिये अपराधियों को जुर्माना देना पड़ता था। लोकसभा में ही मजिस्ट्रेटों का चुनाव होता था जो गांवों और जिलों में दीवानी के मामलों का निर्णय करते थे।

व्यवसाय

शान्तिकाल में जर्मनों के तीन प्रमुख व्यवसाय थे—(१) पशु पालन (२) कृषि और (३) आखेट। वे एक स्थान से दूसरे स्थान को चरागाहों की खोज में जाया करते थे। खेती के उत्तम तरीकों से वे अनभिज्ञ थे। उनकी कृषि प्रणाली बिल्कुल आदिम थी। खेती का अधिकांश काम दासों द्वारा ही कराया जाता था। स्त्रियां भी खेती का बहुत सा काम करती थीं। जौ और जई की फसल अधिक होती थी। गेहूँ तथा राई वे कम उत्पन्न करते थे। गेहूँ या जौ से आटा बनाया जाता था। जर्मन लोग जौ से शराब भी तैयार करते थे। भेड़ों से वे ऊन प्राप्त करते थे और उनके चर्म को वे अपना आवरण बनाते थे। पहले तो सारी भूमि पर सभी जर्मनों का समान अधिकार होता था किन्तु बाद में उनके अन्दर भी व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा प्रचलित हो गई। रोम के निवासियों से जर्मनों ने व्यापार तथा उद्योग की बहुत सी बातें सीखीं। जर्मन लोग मिट्टी और धातुओं की वस्तुयें बनाना सीख गये थे। वे रोमनों के हाथ पशु-चर्म, कुछ इमारती लकड़ी और कलहंस पक्षी के पर बेचते थे और इन वस्तुओं के बदले में वे उनसे लोहे के हथियार, मसाले, मदिरा, शीशे की वस्तुयें और धातुओं के सामान प्राप्त करते थे।

सामाजिक जीवन

जर्मनों के समाज में तीन स्तर थे—(१) सरदार (२) स्वतन्त्र नागरिक और (३) दास। समाज में स्त्रियों का स्थान काफी ऊँचा था। उनको परदे के भीतर बन्द नहीं रहना पड़ता था बल्कि पुरुषों की भांति उन्हें भी घूमने फिरने की स्वतन्त्रता थी। जर्मन लोग अपनी गृहणियों का आदर करते थे और उनकी बात मानते थे। आखेट करना लोगों का व्यवसाय होने के साथ साथ उनके मनोरंजन का साधन भी था। जब वे शिकार से ऊब जाते थे तो जुआ खेल कर अपना मन बहलाते थे। उनके अन्दर शराब पीने का भी दोष विद्यमान था। कभी कभी द्यूतक्रीड़ा में वे अपने को ही दांव पर लगा देते थे और हार जाने पर वे उस व्यक्ति का दासत्व स्वीकार कर लेते थे जो उन्हें जुये में हरा देता था। वे कभी कभी दास बनाये जाकर दूसरों के हाथ बेंच दिये जाते थे। इन दोषों को छोड़कर जर्मनों के चरित्र में अन्य कमियाँ न थीं। व्यभिचार को वे बहुत बड़ा दोष समझते थे। टेसीटस ने लिखा है, "कदाचित केवल बर्बरों में ही लोग एक पत्नी से सन्तुष्ट रहते थे।"

अन्य प्राचीन जातियों की भांति जर्मन लोग भी प्रकृति की शक्तियों को ही पूजते थे। वे सूर्य और चन्द्रमा की

धर्म

पूजा करते थे । उनके धार्मिक जीवन में पुरोहितों का कोई संगठित वर्ग नहीं था । परिवार का सबसे वयोवृद्ध व्यक्ति ही पुरोहित का काम करता था । विशेष अवसरों पर किसी भी व्यक्ति को पुरोहित का काम करने के लिए नियुक्त किया जा सकता था । चूंकि जर्मन लोग अपने धार्मिक विचारों को बहुत दृढ़ता से नहीं मानते थे इसलिये उनको ईसाइयों ने सरलता पूर्वक अपने धर्म में दीक्षित कर लिया ।

जर्मन लोग लूट मार तो करते ही थे अतएव जब उनको रोमन साम्राज्य के वैभव का ध्यान हुआ तो उन्होंने इस पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया । उनकी जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ रही थी इसलिये जिस प्रदेश में वे

जर्मनी के रोम पर आक्रमण

रहते थे वह उनके भरण-पोषण के लिये उपयुक्त न जान पड़ा । अतएव वे रोम की ओर बढ़े । इसके अलावा उनको स्लैव और हूण जाति के लोगों ने उनके देश की सीमा के बाहर निकाल दिया । पश्चिमी गोथ लोगों ने हूणों से त्राण पाने के लिये रोमनों से उनके साम्राज्य में रहने की अनुमति माँगी और रोमन साम्राज्य की सीमा के भीतर रहने लगे । किन्तु शीघ्र ही रोम के शासन से असन्तुष्ट होकर उन्होंने विद्रोह कर दिया और सन ३७८ ई० में एड्रियानोपिल के युद्ध में रोमन सेना को हरा दिया । एलारिक के नेतृत्व में गोथ लोगों ने सारे साम्राज्य को एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक रौंद डाला ।

गोथ लोगों का अनुसरण करके अन्य जर्मन कबीलों ने भी रोमन साम्राज्य की सीमा में प्रवेश किया । सन् ४५५ ई० में वान्डाल लोगों ने रोम को नष्ट करने का प्रयत्न किया । थियोड्रिक के नेतृत्व में पूर्वी गोथ लोगों ने इटली के मध्य भाग में एक राज्य स्थापित कर लिया । लोम्बार्ड लोगों ने पो नदी की उर्वरा घाटी में अपना अधिकार जमा लिया । फ्रैंक लोगों ने राइन नदी को पार कर गाल को अपना निवास स्थान बना लिया । छठीं शताब्दी के मध्य तक जर्मनों ने रोमन साम्राज्य के अधिकांश पश्चिमी प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया ।

जिस प्रकार विजित यूनानी विजेता रोमनों के सांस्कृतिक गुरु हो गये थे उसी प्रकार से रोमनों की संस्कृति को जर्मनों ने ग्रहण कर लिया । रोम की पतनोन्मुख सभ्यता में जर्मनों ने भी अपनी चारित्रिक विशेषताओं का समावेश

जर्मनों की देन

करने का प्रयत्न किया । अपने व्यक्तिगत स्वाधीनतानुराग को उन्होंने रोमनों को प्रदान करने की चेष्टा की क्योंकि इस समय तक रोमन लोग यह भूल ही गये थे कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता होती कौन सी वस्तु है । यह विचार कि शासन में जनसाधारण को भाग लेना चाहिये, जर्मनों की ही देन थी । उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि जन साधारण की अनुमति से ही राजा को शासन करने का अधिकार मिलना चाहिये । उनके स्थानीय न्यायालय केवल स्थानीय मामलों पर ही नियन्त्रण रखते थे । बाद में इसी प्रथा ने धारासभाओं के निर्माण के लिये एक नमूना उपस्थित किया ।

पाश्चात्य सभ्यता को जर्मनों की एक विशेष देन थी, वह देन थी उनका विकसित कानून-शास्त्र । यद्यपि यह कानून-शास्त्र लिखित नहीं था तथापि कई पीढ़ियों तक यह जर्मन समाज में प्रयुक्त होता रहा था । नीदरलैण्ड, स्कैण्डनेविया और जर्मनी के कानूनों तथा इंगलैण्ड के 'कामन लॉ' का यह मूलाधार था । जर्मनों ने भी रोमन ला के बहुत से तत्व ग्रहण कर लिये । जस्टीनियन के कोड को जर्मनों ने पूरी तरह से ग्रहण कर लिया । बाद में जर्मनों और रोमनों के कानून शास्त्र का एक दूसरे से काफी सम्मिश्रण हुआ । यूरोपीय सभ्यता के विकास में जर्मन और रोमन सभ्यताओं के सम्मिश्रण ने काफी महत्वपूर्ण भाग लिया ।

ईसाई धर्म का उत्थान

मानव-सभ्यता के इतिहास में ईसाई धर्म का उत्थान एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है । ईसाई धर्म ही ने सामाजिक नियमों को कुछ आधिदैविक महत्व प्रदान करके समाज एवं मानवीय चरित्र के नैतिक आधार का पुनर्संस्थापन किया और 'बर्बर' आक्रमणकारियों को आचार तथा व्यवहार के श्रेष्ठ नियम सिखाये । जिस प्रकार यूनान में जादू

अथवा रोम के गौरव ने मनुष्यों को बहुत दिनों तक एकता के सूत्र में आबद्ध कर रक्खा था उसी प्रकार ईसाई धर्म ने विश्वास के एक विशाल साम्राज्य की स्थापना करके मानव समाज को बहुत दिनों तक एक रक्खा है। ईसाई-धर्म के प्रवर्तक प्रभु ईसा मसीह थे। और समस्त धर्म अपने जन्मदाता के प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व से ओतप्रोत था। इसलिये हमें पहले महात्मा ईसा के जीवन और उनकी शिक्षाओं के विषय में जान लेना चाहिये।

ईसा का जीवन

महात्मा ईसा के प्रारम्भिक जीवन का हमें कोई नितान्त विश्वसनीय विवरण नहीं प्राप्त होता क्योंकि उनकी जीवन-गाथा लिखने वालों ने उनके जीवन को रहस्यमयी कथाओं से सम्बद्ध कर दिया है। ईसा का प्रारम्भिक जीवन महात्मा बुद्ध की भांति सुविधाओं से परिपूर्ण न था। उनको अपने जातिबन्धुओं के जीवन की कठिनताओं का सामना करना पड़ा था। उनको स्थान-स्थान पर घूमना पड़ा था जिससे अपने साथियों की वेदनाओं का उन्होंने व्यक्तिगत रूप से अनुभव किया। कुछ लोगों के व्यक्तित्व से वे प्रभावित हुये। जान दी बैप्टिस्ट की शिक्षाओं से, जिसने लोगों को अपने पापों का प्रायश्चित करने और आध्यात्मिक परिशुद्धि करने का उपदेश दिया तथा संसार को श्रेष्ठ बनाने के लिये एक महान पुरुष के अवतार का आश्वासन दिया, ईसा विशेष रूप में प्रभावित हुये। हेरड नामक राजा की आज्ञाओं से जब जान दी बैप्टिस्ट को प्राणदण्ड दिया गया तो ईसा का उत्साह और अधिक बढ़ गया और उन्होंने उसके काम को जारी रखने का निश्चय किया। उनको अपने इस काम में कई कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ा। हेरड ने उनके ऊपर भी सन्देह किया और फैरिसी लोगों ने उनकी "मिथ्या मसीहा" कहकर निन्दा की। उन्होंने पहाड़ी प्रदेशों पर सभी लोगों को, बिना उनके सामाजिक या आर्थिक स्तर का कुछ विचार किये हुये, उपदेश देते हुये अपना कुछ समय व्यतीत किया। उनकी वक्तृत्व शक्ति और उनके प्रेममय मृदु व्यवहार से सभी लोग प्रभावित होते थे। बहुत से लोग उनके शिष्य हो गये और उन्होंने, विशेषकर पीटर ने, ईसा को मसीहा कहा। लेकिन महात्मा ईसा की उदात्त और उन्नत किन्तु सरल और आडम्बरहीन शिक्षायें उनके समय के शासक वर्ग और धनिक-वर्ग को अपने हितों के विरुद्ध जान पड़ी। अन्त में जब रोमन सम्राट आगस्टस द्वारा चलाई हुई सम्राट पूजा को उन्होंने अनावश्यक बताया तब उनको रोम के एक प्रान्तीय शासक की आज्ञा से निर्दयता पूर्वक सूली पर चढ़ा दिया गया। मानव जाति के उद्धारक और सच्चे हितैषी महात्मा ईसा का यह प्राणदण्ड इतिहास की अत्यन्त करुण घटनाओं में से है।

महात्मा ईसा की शिक्षायें

अपने समय के क्रूर और निर्दय संसार को महात्मा ईसा ने प्रेम और करुणा के दिव्य उपदेश दिये। सहानुभूति और सहिष्णुता को उन्होंने अत्यन्त आवश्यक बताया। उन्होंने दीन-दुर्बलों को उनके सुखमय भावी जीवन की आशा देकर सान्त्वना प्रदान की। सरमन आन द माउन्ट में वे कहते हैं, "यदि तुम गरीब हो तो तुम धन्य हो क्योंकि "ईश्वर का राज्य" तुम्हारा है। यदि तुम भूखे हो तो तुम धन्य हो क्योंकि तुम्हारी क्षुधा सन्तुष्ट कर दी जायगी। यदि तुम रो रहे हो तो तुम धन्य हो क्योंकि तुम हँसोगे।" महात्मा ईसा ने बार-बार "ईश्वर का राज्य" या "स्वर्ग का राज्य" शब्द को अपने उपदेशों में प्रयुक्त किया है, इसलिये हमें इसकी व्याख्या कर लेनी चाहिये।

"स्वर्ग का राज्य" के सिद्धान्त उन थोड़ी सी क्रान्तिकारिणी विचारधाराओं में हैं, जिन्होंने मनुष्य के विचारों को बदल कर उसके आचरण को प्रभावित किया है। इन सिद्धान्तों ने अपने समय की प्रचलित मानवीय संस्थाओं और विश्वासों को चुनौती दी। महात्मा ईसा ने इनके द्वारा लोगों के सामने अपने आचरण में आमूल परिवर्तन करने तथा आत्म-परिशुद्धि करने की माँग रक्खी। उन्होंने ईश्वर की सर्ववत्सलता और निष्पक्षता का प्रतिपादन किया। जिस प्रकार सूर्य अपना प्रकाश प्रदान करने में किसी के प्रति कोई विशेष कृपा नहीं दिखलाता वरन् निष्पक्ष भाव से सबको अपनी ज्योति प्रदान करता है, उसी प्रकार ईश्वर भी किसी भी व्यक्ति के प्रति विशेष कृपालु नहीं हो सकता और अपने वरद हस्त की कल्याणमयी छाया सबके ऊपर रखता है। इस स्वर्गीय और महान पिता के पुत्र होने के कारण

सभी लोग चाहे वे पापी हों अथवा पुण्यवान, धनी हों या निर्धन, दुर्बल हों या सबल, आपस में भाई भाई हैं। महात्मा ईसा की दृष्टि में मनुष्य मनुष्य के बीच में कोई अन्तर न था परन्तु उनके उपदेशों से ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी सहानुभूति दीन-दुर्बलों और निस्सहाय अनाथ प्राणियों के साथ अधिक थी।

महात्मा ईसामसीह ने धनसंचय की प्रवृत्ति की बार-बार निन्दा की और इसे ईश्वर-प्राप्ति में बाधक बतलाया। "और जब वे चले गये तब एक मनुष्य दौड़ता हुआ आया और झुककर श्रद्धा-पूर्वक उनसे पूछा ' ऐ भले उपदेशक मैं क्या करूँ जिससे मैं अमर जीवन प्राप्त कर सकूँ।" "कोई भी भला नहीं है, केवल ईश्वर ही भला है। तुझे आदेश मालूम हैं, व्यभिचार मत कर, हत्या मत कर, चोरी मत कर, झूठी गवाही मत दे, धोखा मत दे, अपने माता पिता का सम्मान कर।" उसने उत्तर दिया और उनसे कहा, "गुरुवर, इन सब नियमों का पालन मैंने अपनी युवावस्था से ही किया है।" तब ईसा ने उसको सस्नेह देखा और उससे कहा, "तुझमें एक वस्तु का अभाव है, तू जा और जो कुछ भी तेरे पास हो उसे तू बेच दे और गरीबों में बाँट दे और तुझे अपना खजाना स्वर्ग में सुरक्षित मिलेगा। तब आ और मेरे साथ चल। इस कथन पर वह दुखी हो कर चला गया क्योंकि उसके पास बहुत बड़ी सम्पत्ति थी।

और ईसा ने चारों ओर देखा और अपने शिष्यों से कहा, जिन लोगों के पास धन है वे कितनी कठिनता से स्वर्ग के राज्य में प्रवेश कर सकेंगे! और शिष्यों को उनके शब्दों पर आश्चर्य हुआ। परन्तु ईसा ने फिर उत्तर दिया और उनसे कहा, बच्चो जो लोग धन में विश्वास करते हैं उनके लिए ईश्वर के राज्य में प्रवेश पाना कितना कठिन है! धनवान के स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करने की अपेक्षा ऊँट का सुई के छेद में से निकल जाना कहीं आसान है।"

ईसा ने किसी कर्मकाण्ड इत्यादि का प्रतिपादन नहीं किया। उन्होंने कहा कि मनुष्य अपने भाइयों की सेवा द्वारा ईश्वर की सबसे श्रेष्ठ सेवा कर सकता है। उनके "स्वर्ग के राज्य" वाली विचारधारा में बाह्य कर्मकाण्डों को कोई स्थान नहीं है, यह मनुष्य की उदात्त नैतिक भावनाओं पर आधारित है। ईसा मसीह ने दीन-दुर्बलों को जो सान्त्वना प्रदान की उससे ईसाई धर्म की बहुत अधिक उन्नति हुई क्योंकि रोम के सरदारों, अफसरों और सम्राटों के द्वारा प्रपीड़ित जनता के लिए त्राण पाने का कोई दूसरा उपाय न था।

महात्मा ईसा की मृत्यु के उपरान्त उनके शिष्यों का नेतृत्व पीटर ने किया। इस समय ईसा के अनुयायियों की संख्या बहुत थोड़ी थी। इन सब लोगों ने अपने आपको एक समूह में संगठित कर लिया। इस समय जो लोग इनके समूह में थे उनका एक संस्कार (Baptism) कर दिया गया जिससे उनकी महात्मा ईसा की अनुयायिता को दृढ़ कर दिया गया। अपने सान्ध्यकालीन भोजन को भी संगठन के चुने हुए सदस्यों ने एक संस्कार का रूप दे दिया जिसके द्वारा वे अपने "रक्षक" के साथ तादात्म्य स्थापित करने का अवसर प्राप्त करते थे। पाल (Paul) ने ईसाई धर्म के प्रचार की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने प्रमुख नगरों में चर्च स्थापित किये, अपने पत्रों द्वारा ईसाई धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या की और अपने धर्म की सार्वभौमिकता का प्रतिपादन किया। पाल ने ईसाई धर्म को मुक्ति का धर्म कहा और ईसा को मुक्तिदाता बताया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पाल के प्रयत्नों ने रोमन साम्राज्य के भीतर धर्म के अनुयायियों की संख्या में काफी अभिवृद्धि की।

रोमन साम्राज्य में ईसाई धर्म का जो उत्पीड़न हुआ उसका विवरण हम पीछे दे चुके हैं। रोमन साम्राज्य के पतन के बाद जो अव्यवस्था फैली उसमें चर्च ही सबसे शक्तिशालिनी अकेली संस्था प्रमाणित हुई। रोमन साम्राज्य के स्थान पर अब रोमन कैथोलिक चर्च का ही नाम सर्वत्र सुनाई पड़ने लगा और सम्पूर्ण मध्य-युग में चर्च की प्रधानता को कोई चुनौती न दे सका। रोम के सम्राट का स्थान अब चर्च के सर्वोच्च अधिकारी पोप ने ग्रहण कर लिया।

मध्य युग में चर्च की आध्यात्मिक शक्ति सात संस्कारों के ऊपर आधारित थी। नामकरण (Baptism) प्रमाणीकरण (Confirmation), the Holy Eucharist, तप (penance), अंतिम अभिषेक

(extreme unction), ordination और विवाह (matrimony) ये सात संस्कार थे। इनका विकास बारहवीं शताब्दी तक पूर्ण रूप से हो चुका था। नामकरण प्राचीन पापों के प्रभावों को मिटाता था। प्रमाणीकरण द्वारा

ईसाई धर्म की संस्कार-प्रणाली

बारह वर्ष की अवस्था में बच्चे के नामकरण को सार्वजनिक रूप से घोषित कर के उसके नामकरण को प्रमाणीकृत किया जाता था। तीसरे संस्कार का उद्देश्य मनुष्य को उसके दुःखों में शक्ति प्रदान करना और आध्यात्मिक पुनर्जन्म देना था। तप द्वारा मनुष्य अपने पापों का प्रायश्चित करता था। अतिशय अभिषेक वह संस्कार था जिसमें मरणासन्न व्यक्ति स्नान द्वारा संसार की अशुद्धि को धोता था। Ordination द्वारा विशप पुरोहिती का अधिकार किसी व्यक्ति को प्रदान कर देता था जिसके द्वारा वह संस्कारों की सहायता से दैवी कृपा देता था। विवाह ऐसा संस्कार था जो पुरुष और स्त्री के सम्बन्ध को एक पवित्र गौरव प्रदान करता था और सन्तान प्राप्ति के लिए उस सम्बन्ध को कानूनी रूप देता था। इन समस्त संस्कारों की विधिवत व्यवस्था करना ही चर्च का काम था।

सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक इन सिद्धान्तों के विषय में ईसाई विचार धारायें काफी सुस्पष्ट हो चुकी थीं।

ईसाई धर्म के सिद्धान्त

निम्नलिखित सिद्धान्त कट्टर (Orthodox) समझे जाते थे।

(१) त्रिमूर्ति—पिता, पुत्र और Holy Ghost तत्वतः ईश्वर समझे जाते थे।

(२) अवतार—ईसा के व्यक्तित्व में ईश्वर मनुष्य के रूप में हो गया था।

(३) पतन—आदम के पतन ने मरणशीलों को ईश्वर के साहचर्य से वंचित कर दिया।

(४) कन्या जननी—ईसा का जन्म रहस्यमय है।

(५) ईसा का द्विविध व्यक्तित्व—ईश्वर थे किन्तु वे पूर्णतया मनुष्य भी थे।

(६) प्रायश्चित—ईश्वर, ईसा के रूप में, समस्त मानव जाति का उद्धार करने के लिए मर गये थे।

(७) कृपा—ईश्वर मनुष्य को पाप से मुक्ति प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिक सहायता प्रदान करता है।

(८) पुनर्जन्म—ईसा ने अपनी समाधि (कब्र) से उठकर, अपने अनुयायियों को अमरत्व का विश्वास दिलाया।

(९) चर्च की दैवी आधारशिला—ईश्वर और मनुष्य में साहचर्य स्थापित करने के लिये ईश्वर ने, ईसा के चर्च की स्थापना कराई

(१०) द्विरागमन—मृत पुरुषों की जाँच करने के लिए ईसा के लौटने की आशा।

उपर्युक्त धार्मिक सिद्धान्तों के अतिरिक्त ईसाइयों में एक आध्यात्मिक विचारधारा भी प्रचलित थी। ईश्वर का स्वरूप द्विविध था। वह विशुद्ध आध्यात्मिक सत्ता के रूप में अति महान, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और अमर है।

ईसाइयों की अध्यात्म-विद्या

व्यक्तिगत सत्ता के रूप में वह पवित्र, न्यायपूर्ण, दयालु, सत्यप्रिय और सच्चा है। पिता के रूप में उसने जगत की सृष्टि की और सत एवं असत का भेद बताया। ईश्वर के पुत्र के रूप में ईसा ने मनुष्य के साथ ईश्वर का साहचर्य स्थापित किया और एक शुद्ध आत्मा के रूप में वे सत्य का उपदेश देने वाले हो गये। ईश्वर ने समस्त वस्तुओं को उत्पन्न किया, सृष्टि, पौधे, पशु, मनुष्य और देवदूत। आदम के पतन के बाद भी उसने करुणावश ही मनुष्य को फिर से दैवी साहचर्य प्रदान करने का वचन दिया। द्विरागमन के समय एक अन्तिम न्याय होगा जिसमें श्रेष्ठ लोग तो आनन्द का उपभोग करेंगे और जो पाप के भागी होंगे वे कष्ट सहन करेंगे।

सन्यास और वैराग्यवाद का प्रचलन पूर्वी धर्मों में बहुत अधिक था। कुछ दिनों बाद ईसाई धर्म में इनका प्रवेश हो गया। बहुत पहले ईसाई सन्तों ने संसार के पापों के बीच में रहने को अनुचित एवं अबुद्धिमत्तापूर्ण बताया।

ईसाई धर्म में वैराग्य-वाद

सेन्ट पाल और सेन्ट आगस्टाइन ने कामवासना को एक बुराई और स्त्रियों को खतरनाक समझा। सेन्ट जेरोम ने लोगों को इहलौकिक जीवन के सुखों का उपभोग करने से सावधान किया। सामाजिक और आर्थिक गड़बड़ी के समय में वैराग्यवाद का प्रचार बहुत अधिक होने लगता था।

संगठित सन्यास-जीवन ने लोगों को आध्यात्मिक पिपासा की परितृप्ति के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के प्रलोभन भी दिये। सन्यासियों को सैनिक सेवाओं, पारिवारिक कर्तव्यों, व्यक्तिगत बन्धन और अपराध के लिए दण्ड से मुक्ति प्राप्त हो जाती थी। आक्रमणकारियों के आक्रमणों से सन्यासियों की अपने मठों में रक्षा हो जाती थी क्योंकि कोई भी आक्रमणकारी मठ में घुसने का साहस नहीं कर सकता था। सन्यासियों को मठों में भोजन और निवास की सुविधा प्राप्त हो जाती थी। इन सब प्रलोभनों के कारण कितने लोगों ने सन्यास ग्रहण किया था यह तो ठीक नहीं मालूम किन्तु ऐसे लोगों की संख्या बिल्कुल नगण्य भी न रही होगी।

सन्यास-जीवन का आदर्श इस विचार के ऊपर आश्रित था कि यह अमरता की तैयारी का जीवन है। आत्मा शरीररूपी कारा में बन्दिनी है और सांसारिक सुखों के उपभोग करने की इच्छा के कारण वह ऊपर उठकर ईश्वर से तादात्म्य नहीं स्थापित कर पाती। शरीर को जितना अधिक कष्ट दिया जाय आत्मा को उतना अधिक लाभ होगा। ईसा की शिक्षाओं का यह अर्थ लगाया गया कि वे मनुष्य को संसार से सदैव पृथक रहने का उपदेश देते हैं। सन्यासियों ने दारिद्र्य, ब्रह्मचर्य और आज्ञाकारिता के व्रत ग्रहण किये। दरिद्रता के कारण वे धन के दोषों से, ब्रह्मचर्य के कारण कामवासना के दूषित प्रभाव से और आज्ञाकारिता के कारण मद में से निष्पाप से बचे रहेंगे, ऐसा उनका विश्वास था।

ईसाई धर्म के वैराग्यवाद के कई मठ थे। इन मठों के विधान तथा नियम थे और प्रबन्धादि के लिए संगठित सरकारें होती थीं। सेन्ट बेनेडिक्ट ने इटली के मान्टेकेसिनो में एक मठ स्थापित किया। उसने एक नियम बना दिया था कि मठ का स्थायी सदस्य होने के पहिले प्रत्येक व्यक्ति को मठ में ही कुछ दिनों तक रह कर अपनी परीक्षा देनी पड़ती थी और सफल हो जाने पर वह मठ का सदस्य हो जाता था किन्तु असफलता मिलने पर उसे सन्यास ग्रहण करने का विचार ही त्याग देना पड़ता था। जो लोग शारीरिक दृष्टि से सक्षम होते थे उनको छः सात घण्टे कठिन शारीरिक श्रम करना पड़ता था। कार्य को एक बहुत बड़ा गुण समझा जाता था और "सुस्ती को आत्मा का शत्रु।"

धर्म के इतिहास में सेन्ट फ्रांसिस आफ एसिसी का नाम अति महत्वपूर्ण है। "उसने लोगों के मस्तिष्क को नहीं, कल्पना को प्रभावित किया, वह (gospel) विचार का मूर्तिमान प्रतीक था।" उसके आदर्शमय जीवन और उसके आत्म त्याग-पूर्ण व्यवहार ने लोगों को बड़ा अधिक प्रभावित किया। सेन्ट फ्रान्सिस आफ एसिसी का सुकुमार हृदय गरीबों के दुःखों से अत्यन्त शीघ्र द्रवित हो जाता था। उन्होंने अपने मठ के सदस्यों को दीन-हीन और निर्बल तथा रोगियों की सेवा करने का उपदेश दिया। उसने उनके लिए ईसा मसीह के सरल और दरिद्रतापूर्ण जीवन का ही अनुसरण करना और कभी भी इसे न छोड़ना आवश्यक बताया।

मध्य काल में, जब बर्बर आक्रमणों से धरा भाराक्रान्त थी, शासकों तथा आभिजात्य वर्गों की अनैतिकता युग को कालिमामय बना रही थी और जब चारों ओर सामाजिक एवं आर्थिक गड़बड़ियों का बोलबाला था, वैराग्यवाद का महत्व कुछ कम न था। जहाँ एक ओर शासक, सरदार और धनवान लोग विलासितामय और आडम्बर पूर्ण जीवन व्यतीत करते थे और दूसरी ओर साधारण जनों का जीवन यन्त्रणामय था, मठ के अधिकांश सदस्य अपने त्यागमय एवं शुद्ध, सरल जीवन से लोगों के सामने एक श्रेष्ठ आदर्श प्रस्तुत करते थे। जब चर्च में सांसारिकता और अनैतिकता का ही प्राधान्य था, मठ के सन्यासियों ने सुधार आन्दोलन आरम्भ किये और आदर्शवाद का सुन्दर नमूना उपस्थित किया। मध्य-काल में ईसाई धर्म के फैलाने का अधिकांश कार्य सन्यासियों ने ही किया। इंग्लैण्ड, जर्मनी और मध्य यूरोप के स्लैव लोगों में ईसाई धर्म को उन्होंने ही फैलाया था। कुछ सन्यासी बड़े ही कुशल कारीगर और श्रमी थे।

वे लोग खेती के कुछ अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य, जैसे दलदलों को सुखाना, भूमि को साफ कर उसे कृषि योग्य बनाना, बीज का चुनाव करना, पशु पालन, और फसलों का हेर फेर करना आदि बड़ी कुशलतापूर्वक करते थे। कदाचित मध्य युग में केवल मठ ही उज्जवल सांस्कृतिक केन्द्र थे। मठों में विद्वान लोग शरण प्राप्त करते थे और निर्विघ्न अपना कार्य करते थे। कभी-कभी सन्यासियों की पार्थक्यमयी मनोवृत्ति के कारण समाज बहुत से बुद्धिमान और कार्यशील व्यक्तियों की महत्वपूर्ण सेवाओं से वंचित हो जाया करता था।

चर्च का अधिकार बढ़ने पर पोप का प्रभुत्व काफी बढ़ने लगा। पोप ही चर्च का सब से प्रधान कर्मचारी था और उसकी सत्ता को मध्यकाल में लगभग सभी लोग सिर झुका कर स्वीकार करते थे। ग्रेगोरी सप्तम (१०७३-१०८५) एक अत्यन्त महत्वपूर्ण धार्मिक नेता था। वह पहले एक सन्यासी था और बाद में उसे पोप का पद प्राप्त हो गया। चर्च की सांस्कृतिक देनों का उल्लेख हम मध्य-कालीन संस्कृति के साथ करेंगे। पहले हम मध्यकाल की एक गौरवमयी सभ्यता की ओर आपका ध्यान ले चलना चाहते हैं। यह सभ्यता है, बाइजेन्टिअ्रा की सभ्यता।

—:०:—

चौदहवाँ अध्याय

बाइजेन्टिआ की सभ्यता

मध्य-कालीन सभ्यताओं में बाइजेन्टिआ का विशेष गौरव और महत्त्व है। रोम साम्राज्य के पतनोपरान्त यूनानी-रोमी (Greco-Roman) सभ्यता की दीपशिखा बहुत दिनों तक बाइजेन्टिआ की राजधानी कुस्तुन्तुनिया में जलती रही। बर्बर आक्रमणकारियों को रोक कर कुस्तुन्तुनिया ने सभ्यता की रक्षा की और योरप के नवजात राज्यों को बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित कर उन्हें पुष्ट होने का अवसर प्रदान किया। प्रोफेसर थार्नडाईक ने लिखा है कि बार-बार आक्रमणकारियों ने कुस्तुन्तुनिया की चहारदीवारी में से घुसने का प्रयास किया किन्तु वे विफल-प्रयत्न ही रहे। "इस प्रकार इसने (कुस्तुन्तुनिया ने) सभ्यता की दुहरी सेवा की, एक तो बाल्कन के आक्रमणकारियों को एशियाई प्रान्तों से दूर रख के और दूसरे एशिया माईनर के आक्रमणकारियों को योरप से बाहर रख के।" जिस प्रकार हेलिनिस्टिक युग में सिकन्दरिया विश्व के एक बहुत बड़े भाग की सांस्कृतिक एवं व्यापारिक राजधानी थी उसी प्रकार मध्ययुग में कुस्तुन्तुनिया को भी संस्कृति और व्यापार का केन्द्र होने का गौरव प्राप्त था। हेलिनिस्टिक युग की सभ्यता की भाँति बाइजेन्टिआ की सभ्यता में भी पूर्वी प्रभावों और योरपीय सभ्यता का सम्मिश्रण था। मध्यकालीन सभ्यताओं का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के लिए कुस्तुन्तुनिया महत्त्व सन्निवेश है। इतिहासकार को बार-बार इसी का स्मरण करना पड़ता है। गिबन ने लिखा है "जिस प्रकार अपनी दैनिक पूजाओं में फेज या दिल्ली का मुसलमान मक्का की मस्जिद की ओर ही मुख करता है उसी प्रकार इतिहासकार की दृष्टि कुस्तुन्तुनिया के साम्राज्य पर सदैव केन्द्रित रहेगी।" पहले हम बाईजेन्टिआ का संक्षिप्त राजनीतिक इतिहास देंगे फिर उसकी सभ्यता का वर्णन करेंगे।

बाइजेन्टिआ का संक्षिप्त राजनीतिक इतिहास

बाइजेन्टिआ का साम्राज्य रोमन साम्राज्य का ही एक भाग था और कुछ इतिहासकार इसे पूर्वी रोमन साम्राज्य कहकर पुकारते हैं। बाइजेन्टिआ का सब से प्रसिद्ध शासक जस्टीनियन था। जस्टीनियन के कानून-संग्रह मानव सभ्यता को एक बहुत बड़ी देन थी। उसके समय में बाइजेन्टिआ के साम्राज्य की शक्ति, समृद्धि और वैभव में भी काफी अभिवृद्धि हुई। उसने बाइजेन्टिआ की खोई हुई शक्ति को लौटाने का प्रयत्न किया और अपने प्रयत्नों में बहुत अंशों में वह सफलीभूत भी रहा। उसने बाल्कन के प्रान्तों में कुछ अंशों तक अपनी शक्ति स्थापित की और पूर्वीय गाथों से इटली, वान्डालों से उत्तरी अफ्रीका तथा पश्चिमी गोथों से स्पेन का कुछ समुद्री तट छीन लिया। परन्तु बाइजेन्टिआ के साम्राज्य का यह गौरव अल्पकालिक ही प्रमाणित हुआ। मुसलमानों की शक्ति का अभ्युदय होने से बाइजेन्टिआ के साम्राज्य की सीमा काफी संकुचित हो गई और वह एशिया माइनर और बाल्कन तथा इटली प्रायद्वीपों के कुछ भागों तक ही सीमित रह गया। बल्गेरिया के लोगों, स्लेव तथा लोम्बार्डों ने भी उसकी भूमि पर अपना-अपना अधिकार जमाना आरम्भ कर दिया। जस्टीनियन के बाद उसी के समान कोई दूसरा शक्तिशाली शासक न हुआ जो साम्राज्य की शान और शक्ति को कम न होने देता। इसके विपरीत कई दुर्बल और अयोग्य शासकों की अकर्मण्यता ने साम्राज्य की स्थिति को और अधिक शोचनीय बना दिया। लगभग सन् १०० ईसवी के आस पास बाइजेन्टिआ में सांस्कृतिक पुनरुत्थान हुआ और एक बार फिर साम्राज्य का गौरव कुछ बढ़ता हुआ दिखाई पड़ा किन्तु फिर अविचारी तुर्कों ने इसकी शान शौकत को मिट्टी में मिलाने का प्रयत्न किया। सन् १०५६ ई० में सेल्जुक तुर्कों ने साम्राज्य के पूर्वी प्रान्तों को लूटना खसोटना आरम्भ कर दिया। बहुत थोड़े ही समय में उन्होंने सीरिया, फिलस्तीन और अधिकांश निकट-पूर्व को [illegible]

लिया। क्रूसेड के कारण तुर्कों को पीछे हट जाना पड़ा किन्तु पश्चिमी लोगों ने कुस्तुन्तुनिया को बर्बाद कर दिया और उस की कला कृतियों को नष्ट कर दिया। सन् १२६१ में कुस्तुन्तुनिया में एक यूनानी राजवंश की स्थापना हुई परन्तु इसका प्रभुत्व अत्यन्त सन्निकट के कुछ प्रदेशों तक ही सीमित रहा। इस समय तक बाइजेन्टिआ का साम्राज्य बिल्कुल शोचनीय स्थिति में पहुँच चुका था इसलिए आटमन तुर्कों को इस पर विजय प्राप्त करने में किसी कठिनाई का सामना न करना पड़ा। अन्त में सन् १४५३ में बाइजेन्टिआ का साम्राज्य तुर्कों के हाथ में चला गया।

शासन-व्यवस्था

बाइजेन्टिआ के सम्राट निरंकुश होते थे और बड़ी शान-शौकत से रहते थे। वे अपनी राज सभा को खूब सजा कर रखने का प्रयत्न करते थे। कदाचित वे अपने वैभव के प्रदर्शन द्वारा बर्बर लोगों को प्रभावित करना चाहते थे। वे बड़े ही भड़कीले वस्त्र पहना करते थे। सम्राट की शक्ति का सिक्का जमाये रखने के लिए एक स्थायी स्थल-सेना और विराट जल-वाहिनी होती थी। कुस्तुन्तुनियाँ के ग्रीक आर्थोडाक्स चर्च को शासन सम्बन्धी मामलों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार न था वरन् सम्राट की शक्ति ही सर्वप्रधान थी। साम्राज्य की सेना के अधिकांश सैनिक निकट रहने वाले बर्बर लोग होते थे और सम्राट के पद को भी साधारण स्थिति के लोगों ने अपनी योग्यता और परिश्रम द्वारा अधिकृत कर लिया था। लोगों को दण्ड कठोर दिये जाते थे। साधारण अपराधों के लिए भी अन्धा कर देने के प्रथा प्रचलित थी। बाइजेन्टिया की शासन प्रणाली को जस्टीनियन ने संगठित किया था। उसके निजी व्यक्तित्व की इस शासन-व्यवस्था पर छाप थी। यह इतनी उत्कृष्ट थी कि परवर्ती शासकों ने इसमें कोई सुधार करने की आवश्यकता नहीं समझी। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह एक निर्दोष शासन व्यवस्था थी। आन्तरिक झगड़ों का भय सदैव बाइजेन्टिया में बना रहता था। इसकी नौकरशाही, यद्यपि इसने बाइजेन्टिआ को समस्त विप्लवों और युद्धों के बीच सातत्य तथा स्थायित्व प्रदान किया था, पूर्ण रूप से अनैतिक थी। लेकिन हमें नौकरशाही के गुणों पर भी विचार कर लेना चाहिए। इसने साम्राज्य के आर्थिक जीवन को इतनी बुद्धिमत्तापूर्वक सुनियन्त्रित किया और इतनी कुशलतापूर्वक कर संग्रह किया कि यद्यपि खलीफाओं के अधिकार में भूमि अधिक थी फिर भी वार्षिक आय बाइजेन्टिआ की ही अधिक थी। जब कि खलीफाओं की शासन व्यवस्था तीन शताब्दियों में ही विकेन्द्रित हो गई, बाइजेन्टिआ की शासन प्रणाली लगभग एक हजार वर्षों तक टिकी रही।

आर्थिक जीवन

बाइजेन्टिआ का सुविकसित आर्थिक जीवन बाइजेन्टिआ की सभ्यता की प्रमुख विशेषता थी। वहाँ के व्यापार ने मध्य काल में सम्पूर्ण भूमध्यसागरीय प्रदेश में सभ्यता का प्रसार किया। चीन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ने पर बाइजेन्टिआ में सिल्क के उद्योग धन्धों की बहुत अधिक उन्नति हुई। कुस्तुन्तुनिया में सिल्क की कुछ वस्तुओं के तैयार करने और उनके रँगने के काम पर राज्य की ओर से एकाधिकार था। सिल्क के कारखाने सम्राट के भवन के निकट स्थित होते थे। बहुमूल्य रेशमी वस्त्र और रँगे हुए कपड़े केवल शासनाधिकारी ही पहन सकते थे और उससे भी अधिक मूल्यवान वस्त्रों को धारण करने का अधिकार केवल शाही घराने के लोगों को ही प्राप्त था। बाद में जब कुछ लोगों ने व्यक्तिगत रूप से रेशमी वस्त्रों को तैयार करके सभी लोगों के हाथ बेचना प्रारम्भ कर दिया तब जस्टीनियन ने सारे नियन्त्रण उठा लिये और सस्ते माल पर सरकारी सिल्क बाजार में भर दी। फलस्वरूप प्रतियोगिता रह ही न गई किन्तु प्रतियोगिता नष्ट हो जाने पर उनके मूल्य फिर बढ़ गये। धार्मिक कार्यों में प्रयुक्त होने वाले आभूषण, बहुमूल्य जवाहरात, धातुओं के सामान, हाथी दाँत की बनी हुई वस्तुयें और हथियार बहुत बड़ी मात्रा में तैयार किये जाते थे और बेचे जाते थे।

बाइजेन्टिया में कृषि भी अत्यन्त सन्तोषजनक अवस्था में थी। फसल द्वारा इतना पर्याप्त अन्न प्राप्त हो जाता था कि राज्य के समस्त निवासियों को भोजन सामग्री सुलभ थी। वहाँ का व्यापार भी उन्नत दशा में था। कान्सटैन्टाइन के शासन काल से ही घरेलू और बाह्य दोनों प्रकार के व्यापारों की खूब उन्नति हुई। रोमन साम्राज्य के द्वारा बनवाई हुई सड़कों की बराबर मरम्मत इत्यादि कराई जाती थी जिससे पदार्थों और व्यापारियों का गमनागमन सरलतया हो

सके। जल मार्गों द्वारा व्यापार करने के लिए बड़े बड़े जलयान बनवाये गये। पाँचवी शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक के एक हजार वर्षों के लम्बे समय में कुस्तुन्तुनिया विश्व का सबसे बड़ा बाजार और जहाजरानी का सबसे महान केन्द्र था। सीरिया में भी उद्योग धन्धों और व्यापार की बहुत उन्नति हुई कदाचित केवल इसीलिए कि कुस्तुन्तुनिया विश्व का सबसे बड़ा बाजार और जहाजरानी का सबसे महान केन्द्र था। सीरिया में भी उद्योग धन्धों और व्यापार की बहुत अधिक उन्नति हुई, कदाचित केवल इसीलिए कि यह कुस्तुन्तुनिया और मिस्र तथा कुस्तुन्तुनिया और फारस के व्यापारिक मार्गों के बीच में पड़ता था और यहाँ के व्यापारी साहसी तथा चतुर होते थे। पूर्वी देशों से बाइजेन्टिआ के साम्राज्य में मसाले, औषधियाँ, इत्र, बहुमूल्य पत्थर और कीमती लकड़ियाँ आती थीं। इस व्यापार के फलस्वरूप बहुत से नगर प्रमुख व्यापारिक केन्द्र हो गये। इन नगरों में इनके नाम प्रसिद्ध हैं—कुस्तुन्तुनिया, एन्टियोक डेमस्कस, बेरट, सेलोनिका और कोरिन्थ। हेलिनिस्टिक युग में व्यापारिक दृष्टि से सिकन्दरिया का महत्त्व सबसे अधिक था किन्तु इस समय उसका व्यापार एन्टियोक से भी कम हो गया था। सिकन्दरिया का स्थान कुस्तुन्तुनिया ने ग्रहण कर लिया। उद्योग-धन्धों की बहुलता और व्यापार के विस्तार के कारण बाइजेन्टिआ एक अत्यन्त समृद्धिशाली साम्राज्य हो गया। वहाँ के लोग सम्पन्न और धनवान थे। अभिजात वर्ग के लोगों के पास विलास के सभी साधन विद्यमान थे। राबर्ट आफ क्लेरी ने कुस्तुन्तुनिया का भ्रमण करने के बाद कहा था कि इसके अन्दर "संसार के धन का दो-तिहाई" विद्यमान था। यहाँ तक कि बाइजेन्टिआ के साधारण नागरिक भी "राजाओं के पुत्र प्रतीत होते हैं।"

बाइजेन्टिआ में कलात्मक विकास यूनानी, रोमन तथा पूर्वी कला तीनों के मिश्रित प्रभाव के कारण हुआ। रोमन वास्तुकला की परम्परा का ह्रास अभी नहीं हो पाया था, बाइजेन्टिआ की कला में वह जारी रही। किन्तु बाइजेन्टिआ के भवनों और मन्दिरों में कतिपय विभिन्नतायें और नवीनतायें भी थीं। बाइजेन्टिआ के भवनों की दिवालें पतली तथा छतें अधिक हवादार होती थीं और उनमें प्रकाश का प्रवेश अधिक मात्रा में हो सकता था। यहाँ के भवनों में अलंकार भी अधिक रहता था। विभिन्न धातुओं तथा संगमरमर पत्थर के टुकड़ों द्वारा भवनों और मन्दिरों के आन्तरिक भागों को सजाने की प्रवृत्ति बाइजेन्टियन कला की प्रमुख विशेषता है। भवनों के आन्तरिक भागों को सजाने पर इससे पहले योरप की किसी कला में इतना अधिक ध्यान नहीं दिया जाया था।

कलाओं की उन्नति

कुस्तुन्तुनिया में जस्टीनियन द्वारा बनवाया हुआ सेन्ट सोफिया का चर्च बाइजेन्टियन वास्तुकला का सर्वश्रेष्ठ नमूना है। इसको सन १४५३ के बाद तुर्कों ने मस्जिद का रूप देने का प्रयास किया था। आज यह राष्ट्रीय संग्रहालय हो चुका है। इस चर्च का वर्णन हमें प्रिकोपियस नामक समकालीन इतिहासकार के ग्रन्थ में मिलता है। उसने लिखा है कि इस देवालय का दर्शकों के चित्त पर गहरा धार्मिक प्रभाव पड़ता था। उसके ये शब्द हैं, "जब प्रार्थना करने के लिये इस इमारत में कोई प्रवेश करता है, तब उसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानवीय कृति नहीं है...। उसकी आत्मा, आकाश तक ऊँची उठती हुई यह अनुभव करती है कि यहाँ ईश्वर निकट ही है और उसे अपने इस चुने हुए घर में आनन्द प्राप्त होता है। जितना प्रकाशमय और समलंकृत आन्तरिक भाग सेन्ट सोफिया के चर्च का है उतना इसके पहले के किसी अन्य भवन का नहीं है। इस भवन की कलात्मकता और प्रभावोत्पादकता की प्रशंसा अनेक सुविज्ञ कलाविशारदों ने की है। रवेन्ना (Ravenna) में बनवाई हुई अन्य छोटी इमारतें भी सुन्दर और आकर्षक हैं बाइजेन्टिया की वास्तुकला में धार्मिक भावना की पर्याप्त छाप दिखाई पड़ती है। यहाँ का कलाकार अपनी कला द्वारा या तो ईसाई धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या करता था या राजकीय सेवा को ही अपना प्रधान कर्तव्य समझता था। उसके सम्मुख विषयों की विभिन्नता अथवा शैली की स्वतन्त्रता न थी। उसे धर्माधिकारियों का समूह बतला देते थे कि क्या बनाना है और कैसे बनाना है। यही कारण है कि बाइजेन्टिआ की कला में अलंकरण तो बहुत अधिक है किन्तु

कलाकार की स्वातन्त्र्य भावना का अभाव होने के कारण उसमें उस गत्यात्मकता का अभाव है जो किसी कला को सजीव और शाश्वत बनाती है। रूढ़िप्रियता और संकीर्णता बाइजेन्टियन कला के स्पष्ट दोष हैं। कलाकार के स्वान्तःसुखाय का जो प्रत्येक कला को जीवन प्रदान करता है, बाइजेन्टिया की कला में अभाव है।

बाइजेन्टिआ में मूर्तिकला का प्रचार था किन्तु उसके अधिक नमूने हमें नहीं मिलते। आठवीं शताब्दी में बाइजेन्टिया में मूर्ति पूजा के विरोध में एक प्रबल आन्दोलन आरम्भ हुआ जिसके फलस्वरूप मन्दिरों से मूर्तियाँ हटवा दी गई। बाद में मूर्तियों के चित्र रखने की आज्ञा दे दी गई। एक मध्य-कालीन लैटिन लेखक ने लिखा है कि यूनानी (बाइजेन्टिया) केवल कमर के ऊपर के भागों को ही चित्रित करते थे जिससे दर्शकों के चित्त में कलुषित विचार न उत्पन्न हो सकें। स्थापत्य कला की कृतियों में धार्मिक वाक्य, मयूर तथा फलदार लतायें अंकित होती थीं। चित्रों द्वारा कलाकार महात्मा ईसा की सम्पूर्ण जीवन गाथा को चित्रित करने का प्रयास करते थे। उनमें माता मेरी के दुःखों का चित्रण किया गया है और धर्म प्रचारकों तथा मृतात्माओं के जीवन की प्रमुख घटनायें प्रदर्शित की जाती थीं। धार्मिक ग्रन्थों के मुखपृष्ठों को खूब अलंकृत रखने का प्रयत्न किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि बाइजेन्टिआ के धार्मिक ग्रन्थों का आकार प्रकार हमारी आधुनिक पुस्तकों का सा होता था। सिकन्दरिया के पुस्तकालयों में रखी हुई पेपीरस पुस्तकों का सा नहीं। सोने के आभूषण तथा सुन्दर रेशमी वस्त्र बनाने की कला बाइजेन्टिआ में काफी उन्नत अवस्था में थी। पत्थरों और बहुमूल्य धातुओं पर नक्काशी करने की कला का इस समय तक काफी ह्रास हो चुका, इसलिये बाइजेन्टिआ के सिक्कों, मुहरों तथा Gems में कलात्मक कुशलता का बहुत अधिक अभाव था। सूती वस्त्र बनाने के कारखाने लगभग प्रत्येक घर में थे। वस्त्र, दरी, आवरण इत्यादि बहुत परिमाण में उत्पन्न किये जाते थे। इस कला में मिस्रवासियों ने बाइजेन्टिआ वालों का नेतृत्व किया। बाइजेन्टिआ का अन्य देशों की कलाओं पर काफी प्रभाव पड़ा।

धर्म

रोम और कुस्तुन्तुनिया की धार्मिक विचार धाराओं में काफी अन्तर था। ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव रोमन साम्राज्य के पूर्वी भाग में ही हुआ था लेकिन रोमन केथोलिक चर्च के अनुसार इसकी जो व्याख्या की जाती थी उसे बाइजेन्टिआ के लोग स्वीकार करने को तैयार न थे। रोमन चर्च के इतिहास के प्रारम्भिक युग में सिद्धान्तों के ऊपर जितने भी विवाद उत्पन्न हुये थे वे सब पूर्व में ही उत्पन्न हुये थे, पश्चिम में नहीं। विद्वानों ने बाइजेन्टिया की सभ्यता को यूनानी सभ्यता कहा है किन्तु धर्म और दर्शन के मामले में यह कथन पूर्णतया चरितार्थ नहीं होता। यूनान में धर्म और राजनीति अन्योन्याश्रित रूप से सम्बन्धित न थे और न मन्दिरों के ऊपर राज्य सत्ता का कोई विशेष अधिकार ही था। लेकिन बाइजेन्टिआ में हम दूसरी ही बात देखते हैं। यहां राजनीति और धर्म परस्पर एक दूसरे से संयुक्त दिखाई पड़ते हैं और चर्च के ऊपर सम्राट का पूरा आधिपत्य दृष्टिगत होता है। लोगों की मनोवृत्ति धर्म प्रधान थी। कुस्तुन्तुनिया के धार्मिक विचारों को रोमन केथोलिक चर्च धर्म-विरोधी मानता था। एरियन लोग त्रिमूर्ति के सिद्धान्त का विरोध करते थे और मोनोफाइसाइट्स लोगों का विश्वास था कि ईसा की दो विशेषतायें हैं—दैवी शब्द और मनुष्य ईसा। रोमन केथोलिक चर्च के द्वारा इस प्रकार की बातें धर्म विरोधी कही जाने पर भी बाइजेन्टिया के साम्राज्य में इस प्रकार के विचार बराबर उत्पन्न होते रहे। कुस्तुन्तुनिया का सम्राट और धर्माधिकारी दोनों ही रोम के पोप की प्रभुता को मानने के लिए तैयार न थे। मूर्ति-पूजा के विरोध में जो आन्दोलन उठ खड़ा हुआ उससे भी दोनों ओर कटुता ही उत्पन्न हुई। सन् १०५४ में पोप ने कुस्तुन्तुनिया के धर्माधिकारी का निष्कासन कर दिया। इसके बाद भी कोई समझौता न हो सका।

कुस्तुन्तुनिया की चर्च को ग्रीक चर्च या होली ओरियन्टल आर्थोडाक्स एपास्टोलोकि चर्च कहते थे। इस चर्च और रोमन केथोलिक चर्च की धार्मिक विचारधाराओं में कभी अन्तर थे। ग्रीक चर्च के लोग त्रिविध स्नान पादरियों के विवाह और मरणासन्न प्राणी के लिए आध्यात्मिक वरदान के रूप में नहीं बल्कि स्वास्थ्य सुधार और पापों की विस्मृति के लिए शरीर में पवित्र तेल मलने में विश्वास करते थे। वे indulgences और

purgatory आदि बातों को नहीं मानते थे और मृतक लोगों के लिए प्रार्थनायें करते थे क्योंकि उनका विश्वास था कि मृत-प्राणियों के भाग्य का पूरी तरह से निश्चय अन्तिम निर्णय के दिन तक भी नहीं होता। वे पृथ्वी पर ईसा के किसी दृश्य रूप को स्वीकार नहीं करते थे किन्तु अपने धर्माधिकारी को वे आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न समझते थे। तप के लिए जो उपवास बताये जाते थे वे बुधवार और शुक्रवार तथा पर्वों के दिन के किये जाते थे। उपदेश आदि बहुत ही कम हो गये और वादन को धार्मिक कार्यों से निकाल दिया गया। कुस्तुन्तुनिया की चर्च के उच्च अधिकारी, बिशप, मेट्रापालिटन्स और पेट्रियार्क लोग मठों से चुने जाते थे। निम्न वर्ग के अधिकारियों जैसे रीडर, सिंगर, डेकन, प्रीस्ट और आर्कप्रीस्ट के लिए यह असम्भव था कि वे उन्नति करके उच्च अधिकारी हो जाते। ग्रीक आर्थोडाक्स चर्च में इन अधिकारियों को कोई विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान न प्राप्त था। रोमन कैथोलिक चर्च की तुलना में यहाँ शक्ति के केन्द्रीयकरण पर बहुत कम ध्यान दिया जाता था। आर्थोडाक्स चर्च की विभिन्न शाखायें धार्मिक सिद्धान्तों की अपनी ही व्याख्या को मानती थीं, इसलिए उन सबकी क्रियाओं और विश्वासों में काफी असमानतायें विद्यमान थीं।

बाइजेन्टियम की सभ्यता को हम एक महती सृजनात्मक सभ्यता नहीं कह सकते। यदि कोई एथेन्सनिवासी, जिसने पेरीक्लीज का युग देखा हो या यूनान के प्राचीन इतिहास से उसका परिचय रहा हो, बाइजेन्टियम के साम्राज्य में किसी प्रसन्नता का अनुभव नहीं करता क्योंकि उसे यहाँ पर दर्शन और विज्ञान की कोई प्रगति न दिखाई पड़ती। सच पूछा जाय तो इस समय तक यहाँ के विचारकों की मौलिकता समाप्त हो चुकी थी और उनकी बौद्धिक शक्ति टीकाओं लिखने तथा संग्रह तैयार करने में खर्च होती थी। विज्ञान में बाइजेन्टियम की कोई मौलिक देन नहीं थी केवल चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में कुछ ग्रन्थों की रचना हुई, सो भी मौलिक ग्रन्थों की नहीं।

विज्ञान और दर्शन

सिकन्दरिया, एथेन्स, कुस्तुन्तुनिया और एन्टियोक में विश्वविद्यालय थे जो क्रमशः चिकित्सा-विज्ञान, दर्शन, साहित्य और व्याख्यान कला के केन्द्र थे। जूलियन का चिकित्सक ओरिबेसियस (Orbasius) था। उसने सत्तर पुस्तकों का एक ज्ञान कोष संग्रहीत किया। एजिना के एट्यस ने इसी प्रकार के ग्रन्थ का संकलन किया। उसकी विशेषता इस बात में है कि उसने आँख, कान, नाक, मुँह और दाँत की चिकित्सा की प्राचीन विधियों की बड़ी ही अच्छी व्याख्या की। उसकी पुस्तक में goiter और hydrophobia पर बड़े ही अध्याय हैं। ट्रेलीज के निवासी एलेक्जेन्डर में कुछ मौलिक प्रतिभा थी। उसने आँत सम्बन्धी विकारों का नाम रक्खा, अन्नपाचक मार्ग की गड़बड़ियों का ठीक-ठीक वर्णन किया और बड़ी ही कुशलता पूर्वक फेफड़ों के रोगों की चिकित्सा बतलाई। उसने आन्तरिक चिकित्सा और भेषज शास्त्र पर जो पाठ्य पुस्तकें लिखीं उनका अनुवाद सीरिक, अरबी, हेब्रू और लैटिन भाषाओं में किया गया। उसकी पुस्तकों का काफी प्रभाव था। आगस्टाइन के कथनानुसार पाँचवी शताब्दी में मानव शरीर की चीरफाड़ी की जाती थी। एजिना के पाल ने भी "बड़ी मौलिकता और मानसिक स्वतन्त्रता से" अपने ग्रन्थ का संकलन किया। बाइजेन्टियम में पशु-चिकित्सा पर जो पुस्तक लिखी गई उसका महत्त्व पुनरुज्जीवन काल तक रहा।

बाइजेन्टियम की सभ्यता में पदार्थ विज्ञान में कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण काम हुआ। इस क्षेत्र के वैज्ञानिक साधारणतया सच्चे अनुसन्धानकर्ता थे। उन लोगों ने प्रायोगिक तरीकों का इस्तेमाल किया और शायद उनके पहले किसी अन्य प्राचीन देश के वैज्ञानिकों ने इतनी सच्चाई से प्रायोगिक तरीकों को नहीं अपनाया था। धातुओं और धातु मिश्रणों के विज्ञान की बाइजेन्टियम के वैज्ञानिकों ने काफी उन्नति की। ज्योतिष की शक्ति में लोगों का विश्वास था। वे विश्वास करते थे कि तारागण और सूर्य चन्द्र सांसारिक घटनाओं को प्रभावित करते हैं। लोग अपने पशुओं के जन्म पर उनकी ग्रह स्थितियों का निरीक्षण करते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस समय ज्योतिष विषयक अनेक भ्रामक धारणायें थीं।

हाइपेशिया नामक सुविज्ञ महिला एक विख्यात गणितज्ञ और दार्शनिक थी। अपने समकालीन विद्वानों में उसका नाम अग्रगण्य है। उसने अपने पिता को टोलमी नामक विद्वान के सिन्टैक्सिस (syntaxis) ग्रन्थ पर एक टीका लिखने में सहायता प्रदान की थी। सूडास (suidas) का कथन है कि हाइपेशिया ने डायोफ़ेन्टस, टोलमी के एस्ट्रोनैमिकल केनन और एपोलोनियस के कोनिक्स पर टीकायें लिखी थीं। उसके द्वारा प्रणीत कोई पुस्तक अब नहीं मिलती परन्तु उसने प्लेटो और प्लोटिनस की पद्धतियों के आधार पर उसने जिस पद्धति की स्थापना की उसने उसे अपने समकालीन दार्शनिकों से कहीं आगे कर दिया था। वह दर्शन की प्रोफेसर थी और उसके भाषण को सुनने के लिए सहस्रों की संख्या में लोग एकत्र होते थे। यद्यपि उसके प्रशंसकों की संख्या काफी थी तथापि उसकी मित्रता ओरेस्टस नामक मूर्तिपूजक से थी इसलिए उसको बड़ी ही निर्दयता पूर्वक मार डाला गया।

हाइपेशिया की मृत्यु के बाद सभी अईसाई दार्शनिक एथेन्स में चले आये। एथेन्स में अईसाई शिक्षायें लोग बड़ी [illegible]। इस समय तक स्टोइक और इपिक्यूरस के दर्शन सम्प्रदायों का लोप हो गया था। [illegible] इस समय के प्रसिद्ध दर्शनवेत्ता थे। थिमिस्टियस ने अरस्तू पर जो टीका लिखी [illegible] र बहुत अधिक प्रभाव डाला। प्रोक्लस ने गणित के माध्यम द्वारा दर्शन का विवेचन किया। उसने यूनानी दर्शन के विचारों का एक विशिष्ट पद्धति के अनुसार संकलन किया और उनको वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। उसके अन्दर पूर्व की रहस्यात्मकता भी पर्याप्त थी और उसका यह विश्वास था कि उपवास और शुद्धीकरण द्वारा लोग अतिमानवीय जीवों के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं।

बाइजेन्टियम के साहित्य में मौलिकता का अभाव है। वास्तव में हम इस साहित्य को सृजनात्मक साहित्य की संज्ञा नहीं दे सकते। यह वह युग था जब कि लोग पाण्डित्य प्रदर्शन करने वाले को अधिक सम्मान की दृष्टि से देखते थे और साहित्यकारों तथा कलाकारों के लिये मानव हृदय एक गौण वस्तु हो गया था।

साहित्य

यह महाकाव्यों या गीत-काव्यों की रचना का काल न था वरन व्याकरण-टीकाओं को या संकलन ग्रन्थों को ही सर्वश्रेष्ठ समझा जाने लगा था। विश्व-विद्यालयों में लैटिन तथा यूनानी भाषाओं के व्याकरण पढ़ाने पर अधिक ध्यान दिया जाता था। प्रिसियन नाम के प्राध्यापक (प्रोफेसर) ने लैटिन और यूनानी भाषा के व्याकरण का एक बृहतकाय ग्रन्थ लिखा। यह पुस्तक मध्यकाल के सर्वोत्तम पाठ्य ग्रन्थों में से एक थी। यूनानी कविता का एक संकलन भी बाइजेन्टियम में किया गया था।

इतिहास के क्षेत्र में ही इस युग के सर्वोत्कृष्ट साहित्य का सृजन किया गया। यूनेपियस Eunapius ने एक सार्वभौम इतिहास लिखा। यह २७० से लेकर ४०० ईसवी तक का इतिहास है और जस्टीनियन इस इतिहास ग्रन्थ का नायक है। यूनेपियस ने गप्पों को भी अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है। सोक्रेटीज नामक ईसाई ने सन् ३०६ से लेकर ४३९ तक के समय का चर्च का इतिहास लिखा। उसके कथन विश्वसनीय तो हैं किन्तु वह अन्धविश्वासों में भी विश्वास करता था और उसकी पुस्तक रहस्यमय विवरणों से भरी पड़ी है। प्रिकोपियस, जिसके वर्णन को पीछे उद्धृत किया जा चुका है, इस युग का एक महान इतिहासकार था। उसने कई पुस्तकें लिखी थीं। उसने सबसे पहले Books of the wars लिखी। इसके बाद उसने Secret History नामक पुस्तक की रचना की। सम्राट जस्टीनियन के अनुरोध पर उसने "डी आडीफिसिस" नामक ग्रन्थ लिखा। इस पुस्तक में उसने सम्राट के द्वारा बनवाये हुये समस्त भवनों का वर्णन किया है और इनके निर्माण के लिये सम्राट की अत्यधिक प्रशंसा की है। प्रिकोपियस ने कई ग्रन्थ अवश्य लिखे किन्तु उसके अन्दर एक सच्चे और महान इतिहासकार के गुण विद्यमान न थे। उसने कई स्थानों पर अपने कथन की सत्यता पर कोई ध्यान नहीं दिया है और उसकी शैली भी अपनी नहीं है। वह कभी हेरोडोटस की शैली का अनुकरण करता है और कभी थुसीडाइडीज की व्याख्यानात्मक शैली को ग्रहण कर लेता है। अपने युग की अन्धविश्वास-प्रधान प्रवृत्तियों के ऊपर वह उठ नहीं सका है और हमें उसके ग्रन्थों में अनेक स्थलों में अपशकुनों और भविष्यवाणियों का उल्लेख मिलता है। लेकिन जहां कहीं उसने आंखों देखा वर्णन किया है

वहां उसके कथन बिल्कुल सत्य और विश्वसनीय हैं। उसकी भाषा सरल और सीधी है तथा उसकी शैली में अभिरुचि उत्पन्न करने की शक्ति है। वह एक परिश्रमी व्यक्ति था और उसने एक तर्कमयी विधि से अपने वर्ण्य विषय को प्रस्तुत किया है।

हमने ऊपर बाइजेन्टिया के साहित्य विज्ञान तथा कलाओं का जो वर्णन किया है वह ३६४ से लेकर ५६५ ईसवी तक के काल के है। इसके बाद कुछ दिनों के लिए बाइजेन्टिया की बौद्धिक प्रगति रुक जाती है परन्तु नवीं और दसवीं शताब्दियों में विद्याओं और कलाओं का पुनरुज्जीवन काल आता है। इस समय तक बाइजेन्टिया से कानून को छोड़कर रोमन संस्कृति का प्रभाव बिल्कुल दूर हो जाता है और यूनानी संस्कृति अपना पूरा सिक्का जमा लेती है। बाइजेन्टिया में यूनानी भाषा साधारण बोलचाल की भाषा होने के साथ ही साथ शासन, साहित्य की भाषा भी थी। नवीं शताब्दी तक दर्शन, भाषा-विज्ञान, आध्यात्म-विद्या, खगोल-विद्या, गणित और जीव-विज्ञान आदि विषयों का खूब तेजी के साथ अध्ययन किया जाने लगा। लोगों के हृदयों में विद्यानुराग उत्पन्न हो गया और व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक पुस्तकालयों की संख्या काफी अधिक बढ़ गई। लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए कि यह पुनरुज्जीवन सृजनात्मक नहीं था, केवल प्राचीन साहित्य के अध्ययन की ही प्रवृति लोगों में जागरूक हो सकी। उनके अन्दर मौलिक सृजन की शक्ति का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। हेलिनिस्टिक युग के सिकन्दरिया की भांति बाइजेन्टिया का पुनरुज्जीवन काल भी पाण्डित्य का ही युग था। लोगों ने "रूपरेखाओं", सारांश-पुस्तकों, कविता तथा गद्य-संग्रहों, कोषों और इसी प्रकार के अन्य ग्रन्थों को ही लिखा।

बाइजेन्टिया में कलाओं और विद्याओं का पुनरुज्जीवन

कान्स्टैन्टाइन सेफलस ने यूनानी भाषा के गद्य-पद्य का संग्रह तैयार किया। सुडास ने एक बृहत कोष तैयार किया। थीओफेनीज और लियो दरैकन ने अपने अपने समय का इतिहास लिखा। लीओ आफ गेलोनिका इन शताब्दियों का सब से प्रसिद्ध वैज्ञानिक था। वह बहुमुखी प्रतिभा वाला एक विद्वान व्यक्ति था और गणित, ज्योतिष, खगोल विद्या चिकित्सा विज्ञान तथा दर्शन का अध्यापक था। लियो, फोटियस और सेलस (Psellus) इस युग के कुछ अन्य विद्वान थे। फोटियस अपने समय का सबसे अधिक विद्वान था। सेलस के अनेक पत्रों से सिसरो के पत्रों की भांति उसके युग की परिस्थितियों पर प्रकाश पड़ता है। पुनरुज्जीवन काल में कलाओं की बहुत अधिक उन्नति हुई। वास्तु कला की काफी उन्नति पहले ही हो चुकी थी। इस समय तक कई नये भवनों से नगर सजे हुए प्रतीत होने लगे। मिट्टी के बर्तन, शीशे, लकड़ी, हाथीदांत, लोहे जवाहरात की वस्तुयें तथा बुने और रंगे हुये वस्त्र तैयार करने की कलाओं ने बहुत अधिक उन्नति की। बाइजेन्टिया की इन वस्तुओं का सम्मान विदेशों में होता था और बहुत बड़ी तादाद में इनकी बिक्री होती थी यहां के कारीगर शीशे की जो सुन्दर वस्तुयें बनाते थे वे विदेशी नरेशों के उपहार की प्रिय वस्तुयें होती थीं। बहुमूल्य और भड़कीले वस्त्र तथा ओढ़ने के चद्दरे आदि वस्तुयें उपहार में पाकर विदेशी शासक बहुत प्रसन्न होते थे। सम्राटों, धर्माधिकारियों और अफसरों की ये वस्त्र शान तथा शोभा बढ़ाते थे। मिट्टी के बर्तनों में किसी धातु का प्रयोग करके बाइजेन्टिया के कारीगर इन बर्तनों को मजबूत तथा चमकदार बनाते थे। बाइजेन्टिया के सुनार और जवाहरातों की चीज बनाने वाले अपनी अपनी कलाओं में पटु थे और तेरहवीं शताब्दी तक उनसे किसी अन्य देश का कारीगर उनकी कला में बढ़ नहीं सका।

बाइजेन्टिया की सभ्यता हमें विशेष प्रभावित नहीं करती। इस सभ्यता ने किसी ऐसे साहित्य ग्रन्थ की रचना नहीं कि जिसनें मानव जाति की कल्पना शक्ति को बढ़ाया हो या लोगों के हृदयों का स्पर्श किया हो। विज्ञान के क्षेत्र में उसकी कोई मौलिक देन नहीं है। उसकी कला का क्या रूप था यह हम लोग पहले ही पढ़ चुके हैं। बाइजेन्टिया की सभ्यता एक यूनानी सभ्यता कही जाती है किन्तु यूनानी सभ्यता की अन्तरात्मा, तर्कमय बुद्धि एवं सृजनात्मक कल्पना शक्ति का इसमें एकान्त अभाव था। लोगों का जीवन धार्मिक अन्ध विश्वासों से ओत-प्रोत था और बड़े बड़े लेखक भी उनके प्रभाव से मुक्त नहीं थे।

बाइजेन्टिया की सभ्यता के दान

रोम की सभ्यता की भाँति इसके भी निर्माण और विकास में कुछ थोड़े से अभिजात लोगों का ही हाथ था। हाँ यह अवश्य है कि इस सभ्यता का विशाल प्रासाद परिश्रमी दासों और कुशल कारीगरों के परिश्रम पर ही आधारित था। धन की अधिकता जो दोष उत्पन्न करती है वे यहाँ प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे। लोगों का नैतिक स्तर काफी गिरा हुआ था। कामुकता और कामपरता का चारों ओर प्रचार था और अभिजात लोगों की अत्यधिक शृंगारप्रियता ने उनको स्त्रैण बना दिया था।

लेकिन उपर्युक्त दोषों को देखकर हमें यह न भूल जाना चाहिए कि बाइजेन्टिया की सभ्यता ने मानव सभ्यता के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया। यह सत्य है कि सभ्यता के किसी मौलिक तत्व की सृष्टि बाइजेन्टिया में नहीं हुई परन्तु सभ्यता के संरक्षण एवं प्रसार की दृष्टि से इस सभ्यता का काफी महत्व था। बाइजेन्टिया की सभ्यता ने पाँचवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक शासन, कूटनीति, शिष्ट आचरण, संस्कृति और कला में ईसाई-जगत का नेतृत्व किया। इस सभ्यता ने तीन महत्वपूर्ण कार्य किये। एक हजार वर्षों तक इसने इस्लाम और ईरान के आक्रमणों से यूरोप की रक्षा की। इसने प्राचीन यूनान के साहित्य, विज्ञान और दर्शन के ग्रन्थों की रक्षा की और उन्हें यूरोप को भेंट किया। सन १४५३ के यूरोपीय पुनरुज्जीवन की पूरी पृष्ठभूमि बाइजेन्टिया में तैयार की जा चुकी थी। बाइजेन्टिया के जो यूनानी विद्वान सम्राटों की धर्मांधता से बचने के लिए दक्षिण इटली में आ गये थे उन्होंने ही रोम और यूनानी सभ्यताओं का दक्षिणी योरप में प्रचार किया। बाइजेन्टिया ने ही बल्गर्स और स्लेव लोगों को ईसाई बनाया।

बाइजेन्टिया की सभ्यता का अन्य देशों पर काफी प्रभाव पड़ा। इसकी कलाओं, धर्म प्रचार समितियों और इसके विस्तृत व्यापार ने सुदूर देशों में सभ्यता का प्रसार किया। पूर्व में अरब लोगों ने बाइजेन्टिया की सभ्यता का बहुत सा अंश ग्रहण कर लिया। रूस और बाल्कन की मध्यकालीन सभ्यतायें बिल्कुल कुस्तुन्तुनिया से ही ली गई थीं। इटली सन ७५१ ईसवी के बाद बाइजेन्टिया की अधीनता में एक बहुत बड़ा व्यापारिक केन्द्र हो गया। सिसली और दक्षिणी इटली पर बाइजेन्टिया का प्रभाव बहुत पहले ही पड़ चुका था। गाल की सबसे प्राचीन ईसाई इमारत सिद्ध करती है कि "समस्त पश्चिम में बाइजेन्टिया का प्रभाव कितनी पूरी तरह से पहुँच चुका था।" इसके अलावा गाल के सब ईसाई-अभिलेख बहुत दिनों तक यूनानी भाषा में ही लिखे जाते रहे। अन्त में हमें यह याद रखना चाहिए कि बाइजेन्टिया की दो देन काफी महत्वपूर्ण थीं। पहली तो वह शासन-व्यवस्था, जो एक हजार वर्षों से अधिक तक चली और दूसरी कला परम्परा जिसके नमूने हमें अब भी दिखाई पड़ते हैं। बाइजेन्टिया की कला में दोष कुछ भी हों, इसमें कोई सन्देह नहीं कि रोमन यूनानी और पूर्वी कलाओं का इसमें सम्मिश्रण प्रधान होने पर भी यह अपनी निजी विशेषताओं से युक्त थी।

—:०:—

पन्द्रहवां अध्याय

अरबों की सभ्यता और इस्लाम का अभ्युदय

मानव-सभ्यता के विकास में संसार की लगभग समस्त जातियों ने अपना अपना सहयोग प्रदान किया है। कुछ ऐसी जातियां हुई हैं जिन्होंने सभ्यता के तत्वों की सृष्टि की है और अपनी सृजनात्मक एवं रचनात्मक प्रतिभा की सहायता से मनुष्य जाति को मौलिक और बहुमूल्य उपहार प्रदान किये हैं। कुछ अन्य जातियों ने उन मौलिक देनों को उन जातियों से ग्रहण करके उनकी रक्षा की है और कालान्तर में अपने पतन के पूर्व उन्हें सभ्य संसार को भेंट किया है। सभ्यता के विकास के लिए दोनों जातियों का महत्व है क्योंकि यदि आदान प्रदान की परम्परा न होती तो हम मानव सभ्यता को या तो मृतप्राय देखते या उसका स्वरूप अत्यन्त अविकसित सीमित एवं जातिगत होता। यदि सभ्यता के मौलिक तत्वों की सृष्टि करने के कारण हम भारत, चीन, यूनान और मिस्र के ऋणी हैं तो सभ्यता के संरक्षण और प्रसार के लिये हमें रोम और अरब का ऋण स्वीकार करना पड़ेगा। संसार के भिन्न भिन्न देशों से उत्कृष्ट और हितकारी वस्तुयें सीख तथा ग्रहण कर और अपनी यथार्थमयी व्यावहारिक बुद्धि से उनको एक सूत्र में पिरो कर अरबवासियों ने उन्हें योरप को प्रदान किया। यदि एक ओर अरब वालों ने सुदूर पूर्वीय देशों, भारत और चीन से, दशमलव अंक तथा मुद्रण-विधि जैसी अति महत्वपूर्ण वस्तुयें ग्रहण की तो यूनानियों का वैज्ञानिक ज्ञान भी उन्होंने प्राप्त किया। योरप के अधिकांश भाग में जिस समय मध्यकालीन अन्धकार और अज्ञान का साम्राज्य छाया हुआ था उस समय अरब में सभ्यता का दीपक अपना सुखद आलोक विकीर्ण कर रहा था। योरप के लोग अपनी यूनानी सम्पत्ति पर जितना चाहें गर्व करें, इस बात में कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने इस सम्पत्ति को प्रत्यक्षतया यूनानियों से नहीं अपितु अरबवासियों से अधिगत किया है। अरबों ने चीन से मुद्रण यन्त्र, कुतुबनुमा की विधियां तथा कागज बनाने की विधि योरप में पहुंचा कर वहाँ पन्द्रहवीं शताब्दी के सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन को सम्भव बनाया। 'पंचतन्त्र' नामक मनोरंजक कथा ग्रन्थ तथा शतरंज का खेल अरबों द्वारा ही योरप को प्राप्त हुए। अरब को एक धर्म की जन्मभूमि होने का भी गौरव प्राप्त था। यह एक आडम्बर-विहीन और सरल धर्म था। पाठक इस धर्म के नाम से भली भांति परिचित होंगे. यह धर्म था मुसलमान धर्म या जिसे अंग्रेजी में इस्लाम भी कहते हैं। हम इस अध्याय में अरबों के सांस्कृतिक कार्यों तथा इस धर्म के उदय और प्रसार का वर्णन करेंगे लेकिन इसके पहले हमें अरब देश की भौगोलिक परिस्थितियों तथा इस्लाम के उदय के पूर्व अरबों के जीवन का कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये।

अरब देश की भौगोलिक परिस्थिति

अरब एक ऐसा प्रायद्वीप है जो एशिया और अफ्रीका दोनों महाद्वीपों से सम्बन्धित है। अरब का मरुस्थलीय प्रदेश सहारा के सुविशाल मरुभाग का ही एक अंश है लेकिन यह भौगोलिक दृष्टि से एक पृथक प्रान्त है। अरब की अधिकांश भूमि अनुर्वर, पठारी और चट्टानी है। कहीं कहीं पर नखलिस्तान भी मिल जाते हैं। कृषि की कोई विशेष सुविधा न होने के कारण और जलाभाव के कारण अरब लोग जल के स्रोतों की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने समस्त पदार्थों को साथ लिए घूमा करते हैं। खानाबदोशों का जीवन बिताना सदैव ही अरबों के लिये आवश्यक सा रहा है। समुद्र तटों पर कुछ नगरों में थोड़े से लोग स्थायी रूप से रहते हैं किन्तु अधिकांश लोग खानाबदोश ही हैं।

अरब लोग सेमेटिक जाति के थे और बड़े ही युद्धप्रिय थे। बाइजेन्टियम और फारस की सेनाओं में इन्हें भर्ती कर

लिया जाता था। सामाजिक और राजनीतिक संगठन कबीलों पर आधारित था। अरब लोग गमनागमन की सुविधा न होने के कारण एक ही स्थान पर रहा करते थे और मरुचानों की खोज में भी वे बहुत दूर तक नहीं जाया करते थे इसलिए उनके अन्दर स्थानीयता की भावना उत्पन्न होती थी जिससे उनकी प्रवृत्ति कबीला प्रधान ही हो सकती थी। वे एक देश अथवा एक राष्ट्र की कल्पना नहीं कर सकते थे लेकिन सभ्य लोग जो कार्य अपने धर्म, अपने देश या अपने राष्ट्र के लिये कर सकते हैं वे सब कार्य अरब लोग अपने कबीले के लिये कर सकते थे। वे आवश्यकता पड़ने पर अपने कबीले के लिये मिथ्या भाषण, चोरी तथा हत्या भी कर सकते थे। प्रत्येक कबीले का शासन एक शेख करता था जिसे कबीले के नेता चुनते थे। शेख उस परिवार का सदस्य होता था जो धन, ज्ञान अथवा सैनिक गुणों के कारण लोगों में प्रसिद्ध प्राप्त कर लेता था। विभिन्न कबीलों में बहुधा युद्ध हुआ करते थे और एक दूसरे कबीले के कारवानों को लूट लेना साधारण बात थी।

हजरत मुहम्मद के पूर्व अरबों का जीवन

गाँवों में अनुर्वर भूमि से लोग बड़े ही परिश्रम द्वारा कुछ अन्न और तरकारियाँ उत्पन्न कर लेते थे। वे पशु-पालन भी कर लेते थे और अच्छे घोड़ों को पालने के बहुत अधिक शौकीन थे। खजूर, आड़ू, खूबानी, अंगूर, तरबूज, नारंगियाँ, केला तथा अंजीर आदि फलों को उत्पन्न करना वे अधिक लाभप्रद समझते थे। कुछ लोग लोहबान, पुदीना, चमेली तथा अन्य सुगन्धदायक पौदों को उत्पन्न करते थे। कुछ लोग गुलाबों से अतर निकालते थे और कुछ लोग वृक्षों के तनों से भी लोहबान तथा गुलमेंहदी प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। नगरों में कदाचित् कुल जनसंख्या के ⅕ लोग रहते थे। व्यापार के लिए लाल सागर का जल-मार्ग और अधिक आन्तरिक भाग में सीरिया तक जाने वाला एक स्थलमार्ग भी था। इसमें अरब और मिस्र के अत्यन्त प्राचीन व्यापारिक सम्बन्ध का उल्लेख प्राप्त होता है और इस बात के लिए भी प्रमाण हैं कि अरब वाले बहुत पुराने समय से ही भारतवर्ष से व्यापार करते थे। वार्षिक मेलों में अपनी वस्तुयें बेचने के लिए व्यापारी भिन्न-भिन्न नगरों का भ्रमण किया करते थे। मक्का के निकट उकाज में जो विशाल मेला होता था उसमें सहस्रों व्यापारी, अभिनेता, उपदेशक, पुजारी, और कवि आते थे।

अरब की जनसंख्या का ⅘ भाग खानाबदोश ही था। वे अपने पशुओं और अन्य सामानों के साथ एक चरागाह से दूसरे चरागाह की सैर किया करते थे। उन्हें अपने घोड़ों से बहुत अधिक प्रेम था किन्तु मरुस्थल में ऊँट ही उनका सबसे बड़ा सहायक था। ऊँट से उन्हें अनेक लाभ थे। अरब लोग बड़ा कठिन जीवन व्यतीत करते थे। थोड़े से खजूर खाकर और जरा सा दूध पीकर उन्हें कभी कभी कई दिन काटना पड़ता था। खजूरों से वे मदिरा बनाते थे। प्रणय और द्वन्द्व उनके जीवन के मुख्य कार्य थे। एक अरब अपने प्रति किये गये अपमान या आक्रमण का बदला लिये बिना चैन से न बैठता था और उसके जीवन का अधिकांश भाग कबीले सम्बन्धी युद्धों में ही व्यतीत होता था। सीरिया, फारस और मिस्र तथा स्पेन पर इस्लाम के अधिकार का मूल कारण अरब की युद्धमयी तथा लूट-खसोट-प्रधान प्रवृत्ति ही थी। तीर्थाटन तथा व्यापार के लिए वह कभी-कभी 'पवित्र सन्धियाँ' भी कर लेता था किन्तु वर्ष के अन्य भागों में वह अपना समय युद्धों और लूट-पाट में ही बिताता था। उसके अन्दर परस्पर विरोधी गुणों का समावेश था। वह हत्यारा किन्तु दयालु, उदार और लोभी, बेईमान तथा सच्चा और सावधान एवं वीर होता था। गरीब होने पर भी अरब अपना जीवन गर्व और गौरव से ही व्यतीत करता था और सदैव अपने वंश तथा अपनी रक्त विशुद्धता पर बड़ा अभिमान रखता था।

अरब की रमणी अपने अप्रतिम सौन्दर्य के लिए विख्यात थी किन्तु अस्वास्थ्यकर जलवायु के कारण उसकी सुन्दरता बहुत थोड़े दिनों तक ही टिक पाती थी। समाज में उसका कोई सम्मानपूर्ण स्थान नहीं था। अपने प्रियतम के प्रणय भावों के आवेश में वह उसकी पूजा प्राप्त करती थी किन्तु वर्षा हो जाने पर उसे प्रायः आजीवन कष्टों और आपत्तियों का सामना करना पड़ता था। एक अरब कन्या की उत्पत्ति पर शोक मनाता था और कभी-कभी उसको मार भी डालता था क्योंकि कन्या का जन्म उसके पुरुषत्व के लिए अपमानजनक समझा जाता था। सात या आठ नारी की

अवस्था में कन्या का विवाह कर दिया जाता था। उसका पति उसके शरीर या सम्मान की रक्षा करने के लिए किसी भी शक्ति से मोर्चा लेने को हर समय तैयार रहता था किन्तु स्त्री को एक सम्पत्ति से कुछ भी अधिक नहीं समझा जाता था। कौमार्य में वह पिता की, यौवन में पति की और बुढ़ापे में पुत्रों की संरक्षता में रहती थी। स्वतन्त्रता की कल्पना करना उसके लिए नितान्त असम्भव था। वह पुरुष की सहचरी नहीं वरन् उसकी अनुचरी थी। अरबों को बहु-विवाह का जो अधिकार प्राप्त था उसके कारण भी उसका जीवन प्रायः दुखमय रहा करता था। उसका पति जब चाहता उसे छोड़ सकता था।

यद्यपि अरब लोग प्रायः निरक्षर और अशिक्षित होते थे तथापि उनके जीवन में काव्य समाया हुआ था। वे काव्य-प्रेमी होते थे और कवियों का सम्मान करते थे। जब कभी वे ग्रामों या नगरों में, मरुस्थल के तम्बुओं या मेलों में अपने कवियों द्वारा अपने कबीले के वीरों की प्रणय-कथायें या वीरतापूर्ण गाथायें सुनते थे तो वे मन्त्रमुग्ध और आत्म-विस्मृत हो जाते थे। अरबों के लिए उनका कवि ही उनका इतिहासकार, उनका नैतिक उपदेशक और उनको प्रेरणा तथा उत्साह प्रदान करने वाला था। जिस प्रकार यूनान में नाटक और खेल प्रतियोगितायें होती थीं उसी प्रकार अरब में काव्य-प्रतियोगितायें हुआ करती थीं। इन कविताओं में जिस कबीले का कवि विजय प्राप्त करता था वह सारा कबीला अपने को गौरवान्वित समझता था। उकज नामक मेले में सबसे बड़ी काव्य-प्रतियोगिता हुआ करती थी। जो कवितायें सबसे उत्कृष्ट समझी जाती थीं उनको अरब लोग 'मुलाकात' कहते थे और उनको राजाओं तथा सरदारों के यहाँ सुरक्षित रक्खा जाता था। कविता के साथ-साथ अरबों के जीवन में संगीत का भी पर्याप्त समावेश था। उनकी कवितायें भी गीतों की तरह गायी जाती थीं और गीतों के साथ कोई बाजा भी बजाया जाता था। बाँसुरी तथा ताशा उनके प्रिय वाद्य यन्त्र थे। अरब में गाने वाली लड़कियों की संख्या बहुत अधिक थी जो लोगों का मनोरंजन किया करती थीं।

अरबों का धार्मिक विश्वास प्राथमिक किन्तु कुछ सूक्ष्म था। वे प्रकृति में असंख्य देवी-देवताओं का निवास समझते थे और उनकी पूजा करते थे। अपने देवताओं के प्रति उनके हृदय में एक अपरिमित श्रद्धा की भावना थी। उनका मस्तिष्क भूत-आत्माओं अर्थात् जिन्नों इत्यादि से सदैव भयाक्रान्त रहता था और उनकी ओर से उनके हृदय में इतनी गहरी निराशा उत्पन्न हो गई थी कि वे उनको सन्तुष्ट करना असम्भव समझते थे। भावी जीवन के विषय में अरब लोग बहुत कम विचार किया करते थे। कभी-कभी वे कब्रों के निकट ऊँट बाँध देते थे जिससे मृत व्यक्ति शीघ्र ही दूसरे संसार पहुँच जाय और पैदल ही स्वर्ग जाने की सामाजिक हीनता से वह बचा रहे। अरब लोग बहुधा नर बलि दिया करते थे और पाषाणों की पूजा करते थे।

मक्का में अरबों की पाषाण-पूजा का केन्द्र था। यहाँ पर एक चमकता हुआ काला पत्थर था जिसको वे अत्यधिक पवित्र मानकर अपनी पूजाराधना समर्पित करते थे। इसको अरबों के विश्वास के अनुसार ईश्वर ने भेजा था। काबा के भीतर अनेक मूर्तियाँ थीं जो भिन्न-भिन्न देवताओं का स्वरूप प्रकट करती थीं। इस मूर्तिपूजक प्रवृत्ति का जिस समय अरब में प्राधान्य था उसी समय हजरत मुहम्मद का जन्म हुआ जिन्होंने हिब्रुओं के धर्म, ईसाई धर्म और जरथुस्त्र की शिक्षाओं के आधार पर एक नवीन धर्म का प्रादुर्भाव किया और जिस धर्म में अरबों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का भी उचित रूप में समावेश था। पहले हम हजरत मुहम्मद के जीवन और व्यक्तित्व का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे और तब उनकी शिक्षाओं पर विचार करेंगे।

मुहम्मद साहब का जन्म सन् ५७० में मक्का नामक नगर में हुआ था। वे एक निर्धन ही घर में उत्पन्न हुये थे और आरम्भिक शिक्षा तक न प्राप्त कर सके थे। कदाचित् उनको लिखना पढ़ना नहीं आता था। कुछ वर्षों तक उन्होंने पशुओं को चराने का काम किया फिर बाद में खादिजा नाम की एक धनी विधवा के यहाँ नौकरी कर ली। खादिजा के व्यापारिक कार्यों के सम्बन्ध में मुहम्मद साहब को सीरिया तथा फिलस्तीन की यात्रा करनी पड़ी जिससे

उनको यहूदियों तथा ईसाइयों के एकेश्वरवाद का ज्ञान हुआ। कुछ दिनों बाद मुहम्मद साहब ने खदिजा से विवाह कर लिया। चालीस वर्षों तक उन्होंने अपना जीवन एक साधारण गृहस्थ की भाँति व्यतीत किया किन्तु इसके बाद उन्होंने अपने उस नवीन धर्म का उपदेश देना आरम्भ किया जिसको उन्होंने, अपने विश्वास के अनुसार, ईश्वर से सुना और प्राप्त किया था। पहले उनके धर्म को उनकी पत्नी खदिजा, उनके दत्तक पुत्र अली, उनके मित्र अबु बक्र और उनके एक दास जैद ने ही स्वीकार किया। मक्का के अधिकारियों ने उनका अपमान किया किन्तु उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ती ही गई। मुहम्मद साहब को मक्का में काफी परेशानी उठानी पड़ी इसलिए वे अपने साथियों-सहित मदीना चले आये। जिस समय मुहम्मद साहब मक्का से मदीना चले आये उस समय से मुसलमानों का हिज्री सम्वत् प्रारम्भ होता है। मदीना वालों ने उनका एक भव्य स्वागत किया। मदीना वालों और मक्का के निवासियों में परस्पर कई लड़ाइयाँ हुईं किन्तु विजय अन्त में मुहम्मद साहब के अनुयायियों को ही प्राप्त हुई। तब मुहम्मद साहब ने मक्का में प्रवेश किया और उन्होंने वहाँ के निवासियों की यह बात मान ली कि काबा का पवित्र पाषाण समस्त अरबों के लिए पूजनीय होगा। अब मुहम्मद साहब का प्रभाव दिन प्रतिदिन बढ़ता ही गया और अपनी मृत्यु के समय (६३२ ईसवी में) वे सम्पूर्ण अरब के स्वामी समझे जाने लगे थे।

मुहम्मद साहब का जीवन और व्यक्तित्व

मुहम्मद साहब ने एक नवीन धर्म को जन्म दिया और संसार के महापुरुषों में उनकी गणना भी की जाती है। उनको हम महात्मा बुद्ध, जरथुस्त्र या महात्मा ईसा की कोटि में स्थान दे सकते हैं। उन्होंने दस विवाह किये थे यद्यपि कुरान में उन्होंने प्रत्येक मुसलमान के लिए चार स्त्रियों से अधिक का निषेध किया है। लेकिन इस बात के लिए यह कहा जा सकता है कि उस समय अरब में पुरुषों की जनसंख्या का इतनी तेजी से ह्रास हो रहा था कि उनका यह कार्य आवश्यकता द्वारा अनुमोदित था। मुहम्मद साहब धर्म प्रवर्तक होते हुए भी पूर्णतया सांसारिक व्यक्ति थे। शक्ति के प्रलोभन से वे अपने को कभी विलग न कर सके और शक्ति हस्तगत करने के लिए वे मिथ्या भाषण, पर-प्रवंचना, कूटनीति तथा अन्य उपायों का बिना किसी हिचकिचाहट के अवलम्बन करते थे। उनके अन्दर अभिमान की भावना भी बहुत अधिक थी और अपने व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाने के लिए वे अपने शरीर में सुगन्धित पदार्थ मलते थे, आँखों में काजल लगाते थे और बालों को रँगते थे। वे एक अंगूठी पहना करते थे जिसमें लिखा रहता था "अल्लाह के दूत मुहम्मद"। इन सब त्रुटियों के बावजूद मुहम्मद साहब के व्यक्तित्व में महानता के गुणों का अभाव न था। वे समय-समय पर बड़े ही दयालु हो जाते थे और सारे अरब के स्वामी होने पर भी निस्पृह व्यक्ति थे। अपने परिवार और अपने ऊपर वे बहुत थोड़ा धन व्यय करते थे और अधिकांश रुपया वे दान में ही दे दिया करते थे। उनका व्यवहार अपने साथियों के साथ बड़ा प्रशंसनीय था और अपने दासों के यहाँ भी वे भोजन कर लेते थे। उनका भोजन रूखा ही होता था और अपना काम वे स्वयं करने को सदैव प्रस्तुत रहते थे।

सारे लोगों पर गम्भीर प्रभाव ही किसी महापुरुष की महानता का द्योतक है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि हजरत मुहम्मद साहब इतिहास के सबसे महान व्यक्तियों में से हैं। उन्होंने अपने ही जीवन काल में अपने उद्देश्यों को पूर्ण और अपनी आशाओं को प्रतिफलित होते हुए देखा। उन्होंने असभ्य और बर्बर अरबों को एक सुगठित राष्ट्र में बदल दिया। उन्होंने अरबों को आगे बढ़ाते हुए धर्म की सहायता से ही एकता के सूत्र में ग्रथित किया था। इसलिए हम अब उनकी धार्मिक शिक्षाओं पर विचार करना उचित समझते हैं।

मुहम्मद साहब की शिक्षायें

मुहम्मद साहब की शिक्षाओं में अनेक श्रेष्ठ तत्व वर्तमान हैं। उनकी शिक्षायें आज भी संसार के करोड़ों नर-नारियों को जीवन का शिक्षाप्रद पथ दिखलाती हैं। हमें उनके उपदेशों में सर्वज्ञ बुद्ध की मानवता या ईसा की सहिष्णुता न दिखाई पड़ेगी लेकिन पारस्परिक झगड़ों से परिपूर्ण अरब-समाज में हजरत मुहम्मद साहब ने उदारता, ईमानदारी, बन्धुत्व और प्रेम की भावनायें स्थापित करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की। उन्होंने अरबों को यह उपदेश दिया कि सब लोगों को परस्पर प्रेमपूर्वक

रहना चाहिए और एक दूसरे के प्राण तथा धन की रक्षा करने के लिए सर्वदा सजग रहना चाहिए। उन्होंने कहा, "ऐ लोगों! मेरी बात सुनो और उसे समझो, समझ लो कि प्रत्येक मुसलमान एक दूसरे का आपस में भाई-भाई है। तुम सब आपस में समान हो।"

इस्लाम की सामाजिक समता और जाति बन्धुत्व का सिद्धान्त उसके प्रसार का मुख्य कारण था। एकेश्वरवाद में दृढ़ विश्वास मुसलमान धर्म की अन्य प्रमुख विशेषता है। पूजा और उपासना की जो प्रणाली मुहम्मद साहब ने प्रतिपादित की वह अत्यन्त सरल और आडम्बर शून्य थी। सभी प्रकार के यज्ञों का इसमें निषेध था। मुहम्मद साहब ने अपने धर्म में पुरोहितों को कोई प्रधानता नहीं दी। ईसाई धर्म की भांति इस्लाम में सिद्धान्तों की भरमार नहीं है, इसे साधारण व्यक्ति भी अच्छी तरह से समझ सकता है। मध्य कालीन ईसाई धर्म की भांति इस्लाम में जटिल धार्मिक क्रियाओं का समावेश नहीं है। मुसलमानों की मस्जिद पूजा का एक स्थान मात्र होती है, वहाँ पर न तो कोई मूर्ति रहती है, न चित्र और न कोई वेदिका ही दृष्टिगत होती है। एक मुसलमान के लिए केवल पाँच कर्तव्यों का पालन कर लेना ही अलम् समझा जाता है। उसे दिन में पाँच बार नमाज पढ़ना पड़ता है, दीनों को अपनी आय का ४० भाग दान में देना होता है, जीवन में कम से कम एक बार मक्का की यात्रा करनी पड़ती है और रमजान के महीने में रोजा (उपवास) रखना पड़ता है।

इस्लाम धर्म अपने अनुयायियों के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए अन्य विख्यात धर्मों की भांति प्रयत्न-शील रहता है। यह माता-पिता के प्रति भक्ति तथा कृतज्ञता, पीड़ितों और निर्धनों के प्रति दया तथा उदारता और सब लोगों के प्रति न्याय की शिक्षा देता है। सुरा-पान का इस्लाम दृढ़ता से निषेध करता है। मृत्यु के बाद वाले जीवन का इस्लाम उल्लेख करता है और बतलाता है कि अन्तिम निर्णय के दिन (कयामत) सब लोगों को अपने सांसारिक कृत्यों के लिए दण्ड अथवा पुरस्कार प्राप्त होगा। जिन लोगों ने इस्लाम धर्म स्वीकार नहीं किया है वे नर्क जायेंगे और इस्लाम धर्म के अनुयायी स्वर्ग जायेंगे जहाँ पर सुन्दरी प्रमदायें उनका स्वागत करेंगी। वहाँ उन्हें पीने के लिए एक ऐसी मदिरा प्राप्त होगी जो चित्त पर कोई दूषित प्रभाव नहीं डालती। यहाँ पर हम देखेंगे कि इस्लाम में दृष्टिकोण की उदारता का अभाव है क्योंकि वह दूसरे धर्म के अनुयायियों को नर्क की आशा दिलाता है। फिर भी इस्लाम अन्य धर्मों के प्रति उदारता और सहिष्णुता की आज्ञा देता है। मुहम्मद साहब का ईसाइयों के साथ व्यवहार उत्तम था और यद्यपि उनकी यहूदियों से अनबन हो गई थी तथापि उन्होंने सदैव यहूदियों और ईसाइयों के प्रति सहिष्णुता दिखलाने का ही आदेश दिया।

मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद इस्लाम का नेतृत्व उनके मित्र अबूबक्र के कन्धे पर आ पड़ा। मुहम्मद साहब के जीवन काल में ही अबूबक्र उनके दाहिने हाथ थे। अबूबक्र के अन्दर संगठन शक्ति और चरित्र-बल का पर्याप्त मात्रा में समावेश था। उन्होंने खलीफा की उपाधि धारण की जिसका अर्थ होता है उत्तराधिकारी।

इस्लाम का प्रसार

उन्होंने सब से पहले मुहम्मद साहब द्वारा तैयार की हुई सीरिया को लूटने की और संसार के लोगों को मुसलमान बनाने की योजना को कार्यान्वित करने का विचार किया। अबू बक्र की मृत्यु के बाद उनके काम को उनके योग्य उत्तराधिकारी खलीफा उमर ने जारी रखा। उनकी अधीनता में ही मुसलमानों ने सीरिया, मेसोपोटामिया, बेबीलोन, असीरिया, फारस तथा मिस्र पर अपना अधिकार जमा लिया था। मुसलमानों के सैनिक आक्रमण, जो खलीफाओं के शासन में किये गये थे विश्व इतिहास में अपना एक विशेष महत्व रखते हैं। ये आक्रमण मुसलमान सैनिकों और सेना नायकों की योग्यता ही नहीं सूचित करते, इस बात का भी स्पष्ट निर्देश करते हैं कि उस समय पश्चिमी संसार में कमी और दुर्बलता छाई हुई थी। इस्लाम की शक्ति का सामना या विरोध करने वाली कोई दूसरी शक्ति ही नहीं दिखाई पड़ती थी। जहाँ कहीं मुसलमान सैनिक जाते लोगों के सामने तीन बातें रखते थे, या तो कर दो, इस्लाम धर्म स्वीकार करो और हमारा साथ दो या युद्ध स्वीकार करो। कहीं पर भी मुसलमानों को कड़ा विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। योरप के कुछ प्रदेशों पर भी मुसलमानों का अधिकार हो गया था।

खलीफा उमर की मृत्यु के बाद अली ने कुछ दिनों तक खलीफा के पद को अपने अधिकार में रक्खा किन्तु वह अधिक दिनों तक शासन न कर सका। उसके बाद सीरिया का गवर्नर मुआविया ने खलीफा का पद प्राप्त करने के

उमैया वंश

बाद दमिश्क को अपनी राजधानी बनाया। यही मुआविया उमैया वंश का संस्थापक था। उसने ६१ वर्षों तक खिलाफत पर आधिपत्य रक्खा। उसकी मृत्यु के अनन्तर उसके पुत्र यजीद का कुरैश जाति के लोगों ने खूब विरोध किया। इस विरोध में अली का पुत्र हुसैन भी सम्मिलित था। इसमें हुसैन को मार डाला गया। हुसैन की मृत्यु ही करबला की दुखद घटना है। उमैया वंश के शासन काल में अनेक महत्त्वपूर्ण विजयें की गईं। अफ्रीका, बाइजेन्टाइन साम्राज्य, फारस, सार्डीनिया, खिरेक्यूस तथा सिन्ध आदि सुदूर देशों पर इस्लाम का प्रभाव दिनोंदिन बढ़ता ही गया। इन तमाम देशों में उमैया वंश की विजय से इस्लाम के विस्तार में बड़ी महत्त्वपूर्ण सहायता मिली। उमैया वंश के बाद अरब में अब्बासिया वंश का शासन आरम्भ हुआ।

अरब देश और इस्लाम के इतिहास में अब्बासिया वंश का शासन काल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इस वंश के शासन काल में राजधानी दमिश्क से हटाकर बगदाद में ले जायी गयी। बगदाद अब्बासी खलीफाओं के शासन काल में

अब्बासिया वंश

संस्कृति और सभ्यता का केन्द्र हो गया। खलीफा हारूँरशीद अब्बासी वंश के सब से योग्य और न्यायप्रिय शासक थे। उनकी न्यायप्रियता की अनेक कथायें आज भी प्रचलित हैं। उसके समय में साम्राज्य में काफी समृद्धि दिखाई पड़ती थी। बगदाद एक अत्यन्त समृद्ध नगर था। यहाँ पाठशालाओं और विद्यालयों की अधिकता थी और नगर व्यापार का भी केन्द्र था। दूर-दूर के कवि, दार्शनिक, धर्मोपदेशक, चिकित्सक, विद्यार्थी और विद्वान बगदाद में आते थे। सेना काफी कुशल और स्वामिभक्त थी और राज्य के मन्त्री तथा प्रान्तीय गवर्नर परिश्रमी और विश्वसनीय थे। शासन के विभिन्न विभागों के कर्तव्य सुनिश्चित थे। साम्राज्य अदन तक और मिस्र से मध्य एशिया तक फैला हुआ था। साम्राज्य की नौकरी में ईसाई, मूर्तिपूजक, यहूदी और मुसलमान सभी नियुक्त किये जाते थे और रोगों के निवारण के लिए साम्राज्य भर में चिकित्सालयों और चिकित्सकों का प्रबन्ध किया जाता था। चारों ओर से साम्राज्य में धन खिंचा आ रहा था। खलीफाओं के शासन काल में मुसलमानों ने काफी समृद्धि प्राप्त कर ली थी किन्तु यह उनके उत्कर्ष की चरम सीमा थी। लेकिन खलीफा हारूँरशीद के बाद मुसलमानों के इस विशाल साम्राज्य का ह्रास होने लगा। प्रान्तीय गवर्नर अपने को खलीफा की अधीनता से मुक्त करने का प्रयत्न करने लगे और इस प्रकार से फारस, मेसोपोटामिया, खुरासान तथा सीरिया के गवर्नरों ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। इस समय खलीफाओं की सेना में तुर्क सैनिकों की अधिकता हो गई जो खलीफा साम्राज्य की इस पतनोन्मुखस्थिति से लाभ उठाने के लिए तैयार बैठे थे। पूर्वी प्रान्तों पर सेल्जुक तुर्कों का अधिकार हो गया और सन् १०५८ ईस्वी में खलीफा ने उनके नेता को बगदाद में बुलाकर उसे समस्त मुस्लिम जगत का सुल्तान बना दिया। अब से खलीफा केवल एक धार्मिक नेता के रूप में ही रह गया और उसके हाथ से राजनीतिक शक्ति तुर्कों के हाथों में चली गई। खलीफा अब मुसलमानों का धार्मिक नेतृत्व ही करता था किन्तु मंगोलों के आक्रमणों से उसकी रही सही शक्ति को भी बड़ा जबरदस्त धक्का लगा। सन् १२५८ ईस्वी में चंगेज खाँ के पौत्र हलाकू खाँ ने बगदाद के अन्तिम खलीफा का वध कर के खलीफाओं के वंश का अन्त कर दिया।

इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेने के बाद अरब लोग एक सुसंगठित राष्ट्र हो गये। खलीफाओं के शासन में उन्होंने सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में आशातीत उन्नति की। अपनी कबीला-भक्ति और वंश-भक्ति की भावना के स्थान पर

अरबों की सभ्यता

उन्होंने साम्राज्य-भक्ति की भावना का विकास किया। अपने धर्म को फैलाने और धन प्राप्त करने की भावना से प्रेरित हो कर उन्होंने साम्राज्य-विस्तार के लिए जो प्रयत्न किया उससे वे कई सभ्य देशों के सम्पर्क में आये। उनके दूर देशों तक फैले हुए व्यापार ने भी उनको विभिन्न सभ्यताओं का ज्ञान प्राप्त करने में बहुमूल्य सहायता प्रदान की। अरब लोगों में इतनी सभ्यता अवश्य थी कि वे अन्य सभ्यताओं

का महत्व समझ सकें और उनके श्रेष्ठ उपादानों को स्वयं ग्रहण कर सकें। यही कारण है कि अरबों की सभ्यता में कई सभ्यताओं का मिश्रण था। हम अरब सभ्यता को इस्लाम सभ्यता भी कह सकते हैं क्योंकि इस्लाम से प्रेरणा और उत्साह प्राप्त करके ही उन्होंने सभ्यता के पथ का अनुगमन किया। हम पहले उनकी सभ्यता के स्वरूप पर विचार करेंगे और फिर मानव सभ्यता को उनकी देन का उल्लेख करेगें।

शासन पद्धति

मुहम्मद साहब के द्वारा चलाया हुआ धर्म प्रजातन्त्रात्मक विचारों से परिपूर्ण था। इस धर्म में सिद्धान्ततः धनी-निर्धन ऊँच-नीच आदि का भेद न था। इसलिए सैद्धान्तिक रूप में इस्लामी सभ्यता में शासन प्रणाली भी प्रारम्भ में गणतन्त्रात्मक ही थी क्योंकि प्रत्येक बालिग पुरुष को शासक के चुनाव तथा नीति-निर्धारण में भाग लेने का अधिकार था। लेकिन इस्लाम का प्रभाव और अरब के साम्राज्य का विस्तार होने पर यह गणतन्त्रात्मक पद्धति विलुप्त होने लगी और एक व्यक्ति के शासन का प्रादुर्भाव हुआ। उमैया खलीफाओं के अधीन शासन व्यवस्था स्पष्टतया राजतन्त्र में बदल गई। खिलाफत का पद भी उत्तराधिकार अथवा सैनिक शक्ति द्वारा निर्णीत किया जाने लगा। खलीफा यों तो धार्मिक नेता था किन्तु उसके हाथों में राजनीतिक शक्ति भी केन्द्रित रहती थी। उसकी शक्ति पर किसी प्रकार का नियन्त्रण न था केवल कुरान के आदेशों को मानने के लिए वह बाध्य समझा जाता था।

अब्बासी खलीफाओं के अधीन शासन की एक जटिल व्यवस्था का विकास हुआ जिसमें केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारों का समावेश था। इस शासन-प्रणाली की आधारशिला वह सुदृढ़ नौकरशाही थी जो राजाओं के परिवर्तन, उनकी हत्या तथा राजभवन के विद्रोहों से बहुत ही कम प्रभावित होती थी और निर्विघ्न अपना कार्य करती थी। शासन-प्रणाली का प्रधान हाजिब था। सैद्धान्तिक रूप में उसका कार्य खलीफा के कार्यों की व्यवस्था करना था किन्तु व्यवहारिक रूप में वह बड़ा शक्ति-सम्पन्न था। उसकी आज्ञा के बिना कोई भी खलीफा से मिल नहीं सकता था। वजीर एक दूसरा प्रभावशाली अफसर था। वह सरकारी अफसरों की नियुक्ति और उनकी देख-रेख करता था। राज्य की नीति का निर्देशन भी वही करता था। खलीफाओं की शासन-व्यवस्था में भिन्न भिन्न विभाग होते थे जिनमें कर विभाग, पुलीस-विभाग, पत्र-व्यवहार विभाग और यातायात विभाग प्रमुख थे। कर-विभाग पर खलीफा का अधिक ध्यान रहता था क्योंकि उसके समस्त वैभव और ऐश्वर्य का आधार कर ही था।

पत्रों को भेजने की सार्वजनिक व्यवस्था का प्रचलन था किन्तु इससे केवल सरकारी अफसर और प्रसिद्ध व्यक्ति ही लाभ उठा सकते थे। राजधानी से प्रान्तों को शासन सम्बन्धी आदेश और सूचनायें भेजने में इसी व्यवस्था का प्रयोग किया जाता था। वजीर साम्राज्य भर में गुप्तचरों को नियुक्त करके उनसे सरकारी अफसरों के कार्यों की सूचना प्राप्त करता था और आवश्यकतानुसार उनके ऊपर नियन्त्रण रखता था। बगदाद में सब्जियों की दुकानें गुलजार का काम करती थीं। कबूतरों को पत्र-वाहन की शिक्षा देने का कार्य सर्वप्रथम अरब वालों ने ही आरम्भ किया था। खलीफा उमर ने न्याय-विभाग का अतीव सुन्दर प्रबन्ध किया था और इस विभाग को कार्यपालिका से स्वतन्त्र किया। सेना का प्रबन्ध भी प्रशंसनीय था किन्तु खलीफाओं के शासन के अन्तिम दिनों में सेना काफी दुर्बल और निर्बल होने लगी थी।

यदि हम मुस्लिम शासन प्रणाली की संक्षिप्त विवेचना करें तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि खलीफाओं ने शासन की एक सुसंगठित प्रणाली को जन्म दिया और पहले खलीफा अबूबक्र से लेकर अल-मामून तक सभी सफल शासक कहे जा सकते हैं। उनकी सरकारें जनहित के कार्यों को करने के लिये तत्पर रहती थीं। सरकार की ओर से सड़कों तथा पुलों इत्यादि के निर्माण की समुचित व्यवस्था थी और नदियों की बाढ़ रोकने के लिए बड़े बड़े बाँध बनवाये जाते थे। भूमि की नाप कराई जाती थी और रेकार्डों को सावधानी से रखा जाता था। ईराक पहले रेगिस्तान की भाँति लगता था किन्तु खलीफाओं के शासन ने उसे एक सुन्दर नगर बना दिया। यही हाल फिलस्तीन का भी था। पहले चारों ओर वहां पत्थर और धूल ही दृष्टिगत होते थे किन्तु अरब-शासन के अधीन यह एक सुन्दर तथा धनशाली नगर

हो गया। अरब के लगभग सभी खलीफा विद्यानुरागी और कला तथा संस्कृति के पोषक थे। यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं कि उनके राजकीय साहाय्य ने सकल और समस्त विद्याओं की उन्नति में महत्त्वपूर्ण योग दिया। तीन शताब्दियों के शासन में पश्चिमी एशिया को खलीफाओं ने न केवल समृद्धि प्रदान की अपितु इसे कला और संस्कृति की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण बना दिया। उनके शासन में गुणियों के लिए उन्नति का द्वार उन्मुक्त था और शिक्षा साहित्य विज्ञान दर्शन तथा कलाओं की अभूतपूर्व उन्नति हुई। अरबों की शासन प्रणाली नौकरशाही के बीजरूप दोषों से मुक्त न थी। जनता का शोषण होता था और सरकारी कर्मचारियों के अकर्मण्य तथा अकुशल होने पर उसके कष्टों की सीमा न रहती थी। लेकिन सभी पक्षों पर विचार कर लेने के बाद हमें अरब शासन को सफल स्वीकार करना पड़ता है और यह मानना पड़ता है कि शासन के क्षेत्र में संसार को उनकी एक अनुपम देन थी।

आर्थिक जीवन

सभ्यता का एक आधार होता है। यदि आधार ही दुर्बल है तो सुदृढ़ भवन नहीं खड़ा किया जा सकता। यह आधार है अर्थ अथवा धन। बाह्य जीवन की व्यवस्थाओं में धन की क्या महत्ता है, इसे बतलाने के लिये किसी प्रकाण्ड अर्थशास्त्री की आवश्यकता नहीं है, मनुष्य के सांस्कृतिक विकास में भी इसका योग तुच्छ अथवा महत्त्वशून्य नहीं कहा जा सकता। यह सर्वविदित ही है। जब देश में धन-धान्य का अभाव नहीं होता तभी वहाँ शास्त्र चिन्तन और शास्त्राभ्यास होता है। सम्राटों का ऐश्वर्य, दार्शनिकों का गूढ़ तत्त्व-चिन्तन, कवियों की सकल-लोक-गामिनी कल्पना, कलाकारों की निर्जीव पाषाणों और दुर्बल रेखाओं में जीवन संचार कर देने की शक्ति तथा वैज्ञानिकों की एकान्त साधना, ये सब कृषक के अनवरत परिश्रम और असीमित धैर्य, श्रमजीवी के विस्मयोत्पादक अध्यवसाय और कारीगरों की विविधधर्मिणी कुशलता पर आश्रित हैं। यदि अरबों ने एक सुविकसित आर्थिक जीवन का निर्माण न किया होता तो वे एक उत्कृष्ट और उन्नत संस्कृति का विस्तार और प्रसार करने के गौरवपूर्ण कार्य से वंचित हो गये होते।

कृषि

इस्लामी सभ्यता में कृषि की वही अवस्था नहीं रही जैसी अरबों के समय में इस्लाम के पूर्व थी। खेती की उपजें करीब करीब वे ही थीं, किन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण वस्तुओं की खेती अरबों ने दूसरी सभ्यताओं के सम्पर्क से सीखी। नारङ्गी का वृक्ष अरब में भारत से दसवीं शताब्दी में लगाया लाया गया। इसी प्रकार गन्ने की खेती तथा शक्कर बनाना भी अरबों ने भारतवासियों से सीखा। इन वस्तुओं की खेती को उन्होंने सारे निकटपूर्व में फैलाकर बाद में योरप में भी इसका प्रचार किया। कपास की खेती का सर्वप्रथम योरप में अरबों द्वारा ही प्रचार किया गया। खलीफाओं ने कृषि की उन्नति पर ध्यान दिया और नहरों आदि का निर्माण कराया। अब्बासी खलीफाओं ने दलदली भूमि को सुखाकर उसे कृषि योग्य बनाने का प्रयत्न किया और इस काम में उनको सफलता भी काफी मिली।

उद्योग धन्धे

खलीफाओं के उदार शासन ने कारीगरों के विकास को खूब प्रोत्साहन दिया। अरब लोगों ने उद्योग धन्धों में खूब उन्नति की। लेकिन हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि उनके समस्त उद्योग धन्धे घरेलू थे, वे फैक्टरियों के समूहों पर अपने उद्योग धन्धों का संचालन नहीं करते थे। हवा से चलने वाली मिल का प्रयोग करना वे जानते थे और योरप के लोगों को भी इसका प्रयोग करना अरबों ने सिखाया। कुछ बड़े ही सूक्ष्म मशीन सम्बन्धी काम भी किये जाते थे। जल घड़ियाँ तैयार की जाती थीं। खलीफा हारूनरशीद ने शार्लमेन के पास एक जलघड़ी भेजी थी। अरबों की कुशल कारीगरी का उल्लेख करते हुये थैचर और श्वेविल अपने 'यूरोप इन द मिडिल एज' में लिखते हैं, "हाथ की चीजों की आकार की विभिन्नता तथा सुन्दरता और कारीगरी की पूर्णता में वे संसार के कारीगरों से बढ़कर थे। वे सभी धातुओं सोना, चाँदी, ताँबा, काँसा, लोहा और पक्के लोहे की चीजें बनाते थे। सूती वस्त्रों में उनको कभी भी पछाड़ा नहीं गया। वे शीशे तथा मिट्टी की

सर्वोच्च कोटि की वस्तुयें बनाते थे। वे रंगने के रहस्यों को जानते थे। चमड़े को साफ करने की वे कई प्रक्रियायें जानते थे और उनका यह कार्य सम्पूर्ण योरप भर में प्रसिद्ध था। वे अर्क, इत्र तथा शरबत बनाते थे। वे गन्ने से शक्कर बनाते थे और कई प्रकार की शराब के वैज्ञानिक तरीके पर पौधे लगाते थे। उनके यहां सिंचाई की सुन्दर व्यवस्था थी। वे भूमि को उर्वरा कर देने वाली वस्तुओं के खेती के महत्व से परिचित थे। वे भूमि के गुण को जान कर ही उस पर उपयुक्त वस्तुओं की खेती करते थे। वे horticulture में आगे बढ़े हुये थे। वे कलम लगाना जानते थे और कुछ नवीन प्रकार के फूलों तथा फलों को उत्पन्न करने में समर्थ हो सके। पूर्व से अनेक वृक्षों एवं पौधों को उन्होंने योरप में प्रविष्ट किया।" विभिन्न नगर अपनी विशिष्ट वस्तुओं के लिए विख्यात थे। मोसल नामक नगर अपनी रुई की मसलिन, दमिश्क अपनी मलमल और अदन अपने ऊन के लिए प्रसिद्ध थे। दमिश्क में तलवारें भी बहुत अच्छी बनाई जाती थीं। सिडन और टायर अपनी शीशे की सुन्दर तथा पतली वस्तुओं के लिए, बगदाद मिट्टी और शीशे के सामानों के लिए, रेयी मिट्टी की वस्तुयें, कंघा, तथा सुइयों के लिए, रक्का अपने जैतून के तेल और साबुन के लिए, तथा फार्स अपनी सुगन्धित वस्तुयें तथा अपने कम्बलों के लिए प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। मुसलमानी शासन के अधीन पश्चिमी एशिया औद्योगिक और व्यापारिक समृद्धि की जिस पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था वहाँ तक पश्चिमी योरप सोलहवीं शताब्दी के पहिले तक नहीं पहुँच सका था।

व्यापार

अरबों के शासन में आन्तरिक व्यापार की तो पूर्ण स्वतन्त्रता थी ही उनका बाह्य व्यापार लगभग विश्वव्यापी था। उनका व्यापारिक सम्बन्ध सम्पूर्ण समकालीन सभ्य संसार से था। उनके कुछ व्यापारिक केन्द्र भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित थे और चीनियों को वे पक्के लोहे के शस्त्रास्त्र तथा कवच, शीशे के समान, रुई, खजूर, चीनी, इत्र तथा कपूर देते थे। बहुत से मुस्लिम सिक्के बाल्टिक सागर के तटवर्ती प्रदेश में पाये गये हैं। अरबों का व्यापार पश्चिमी भूमध्यसागरीय प्रदेश पर पूर्णतया फैला था और इसने समस्त सभ्य संसार को कुछ दिनों के लिए एक कर दिया था। स्थल और जल दोनों मार्गों से व्यापार होता था और सुदूर पूर्व में चीन तथा भारत से काफी व्यापार होता था। अफ्रीका तो अरबों के लिए अधिक सुगम था इसलिए वहां पर उनके व्यापार का पूर्ण आधिपत्य था। अरब लोग समय समय पर व्यापारिक मेलों की व्यवस्था किया करते थे जिनमें दूर दूर से व्यापारी अपने विक्रय पदार्थों को साथ लेकर आते थे। दसवीं शताब्दी में अरबों का व्यापारिक कार्य पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था और अरबों ने सभ्य संसार की व्यापार-प्रणाली पर इतना गहरा प्रभाव डाला कि हमारे व्यापारिक जीवन में प्रतिदिन प्रयुक्त किये जाने वाले कुछ शब्द, जैसे, टैरिफ, ट्रैफिक मैगजीन, कारवान और बाजार आदि अरबी भाषा के ही हैं।

साहित्य

इस्लामी साहित्य में नाटक तथा उपन्यास का बिलकुल अभाव है। लघु कथायें उसमें उतनी ही प्राचीन हैं जितना प्राचीन इस्लाम धर्म। अलिफलैला की कहानियाँ जगद्विख्यात हैं। यह अरबी गद्य का एक उत्कृष्ट नमूना प्रस्तुत करती है। कथा कहने का ढंग इस पुस्तक का इतना रोचक है कि एक बार पुस्तक पढ़ना प्रारम्भ करने पर इसको छोड़ने की इच्छा नहीं होती। अलीबाबा चालीस चोर, सिन्दबाद नाविक तथा अलाउद्दीन और उसका आश्चर्यजनक प्रदीप आदि कथाओं को किसी भी युग में पढ़ा जा सकता है। इन कथाओं का केवल यही महत्व नहीं है कि ये हमें मनोरंजन प्रदान करती हैं बल्कि इनके अध्ययन द्वारा हम समकालीन मुस्लिम जगत के रीति-रिवाज और सामाजिक परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त करते हैं। लेकिन इस्लामी साहित्य में में पद्य की प्रचुरता है। अब्बासियों के शासन में मुस्लिम जगत में जितने अधिक कवि थे कदाचित उतने चीनी कविता के स्वर्ण-युग तंग-काल में भी नहीं थे। मुस्लिम कविता का विषय धार्मिक वाद-विवाद नहीं था परन्तु युद्ध और प्रेम से सम्बन्धित कवितायें ही अधिकतर लिखी जाती थीं। फारसी काव्य में अवश्य दार्शनिकता विद्यमान है किन्तु अरबी काव्य प्रधानतः शृंगारिक है।

हसन इब्न हानी अरब का एक प्रसिद्ध कवि था। उसे सुरा, सुन्दरी तथा संगीत से बड़ा प्रेम था किन्तु अपने जीवन के अन्त काल में उसका अनुराग ईश्वर की ओर उन्मुख हो गया था। अहमद इब्न हुसेन को अरब वाले अपना एक प्रसिद्ध कवि मानते हैं। उसकी कवितायें अरब में बड़ी ही लोकप्रिय हैं किन्तु उनका अनुवाद करना दुष्कर है। अल मर्रारी अरब का अन्ध कवि था। उसने अपनी कविताओं में जीवन-मरण के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया है। इस्लामी साहित्य का वह अंश जो फारसी में सुरक्षित है काफी महत्वपूर्ण है। फिरदौसी फारसी भाषा का सुविख्यात महाकवि था। उसने 'शाहनामा' महाकाव्य लिखा जो आकार की दृष्टि से होमर के ईलीयड और ओडीसी को मिला कर भी बड़ा है। रुस्तम इस महाकाव्य का नायक है। जिस प्रकार रामायण के नायक मर्यादा पुरुषोत्तम का हिन्दू जनता पर गम्भीर प्रभाव पड़ा है उसी प्रकार रुस्तम भी फारस के असंख्य लोगों का आराध्य देव है। 'शाहनामा' में बड़ी ही सुन्दर प्रणय-कथायें हैं और नारी के रूप-वर्णन भी मिलते हैं, इनके अभाव में कदाचित महाकाव्य की रचना असम्भव नहीं तो कष्ट-साध्य अवश्य है। परन्तु 'शाहनामा' के प्रणेता ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि पितृ-भक्ति और पुत्र-स्नेह के भाव केवल इन्द्रियजन्य वासना से कहीं अधिक प्रभावशाली हैं।

फारसी भाषा के सुप्रसिद्ध कवि उमर खय्याम के नाम से कौन सा काव्य-रसिक परिचित नहीं है? उसकी रुबाइयें आज समस्त सभ्य संसार बड़े आनन्द से पढ़ता है। उमर खय्याम निराशावाद का पोषक है किन्तु वह क्षणभंगुर मानव जीवन के समस्त सुखों का पूर्ण उपभोग करने का उपदेश देता है। वह कादम्ब और कामिनी का ही उपासक नहीं है, कविता भी उसकी आराध्य-देवी है। उमर खय्याम में हम कोई नैतिक आदर्श नहीं पाते लेकिन उसकी कविता में एक अक्षय सौन्दर्य है। उमर खय्याम कवि होने के अतिरिक्त एक उच्च कोटि का खगोल-वेत्ता और गणितज्ञ भी था। सादी की "गुलिस्ताँ बोस्ताँ" नामक कविता पुस्तक में दार्शनिक कवितायें हैं। इस पुस्तक में शिक्षाप्रद कथायें हैं जो कविता में ही लिखी गई हैं। सादी एक दार्शनिक था किन्तु दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन उसने इस कुशलता से किया है कि उनके भार से कविता का वास्तविक स्वरूप बहुत कम नष्ट हो पाया है। एक सच्चे कवि की भाँति उसे भी अविस्मरणीय वाक्य खण्डों और अनुपम तुलनाओं का अनुराग था। वह कहता है, "मैं और मेरा मित्र उसी प्रकार एक दूसरे के साथ सहयोग कर रहा था जिस प्रकार एक ही नारियल में दो फल रहते हैं।" "अशिष्ट को शिक्षा देना गुम्बद पर अखरोट फेंकने के तुल्य है।" एक दार्शनिक होने पर भी सादी में कवि के सौन्दर्यानुराग और सौन्दर्योपासना का अभाव न था।

अरबी भाषा में इतिहास और जीवनी ग्रन्थों की रचना भी की गई। मुहम्मद बिन इस्हाक ने हजरत मुहम्मद साहब की एक जीवनी लिखी। इसे इब्न हिशाम ने संशोधित एवं परिवर्द्धित किया था। कोरान के बाद यही प्रत्येक महत्वपूर्ण गद्य ग्रन्थ है। इब्न कातिबा ने संसार का एक इतिहास लिखने का प्रयास किया। अबू जफर मुहम्मद अल तबारी को मुस्लिम इतिहासकारों में एक उच्च स्थान प्राप्त है। उसने राजाओं और धर्मगुरुओं का एक वृहत् इतिहास लिखा। अल मसूदी [illegible] एक प्रसिद्ध इतिहासकार था। उसने अनेक देशों का भ्रमण किया था और लोगों के जीवन का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया था। उसने अपने ग्रन्थ में भूगोल, रीति रिवाज, धर्म, विज्ञान और दर्शन तथा साहित्य आदि विषयों का वर्णन किया है। अरब के इतिहासकारों का [illegible] है। उन्होंने भूगोल और इतिहास को सम्मिलित करने का प्रयत्न किया। यद्यपि उन्होंने अपने स्रोतों को अच्छी तरह से जाँचा नहीं है और न घटनाओं के कारणों पर भली भाँति विचार किया है तथापि वे अपने समकालीन ईसाई इतिहासकारों से बढ़कर हैं।

कला

मुसलमान लोग एक उत्कृष्ट कला को जन्म न दे सके। अरबों के पास पहले तो कोई कला थी ही नहीं बाद में दूसरे देशवासियों के सम्पर्क में आने पर उन्होंने कला का महत्व और इसकी उपयोगिता को समझा। कुरान में मानवाकृतियों के चित्रण और मूर्ति निर्माण पर जो प्रतिबन्ध लगाया है उसने भी कला के विकास में बाधा पहुँचाई। यही कारण है कि इस्लामी कला में स्थापत्य और चित्रकला का बिल्कुल अभाव है। कारीगरों की कलाओं की काफी उन्नति हुई क्योंकि धनवान मुस्लिम सरकारें [illegible]

और आभूषणों से शौक रखते थे। अरब का कारीगर अपनी प्रत्येक वस्तु को कला पूर्ण बनाने के लिए सचेष्ट रहता था। इस्लाम धर्म अलंकरण का विरोधी है तथापि कुछ भव्य मस्जिदें बनवाई गई।

मस्जिदों और राजभवनों के निर्माण द्वारा मुसलमानों ने वास्तु कला में कुछ उन्नति की। मस्जिदों के प्रवेश-द्वार और आन्तरिक भागों को अलंकृत करने का प्रयास किया जाता था। इस कार्य के लिए पलस्तर, खुदी हुई लकड़ी संगमरमर पत्थर तथा रँगे हुए शीशों का प्रयोग किया जाता था। लकड़ी को बहुधा हाथीदाँत और आबनूस से जड़ा जाता था और मस्जिदों को सजाने में लोग इसका भी प्रयोग करते थे। मस्जिद के आन्तरिक भागों को विशेष रूप से अलंकृत करने पर ध्यान दिया जाता था। मिहराब और फर्शपर चमकीले पत्थर तथा पच्चीकारी का प्रयोग होता था। खिड़कियों और दीपकों के लिए सुन्दर शीशे काम में लाये जाते थे। मिहराबों और कारनीसों पर अरबी लिपि में कुरान की आयतें बड़े ही भव्य अक्षरों में खुदी होती थीं। मुस्लिम कलाकार पुष्पसम्बन्धी और ज्यामिति सम्बन्धी अलंकरण में बड़े ही निपुण थे। बाद में वह आकाश में उड़ते हुए पक्षी, खेतों में काम करते हुए पशुओं या अन्य कल्पना प्रसूत विचित्र जीवों का चित्रण करके मस्जिद की दीवालों को सजाने का प्रयत्न करने लगा। मुस्लिम कलाकार से प्रतीकात्मक अलंकरण में शायद ही कोई कलाकार बढ़ सके। इस्लामी वास्तु के नमूने मस्जिदों के रूप में हमें अरब, पैलेस्टाइन, सीरिया, मेसोपोटेमिया, फारस, मिस्र, ट्यूनीसिया, सिसली आदि स्थानों में प्राप्त होते हैं। लगभग इन सभी स्थानों की मस्जिदों में हम बाह्य भाग को सुदृढ़ और प्रभावोत्पादक तथा आन्तरिक भाग को खूब अलंकृत पाते हैं।

वास्तु

जैसा कि पीछे निर्देश किया जा चुका है कि इस्लामी सभ्यता में हस्त कार्य सम्बन्धिनी कलाओं की काफी उन्नति की जा चुकी थी। मुसलमान कारीगर काँसे, जस्ते तथा ताँबे के बड़े-बड़े दीपक, बर्तन, लोटे, प्याले, सुराही आदि वस्तुयें बनाते थे और इन वस्तुओं को कभी-कभी शेरों, दानवों फाख्तों और मयूरों के आकार में ढालते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुसलमान लोग धातुओं के काम में बहुत अधिक निपुण थे। फारस में मिट्टी के बर्तन और सामान बनाने की कला काफी उच्च कोटि की थी। फारस के कुम्हार अपनी वस्तुओं में रंग भरने तथा उनको कुशलता से बनाने में बड़े ही कुशल थे और चीनियों तथा जापानियों के अतिरिक्त उनसे किसी देश का कारीगर बढ़ नहीं सकता था। चीन की भाँति इस्लामी देशों में भी लोग सुलेख को उच्च कला समझते थे। कुरान की प्रतिलिपि अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक अक्षरों में उतारना सब से उत्कृष्ट और पवित्र कार्य समझी जाती थी। कालीन बुनने के काम में भी मुसलमान जुलाहों की निपुणता प्रशंसनीय थी। यद्यपि रेशमी वस्त्रों का प्रयोग मुहम्मद साहब की शिक्षाओं के अनुसार वर्जित था किन्तु बहुत से सम्पन्न मुसलमान वस्त्रों को धारण करते थे, इसलिए इस्लामी देशों में सुन्दर रेशमी वस्त्र बनाने की कला भी काफी विकास को प्राप्त हुई।

अन्य कलायें

विज्ञान के क्षेत्र में मुसलमानों की देन महत्वपूर्ण है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने यूनान और भारत से अपना अधिकांश वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त किया। गणित में अरबों ने यूनानी गणितज्ञों की नींव पर ही अपना प्रासाद खड़ा किया। ज्यामिति में अरबों ने यूक्लिड के कार्यों को ही पूर्णतया ग्रहण कर लिया और उसमें कोई विशेष अभिवृद्धि नहीं की। परन्तु बीजगणित [illegible] का आविष्कार उन्होंने ही किया और [illegible] का विकास करने वाले भी अरब ही थे। भौतिक विज्ञान में उन्होंने pendulum [illegible] की और प्रकाश विज्ञान पर बड़े महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। रसायन विज्ञान में भी उन्होंने उन्नति की। उन्होंने अनेक प्रयोगशालाओं का निर्माण कराया और इस विज्ञान से सम्बन्धित कई यन्त्रों को बनाया जो आज भी प्रयुक्त किये जाते हैं। उन्होंने यह पता लगाया था कि पृथ्वी [illegible] है और रात-दिन बराबर होने का [illegible] है। कदाचित इस बात में कोई सन्देह न किया जा सके कि उनका ज्योतिष ज्ञान अति महत्वपूर्ण था।

विज्ञान

चिकित्सा-विज्ञान में अरबों ने काफी उन्नति की। उन्होंने शरीर विज्ञान और [illegible] का अध्ययन किया।

उनकी चिकित्सा-विधि का बहुत अधिक अंश आज भी प्रचलित है। उनके surgeons बड़े कठिन आपरेशन कर लेते थे। जिस समय योरप में चिकित्सा विज्ञान को चर्च निषिद्ध ठहराता था, और रोगों के उन्मूलन के लिए पादरियों की धार्मिक क्रियाओं को औषधियों तथा उपचार से अधिक महत्त्वपूर्ण बताता था उस समय इस्लामी प्रदेशों में एक वास्तविक चिकित्सा-विज्ञान वर्तमान था। पागलों की चिकित्सा करने में मुसलमानी चिकित्सकों को काफी सफलता मिली।

रसायन विज्ञान में मुसलमानों ने अपने कार्यों की शुरुआत अच्छी की। उन्होंने अनेक नये पदार्थों जैसे पोटास, चाँदी का घोल, और शोरे तथा गन्धक का तेज़ाब आदि की खोज की। 'अल्कोहल' शब्द अरबी भाषा का है यद्यपि इस पदार्थ से रोम का विद्वान् प्लिनी भी परिचित है। कीमिया (Alchemy) में अरबों का कार्य इतना वैज्ञानिक और शास्त्रीय था कि यूनानी उसकी कल्पना भी नहीं कर सके थे। अभी तक हमने अरबों की वैज्ञानिक खोजों का ही वर्णन किया है किन्तु अब हमें इस्लामी देशों के उन ऋषियों और मानव जाति के सच्चे हितैषियों के नाम और उनके प्रभाव को भी जान लेना चाहिए जिन्हें हम वैज्ञानिक कहते हैं।

अविसेना (Avicenna) और अवेरोज (Averroes) विज्ञान तथा दर्शन के क्षेत्र में अग्रगण्य थे। अविसेना, जिनका असली नाम अबु अली-अल हुसायँ-इब्न सिना था, अपने समय के सबसे प्रसिद्ध मुस्लिम विद्वान थे। यद्यपि वे प्रमुखतया एक दार्शनिक थे तथापि उन्होंने चिकित्सा तथा अन्य विज्ञानों के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने "चिकित्सा के सिद्धान्त" नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक के लैटिन अनुवाद की ईसाई देशों में बहुत अधिक माँग थी। डाक्टर मैक्स मेयरहॉफ "द लिगेसी आफ इस्लाम" में पृष्ठ ३३० पर लिखते हैं कि "कदाचित् किसी भी चिकित्सा विज्ञान के ग्रन्थ का इतना अधिक अध्ययन नहीं किया गया है, (जितना अविसेना के ग्रन्थ का) और आज भी पूर्व में इसका प्रयोग काफी होता है।" अवेरोज का असली नाम अबु-ल-वालिद इब्न रुशद था। उनका प्रभाव भी योरप के विचारकों पर काफी था। "अवेरोज के सिद्धान्त योरपीय विचारधारा में एक जीवित तत्त्व के रूप में उस समय तक रहे जब तक कि आधुनिक युग के प्रायोगिक विज्ञान का जन्म नहीं हो पाया था।"[1]

प्रारम्भ में मुसलमानों ने यूनान तथा भारत के वैज्ञानिक ग्रन्थों का अनुवाद ही किया किन्तु नवीं शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक के समय को इस्लामी विज्ञान का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। रेजेस (C. 865-925 A. D.) एक विख्यात पुरुष है। रेजेस एक चिकित्सक था। उसकी पुस्तक "अल-हावी" का महत्व बहुत अधिक है। प्रत्येक रोग के सम्बन्ध में वह पहले यूनानी, सीरियन, अरब, ईरानी तथा भारतीय चिकित्सकों की सम्मतियां उद्धृत करता है और अन्त में अपनी सम्मति भी देता है। स्थान-स्थान पर उसके चिकित्सा-ज्ञान की सूक्ष्मता का परिचय प्राप्त होता है। चेचक के सम्बन्ध में उसने जो निरीक्षण किया है और उसके जो लक्षण इत्यादि बताये हैं वे काफी महत्वपूर्ण हैं।

बीजगणित के क्षेत्र में मुहम्मद इब्न मूसा का नाम उल्लेखनीय है। मुहम्मद इब्न मूसा ने गणित विज्ञानों में अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया। उन्होंने हिन्दुओं की संख्याओं के विषय में लिखा, खगोल विद्या से सम्बन्धित विषयों का एक संकलन तैयार किया। अल-मामून के लिए एक भौगोलिक-खगोल-विश्वकोश की रचना में अन्य ६९ विद्वानों के साथ कार्य किया और अपने "Calculation of Integration and Equation" शीर्षक ग्रन्थ से बीजगणित [illegible] के व्यावहारिक और गवेषणात्मक ढंग निकाले। अलबरूनी, जिनका पूरा नाम अबु-अल-रिहान मुहम्मद इब्न अहमद-अल-बरूनी था, को विश्व इतिहास का विद्यार्थी बड़े आदर के साथ स्मरण करता है। वे एक सर्वतोमुखी-प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान थे। वे एक दार्शनिक, इतिहासकार, भूगोल-वेत्ता, पर्यटक, भाषा-

[1] The Legacy of Islam, page 27.

विज्ञ, गणितज्ञ, ज्योतिषी, कवि और भौतिक-विज्ञान के ज्ञाता थे। उन्होंने लगभग इन सभी विषयों में महत्वपूर्ण और मौलिक कार्य किया। उन्होंने भौतिक-विज्ञान के क्षेत्र में अट्ठारह बहुमूल्य पत्थरों और धातुओं का निकटतम आपेक्षिक वजन बतलाया। एक बार महमूद गजनवी के दरबार में उत्तरी एशिया के एक यात्री ने आकर बतलाया कि उसने एक ऐसे देश का भ्रमण किया है जहाँ पर लगातार कई महीनों तक सूर्य कभी डूबता ही नहीं। महमूद गजनवी ने समझा कि यह यात्री मुझसे मजाक कर रहा है और वह उसे दण्ड देने जा ही रहा था कि अलबरुनी ने सारी बातें उसको अच्छी तरह से समझा दीं और निर्दोष यात्री को मुक्त करा दिया। अलबरुनी सत्य के उपासक सच्चे ज्ञान-पिपासु और रागद्वेषनिर्मुक्त विद्वान थे। जब उनका आश्रयदाता महमूद गजनवी हिन्दुओं के मन्दिरों को ध्वस्त कराने में लगा था सरस्वती के इस लाड़ले पुत्र तथा सच्चे भक्त ने अपने को विजितों की भाषा, संस्कृत के अध्ययन में लगा दिया। भगवद्गीता के अध्ययन से अलबरुनी का दार्शनिक मस्तिष्क बहुत अधिक प्रभावित हुआ। उन्होंने संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया और भारतीय तथा यूनानी विचारकों की तुलनात्मक समीक्षा की। उनके निम्नलिखित विचार विश्व-इतिहास के प्रत्येक विद्यार्थी को हृदयंगम होने चाहिए। "हमको उन सब कारणों से अपना मस्तिष्क विमुक्त कर लेना चाहिए जो लोगों को सत्य की ओर से अन्धा बना देते हैं। ये कारण हैं—प्राचीन प्रथायें, पार्टी-भावना, व्यक्तिगत विद्वेष या राग तथा प्रभाव की वाञ्छा।"

नवीं से ग्यारहवीं शताब्दियों के समस्त मुसलमान वैज्ञानिकों में शीर्षस्थान को अधिकृत करने वाले बसरा निवासी अबु-अली-अल-हसन इब्न-अल हाथम का नाम सर्वथा उल्लेखनीय है। उन्होंने प्रकाश विज्ञान पर जिस ग्रन्थ की अरबी भाषा में रचना की वह अपने मूल रूप में तो अब नहीं मिलता किन्तु उसका लैटिन अनुवाद अब भी मिलता है। अपने इस ग्रन्थ में उन्होंने यूकिलीड तथा टोलमनी के इस विचार का कि नेत्र दृश्य पदार्थ की ओर प्रकाशमयी किरणें फेंकती है, विरोध किया है। मध्य-कालीन योरप के सभी प्रकाश-विज्ञान के लेखकों पर अबु-अली-अल-हसन का प्रभाव दिखाई पड़ता है और उनकी पुस्तक ने लियोनार्डो डा विन्ची और जोहन केप्लर को भी प्रभावित किया।

खलीफाओं की राजधानी बगदाद इस्लामी सभ्यता की केन्द्र-भूमि अवश्य थी किन्तु इसका प्रभाव सुदूर देशों तक था। मिस्र में काहिरा नामक नगर में भी इस्लामी सभ्यता का केन्द्र था। पश्चिमी भूमध्यसागरीय प्रदेश में भी इस्लामी सभ्यता का काफी प्रचार था। लेकिन हम इनके विस्तृत वर्णन को छोड़कर केवल स्पेन की इस्लामी सभ्यता पर ही

स्पेन में इस्लामी सभ्यता

अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं और राजनीतिक इतिहास को छोड़कर इस सभ्यता की संक्षिप्त विवेचना ही करेंगे। अरबों को स्पेन में मूर कहा जाता था। उन्होंने स्पेन में जिस राज्य की स्थापना की थी वह मध्यकाल के लिये विस्मय का कारण था। जब सम्पूर्ण योरप में अज्ञानान्धकार छाया हुआ था उस समय स्पेन में मूरों का राज्य ही सभ्यता और विद्या के दीपक को प्रज्जवलित किये हुये था। कोरडोबा, जो इस राज्य की राजधानी था योरप का सबसे सभ्य नगर था। इस नगर में ७० पुस्तकालय और ९०० सार्वजनिक स्नानागार थे। यात्रियों को कोरडोबा में आकर बहुत अधिक आश्चर्य होता था और वे नगर के असाधारण बाह्य वैभव और समृद्धि को देखकर चकित हो जाते थे। नगर अपने प्रमोद-उद्यानों के लिये विख्यात था। स्पेन के मुस्लिम खलीफाओं ने विशाल और आकर्षक भवनों का निर्माण करा के कोरडोबा को अत्यन्त रमणीक बना दिया था। बड़ी-बड़ी भव्य मस्जिदें भी नगर को भव्यता प्रदान करती थीं। कोरडोबा की नीली मस्जिद को "संसार में इस्लाम की सबसे भव्य मुस्लिम देवालय" कहा गया है।

कोरडोबा विद्या और कला का केन्द्र था। मुस्लिम स्पेन में संगीत का प्रचार था तथा लैटिन शिक्षा का काफी प्रचार था। मूरों के स्पेन में यह एक कहावत थी कि "जब कोरडोबा का कोई संगीतज्ञ मरता है और उसके साज-सामान बेचे जाने वाले होते हैं तो उनको सेविले में भेज दिया जाता है और जब सेविले में कोई धनी व्यक्ति मरता है और उसका पुस्तकालय बिकने वाला होता है तब पुस्तकें कोरडोबा में भेज दी जाती हैं।" दसवीं शताब्दी में कारडोबा स्पेन के बौद्धिक-जीवन का केन्द्र था। मुस्लिम इतिहासकारों के वर्णनों से यह पता लगता है कि कारडोबा में कवि, विद्वान,

न्यायशास्त्री, चिकित्सक और वैज्ञानिक बहुत बड़ी संख्या में निवास करते थे। नगर में अनेक विद्यालय थे और बालकों तथा बालिकाओं दोनों को शिक्षा दी जाती थी। मूरों के स्पेन में अनेक महिलाओं ने साहित्य तथा कला में ख्याति प्राप्त की थी। उच्च शिक्षा मस्जिदों में व्याख्यान-माला के रूप में दी जाती थी और कोरडोवा के अतिरिक्त अन्य नगरों में अनेक कालेज थे। "यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जब यूरोप का अधिकांश भाग भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से विपत्ति और पतन से ग्रस्त था स्पेन के मुसलमानों ने एक शानदार सभ्यता को जन्म दिया और एक संगठित आर्थिक जीवन का विकास किया। मुस्लिम स्पेन ने कला, विज्ञान, दर्शन और कविता के विकास में महत्वपूर्ण भाग लिया और इसका प्रभाव तेरहवीं शताब्दी की ईसाई विचारधारा के उत्कृष्टतम प्रतिनिधियों, टामस एक्विनास और दाँते तक पहुँच गया। तब, यदि कभी भी, स्पेन 'योरप का प्रदीप' था।"[1]

ऊपर हमने मूरों के स्पेन की सांस्कृतिक अवस्था का उल्लेख किया है अब हम उसके आर्थिक जीवन पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं। मुसलमानों ने स्पेन पर विजय प्राप्त करने के बाद वहाँ की कृषि को वहाँ के मूलनिवासियों पर ही छोड़ दिया किन्तु उनके निरीक्षण में कृषि की अवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन और सुधार हुआ। अभी तक स्पेन में जुताई के लिये बैलों को ही काम में लाया जाता था किन्तु मुसलमानों ने इस कार्य के लिये ऊँट, खच्चर, गधे और घोड़े आदि पशुओं का प्रयोग करना आरम्भ किया। स्पेन के मूरों ने योरप को चावल, मोथी, गन्ना, अनार, रुई, पालक का साग, रेशम, केले, नारंगियाँ, नीबू, खजूर, और अंजीर आदि वस्तुयें उत्पन्न करना सिखाया। स्पेन की खानों से मूरों ने पूरा-पूरा लाभ उठाया। घरेलू उद्योग धन्धों की काफी उन्नति हुई। केवल कारडोवा में ही १३००० जुलाहे थे। स्पेन के मुस्लिम कारीगरों द्वारा बनाये हुये गलीचों, रेशमी परदों, शालों और गद्दों की बहुत अधिक माँग थी। एक मुस्लिम इतिहास के अनुसार कोरडोवा के इब्न फिरनास ने नवीं शताब्दी में चश्मों, Complex chronometres और उड़ने वाली मशीन का आविष्कार किया। स्पेन का अफ्रीका और एशिया महाद्वीपों से व्यापार होता था और सरकार की ओर से यातायात के साधनों का प्रबन्ध किया जाता था।

इस्लामी सभ्यता की देन

पीछे हमने इस्लामी सभ्यता का जो विवेचन किया है उससे आपने इसकी देनों का काफी अनुमान कर लिया होगा। इस्लामी सभ्यता ने मध्यकालीन योरप को अनेक महत्वपूर्ण वस्तुयें दीं। इस्लाम से ही योरप ने भोजन-पान की विविध सामग्रियाँ, औषधियाँ, औद्योगिक तथा व्यापारिक वस्तुयें, नागरिक जीवन के नियम और कानून एवं इन सभी वस्तुओं के नाम-आरेन्ज, लेमन, शुगर, साइरप, शरबत, [illegible], इलिक्सिर, जार, [illegible], अरावेस्क, [illegible], साफा, मसलिन, [illegible], [illegible], बाजार, कारवान, चेक, टैरिफ, ट्रैफिक, मैगजीन, रिस्क, सूप, [illegible], कैमिस्ट्री और एलजेब्रा आदि प्राप्त किये। योरप के कुछ बाद्य यन्त्र ल्यूट, गिटार, टैम्बोराइन, [illegible] आदि के नाम ही इनकी सेमेटिक उत्पत्ति का संकेत करते हैं।[2] इस्लामी सभ्यता ने शासन, शिक्षा, साहित्य, भाषा-विज्ञान, भूगोल, इतिहास, गणित, खगोल-विद्या, रसायन-विज्ञान, दर्शन और चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्रों में इतने अधिक विद्वान उत्पन्न किये कि उनकी संख्या ही इस्लाम की सांस्कृतिक समृद्धि पर प्रचुर प्रकाश डालती है।

मानव सभ्यता को इस्लाम की सबसे बड़ी देन इस बात में है कि इसके द्वारा भारत और यूनान, दो महान राष्ट्रों की वैज्ञानिक खोजों की रक्षा हो सकी और मुसलमानों ने अपने परिश्रम द्वारा कुछ मौलिक देनों से वैज्ञानिक ज्ञान की सीमा को कुछ अधिक विस्तृत कर के उसे सभ्य संसार को सौंप दिया। एच० जी० वेल्स ने अपने "विश्व इतिहास की रूपरेखा" नामक ग्रन्थ में पृष्ठ ६६४ पर लिखा है, "यदि यूनान वैज्ञानिक पद्धति का जनक था तो अरब उसका प्रतिपालक था। अरबों के ही द्वारा, लेकिन लातिनों से नहीं, आधुनिक संसार ने प्रकाश और शक्ति का यह उपहार

[1] The Legacy of Islam, page 5

[2] Age of Faith, Page [illegible] By Dr. Will Durant.

प्राप्त किया।" अरबों के वैज्ञानिक कार्यों का उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं किन्तु यहां पर हम मुस्लिम विज्ञान-वेत्ताओं की वैज्ञानिक देनों का सारांश रूप में वर्णन कर देना अनावश्यक नहीं समझते। इसके लिये हम बेरन केरा डी वाक्स के शब्दों को उद्धृत करना पर्याप्त समझते हैं। "उन्होंने सिफरों (शून्यों) का प्रयोग करना सिखाया यद्यपि उन्होंने इनका आविष्कार नहीं किया और इस प्रकार वे दैनिक जीवन की अङ्कगणित के जन्मदाता हो गये। उन्होंने बीजगणित को एक यथार्थ विज्ञान बना दिया तथा इसका बहुत अधिक विकास किया और विभाजन सम्बन्धिनी ज्यामिति की नींव डाली। निस्सन्देह वे plane तथा गोलाकार त्रिकोणमिति को जन्म देने वाले थे जो कि वस्तुतः यूनानियों को नहीं मालूम थी। खगोल विद्या में उन्होंने कई महत्वपूर्ण निरीक्षण किये। उन्होंने अपने अनुवादों द्वारा ऐसे अनेक यूनानी ग्रन्थों की हमारे लिये रक्षा की, जिनके मूल ग्रन्थ अब नष्ट हो चुके हैं, जिस सेवा के लिये हमें उनका कृतज्ञ होना ही चाहिये। अरब-विज्ञान में हमारी अभिरुचि का दूसरा कारण पश्चिम पर इसके प्रभाव में सन्निहित है। अरबों ने उच्चतर बौद्धिक जीवन और विज्ञान के अध्ययन को उस युग में जीवित रक्खा जब कि पश्चिमी ईसाई जगत बर्बरता से भयंकर युद्ध कर रहा था। उनके कार्य की पराकाष्ठा नवीं और दसवीं शताब्दियों में हुई थी किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी तक यह कार्य चलता रहा। बारहवीं शताब्दी से पश्चिम का प्रत्येक व्यक्ति, जिसके हृदय में विज्ञान के प्रति कोई अभिरुचि या प्रकाश की कुछ इच्छा थी, पूर्व या मूरों के पश्चिम की ओर ही अभिमुख होता था। इस युग में अरबों की पुस्तकों का अनुवाद किया जाने लगा जिस प्रकार से उन्होंने पहले यूनानियों की पुस्तकों का अनुवाद किया था। इस प्रकार अरब एकता के एक सूत्र, प्राचीन संस्कृति और आधुनिक सभ्यता को जोड़ने वाली एक कड़ी के रूप में हो गये। जब पुनरुज्जीवन (काल) में मनुष्य की आत्मा पुनः ज्ञान के प्रति उत्साह की भावना से परिपूरित और प्रतिभा की स्फुलिङ्ग से जागरित हो गई, तब यदि यह तुरन्त कार्य करने, सृजन और आविष्कार करने में समर्थ हो सकी तो इसका कारण यही था कि अरबों ने ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की रक्षा करके उनको पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया था, शोध की भावना को जीवित तथा उत्सुक रक्खा था और इसे भावी खोजों के लिये प्राणवती तथा व्युत्पन्न कर दिया था।"

ज्योतिष, गणित और विज्ञान अरबों ने दूसरों से ही ग्रहण किया था किन्तु शासन-व्यवस्था, कविता और कला में उनकी मौलिक देनें भी थीं। इस्लामी सभ्यता इतिहास के इस महत्वपूर्ण तथ्य की सत्यता सिद्ध करती है कि बाढ़, उल्का, भूकंप, दुर्भिक्ष आदि प्रकृति के विनाशक तत्व तथा मनुष्य के सर्वभुक और सर्वविनाशक युद्ध मानव सभ्यता के सातत्य को विनष्ट नहीं कर सकते, हां उसका विकास भले ही कुछ काल के लिये स्थगित हो जाय या उसकी धार शिथिल पड़ जाए।

—०—

सोलहवाँ अध्याय

मंगोलों और तुर्कों का उदय

इतिहास का यह एक तथ्य है कि जब सभ्यतायें अपनी आन्तरिक दुर्बलताओं के कारण मृतप्राय या स्पन्दनहीन हो जाती हैं तो अपेक्षाकृत असभ्य जातियों के आक्रमण उनका विनाश कर देते हैं, लेकिन सभ्यताओं का पूर्ण विनाश नहीं होता। समय पाकर विनाश को प्राप्त हुई सभ्यता अपने परिवर्तित स्वरूप में प्रकट होती है। इसके अतिरिक्त असभ्य आक्रमणकारी कालान्तर में उसी सभ्यता से प्रभावित हो जाते हैं जिसका वे विनाश करने को कटिबद्ध रहते हैं। सुमेर की प्राचीन सभ्यता के विनाशोन्मुखी हो जाने पर सेमेटिक और एलेमाइट भ्रमणशील जातियों ने इसका अन्त कर दिया किन्तु थोड़े ही समय के पश्चात् इस सभ्यता के ध्वंसावशेष पर इन जातियों ने एक नूतन सभ्यता का प्रासाद खड़ा किया। रोमन सभ्यता का भी बिल्कुल यही हाल हुआ और खानाबदोश अरबों ने ईरान को विजित कर लिया तथा बाइजेन्टिया के साम्राज्य को हिला दिया। तेरहवीं शताब्दी में प्रकट होने वाले मंगोलों के आक्रमण भी ऐसी जातियों के इसी प्रकार के आक्रमण थे। मंगोल सभ्यता के विनाशक थे इसके रक्षक नहीं थे। असीरिया के सम्राटों की भाँति मंगोल सरदार भी अपने आक्रमणों द्वारा विनाश का दृश्य उपस्थित कर देते थे, पृथ्वी को रक्त से रंग देते थे और नर कपालों के ढेर लगा देते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि मानव के रक्त बहाने में उन्हें कुछ अभिरुचि सी थी, इसीलिये सहस्रों की संख्या में निरपराध लोगों की हत्या कर देना उनके लिये एक साधारण बात थी। प्रश्न उठ सकता है कि मानव सभ्यता के इतिहास में मंगोलों का विवरण क्यों दिया जा रहा है जब कि वे सभ्यता के विनाशक थे। उत्तर यही है कि मूल रूप में हिंसक और विध्वंसात्मक मनोवृत्ति के होते हुये भी मंगोल सभ्यता के उत्कर्ष या उन्नति करने की ओर से बिल्कुल उदासीन न थे। उनके विशाल साम्राज्य ने एशिया तथा यूरोप के मध्य इस्लाम और ईसाई धर्म के अनुयायियों द्वारा स्थापित रुकावटों और सीमाओं को तोड़ दिया और इन दो महाद्वीपों में स्थल मार्गों की सरल और सुविधाजनक व्यवस्था की। प्रभाव की दृष्टि से मंगोल विजयों का सिकन्दर महान की विजयों से अधिक महत्व है। मंगोल विजयों के कारण कुछ समय के लिये एशिया और योरप महाद्वीपों में अधिक निकट का सम्पर्क स्थापित हुआ। सारे स्थल-मार्गों द्वारा आवागमन होने लगा और मंगोलों की कराकोरम की राजसभा में सभी राष्ट्रों के प्रतिनिधि एकत्र होते थे। हम इतिहास में मंगोलों के द्वारा की गई हत्याओं और उनके आक्रमणों के विषय में ही अधिक सुनते हैं और उनकी ज्ञान-पिपासा तथा जिज्ञासा के विषय में हमें इतिहास में पर्याप्त विवरण नहीं प्राप्त होता। कदाचित् मौलिक सृष्टि करने वाली जातियों के रूप में नहीं, बल्कि दूसरी जातियों द्वारा प्राप्त ज्ञान को सभ्य जगत को प्रदान करने की दृष्टि से विश्व इतिहास में उनका महत्व काफी अधिक है।"[1]

मंगोल साम्राज्य का उत्थान

हमें मंगोलों के प्रारम्भिक जीवन के विषय में कुछ विशेष बात नहीं मालूम। बारहवीं शताब्दी के अन्त में वे हमें चीन के उत्तर में उसी स्थान पर दिखाई पड़ते हैं जहाँ हूणों और तुर्कों का निवास था। मंगोल भी तुर्कों और हूणों की ही भाँति भ्रमणशील और लुटेरे थे। एक सरदार ने उनका संगठन किया किन्तु चंगेज खाँ के नेतृत्व में मंगोलों की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई। इस समय (बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में) अरबों की शक्ति का पतन हो रहा था और चीन का साम्राज्य

1 H. G. Wells, Outline of History, Page 702.

भी विच्छिन्न हो रहा था, इसलिये उनकी बढ़ती हुई शक्ति को रोकने वाला कोई न था। चंगेज खां सिकन्दर, सीजर तथा नेपोलियन की भांति एक महान विजेता था और उसके अन्दर लोगों को संगठित करने की अपूर्व क्षमता विद्यमान थी। सबसे पहले उसने मंगोल जाति के समस्त कबीलों को ही एकता के सूत्र में आबद्ध किया और मध्य तथा पश्चिमी एशिया के देशों को पदाक्रान्त करके चंगेज ने एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की। उसने तत्पश्चात किन साम्राज्य पर आक्रमण किया और पेकिंग पर अधिकार कर लिया। किन साम्राज्य के अधीनस्थ खितान लोगों ने चंगेज का साथ दिया और उसके सहायक हो गये। लेकिन अभी चीन के साधारण लोगों को इस राज्य परिवर्तन से कोई प्रयोजन न था। वे पूर्ववत अपना कृषि-कार्य करते रहे। पेकिंग पर अधिकार स्थापित कर लेने के बाद चंगेज खां ने ख्वारसीमिया की सरकार के विरुद्ध आक्रमण कर दिया। चंगेज ने अपने कुछ राजदूत ख्वारसीमिया की सरकार की सेवा में भेजे थे जिनको वहाँ मरवा डाला गया। इससे क्रुद्ध होकर चंगेज ने अपने अश्वारोहियों को पामीर पार कर तुर्किस्तान में घुस पड़ने की आज्ञा दे दी। उसकी आज्ञा पाकर मंगोलों ने काशगर, खोकन्द और बोखारा जीतने के बाद ख्वारसीमिया-साम्राज्य की राजधानी समरकन्द पर भी अधिकार कर लिया। इसके बाद पश्चिम में वे काले सागर तक फैल गये और मार्ग में जितनी भी रूसी सेनायें मिली उन सबको पराजित कर दिया। उनकी बढ़ती हुई शक्ति से कुस्तुन्तुनिया के यूनानी भी भयभीत हो गये और अपनी किलेबन्दी शुरू कर दी।

सन् १२२७ ई० में चंगेज खां की मृत्यु हो गई। इस समय उसका साम्राज्य प्रशान्त महासागर से लेकर रूस की नीपर नदी तक फैला था। उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी के शासन में यह साम्राज्य और अधिक विस्तृत हो गया। सारे रूस पर मंगोलों का आधिपत्य था। वे वहां से कर वसूल करते थे। पोलैण्ड को उन्होंने लूटा खसोटा और साइलेशिया में पोलैन्ड तथा जर्मन की सम्मिलित सेनाओं को बुरी तरह पराजित किया। लेकिन अब मंगोल विजेता आगे न बढ़े। इसी समय उगदाई खां की मृत्यु हो गई और मंगोल पूर्व की ओर ही लौट गये। इस समय मंगोलों के अन्दर पारस्परिक विद्वेष उत्पन्न हो गया और जब कुबला खां मंगोलों द्वारा महान खान चुना गया तो वह एक विभाजित साम्राज्य का ही स्वामी हुआ। कुबला खां की शक्ति और सत्ता का सिक्का चीन और मंगोलिया में ही जमा हुआ था, फारस, सीरिया और एशिया माइनर उसके भाई के अधीन एक दूसरे साम्राज्य में सम्मिलित थे। रूस के मंगोल भी अपना एक अलग राज्य स्थापित किये हुये थे और तुर्किस्तान में भी मंगोलों का एक स्वतन्त्र राज्य था। अभी तक मंगोलों की राजधानी कराकोरम में थी लेकिन कुबला खां ने अपनी राजधानी पेकिंग में बनाई।

कुबला खां ने ईसाई धर्म इस शर्त पर स्वीकार करने की इच्छा प्रकट की थी कि ईसाई धर्म के प्रतिनिधि उसे भली भांति अपने धर्म की अच्छाइयों को समझा सकें। सन् १२६६ में इसी उद्देश्य से उसने निकोलो पोलो और मार्को पोलो नामक वेनिस के दो व्यक्तियों को, जो उसके राज्य में भ्रमण कर रहे थे, पोप के पास भेजा। कुबला खां ने "सात कलाओं से परिचित बुद्धिमान व्यक्तियों को, जो वादविवाद कर सकें और मूर्तिपूजकों तथा अन्य लोगों को यह भली भांति समझा सकें कि ईसा की शिक्षायें ही सर्वोत्तम हैं," पेकिंग भेजने की प्रार्थना की। लेकिन उस समय योरप में ईसाई धर्म की अवस्था सन्तोषजनक नहीं थी इसलिये कुबला खां की प्रार्थना का कोई सन्तोषजनक उत्तर न प्राप्त हो सका। मार्को पोलो ने अपनी चीन की यात्रा का बड़ा ही मनोरंजक वर्णन किया है। उसके यात्रा वर्णन को पढ़कर समस्त यूरोप के निवासियों में चीन के प्रति एक बड़ी ही उत्कट जिज्ञासा उत्पन्न हो गई। हम मार्को पोलो के यात्रा-विवरण को आगे के अध्याय में मध्यकालीन चीन की सभ्यता के सम्बन्ध में संक्षिप्त रूप में बतलाने की चेष्टा करेंगे।

सन् १२६० ईस्वी के बाद विभाजित मंगोल साम्राज्य की कथा भी कुछ खास मनोरंजक नहीं है। चीन में कुबला खाँ के उत्तराधिकारी चीनी सभ्यता में घुल मिल गये। वे चीन में सन् १३६८ ईस्वी तक शासन करते रहे किन्तु इसके बाद एक राष्ट्रीय क्रांति हुई जिसके फलस्वरूप कुबला खां के उत्तराधिकारियों का शासन समाप्त हो गया और संकुचित तथा भला

के पोषक मिंग वंशीय राजाओं का राज्य आरम्भ हुआ। तुर्किस्तान में मंगोल लोग फिर से खानाबदोशों का जीवन व्यतीत करने लगे और नगर निवासियों तथा खानाबदोश मंगोलों के बीच एक विरोध उत्पन्न हो गया। तिब्बत में बौद्ध धर्म का खूब प्रचार हुआ। तुर्किस्तान की भांति दक्षिणी रूस में भी बहुत से ऐसे खानाबदोश थे जो एक बहुत बड़े विस्तृत प्रदेश में घूमा करते थे तथा अनेक नगरों में बहुत से मंगोलों ने एक सुव्यवस्थित जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया। कीफ और मास्को के समान नगरों में तातार गवर्नरों के अधीन नगर जीवन चलता रहा। ये गवर्नर कर वसूल करते थे और खानाबदोशों के खान की सेवा में उसे भेज देते थे। मास्को के गवर्नर ने खान का विशेष विश्वास प्राप्त कर लिया था अतः अन्य करद गवर्नरों से उसका स्थान काफी ऊँचा हो गया और कालान्तर में उनके ऊपर उसका अधिकार सा हो गया। पन्द्रहवीं शताब्दी में मास्को के गवर्नर इवान द ग्रेट ने मंगोलों से अपने को पूर्ण स्वतन्त्र कर लिया और कर देने से इन्कार कर दिया। नोवागार्ड के व्यापारिक गणतन्त्र को उसने अपने अधीन कर लिया और उसके पौत्र इवान द टेरेबिल ने ज़ार की उपाधि ग्रहण की। इस प्रकार रूस के वर्तमान राज्य की स्थापना हुई लेकिन पीटर द ग्रेट के शासन काल के पूर्व तक रूस सभ्यता के मामले में बहुत पीछे रहा। पीटर महान (१६८६-१७२५) के भगीरथ प्रयत्नों के फलस्वरूप रूस ने योरप की सभ्यता को ग्रहण कर लिया। फारस, सीरिया तथा मेसोपोटैमिया में लोगों ने लगभग पूरी तरह से खानाबदोशों के जीवन को अपना लिया। यहाँ के मंगोलों ने यह समझ लिया कि नगरों में रहने से लोग दुर्बल और दुश्चरित्र हो जाते हैं। फल यह हुआ कि इन प्रान्तों में नगर जीवन बिल्कुल लुप्त सा हो गया। यहाँ तक कि वह सिंचाई-व्यवस्था जो कम से कम आठ हजार वर्षों तक बनी रही, नष्ट कर दी गई। मेसोपोटैमिया अपनी उर्वरता के लिए प्रसिद्ध था किन्तु वहां अब खंडहर और मलेरिया उत्पन्न करने वाले दल-दल ही दिखाई पड़ने लगे। कदाचित मिस्र का भी यही हाल होता यदि वहाँ तुर्कों ने मंगोलों को अपना अधिकार स्थापित करने से रोक न दिया होता।

मंगोलों की सत्ता अब प्रायः मरणप्राय थी किन्तु एक बार फिर संसार को खानाबदोशों के नृशंस कार्यों के अवर्णनीय परिणाम देखने पड़े। पश्चिमी तुर्किस्तान में तैमूर लंग के नेतृत्व में ये खानाबदोश संगठित हो गये। तैमूर माता की ओर से चंगेज के वंश का ही था। उसने समरकन्द अपनी राजधानी बनाई और दक्षिणी रूस, साइबेरिया और सिन्धु नदी तक अपना प्रभाव फैलाया। उसने 'महान खान' की उपाधि ग्रहण कर ली और चंगेज खाँ के विशाल साम्राज्य को पुनः स्थापित करने का दृढ़ संकल्प किया। लेकिन वास्तव में तैमूर इस कार्य के योग्य न था। क्रूरता और हिंसाप्रियता में वह चंगेज से भी आगे बढ़ा हुआ था। इस्फहान के नगर को जीतने के बाद तैमूर ने सत्तर हजार लोगों को तलवार के घाट उतार दिया। उसने भारत की सीमा में प्रवेश करके पंजाब को रौंद डाला और दिल्ली के निवासियों का कत्ल कराया। १४०५ ई० में तैमूर का शरीरान्त हो गया किन्तु आज भी उसकी नृशंसता, क्रूरता, हिंसाप्रियता और बर्बरता हमारे हृदयों में घृणा और भय का संचार कर देती है।

मंगोल और सभ्यता

ऊपर हमने मंगोलों के कार्यों का जो वर्णन किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे सभ्यता के शत्रु थे। मंगोलों की नृशंसता आप मास्को के गवर्नर में देख ही चुके हैं। उनकी नृशंसता का एक उदाहरण दे देना हम अनुचित नहीं समझते। समरकन्द को विजित करने के बाद चंगेज के सैनिकों ने सम्पूर्ण नगरों को ध्वस्त कर दिया और विजेता तुर्कों को अपनी निर्दयता का आखेट बनाया। अबोध शिशुओं और निरपराध नारियों पर भी उनको दया नहीं आई। चारों ओर मंगोल सैनिकों ने लूटमार की। जुवैनी नामक मुसलमान इतिहासकार ने एक नितान्त करुणोत्पादक दृश्य का उल्लेख किया है। एक स्त्री ने एक निर्दयी मंगोल सैनिक से प्राण-भिक्षा माँगी और बदले में उस ने उसे एक अत्यन्त मूल्यवान मोती देने की प्रतिज्ञा की, जिसको उसने निगल लिया था। मंगोल सैनिक ने तत्क्षण उसका पेट फाड़ दिया और उस मोती को ले लिया। उसी समय एक आज्ञा निकली कि समस्त शवों का पेट फाड़ा जाय और उनकी जाँच हो। ऐसा ही किया गया और हजारों लाशों के पेट फाड़े गये। इस्लामी सभ्यता के केन्द्र भव्य नगरों को बिल्कुल नष्ट कर डालने का प्रयत्न किया गया और वहां के निवासियों का

वध किया गया। मेसोपोटेमिया, सीरिया तथा फारस के मंगोलों के विषय में आप पढ़ ही चुके हैं कि उन्होंने किस सीमा तक खानाबदोशों के जीवन को अपना लिया था और किस प्रकार एक प्राचीन सभ्यता की भूमि मेसोपोटेमिया को उन्होंने अनुर्वर और सभ्यता के प्रभावों से रहित एक भू-भाग में बदल दिया। किन्तु महाकवि शेक्सपीयर की इस उक्ति को कि "मनुष्य जो बुराइयाँ करते हैं वे तो उनके बाद भी रहती हैं किन्तु उनकी अच्छाइयों को उनकी अस्थियों के साथ ही दफना दिया जाता है''।[5] प्रोफेसर बरी एन्टोनी की व्यंगात्मक उक्ति समझ कर इतिहास कार को अच्छाइयों का उल्लेख भी अवश्य करना चाहिए। एक निष्पक्ष इतिहासकार या इतिहास के सच्चे विद्यार्थी का यह परम प्रधान कर्तव्य है कि वह गुण-दोषों पर अपनी दृष्टि रक्खे और नितान्त रागद्वेषशून्य दृष्टिकोण से उनका वर्णन करे।

मंगोलों के आक्रमणों का सभ्यता के हित-संवर्द्धन के लिए कोई प्रत्यक्ष प्रभाव भले ही न हो किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने अप्रत्यक्षतया सभ्यता के विकास में सहायता पहुँचाई। हमें चंगेज खां और उसके वंशजों को केवल हृदय हीन हत्यारा या रक्त-पिपासु दानव ही न समझना चाहिए, वरन् हमें उनके गुणों पर भी विचार कर लेना चाहिए। मंगोल सैनिक संगठन में बड़े ही निपुण थे और उनकी विजयों का रहस्य उनकी निपुणता ही थी। आज के अन्तर्राष्ट्रीय युग में हमें सभ्यता के लिए सैनिक शक्ति की विशेष आवश्यकता नहीं दीख पड़ती और इसे हम सभ्यता का कोई महत्वपूर्ण अङ्ग भी नहीं मानते लेकिन मध्य-युगों में सैन्य संगठन भी सभ्यता का एक आधार था। इस दृष्टि से मंगोल बिल्कुल महत्वशून्य नहीं जान पड़ते। अभी तक इतिहासकारों की यही धारणा रही है कि मंगोल अपनी असीमित संख्या शक्ति और क्रूरता के ही कारण सभ्यता की उन्नायक जातियों को पराजित कर देते थे। किन्तु प्रोफेसर बरी ने गिबन की सुप्रसिद्ध पुस्तक "डिक्लाइन एण्ड फाल आव द रोमन एम्पायर" में अपनी जो टिप्पणी दी है उसमें उपर्युक्त मत का खण्डन किया है। वे कहते हैं, "अभी हाल में ही यूरोप के इतिहासकार यह समझने लगे हैं कि मंगोल सेनाओं, जिन्होंने पोलैण्ड को रौंद डाला और सन् १२४१ ईसवी के बसंत में हंगरी को जीत लिया, की विजय पूर्ण सैन्य कुशलता के कारण हुई थी और उनकी अधिक संख्या शक्ति के कारण नहीं।" प्रोफेसर बरी फिर आगे कहते हैं, "यह आश्चर्य जनक है कि [illegible] के सैन्य आदेश ओडर विस्चुला से लेकर ट्रान्सिल्वेनिया तक के प्रदेश पर आक्रमण करने के लिए कितने निश्चित रूप और कितने प्रभाव पूर्ण तरीके से पालन किये जाते थे। इस प्रकार का आक्रमण तत्कालीन यूरोप की किसी भी सेना की शक्ति के बाहर की बात थी और कोई भी यूरोपीय सेना नायक इस प्रकार के आक्रमण की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। यूरोप में फ्रेडरिक द्वितीय से लेकर नीचे तक कोई भी जनरल ऐसा नहीं था जो युद्ध नीति में सुबुताई की तुलना में नौसिखुआ न रहा हो। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि मंगोलों ने हंगरी की राजनीतिक अवस्था और पोलैण्ड की दशा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके ही आक्रमण किया था—उन्होंने अपने लिए सूचना प्राप्त करने के उद्देश्य से गुप्तचरों को भली भांति संगठित किया था, जब कि दूसरी ओर, हंगरी के लोग और ईसाई शासक, आज बच्चों की भांति, अपने शत्रुओं के विषय में कुछ भी नहीं जानते थे।" इस प्रकार की सैनिक कुशलता और कूटनीतिज्ञता एक ऐसे समुदाय में सम्भव नहीं हो सकती थी जो बिल्कुल असभ्य रहा हो।

अच्छे चरागाहों की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान को निरन्तर भ्रमण करते रहने वाले खानाबदोशों से चंगेज खाँ की अधीनता में एक कुशल सैन्य व्यवस्था को जन्म दिया। चंगेज केवल एक योद्धा [illegible] ही न था वह एक निपुण शासक था। उसने यह अनुभव किया कि अपनी सैनिक-प्रणालियों के माध्यम से ही अपने साम्राज्य का विस्तार कर सकता है। उसने येलुई चुतसाई की सहायता से एक प्रशासनीय शासन-व्यवस्था का निर्माण किया। येलुई चुतसाई एक अति बुद्धिमान राजनीतिज्ञ दृढ़ चरित्र और साहसी व्यक्ति था। अपनी [illegible] द्वारा उसने चंगेज की

---

5 "The evil that men do lives after them.
But good is oft interred with their bones."

निर्दयता से अनेक नगरों और मनुष्यों को बचाया। उसने साम्राज्य भर की कर-प्रणाली को एक सुव्यवस्थित आधार पर रक्खा और मंगोलों को विजित देशों का शासन करने की शिक्षा देने के लिए उसने कई विद्यालय स्थापित कराये। वह चंगेज का दाहिना हाथ था। बहुत से अन्य चीनियों ने चंगेज के शासन काल में सेक्रेटरी, अर्थविभाग के अध्यक्ष और शासक के रूप में मंगोलों की सहायता की। सिविल शासन में चीनियों का ही बहुमत था। चंगेज को अनेक योरोपीय इतिहासकार 'बर्बर' की संज्ञा देना चाहेंगे परन्तु उनको यह न भूलना चाहिए कि जिस समय योरप में धार्मिक मत-मतान्तरों के ऊपर आपस में झगड़े हो जाया करते थे चंगेज ने अपने साम्राज्य में पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की। बहुत से मंगोल अपने ही धर्म को मानते थे, चंगेज के पूर्वी भाग में बुद्ध धर्म प्रधान रूपेण प्रचलित था और पश्चिमी भाग में इस्लाम के बहुत से अनुयायी थे लेकिन इस "महान खान" के सुदृढ़ शासन में धार्मिक आधार पर आपस में कोई झगड़ा नहीं कर सकता था। उसने 'यस्स' अर्थात पारस्परिक झगड़ों से बचना मंगोलों के लिए आवश्यक बताया और इस बात की उनको पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की कि वे जिस प्रकार चाहें ईश्वर के विषय में विचार कर सकते हैं।

चंगेज के बाद कुबला खाँ के शासन में भी सभ्यता की काफी उन्नति हुई। कुबला खां ने भी धर्म के मामले में अपने दृष्टिकोण की उदारता और विशालता प्रकट की, यद्यपि वह ईसाई धर्म को ग्रहण करने के लिए उत्सुक था। कुबला खां के हृदय में चीनी कला, साहित्य और धर्म के प्रति अनुराग था। उसकी राजधानी पेकिंग के अद्वितीय वैभव और गौरव को देखकर अनेक यात्रियों ने तत्कालीन संसार के सर्व-श्रेष्ठ नगरों में इसे एक बतलाया। संसार के धन का एक बहुत बड़ा भाग पेकिंग में खिंचा चला आता था। पूर्वी योरप, उत्तरी अफ्रीका और एशिया माइनर में संघर्ष और युद्ध हो रहे थे किन्तु इस 'महान-खान' के सम्पूर्ण साम्राज्य में शान्ति और समृद्धि छाई हुई थी। मार्को पोलो की यात्रा विवरण को पढ़कर यह स्पष्ट पता लगता है कि चीन के उर्वर प्रदेश में अनेक सम्पन्न नगर थे जहाँ पर कुशल कारीगर सुन्दर वस्तुयें बनाया करते थे और निपुण कलाकार चित्रकला, वास्तुकला और संगीत की उन्नति के लिए प्रयत्नशील थे। मंगोलों को सभ्यता का विध्वंसक मानते हुए भी हम उनके आक्रमणों के परिणामों की अवहेलना नहीं कर सकते। उनके आक्रमणों से अप्रत्यक्षतया योरप की इस्लामी आक्रमणों से रक्षा हुई। मंगोलों ने ही रूस के आधुनिक राज्य की नींव डाली और उन्होंने सभ्यता के केन्द्रों का जो विनाश किया उससे कलाकार और विद्वान अनेक भिन्न-भिन्न स्थानों में फैल गये जिससे मृतप्राय सभ्यता में नवजीवन का संचार हुआ। मध्य-कालीन योरप को सुदूर पूर्व की अति-प्राचीन सभ्यता का परिचय मंगोलों ने ही कराया। कुबला खां और उसके उत्तराधिकारियों के शासन में चीन से योरप का व्यापार बहुत अधिक बढ़ गया। अगले अध्याय में हम मध्यकालीन चीन की सभ्यता का वर्णन करते हुए कुबला खां के विषय में थोड़ा विचार करेंगे, लेकिन पहले हमें तुर्कों के विषय में जान लेना चाहिए।

तुर्कों का उदय

तुर्क लोग गोबी मरुस्थल, साइबेरिया तथा तुर्किस्तान के बीच के विशाल क्षेत्र में रहते थे। जैसा कि संकेत किया जा चुका है तुर्क भी खानाबदोश थे। इस देश की जलवायु की ऐसी भी स्थिति थी कि वे भ्रमणशील होने के लिए बाध्य हो गये। तुर्कों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। वे अपने धर्म का विभिन्न स्थानों में प्रचार करने के लिए सचेष्ट रहते थे और मंगोलों के प्रहार के कारण उनको अपना निवास स्थान छोड़कर अन्य स्थान की शरण लेने के लिये बाध्य होना पड़ा। वे एक ओर पश्चिमी एशिया तथा दक्षिणी पूर्वी योरप तक पहुँचे और दूसरी ओर अफगानिस्तान तथा भारत तक उनका प्रसार हो गया। भारत में तुर्कों के प्रभाव का वर्णन हम मध्य-कालीन भारतीय सभ्यता के वर्णन के साथ करेंगे। पहले अफगानिस्तान के गजनवी तुर्कों का संक्षिप्त विवरण जान लेना चाहिए।

पहले तुर्क लोगों ने पश्चिमी एशिया में बगदाद के खलीफा की सेना में नौकरी करना आरम्भ किया। लेकिन

कालान्तर में अवसर प्राप्त होने पर तुर्क सरदारों ने खलीफा के प्रान्तों पर अपना शासन जमा लिया और फिर कुछ दिनों बाद स्वतन्त्र बन बैठे । अलप्तगीन नामक तुर्क सरदार ने गजनवी के राज्य की नींव इसी प्रकार डाली । सुबुक्तगीन के

गजनवी तुर्क

समय इस राज्य की शक्ति बहुत अधिक बढ़ी । उसने भारत के सीमान्त प्रदेश के राजपूत नरेश को युद्ध में पराजित किया । उसका पुत्र महमूद गजनवी बड़ा उत्साही तथा महत्वाकांक्षी था । उसने भारत के अतुल धन को लूटने के ही विचार से यहाँ पर सत्रह आक्रमण किये । यहाँ से अपार धन सम्पत्ति लूट कर वह गजनी ले गया । उसने सोमनाथ के मन्दिर को बुरी तरह लूटा और मूर्ति का विध्वंस भी कर दिया । अरबों का राज्य भी भारत के सिंध प्रान्त तक फैल गया था लेकिन उन्होंने हिन्दुओं के ऊपर धार्मिक अत्याचार नहीं किया था । अतएव हम यहीं से सहज ही समझ सकते है कि तुर्कों के अन्दर अरबों की सहिष्णुता का अभाव था । महमूद गजनवी एक धर्मान्ध लुटेरा था किन्तु फिर भी हम उसे असभ्य नहीं कह सकते । उसने भारत की अतुल सम्पति से गजनी को सजाने का प्रयत्न किया । उसकी राजसभा में अनेक विद्वान कवि और कलाकार रहते थे । उत्बी उसकी राजसभा का प्रसिद्ध इतिहासकार था और 'शाहनामा' महाकाव्य का रचयिता फिरदौसी उसका राजकवि था । कहते हैं कि महमूद की प्रेरणा से ही फिरदौसी ने इस वृहत महाकाव्य की रचना की थी । अलबरूनी नामक सुविख्यात विद्वान उसके साथ भारत आया था । हम इन ख्यातनामा व्यक्तियों का परिचय इस्लामी सभ्यता के साथ कर चुके हैं । इसलिये यहाँ इनके विशेष विवरण की कोई आवश्यकता नहीं है ।

तुर्कों की एक शाखा सेल्जुक तुर्क के नाम से प्रसिद्ध हुई । ये सेल्जुक तुर्क मंगोलों के अधीन थे परन्तु बाद में ये दूसरी ओर चले आये और बगदाद के खलीफाओं का राज्य छीन लिया और समस्त पश्चिमी एशिया को जीत

सेल्जुक तुर्क

लिया । जेरूसेलम पर भी उनका अधिकार स्थापित हो गया । यहाँ पर भी उन्होंने अपनी धार्मिक असहिष्णुता का परिचय दिया । जेरूसेलम को ईसाई लोग एक पवित्र तीर्थस्थान समझते थे, इसलिये वे समय समय पर जेरूसेलम की यात्रा किया करते थे । तुर्क लोग ईसाइयों के ऊपर अत्याचार किया करते थे और उनके धर्म की निन्दा करते थे इस कारण ईसाइयों ने 'क्रूसेड' नाम से एक धर्मयुद्ध छेड़ दिया परन्तु युद्ध में तुर्कों को ही विजय प्राप्त हुई । सलादीन के नेतृत्व में सेल्जुक तुर्कों ने बारबार ईसाइयों को हरा दिया । इन युद्धों की चर्चा हम बाद में करेंगे । तुर्कों की एक प्रमुख शाखा को उसमानली तुर्क कहा जाता था । हम अब उसमानली तुर्कों की ही ओर अपना ध्यान आकर्षित करते हैं ।

तुर्कों की इस शाखा ने तेरहवीं शताब्दी में उसमान के नेतृत्व में अपनी शक्ति काफी बढ़ा ली । इनका निवास एशिया माइनर में था । इनका यह नाम इनके राज्य की नींव डालने वाले उसमान के नाम पर पड़ा । जब बगदाद के

उसमानली तुर्क

सेल्जुक तुर्कों का मंगोलों ने विनाश कर दिया और पूर्व के रोमन साम्राज्य की शक्ति का भी ह्रास होने लगा तब उसमानली तुर्कों को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर मिला । जिस समय चंगेज खाँ ने पश्चिमी तुर्किस्तान पर आक्रमण किया उस समय ये तुर्क उधर भाग गये । बहुत समय तक इधर-उधर घूमते रहे । अन्त में अनातोलिया में ये बस गये । अब वे बाइज़न्टियम के साम्राज्य पर हमला करने लगे । ये यूरोप की ओर बढ़े और मेसीडन, सर्विया, बल्गेरिया आदि प्रदेशों में बस गये । विजितों को इन्होंने इस्लाम धर्म ग्रहण करने अथवा जजिया नामक कर देने के लिये विवश किया । उसमानली तुर्कों ने धीरे धीरे एक बड़ी सुसंगठित सेना एकत्र कर ली और दूसरों के देशों पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे । इस समय बाइज़न्टियम का साम्राज्य बिल्कुल क्षीण हो चुका था अतएव तुर्कों की शक्ति को रोकने वाला कोई न रहा । धीरे धीरे ये पूर्वी रोमन साम्राज्य में प्रवेश करने लगे । कान्सटेन्टिनोपिल के पतन के पहिले तुर्कों और बाइज़न्टियम के निवासियों के पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे थे । इन लोगों में विवाह सम्बन्ध होते थे और अनेक अवसरों पर बाइज़न्टियम के प्रधान को तुर्की सेनाओं से सहायता मिली थी । इधर युद्ध के मैदानों में बाइज़न्टियम के राजकुमार और उसमानली तुर्क साथ साथ लड़े थे । लेकिन फिर भी तुर्कों ने एशिया माइनर और थ्रेस के नगरों को, जो बाइज़न्टाइन साम्राज्य के अन्तर्गत थे, लूटना और

अपने अधिकार में करना बन्द नहीं किया। अन्त में जब तुर्कों की लालच पराकाष्ठा पर पहुँच गई तब अन्त में सुल्तान मुहम्मद द्वितीय ने कुस्तुन्तुनिया पर आक्रमण कर दिया और एक बहुत बड़े घेरे के बाद नगर को अपने अधिकार में लिया। अन्तिम यूनानी सम्राट युद्ध में मार डाला गया और विजय प्राप्त करने के बाद तुर्कों ने खूब लूट पाट मचाई। चर्च आफ सोफिया का सारा धन लूट लिया गया और उसे तुरन्त मस्जिद में परिणत कर दिया गया। इसके बाद तो तुर्कों ने अपना विजय कार्य और आगे बढ़ाया। मुहम्मद द्वितीय कुस्तुन्तुनिया पर विजय प्राप्त कर लेने से ही सन्तुष्ट न रहा वरन वह इटली पर विजय प्राप्त करके रोम नगर को अपने अधिकार में करने की भी इच्छा रखता था। उसने दक्षिणी इटली में ओट्रेन्टो पर कब्जा कर लिया और इसे खूब लूटा। परन्तु इसी बीच उसकी मृत्यु हो गई। उसके उत्तराधिकारियों ने तुर्कों की शक्ति को आरमीनिया और मिस्र तक बढ़ा दिया और सुलेमान की अधीनता में बगदाद, एल्जीर्स और हंगरी के अधिकांश भाग पर तुर्कों ने विजय प्राप्त कर ली और सुल्तान को समस्त इस्लामी जगत का खलीफा स्वीकार कर लिया गया।

यद्यपि तुर्क लोग भी हूणों और मंगोलों की भांति लुटेरे थे तथापि सभ्यता के विकास में उन्होंने अप्रत्यक्षतया महत्वपूर्ण योग दिया। हम विश्व इतिहास में राजनीतिक घटनाओं और विजयों को विशेष महत्व नहीं प्रदान करते क्योंकि इनके द्वारा ही मानव समाज की विभिन्न जातियों में सौहार्द और सहयोग की भावनायें नहीं उत्पन्न हो सकीं और आज भी ये सम्पूर्ण विश्व को एक ही सामान्य 'नीड़' होने नहीं दे रही हैं। हम महत्व देते हैं साहित्य और कलाओं को, दर्शन और विज्ञान को, धर्म तथा नीति को क्योंकि ये अपनी-अपनी विशिष्ट परिस्थितियों से सम्बन्ध होते हुये भी सार्वजनीनता और सार्वभौमिकता के भावों की पुष्टि करती हैं।

तुर्क और सभ्यता

कलाकार, कवि, दार्शनिक, सन्त, वैज्ञानिक और नीत्युपदेशक पुकार कर कहते कि मानव संस्कृति एक और अविभाज्य है। महाकवि कालिदास का नायक दुष्यन्त भारतीय नरेश होते हुए भी मानव पहले है। शेक्सपीयर के सभी चरित्रों में उनकी मानवीयता ही प्रधान है, उनकी अंग्रेजी राष्ट्रीयता नहीं। क्या महात्मा सुकरात, बुद्ध अथवा कनफ्यूशियस के उपदेशों से केवल यूनानियों, भारतीयों और चीनियों का ही उपकार हो सकता है? नहीं। विश्व के सभी मानव इन महापुरुषों के अनुपम उपदेशों से लाभान्वित हो सकते हैं। संसार की विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं में विचार-वैषम्य चाहे जितना भी अधिक हो "नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नं" अथवा 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' कहावतें सत्य हैं, तथापि सभी दार्शनिक प्राणिमात्र के हित साधन हेतु अथवा चरम सत्य का साक्षात्कार करने के लिए प्रयत्नशील देखे गये हैं। वैज्ञानिक के हितविधायक आविष्कारों का राजनीतिज्ञ लोग भले ही दुरुपयोग करें और अपने शत्रु राष्ट्रों को विनष्ट करने के लिए सचेष्ट हों, परन्तु वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में जिस समय प्रयोग करने में तल्लीन रहता है, उस समय उसके मस्तिष्क में सत्यान्वेषण अथवा मानव जाति के हित की भावनायें ही प्रधान रहती हैं। विज्ञान के आविष्कारों ने मनुष्य-मात्र के सुखों में अभिवृद्धि की है, किसी देश विशेष के लोगों को ही इनके द्वारा लाभ नहीं हुआ है। सांस्कृतिक तत्वों की विश्व इतिहास में इतनी अधिक प्रधानता होते हुए भी कुछ राजनीतिक घटनायें बड़ी महत्वपूर्ण होती हैं क्योंकि वे संसार के सभ्यता क्रम पर बहुत अधिक प्रभाव डालती हैं। कुस्तुन्तुनिया की तुर्की विजय ऐसी ही विजय थी। इसने मध्य-युग की सभ्यता की सम्पत्ति का उपभोग करके आधुनिक युग का सूत्रपात्र किया। यद्यपि कुस्तुन्तुनिया के पतन के पहिले ही यूनानी और लैटिन ग्रन्थों का अध्ययन किया जाने लगा था तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस घटना ने इस अध्ययन को बहुत अधिक प्रोत्साहन प्रदान किया। कुस्तुन्तुनिया के विद्वान यूरोप के नगरों में फैल गये और यूनानी तथा लैटिन का अध्यापन करने लगे। यूनानी साहित्य का अध्ययन बड़े ही शास्त्रीय और व्यापक ढंग से किया जाने लगा और इसने विचार-स्वातन्त्र्य को, जिसका रोमनों ने दमन करने का प्रयत्न किया था, पुनर्जीवित करके मध्य युग की विचारान्धता और तर्कशून्यता का अन्त किया और आधुनिक युग को प्रारम्भ किया। सन् १४५३ की कुस्तुन्तुनिया विजय को अनेक विद्वान योरपीय इतिहास के आधुनिक-युग की प्रथम तिथि कहते हैं। ऊपर के तथ्य से यह कथन समुचित प्रतीत होता है। इसके अलावा तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार करके

स्थल मार्ग पर अपना आधिपत्य कर लिया और अन्य जातियों के व्यापारियों और यात्रियों को इस मार्ग से आने-जाने की अनुमति नहीं दी। कभी-कभी अवांच्छनीय कार्यों एवं घटनाओं से भी सुखद परिणाम निकलते हैं। तुर्कों के इस प्रतिबन्ध ने योरप के व्यापारियों को सामुद्रिक मार्ग खोजने के लिए बाध्य कर दिया। बड़े-बड़े महान भौगोलिक अनुसन्धान किये गये जिन्होंने मनुष्यों के मानसिक क्षितिज को उसी मात्रा में विस्तृत किया जिस मात्रा में यूनानी ग्रन्थों के अध्ययन ने किया था। अन्त में हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि तुर्कों की सबसे महान देन इसी बात में है कि उन्होंने अप्रत्यक्षतया यूरोप के सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन को सम्भव बनाया।

—:o:—

सत्रहवाँ अध्याय

मध्यकालीन चीन

प्राचीन चीन के संक्षिप्त राजनीतिक इतिहास का वर्णन करते हुए यह कहा जा चुका है कि सन् १२७६ ईसवी में चीन पर मंगोलों का अधिकार स्थापित हो गया। कुछ दिनों बाद मंगोल आक्रमणकारी चीनी संस्कृति में मिल गया और एक नये राजवंश की स्थापना हुई। कुबला खाँ इस वंश का सबसे योग्य शासक था। उसके दरबार में वेनिस का सुप्रसिद्ध यात्री मार्को पोलो आया था। उसने कुबला खाँ के सम्पूर्ण राज्य का भ्रमण किया था और अपनी यात्रा का वृतान्त लिखा है। मार्को पोलो का यात्रा-विवरण पूर्णतया विश्वसनीय नहीं है किन्तु फिर भी हम ऐसा नहीं कह सकते कि उसमें सत्य का अंश नहीं है। उसके लेखों से यह विदित होता है कि उसके समय में चीन में सभ्यता और संस्कृति की अवस्था सन्तोषजनक थी। हयांगशू नामक नगर का वर्णन करते हुए उसने लिखा है, "मैं इसकी श्रेष्ठता के विषय में सब कुछ बतलाऊँगा, क्योंकि निस्सन्देह यह संसार का सबसे बड़ा नगर है.....। व्यापारी इतने अधिक और इतने समृद्ध हैं कि उनके धन का न तो वर्णन किया ...... और न उस पर विश्वास ही किया जा सकता है। प्रत्येक पुल पर ... दस मनुष्य दिन-रात पहरा देते हैं, जिससे ... भी व्यक्ति उपद्रव न खड़ा कर सके या चोरी अथवा हत्या न कर सके। सभी सड़कें ईंटों और पत्थरों से मढ़ी होती हैं, और इसी प्रकार मन्जी (दक्षिणी चीन) के भी राजपथ हैं ... मन्जी प्रान्त से खान को इतना अधिक धन ... लाभ प्राप्त होता है कि उसका वर्णन करने का साहस कोई कर नहीं सकता।" पोलो ने लिखा है कि हांगशू में जिस दिन बाजार लगता है उस दिन लगभग चालीस पचास हजार लोग एकत्र होते ... कथन विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता। उसने कुबला खाँ की राजसभा के ऐश्वर्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि दूर देशों से मँगाई हुई वस्तुएँ उसकी राजसभा को सुशोभित करती थीं।

मंगोलों ने चीनी संस्कृति को ग्रहण कर लिया किन्तु चीनियों को उन्होंने नाट्य ग्रन्थ प्रदान किया। चीनियों ने इसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर लिया। मंगोलों के समय से चीन में रंगमंच कला का विकास हुआ। एक विशेष प्रकार का नाटक खेला जाने लगा जिसमें संगीत की ही प्रधानता थी। चीनी अपने रंगमंच पर संगीत द्वारा ही नाटक के भाव अभिव्यक्त करने की चेष्टा करते थे। शब्दों को संगीत की किसी विशेष ध्वनि के अनुसार बोला जाता था। रंगमंच पर संगीत का कार्यक्रम तो तंग और सुंग युगों में भी होता था। लेकिन युआन वंश का शासन प्रारम्भ होने के समय से चीन में संवाद तथा रंगमंच पर अभिनय करने की कला का विकास हुआ। इसी समय चीनी नाटक का जन्म तथा उसका निर्माण हुआ। मंगोलों ने सरकारी नौकरियों के लिए परीक्षा प्रणाली का उन्मूलन कर दिया था जिससे प्राचीन विद्याओं के अध्ययन का उत्साह बहुत कुछ कम हो गया और सरकारी पदों से वंचित किये जाने पर अनेक चीनी विद्वान बेकार हो गये। अब उन विद्वानों ने ऐसे नाटक लिखना प्रारम्भ किया कि जिनका अभिनय सरलता से किया जा सके। इन नाटकों में प्रतिदिन के जीवन में प्रयुक्त होने वाली ही भाषा लिखना उचित और अपेक्षित था क्योंकि इन नाटकों के अभिनय को देखने के लिए साधारण जन बहुत अधिक संख्या में एकत्र होते थे, जो कठिन और साहित्यिक भाषा को कम समझ सकते थे। चीन का विद्वान इस प्रकार की साधारण भाषा लिखना अपने लिए अपमान की बात समझता था लेकिन फिर बाद में विवशता से उसने नाटक लिखने में ही अपना चित्त लगाया क्योंकि प्राचीन विद्या का अध्ययन अब उतना उपयोगी न रह गया। यह अवस्था केवल युआन वंश के सत्तासी वर्षों तक के शासन काल में रही और बाद में प्राचीन विद्याओं का अध्ययन उतना ही उपयोगी हो गया जितना पहले था। लेकिन इन सत्तासी वर्षों में ही

काफी नाटकों की रचना हो चुकी थी और उनमें से कुछ नाटक तो चीन में आज भी प्रदर्शित किये जाते हैं। नाटककारों को तीन प्रकार के नाटकों की रचना करनी पड़ती थी। पहले नाटक में संगीत का प्राधान्य रहता था, दूसरे में नृत्य और मूक-प्रदर्शन द्वारा भावों को अभिव्यक्त किया जाता था और तृतीय नाटकीय परम्परा में व्यंग को प्रधानता दी जाती थी जिसमें एक विशेष वर्ग के लोग, अपनी विशिष्ट कमियों से युक्त दिखाये जाते थे और उनका परिहास किया जाता था। इस प्रकार के नाटकों का मुख्य पात्र विदूषक होता था जो अपनी कमियों और परिहासयुक्त वचनों से दर्शकों में हास्य उत्पन्न करता था और लोगों के ऊपर व्यंग्य के छींटे कसता था। मंगोलों के समय में ही चीन में उपन्यास का भी जन्म हुआ और कुछ उपन्यास उच्च कोटि के भी थे। लेकिन चीन में उपन्यास को साहित्य का प्रमुख अङ्ग नहीं समझा जाता था। मंगोलों के समय में चीन में एक राष्ट्रीय क्रान्ति हुई जिसके फलस्वरूप मिंग वंश की स्थापना हुई। मिंग वंश चीन का राष्ट्रीय वंश था अतएव चीनियों ने इसके शासन को शिरसा स्वीकार किया।

मिंग वंश का शासन चीन में कलाओं की उन्नति के लिए प्रसिद्ध है। लेकिन यह याद रखना आवश्यक है कि मिंग-युग तंग अथवा सुंग युग की भांति एक सृजनात्मक युग था। पहले के कलानमूनों के आधार पर ही मिंग वंश में कलाओं का विकास हुआ। हमें मिंग वंश की कलात्मक वस्तुयें बहुत अधिक परिमाण में मिलती हैं। लकड़ी और हाथी दांत पर की हुई पच्चीकारी तथा घोड़े की हड्डियों, चट्टान के टुकड़ों और बहुत से कांस के बर्तनों पर पच्चीकारी दिखाई पड़ती है। मिंग युग की चीनी कला में हमें तंग अथवा सुंग युगों की भांति स्वाभाविकता नहीं दृष्टिगत होती। मिंग वंश के कलाकार अलंकरण पर बहुत अधिक ध्यान देते थे और अलंकरण के अतिशय प्रयत्न द्वारा ही उनकी कलाकृतियों में वह अकृत्रिम सौन्दर्य नहीं है जिसकी सृष्टि कलाकार की उत्कृष्ट कल्पना शक्ति अथवा उसकी गहन साधना द्वारा होती है। कलाकृतियों और कारीगरी की वस्तुओं में चीनी मिट्टी के बर्तन के निर्माण और अलंकरण की कला का इतना अधिक विकास हुआ कि उतना विकास किसी भी युग में नहीं हुआ। संग्रहालयों और व्यक्तिगत संग्रहालयों में हमें इन बर्तनों के अच्छे नमूने प्राप्त होते हैं। चीनी मिट्टी के बर्तनों ने ही यूरोप के लोगों को सबसे अधिक आकर्षित किया। इंग्लैण्ड की फैक्टरियां चीन के इन बर्तनों को मिट्टी और रंग की सहायता से बनाने की अपनी सुन्दर कला जानने का बराबर प्रयत्न करती रहीं किन्तु चीनी कारीगर के हस्त कौशल को विदेशों की मशीनें कभी न प्राप्त कर सकीं और दिनों दिन योरप में चीनी मिट्टी की वस्तुयें अधिकाधिक परिमाण में मँगाई जाने लगीं। विदेशों की इस आवश्यकता के कारण चीन में चीनी मिट्टी की कला का अत्यधिक विकास हुआ। मिंग सम्राटों अपने नगरों की रक्षा के लिए उनके चारों ओर दीवालें बनवा देते थे। उन्होंने चीन की विशाल दीवाल की मरम्मत कराई और बड़ी ही प्रभावोत्पादिनी नगर-दीवालों का निर्माण कराया। नान्किंग नामक नगर में जिसको उन्होंने अपनी राजधानी बनाया था, सबसे बड़ी दीवाल है जो २० मील लम्बी और १६० फीट ऊँची है। पेकिंग अपने जिस स्वरूप में हमें आज दिखाई पड़ता है उसका निर्माण मिंग सम्राटों ने कराया था।

मिंग-युग में चीनी सभ्यता में बनावटीपन और नकलीपन आ गया था। इस बनावटीपन की झलक हमें समकालीन साहित्य में दिखाई पड़ती है। मिंग वंश का एक चीनी लेखक लिखता है, "एक बार ग्रीष्म ऋतु के मध्य में मैंने फलों की दूकान पर नारंगियाँ देखीं। वे बड़ी ही ताजी और आकर्षक जान पड़ीं और मैंने एक खरीद लीं। इसको तोड़ने पर धुएँ की तरह किसी वस्तु का फूत्कार मेरी नाक और मेरे मुख में भर गया। विक्रेता की ओर घूमकर मैंने कहा "तुम ऐसे फल क्यों बेचते हो। यह तो केवल देवताओं को समर्पित करने अथवा अपरिचितों के सम्मुख रखने योग्य ही है और किसी अन्य कार्य के लिए यह ठीक नहीं है। कैसा छल है! कितनी कलङ्कमय प्रवंचना है!" फल-विक्रेता ने उत्तर दिया, "यह अच्छा होता कि मेरी नारंगियां ही केवल प्रवंचनामयी होतीं। और वह बतलाता गया कि हमारे रणभूमि में कैसे प्रवंचनापूर्ण हो जाते हैं, मन्त्रिमण्डल में धोखेबाज राजनीतिज्ञ हैं, और सर्वत्र प्रवंचनायें ही हैं।" मैं चुपचाप चला गया, यह सोचते हुए कि कहीं यह फल-विक्रेता दार्शनिक न हो जिसने प्रवंचना पर उपदेश देने के लिए

विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से सड़ी नारंगियाँ बेचना ग्रहण कर लिया हो।''[1]

चीन में विदेशों से स्थल मार्गों द्वारा व्यापार अति प्राचीन काल से होता आया है। तन्ग और सुङ्ग युगों में भारतवर्ष और चीन के बीच आवागमन और व्यापार काफी उन्नति पर था लेकिन यह गमनागमन स्थल मार्गों द्वारा ही होता था। मिंग सम्राटों के शासन में विदेशों से जल मार्गों द्वारा सम्पर्क अधिक होने लगा। सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पुर्तगाली लोग चीन से व्यापार करने के उद्देश्य से वहाँ आने लगे। पहले उनको अन्य व्यापारियों की श्रेणी में रक्खा गया और उनको व्यापारिक सुविधायें प्रदान की गईं। लेकिन पुर्तगाली और स्पेनी व्यापारी, जो उनके शीघ्र ही बाद आये थे, बड़ी हिंसक मनोवृत्ति के थे। मुसलमानों से निरन्तर संघर्ष करते रहने के कारण उनकी मनोवृत्ति मरने-मारने की हो गई थी। पुर्तगालियों, स्पेनियों और हालैण्ड वालों ने शीघ्र ही चीन में हत्याओं तथा लूट-पाट के लिए चीनियों के हृदय में घृणा उत्पन्न कर दी। अब चीन के अधिकारियों के सम्मुख एक समस्या उत्पन्न हो गई। या तो वे योरपीयों को देश से निकाल देते या उनकी उद्दण्डता का दमन करते जिससे वे कोई खतरा न उत्पन्न कर सकें। लेकिन वे उन व्यापारियों को देश से निर्वासित नहीं कर सकते थे क्योंकि उनके व्यापार से देश को बहुत अधिक लाभ होता था। हाँ उन्होंने योरप के व्यापारियों के ऊपर कठोर नियन्त्रण अवश्य लगा दिया। पुर्तगालियों को यह आदेश दिया गया कि वे मेकाओ नामक स्थान को छोड़कर चीन में अन्यत्र नहीं उतर सकते। उनके व्यापारियों को केवल सप्ताह में कुछ दिन के लिए ही कैन्टन में आने की आज्ञा थी। डच लोग चीनी राज्य की सीमा के बाहर फारमोसा में ही टिक गये।

अट्ठारहवीं शताब्दी तक चीन का योरप के अनेक देशों से व्यापार होने लगा। केवल कैन्टन ही ऐसा बन्दरगाह था जिसके द्वारा व्यापार होता था फिर भी व्यापार काफी समृद्धिपूर्ण अवस्था में था। ज्यों ज्यों समय बीतता गया यह स्पष्ट होता गया कि चीन और योरप के व्यापार से लाभ चीनवासियों को ही अधिक होता था और जिस प्रकार ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर पाँचवी शताब्दी तक रोमन साम्राज्य का बहुत अधिक धन चीन में खिंचा चला आता था उसी प्रकार योरप का काफी धन चीनियों के हाथ में चला जाता था। योरप वाले कोई ऐसी वस्तु नहीं उत्पन्न करते थे जिसको चीनी उत्पन्न न कर सकते थे। परिणाम यह हुआ कि चीनी आयात कम करते थे निर्यात अधिक। योरप वालों के लिए यह एक चिन्ता का कारण हो गया कि वे किस प्रकार योरप के धन को चीन में जाने से रोकें।

मिंग वंश का शासन काल चीन के सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से इसलिए महत्वपूर्ण है कि इस वंश में चीन की प्राचीन संस्कृति का पुनरुत्थान हुआ। मंगोलों के शासन काल में चीनी संस्कृति का कुछ ह्रास हो गया था। लेकिन मिंग वंश के राष्ट्रीय शासकों ने चीन के सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन का यथेष्ट प्रयत्न किया। देश में धन-धान्य का अभाव भी न था और सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य छाया हुआ था। विदेशी आक्रमणों का भी कोई भय नहीं था। पड़ोस के राज्यों के साथ मिंग शासकों का मैत्री सम्बन्ध था और चीन को उन लोगों से खिराज प्राप्त होती थी। मध्य-युग में योरप की सांस्कृतिक अवस्था उतार पर थी और यद्यपि सुदूर पूर्व में भी संस्कृति का दीपक पूर्ण वेग के साथ प्रज्वलित नहीं हो रहा था तथापि वहां की सांस्कृतिक स्थिति अपने सम-कालीन योरप की अपेक्षा अधिक सन्तोष प्रदायिनी थी। वेल्स का यह कथन विश्व इतिहास के विद्यार्थी को स्मरण रखना चाहिये, "प्रत्येक बात से यही निष्कर्ष निकलता है कि जिन शताब्दियों में योरप अपसियस्त था और पीछे लौट रहा था उन्हीं शताब्दियों में मध्य-एशिया पूर्व में चीन उन्नति कर रहा था।" मिंग वंश में चीन का उपन्यास साहित्य अपनी पूर्ण उन्नति पर पहुँचा। चीन की सांस्कृतिक प्रगति को समझने के लिये वहां के उपन्यास का संक्षिप्त ज्ञान सहायक होगा। चीन का सर्वप्रथम ज्ञात उपन्यास "सान कुओ चिन्ह" एक ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें पतनोन्मुख हान वंश के समय का वर्णन है। "हुआन लो मेंग"

[1] A Short of History of Civilization, Page, 423 Thorndike द्वारा उद्धृत

भी चीनी भाषा का एक श्रेष्ठ और विख्यात उपन्यास है। इसे "अत्यन्त उच्च कोटि की वस्तु" कहा गया है जिसकी "कथा वस्तु जटिल और मौलिक है" और जिसका वर्ण्य विषय दुखमय है। इस उपन्यास के चार सौ चरित्रोंमें से प्रत्येक अपने विशिष्ट व्यक्तित्व से सम्पन्न है और उसका चित्रण बड़ी ही कुशलता के साथ किया गया है। चीन में इस समय कवितायें भी लिखी गईं किन्तु उनमें तंग युग की कविताओं के समान काव्य-सौष्ठव नहीं दिखलाई पड़ता। उपन्यासों को चीनी विद्वान और साहित्यकार आदर की दृष्टि से नहीं देखते थे इसलिए चीन में उपन्यास साहित्य की उन्नति न हो सकी।

सन् १६४४ ई० में चीन में मंचू वंश की स्थापना हुई। मंचू लोग भी मंगोलों की भांति एक विदेशी जाति के थे। मन्चुओं ने अपनी ही भाषा को राजकीय कार्यों में प्रयुक्त करने का प्रयत्न किया। उन्होंने चीन के प्रमुख ग्रन्थों का अपनी भाषा में अनुवाद कराया। राज्य की ओर से शासन-विभागों में शिक्षा सम्बन्धिनी संस्थायें थी। उन सब में दो दो अधिकारी एक ही पद पर रहते थे। एक अधिकारी मंचू होता था और एक चीनी। लेकिन मन्चू लोगों की भाषा की अपने आप ही चीन में मृत्यु सी हो गई। सरकारी पदों पर नियुक्ति परीक्षाओं के आधार पर ही होती थीं किन्तु मन्चुओं के लिये कुछ स्थान सुरक्षित रहने के कारण शासन-विभागों में उनकी काफी संख्या हो जाती थी। दो मन्चु सम्राटों के सुदीर्घ शासन-काल में चीन में काफी समृद्धि रही और जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि योरपीय राष्ट्रों के साथ व्यापार-सम्बन्धों में चीनियों को अधिक लाभ होता था। लेकिन मंचू शासन के अन्तिम दिनों में चीन की अवस्था शोचनीय हो गई। परन्तु यह एक विशेष बात है कि अपने दुख के दिनों में भी चीनी सभ्यता ने एक अद्वितीय जीवनी शक्ति का परिचय दिया। चीनियों ने मंगोलों को अपने में मिला कर उसको पचा लिया। मिंगवंश के राष्ट्रीय शासकों ने चीन के जर्जरीभूत शरीर में नवजीवन का संचार किया और चीनियों के परिश्रम तथा उनकी पारिवारिक प्रथा ने उनकी सभ्यता को उन दिनों भी जीवित रक्खा जब उन्नीसवीं शताब्दी में अयोग्य मंचू शासकों के शासन में वे सुखी और सम्पन्न न थे। अन्त में चीनी अधिक दिन सुषुप्त न रह सके और सन् १९१२ ई० की महत्त्वपूर्ण क्रान्ति के द्वारा उन्होंने मन्चुओं का शासन समाप्त कर दिया और स्वतन्त्र गणतन्त्र की स्थापना किया। इस महत्त्वपूर्ण क्रान्ति के विषय में हम आगे पढ़ेंगे क्योंकि चीनी सभ्यता और जीवन के अध्ययन को उसी प्रकार विदा नहीं दे सकते जिस प्रकार हमने प्राचीन मिस्र, मेसोपोटेमिया, यूनान अथवा रोम को विदाई दी है। चीन आज भी जीवित है और अपनी [illegible] का परिचय दे रहा है। अब हम चीन के पड़ोसी देश जापान के अध्ययन की ओर ध्यान देंगे।

—:०:—

अठारहवाँ अध्याय

जापान की सभ्यता

जापानी सभ्यता के समस्त बाह्य रूप विदेशी हैं। जापान ने अपनी सभ्यता के तत्व चीन, भारत और कुछ अंशों में यूनान से ग्रहण किये लेकिन उसने इन तत्वों पर अपनी आत्मा की छाप छोड़ दी जापानी सभ्यता का रूप विदेशी है किन्तु उसकी आत्मा अपनी ही है। कहा जाता है कि एशिया के लोग गतानुयायी, परम्परानुरागी और सुधार-विरोधी हैं, वे परिवर्तनशील हैं और उनके ऊपर दार्शनिक अकर्मण्यता का कुछ ऐसा नशा सा छाया रहता है कि वे सभ्यता और वैज्ञानिक प्रगति की दौड़ में पश्चिमी देशों का मुकाबला नहीं कर सकते किन्तु विगत शताब्दी में जापानियों ने पाश्चात्य सभ्यता को ग्रहण कर उद्योग तथा व्यापार में इतनी अधिक उन्नति की स्वयं उनके शिक्षकों (पश्चिमी देशों) को विस्मय हुआ है। अपने गुरुओं से भी वे आगे बढ़ गये और उपर्युक्त कथन की निर्मूलता सिद्ध की। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जापान ने जो प्रगति की उसके विषय में वेल्स महोदय का यह कथन यथार्थ है, "जापान ने अपनी तुलना द्वारा समस्त यूरोपीय जातियों को ऐसा बना दिया कि वह मन्द और प्रयोग शील प्रतीत होने लगती हैं।" सन् १९०४-५ ई० में रूस जैसे महान राष्ट्र को जापान जैसे लघु देश ने युद्ध में पराजित कर के समस्त पश्चिमी संसार को आश्चर्यान्वित और पदाक्रान्त एशिया को पुनर्जागरित किया। किन्तु हमें यह नहीं समझना चाहिए कि यह चमत्कारी घटना और यह विस्मयकारिणी प्रगति जापान की जातीय प्रतिभा के लिए अज्ञात है वरन इसके पीछे एक ऐतिहासिक परम्परा है। जापान ने अपनी सभ्यता के उषःकाल से ही अपनी 'रचनात्मक अनुकरणशीलता' परिचय दिया है। आइये हम अब इस अद्भुत सभ्यता के प्राचीन और मध्यकालीन स्वरूप पर विचार करें। पहले हम जापान के राजनीतिक इतिहास को संक्षेप में जानने का प्रयास करेंगे और फिर उसकी सभ्यता का विवेचना करेंगे।

जापान का राजनीतिक इतिहास

जापान का इतिहास अति प्राचीन नहीं है। इसके इतिहास को डा० विल डूरेन्ट ने तीन भागों में विभाजित किया है (१) बौद्ध धार्मिकवादी जापान (५२२-१०३२ ई०) जिसको चीन और कोरिया ने एकाएक सभ्य बनाया। इस युग में जापानी साहित्य और कला की महत्वपूर्ण कृतियाँ रचित और निर्मित की गईं। (२) सामन्तवादी और शान्तिपूर्ण जापान (१६०३-१८६८) संसार से पृथक और आत्म निर्भर। जापान का किसी प्रकार का बाह्य व्यापारिक अथवा सांस्कृतिक सम्बन्ध इस युग में न था। कृषि ही अधिकांश रूप में जीविका का साधन थी और कला तथा दर्शन की उन्नति हो रही थी। (३) आधुनिक जापान और उसका प्रारम्भ होता है जब एक अमेरिकन जलयान देश में प्रवेश पा गया। इस युग में जापान को विदेशी व्यापार और स्वदेश की औद्योगिक प्रणाली की आवश्यकता का अनुभव हुआ और लोगों ने पाश्चात्य सभ्यता को ग्रहण कर लिया। इसी युग में जापान ने पश्चिम के साम्राज्यवाद का अनुसरण करके संसार में गोरी-प्रभुता को चुनौती दी। हम इस स्थान पर जापानी इतिहास के पहिले और दूसरे युगों की ही सभ्यता और जीवन का वर्णन करेंगे।

जापान में महायान बौद्ध धर्म ने जनता में सम्राट-पूजा के भावों को बढ़ाया और शिन्टो धर्म ने भी इस प्रकार के भावों की पुष्टि की थी। इसीलिए जापान के इतिहास के प्रारम्भ में ही हम सम्राट को प्रतिष्ठापित पाते हैं। जापान का पहला प्रसिद्ध सम्राट जीमेऊ था। इसके मरने के बाद राज्य के लिए दो परिवारों में कलह हो गया। राजकु-

मार शोतोकु तैशी ने सम्राज्ञी सुइको को सिंहासन पर बैठाया और स्वयं राज कार्य चलाने लगा। शोतोकु तैशी ने बुद्ध धर्म को राजाश्रय प्रदान किया देश में इसके प्रचार का बहुत अधिक प्रयत्न किया। उसको 'जापान का अशोक' कहा जा सकता है। देश में कला और संस्कृति की उन्नति करने के लिए उसने कोरिया तथा चीन से कलाकारों एवं कारीगरों को बुलवाया और अपने ही निरीक्षण में उसने होरियूजी मन्दिर का, जो जापानी कला की सबसे प्राचीन महत्वपूर्ण कृति है, निर्माण कराया। शोतोकु तैशी के मरणोपरान्त जापान में संक्रमण काल उपस्थित हो गया परन्तु इस समय से यहाँ सम्राट के अधिकार ही सर्वोच्च समझे जाने लगे। जैसा ऊपर हमने देखा कि सम्राज्ञी के नाम पर शासन कार्य शोतोकु तैशी ही करता था किन्तु अब सम्राट ही सर्वोच्च अधिकारी और सर्वसत्ता सम्पन्न हो गया। अब जापान में एक सुदृढ़ राजतन्त्र का प्रारम्भ हुआ।

अब सम्राट को प्रभावोत्पादिनी उपाधियाँ प्रदान की गईं। उसे 'तेन्शी' "स्वर्ग का पुत्र," 'तेन्नो' "स्वर्गीय राजा" आदि कहा जाने लगा। (७९४-११९२ ईसवी के समय को अधिकांश इतिहासकार जापान का स्वर्ण युग मानते हैं। इस समय जापान की राजधानी कीटो में थी। कीटो एक समृद्ध नगर था और कला तथा संस्कृति का केन्द्र था। इस नगर में कुछ ऐसे सुसंस्कृत और सुशिक्षित परिवार थे जो कला और संस्कृति की उपासना में एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा रखते थे। डेगो (८९८-९३०) नामक सुयोग्य सम्राट के शासन काल में जापान ने तंग युगीन चीनी संस्कृति को अपनाने का कार्य बड़े वेग से करना आरम्भ किया। एन्गी युग (१०११-२२) स्वर्ण युग के चरमोत्कर्ष का काल था। धन-धान्य के प्राचुर्य ने देश में सभ्यता की जो उन्नति की उसकी तुलना शीघ्र नहीं मिल सकती। जिस प्रकार फ्रान्स में वारसे-लीज और पेरिस में कला और संस्कृति की उन्नति हुई थी उसी प्रकार कीटो में भी इस समय जापान की संस्कृति अपने पूर्ण यौवन पर थी। फेनोलोसा का कथन है कि "निस्सन्देह यह युग जापानी सभ्यता के चरमोत्कर्ष का काल समझा जाना चाहिए। जिस प्रकार चीनी सभ्यता के इतिहास में हम मिंग हुआंग के शासन काल को मानते हैं। इस समय के बाद फिर कभी जापान और चीन में इतनी आर्थिक समृद्धि, ज्ञान और स्वतन्त्र प्रतिभा की परिपूर्णता नहीं दिखाई पड़ी। इस समय जापान में मस्तिष्क और शरीर का जितना विलासमय परिष्कार हुआ उतना संसार में भी कहीं नहीं हुआ।" इस उत्साही विद्वान का कथन कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण अवश्य है किन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं कि कीटो इस समय संसार के सब से सभ्य और समृद्ध नगरों में था। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि यह स्वर्ण युग केवल कला और संस्कृति का स्वर्ण युग था और देश की सम्पत्ति कुछ थोड़े से ही लोगों के हाथ में थी। धन के आधार पर समाज में असमानता काफी स्पष्ट थी। साधारण जनता को ही अभिजात लोगों की विलासिता का व्यय सहन करना पड़ता था। शासन व्यवस्था में काफी शिथिलता आ गई थी और धनिकों में विलासिता तथा निर्धनों में बुभुक्षिता और नग्नता के कारण अपराध-वृत्ति बहुत बढ़ गई थी। लुटेरों के दल संगठित हो गये और चारों ओर अराजकता फैल गई।

इस अशान्तिपूर्ण स्थिति से लाभ उठाकर कुछ सैनिक अधिनायकों ने जापान में अपना प्रभुत्व जमा लिया। ये शोगन कहे जाते थे और कृषकों से कर वसूल करते थे क्योंकि डाकुओं से ये ही लोग उनकी रक्षा कर सकते थे। सम्राट की शक्ति तो इस समय काफी क्षीण हो गई थी। इन्हीं परिस्थितियों से जापान में सामन्तवाद का उदय हुआ। सम्राट की शक्ति बिल्कुल कम हो गई और वह इन सैनिक अधिनायकों के हाथों की कठपुतली बन गया। शासन की अव्यवस्था से लाभ उठाकर कुबलाई खाँ ने जापान पर आक्रमण करने का विचार किया किन्तु उसका जलयान प्रबल तूफान के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो गया और उसके ७०,००० नाविक डूब गये। इस प्रकार ईश्वर की कृपा से 'देवी वायु' विदेशी आक्रमणों से बच गई। जापान की अवस्था वैसी ही बनी रही। देश को उस समय एक सुदृढ़ शक्ति वाले सुयोग्य व्यक्ति की आवश्यकता थी।

सौभाग्य से जापान में एक ऐसा व्यक्ति उत्पन्न हो गया। जापान के राजनीतिक इतिहास में इस व्यक्ति का नाम महत्वपूर्ण है। इसका नाम था हिदेयोशी। हिदेयोशी रानी एलिजाबेथ और सम्राट अकबर का समकालीन था। वह

सम्राट नहीं था किन्तु शासन-सूत्र उसने अपने हाथों में ग्रहण कर लिया। उसने कोरिया पर विजय प्राप्त करने का विचार किया परन्तु उसे सफलता न प्राप्त हो सकी। हिदेयोशी के बाद जापान के राजनीतिक जीवन को प्रभावित करने वाला दूसरा प्रसिद्ध व्यक्ति ईयेयसु (१६०३-१६) था। वह शोगन था और सम्राट से भी अधिक शक्ति सम्पन्न था। ईयेयसु ने शासन इतनी उत्तमता से किया कि आठ शताब्दियों तक उसकी सन्तानों के शासन में भी लोग सन्तुष्ट रहे। वह कुछ दार्शनिक प्रकृति का था। सुकरात की भांति वह भी ज्ञान को ही सर्वोच्च गुण समझता था। उसने समुराई लोगों की राजनीतिक शक्ति को कम करने के लिए उनको साहित्य और दर्शन का अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहित किया। उसने सामन्तवाद को ही सर्वोत्तम समझा और इसका संगठन किया। इसमें कदाचित कोई सन्देह नहीं कि ईयेयसु ने एक अत्यन्त पूर्ण सामन्तशाही सरकार को संगठित किया। महाकवि शेक्सपीयर के साथ ही उसकी मृत्यु हो गई।

ईयेयसु के उत्तराधिकारियों ने शासन काफी कुशलता से किया। इस युग को "तोकुगावा युग" कहते हैं। इस युग में योशिमूने नामक शोगन ही सबसे प्रसिद्ध था। योशिमूने ने दरिद्रता को कम करने का प्रयत्न किया। इस समय राज्यकोष खाली हो रहा था इसीलिए उसने व्यापारियों और धनिकों के ऊपर कर लगाया और शासन कार्य के व्यय में कमी कर दी। वह स्वयं सूती कपड़ा पहिनने लगा और अत्यन्त सादा भोजन करने लगा। उसने एक सन्दूक रखवा दिया था जिसमें लोग सरकार की आलोचनायें या शिकायतें लिख कर डाल आते थे और वह उन शिकायतों पर विचार करता था और उनके निराकरण का उपाय करता था। हार्न का कथन है कि "राष्ट्र के सुदीर्घ जीवन में तोकुगावा युग सबसे अधिक समृद्ध था।" यही युग जापान के सामन्तवादी युग का अन्त था। इसके बाद देश में पश्चिमी सभ्यता से सम्पर्क स्थापित हुआ।

सामाजिक जीवन

जापान में सम्राट सर्वोच्च समझा जाता था किन्तु स्वर्ण युग के बाद शोगनों का प्रभुत्व बढ़ने पर उनका सम्मान बहुत अधिक होने लगा और उनका सामाजिक स्तर काफी ऊँचा हो गया। इसके बाद सामन्तों का स्थान था। इनको दायमो कहा जाता था। दायमो के अधीन 'समुराई' थे जो उनकी सेवा के लिए सदैव तत्पर रहते थे। सम्राटों के शासन काल में समाज को आठ 'सेइ' या जातियों में विभक्त कर दिया गया था। लेकिन सामन्तवादी युग में जातियाँ घटकर चार ही रह गई थीं। ये चार जातियाँ क्रम से ये थीं—समुराई, कारीगर, कृषक, और व्यापारी। समाज में व्यापारियों की संख्या बहुत कम थी अधिकांश लोग कृषि का ही अवलम्बन करते थे। दास लोग भी थे और जापान में सबसे अधिक निम्न सामाजिक स्तर "एटा" जाति के लोगों का था। लोग इन्हें घृणा की दृष्टि से देखते थे क्योंकि ये कसाई, मेहतर और चमड़ा बनाने वाले मोची थे।

समाज की आधार शिला परिवार प्रथा थी। परिवार का अध्यक्ष सबसे वयोवृद्ध पुरुष होता था उसकी शक्ति अपरिमित थी। वह किसी व्यक्ति को अपने परिवार से निकाल सकता था और गम्भीर अपराध पर अपने परिवार के किसी बच्चे को प्राणदण्ड भी दे सकता था। लेकिन जापानी पिता की इस निरंकुशता को अनुचित नहीं समझते थे। चीन की ही भांति जापान में भी नारी का स्थान पहले तो ऊँचा था किन्तु बाद में काफी गिरने लगा। स्त्रियां पुरुषों के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में भाग लेती थीं। कुछ सम्राज्ञियों ने जापान के "दैवी राज्य सिंहासन" को सुशोभित किया था। किन्तु सामन्तवाद का उदय होते ही पिता पति और पुत्र की संरक्षता वाला सिद्धान्त बहुलता से प्रचलित हो गया। व्यभिचार के लिए स्त्री का पति उसकी हत्या तक कर सकता था और बहुभाषिणी या कर्कश स्वर वाली पत्नी को पति तलाक दे सकता था। किन्तु यदि ये ही दुर्गुण पति में पाये जाते थे तो स्त्री से यह आशा की जाती थी कि वह अपने पति से दुगना स्नेह करेगी और उसके साथ दूना सज्जनता पूर्ण व्यवहार करेगी। लेकिन इन सब नियन्त्रणों के अधीन जापान की नारी ने, भारतीय नारी की भांति; इतने सुमधुर व्यक्तित्व का विकास किया कि उसकी आज्ञाकारिता, परिश्रमशीलता और पातिव्रत को देखकर विदेशी यात्री चकित हो जाते थे। जापानी समाज में यूनान की भांति सुसंस्कृता और और सुशिक्षिता गणिकायें होती थीं। यद्यपि जापान में इन्द्रिय नैतिकता का प्रश्न कोई गम्भीर नहीं समझा जाता था तथापि युवक-युवतियों में प्रणय की तीव्र और सच्ची भावनाओं का अभाव न था।

धर्म

जापान का प्राचीन धर्म पशु-पूजा, पूर्वज-पूजा और इन्द्रिय-पूजा के रूप में था। सर्वत्र आत्माएँ विद्यमान थीं, सम्पूर्ण वातावरण उनसे परिव्याप्त था। अनेक देवता थे जो घर के ऊपर सदैव चक्कर लगाया करते थे। अन्य प्राचीन देशों की भांति जापान में भी लोग भावी घटनाओं को जानने और शुभाशुभ का निर्णय करने के लिए आतुर रहा करते थे। हरिण की अस्थियों को या कछुये के सिर को जलाकर इस कार्य में निपुण लोग उस पर अग्नि की रेखाओं या चिह्नों को देखकर भविष्य की घटनाओं को जानने का प्रयत्न करते थे। मृतकों के प्रति लोगों के हृदयों में एक भय मिश्रित श्रद्धा के भाव थे। उनको सन्तुष्ट करने के लिए उनकी कब्रों में दर्पण और तलवार रक्खी जाती थीं। अधिक वृष्टि रोकने के लिए या किसी भवन अथवा दीवाल के सफलता पूर्वक निर्माण के लिए बहुधा नरबलि दी जाती थी।

बाद में जापान में शिन्टो धर्म का प्रचलन हुआ। यह आज भी जापान का सबसे प्राचीन जीवित धर्म है। शिन्टो का अर्थ होता है—देवताओं का मार्ग। इसके तीन स्वरूप थे—परिवार के पूर्वजों की पूजा, वंश के पूर्वजों की जातीय पूजा और सम्राट पूजा का राष्ट्रीय सिद्धान्त। वर्ष भर में सात बार सम्राट के पूर्वज की पूजा होती थी और कोई पवित्र कार्य का आरम्भ करने के पहिले भी सम्राट के पूर्वज की पूजा अवश्य कर ली जाती थी। शिन्टो धर्म में संस्कारादि की कोई व्यवस्था नहीं थी। पुरोहितों का भी इस धर्म कोई विशिष्ट स्थान नहीं था। लोगों को यह धर्म स्वर्ग या अमरत्व की आशा द्वारा सान्त्वना भी प्रदान नहीं करता था। इस धर्म के अनुसार लोगों को केवल कभी-कभी तीर्थयात्रा कर लेनी पड़ती थी और अपने दिवंगत पूर्वजों, सम्राट तथा भूतकाल के प्रति एक श्रद्धामयी भावना रखना ही अलम था। शिन्टो धर्म में मानव-आत्मा के सन्तोष और परितोष के लिए कोई उचित व्यवस्था न थी क्योंकि साधारण मनुष्य अपने भावी जीवन को बनाने की भावना अथवा इहलौकिक मनोरथ से प्रेरित होकर ही पूजोपासना में तल्लीन होता है। शिन्टो धर्म अपेक्षाकृत शुष्क था इसलिए इसका प्रचार बहुत अधिक न हो सका।

जापान में जिस बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ वह महायान सम्प्रदाय का बौद्ध धर्म था जिसमें अप्रमेयसत्व और विपुलकारुण्य सम्पन्न बोधिसत्वों का प्राधान्य था जो मानव मात्र के प्रति दया और सहानुभूति की भावना से सदैव परिपूर्ण रहा करते थे। महायान बौद्ध धर्म साधारण जनता को 'निर्वाण' की आशा नहीं बँधाता था वरन् उसे मनोनुकूल स्वर्ग-प्राप्ति का विश्वास प्रदान करता था। हीनयान सम्प्रदाय की दार्शनिक निराशावादिता का जापान के बौद्ध धर्म में एकान्त अभाव था। समय-समय पर इसने धार्मिक उत्सवों इत्यादि की भी व्यवस्था की थी जिससे लोगों के जीवन में आनन्द और उत्साह का संचार हो जाता था। जापानी बौद्ध धर्म के भिक्षुओं ने जापान में कला और संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। ये विद्वान, तपस्वी और दयालु होते थे। कुछ भिक्षु चित्रकार अथवा स्थापत्य कला में निपुण होते थे। किन्तु बाद में इन्हीं बौद्ध भिक्षुओं का चारित्रिक पतन होना आरम्भ हो गया और उनके अन्दर व्यभिचार का दोष आ गया।

बौद्ध भिक्षुओं के चारित्रिक पतन ने बौद्ध धर्म के प्रति लोगों के हृदयों में अश्रद्धा उत्पन्न कर दी और अट्ठारहवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म की काफी अवनति हो गई। कुछ लोगों ने कन्फ्यूशियस के धर्म को ग्रहण कर लिया और अधिक विचारशील लोगों ने धार्मिक विचारों का उपहास किया। जापान में आगे चलकर धर्म का स्थान दर्शन ने ले लिया किन्तु जापानी अपने पड़ोसी बन्धु चीनियों की अपेक्षा अधिक आस्तिक और धार्मिक हैं।

साहित्य

जापान में भी अन्य देशों की भांति सबसे पहिले कविता का ही जन्म हुआ। जापान में भारत या यूनान की भांति इसका प्राचीन काव्य-ग्रन्थ महाकाव्य नहीं है वरन् उस ग्रन्थ में फुटकर कविताओं का संकलन है। इस ग्रन्थ का नाम 'मन्योशू' है जिसमें ४५०० कवितायें संग्रहीत हैं। जापान के प्राचीन कवियों में हितोमारो और अकाहितो का नाम उल्लेखनीय है। सम्राट डैगो के राज्य में भी कविताओं का संग्रह किया गया। इस पुस्तक का नाम था कोकिन्शु। इसमें नई और पुरानी कविताओं का संकलन है। त्सुरयुकी नामक विद्वान कवि ने इस कार्य में बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया था।

जापानी कविता चीनी कविता की भांति संक्षिप्त होती थी। प्रकृति के प्रति अनुराग जापानी कविता की विशेषता है जिस प्रकार एशिया के दो महान देशों चीन और भारत के प्राचीन साहित्यों की भी यही विशेषता है। जापानी प्रारम्भ से ही योद्धा रहे हैं और उनके समाज में योद्धाओं का सम्मान भी होता रहा है तथापि जापान के प्राचीन कवि ने कभी युद्ध का गौरव गान नहीं किया है। संसार की क्षणिकता पर जापान का कवि आँसू बहाता है। जापानी कविता में जीवन के दुख दैन्यों के भाव, जिनका वर्णन अंग्रेजी के अमर युवा कवि कीट्स ने "ओड टू द नाइटिंगेल" नामक सुप्रसिद्ध कविता के तृतीय पद में बड़ी ही मार्मिकता से किया है, स्थल-स्थल पर मिलते हैं। जापानी कवि की वेदनानुभूति बड़ी तीव्र होती थी।

कथा और उपन्यास

जापान के उपन्यास साहित्य को एक महिला ने, जिनका नाम मुरासकी-नो-शिकिबु था, समृद्ध किया। उन्होंने चौवन अध्यायों में एक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा। मुरासकी की वर्णन शैली इतनी स्वाभाविक और प्रवाहमयी है कि उसमें सम्वाद का सा आनन्द आता है। जापानी कविता का बिलकुल निर्दोष अनुवाद कदाचित किया ही नहीं जा सकता किन्तु मुरासकी के इस ऐतिहासिक उपन्यास का वेली ने अतीव सुन्दर अनुवाद किया है। मुरासकी के सभी पात्र सजीव हैं और उनके आचरण मानवोचित हैं। उसने जापान की गद्य शैली का निर्माण करने में अतीव महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। सान्तो क्योदेन ने अपनी कथाओं में अश्लीलता और भावुकता बहुत अधिक भर दिया था। उसके ग्रन्थों की लोकप्रियता बहुत अधिक थी। जिप्पेन्शा इक्कु जापान के विनोदपूर्ण कथाकारों में अग्रगण्य था। उसके "हिज़ाकुरिगे" नामक ग्रन्थ को "जापानी भाषा की सबसे अधिक विनोदपूर्ण और मनोरंजक पुस्तक" कहा गया है।

अन्य साहित्य

जापान में विशुद्ध इतिहास का प्रणयन नहीं किया गया। जापान के इतिहासकारों में राष्ट्रीय भावों की प्रधानता होने के कारण, वे निष्पक्ष दृष्टिकोण से इतिहास नहीं लिख सके। अराय हाकुसेकी कुछ निष्पक्ष इतिहासकार था। उसने कुछ ही महीनों में तीस अध्यायों के एक ग्रन्थ को लिखा। अराय ने चीन के दार्शनिकों की पुस्तकों का खूब अच्छी तरह से अध्ययन किया था। वह एक निबन्ध लेखक भी था। लेकिन निबन्ध के क्षेत्र उपन्यास की भांति में सर्वोच्च स्थान एक महिला को प्राप्त है। उसका नाम सेई शोनागन था। उसकी पुस्तक 'माकुरा नो सोशी' जापानी भाषा में निबन्ध की सर्वप्रथम किन्तु सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है। जापान में नाटक बहुत खेले जाते थे। जापानी नाटकों को उतना ही अधिक चाहते थे जितना यूनानी। नाटक के क्षेत्र में चिकामत्सु का नाम उल्लेखनीय है। जापानी इसे अपने देश का शेक्सपीयर मानते हैं।

कला

जापान में संगीत और नृत्य की प्रधानता थी। जापानियों का विश्वास था कि संगीत को ईश्वर ने भेजा था। गायन और वादन दोनों का खूब प्रचार था। बीस वाद्य यन्त्रों में से एक को तो कम से कम प्रत्येक जापानी बजा लेता था। अनेक ऐसे नर्तक होते थे जो नृत्य द्वारा ही अपनी जीविका उपार्जित कर लेते थे। लेकिन नृत्य का उद्देश्य अधिकांश रूप में धार्मिक होता था। कभी-कभी आनन्दपूर्ण अवसरों पर किसी गाँव के सारे लोग एक सा ही नृत्य करते हुये निकल पड़ते थे। उच्च वर्ग के भी स्त्री-पुरुष नृत्य सीखने के लिए काफी व्यय करते थे।

जापान में स्थापत्य कला का प्रचार था किन्तु मूर्तियाँ काठ पर बनाई जाती थी। स्थापत्य के क्षेत्र में हिदारी जिंगोरो जापान का सबसे बड़ा कलाकार था। उसकी तरह कई अन्य कलाकार भी थे किन्तु उनके नाम अब हमें नहीं ज्ञात हैं। जापान के कलाकारों ने अपनी कुशलता से काठ को मूर्ति निर्माण के लिये संगमरमर पत्थर की भांति उपयोगी बना दिया। स्थापत्य में जापानियों ने अपने कला-गुरु चीनियों को भी पछाड़ दिया। स्थापत्य के अतिरिक्त जापान में अलंकरण की कला भी काफी उन्नति पर थी। लोग सुन्दर वस्त्रों को धारण करके अपने व्यक्तित्व को आकर्षक बनाने का प्रयत्न करते थे। जिस प्रकार जापान में स्थापत्य के लिये प्रस्तर का प्रयोग नहीं किया जा सकता

था उसी प्रकार वहां की वास्तुकला में भी काठ का ही प्रयोग होता था पत्थर का नहीं। जापान में कला प्रचार के लिये चीन और कोरिया से कलाकार बुलाये गये थे। इन विदेशी कलाकारों ने होरियूजी में अनेक मन्दिरों का निर्माण किया जिनमें से एक तो आज भी असंख्य भूकम्पों को चुनौती देता हुआ अपना मस्तक ऊँचा किये हुये खड़ा है। बाद में अनेक भवन और मन्दिर बनवाये गये किन्तु जापान का यह सर्वप्राचीन मन्दिर अपने शालीन गौरव में आज भी अद्वितीय है। जापान की वास्तुकला का मूल्यांकन करना कठिन है क्योंकि उसके नमूने अपने पूर्ण रूप में अब नहीं मिलते।

धातु-कला में जापानियों को तलवार बनाने में बहुत अधिक सफलता प्राप्त हुई। जापानी लोग तलवार की धार को बहुत पैनी रखते थे किन्तु उसके मूठ को खूब अलंकृत करते थे। इस्लामी देश में दमिश्क भी लोहे की वस्तुयें बनाने का केन्द्र था किन्तु वहां भी इतनी बढ़िया तलवारें नहीं बनाई जाती थी जितनी बढ़िया जापानी कारीगर बनाते थे। कांसे के दर्पण बहुत अधिक तैयार किये जाते थे और इसमें भी जापान के कारीगर को काफी सफलता मिली। मिट्टी के बर्तन बनाने की कला भी, अन्य कलाओं की भांति, जापान में चीन से ही आई। जब जापान में चाय पीने का प्रचार बढ़ा तो इस कला की अत्यधिक उन्नति हुई। जापान में मिट्टी के जो पदार्थ बनाये जाते थे उनकी योरप में बहुत अधिक मांग थी। चीन को छोड़कर अन्य किसी भी देश का कलाकार इस कला में जापानी कलाकार की तुलना नहीं कर सकता था।

जापानी सभ्यता का सबसे मंगलमय और सौन्दर्य पक्ष हमें [illegible] में दृष्टिगत होता है। जापानियों का समस्त जीवन कला से ओतप्रोत था। उनके घरों की स्व[illegible] सुन्दरता, उनके आभूषणों के परिष्कार और उनके नृत्य तथा संगीत प्रेम में उनकी कलाप्रियता झलकती था। जापान के दार्शनिकों में हमें मौलिकता का अभाव भले ही मिले, वहां के इतिहासकारों में उच्च विचार और दृष्टिकोण की निष्पक्षता भले ही न दिखाई पड़े किन्तु छोटी से छोटी वस्तु को सजाने और उसे सुन्दर रूप प्रदान करने में जापान के कलाकार बड़े ही कुशल और

जापान की सभ्यता की समीक्षा

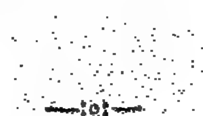
सजग थे। जापानी सत्यान्वेषी प्रवृत्ति के नहीं थे। उनके जीवन में दर्शन और इतिहास का उतना महत्व न था जितना कला और कविता का। यद्यपि उनके देश की भूमि पर विशाल भवन या मन्दिर अधिक दिन तक टिके नहीं रह सकते थे तथापि उनके गृह सौन्दर्य की दृष्टि से सबसे अधिक पूर्ण और निर्दोष होते थे। आज भी कोई राष्ट्र छोटी वस्तुओं की शोभा और सुन्दरता में जापानियों की तुलना नहीं कर सकता। उनकी नारियों के आवरणों का सौन्दर्य, जापानियों द्वारा निर्मित पंखों तथा प्यालों और खिलौनों की कलात्मकता और लकड़ी पर नक्काशी के उनके अनुपम उदाहरण इस बात के प्रमाण आज हैं कि जापानी निःसन्देह सौन्दर्य के पुजारी होते हैं। उन्हें सौन्दर्य का महत्व जानने के लिये किसी कीट्स की आवश्यकता नहीं पड़ी जो उन्हें बताता कि "एक सौन्दर्यमयी वस्तु सदा आनन्द दायिनी होती है, इसकी सुन्दरता सदैव वृद्धिगत होती रहती है, यह कभी विनष्ट नहीं हो सकती।" सौन्दर्य एवं [illegible] में उन्होंने सौन्दर्य को ही अपनाया और सत्य की ओर उन्होंने अपेक्षाकृत उपेक्षित दृष्टि ही दिखाई। यह सत्य है कि जापानी चित्रकला चीनी चित्रकला की तुलना में ठहर नहीं सकती तथापि चीनी चित्रकला ने नहीं अपितु जापानी चित्रकला ने ही उन्नीसवीं शताब्दी में चित्रकला में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी और सैकड़ों नवीन रूपों के चित्रण को प्रोत्साहन दिया। जब ये चित्र योरप में पहुँचे तो वहाँ के कलाकार इनके अनुपम सौन्दर्य से अत्यधिक प्रभावित हुये। विस्लर नामक कलाकार ने कुछ अतिशयोक्ति के रूप में कहा, "सुन्दर (वस्तु) की कथा तो समाप्त हो चुकी है—पारथेनान के संगमरमर में गढ़ी हुई और फ्यूजीयामा के पैरों पर हो कुसाई के पंखों पर कसीदे के रूप में काढ़ी हुई।"[1]

इसी सौन्दर्यानुराग से ही जापानियों के प्रकृति के प्रति अनुराग का उद्गम हुआ है। एक बात में भारत, चीन

---

[1] डा० विल डुरेन्ट द्वारा Our Oriental Heritage, Page 912 में उद्धृत

और जापान में बिल्कुल समानता है और वह है उनका प्रकृति प्रेम। चीन की चित्रकला और भारत के साहित्य में हम प्रकृति के अनुराग देख चुके हैं, जापान का साहित्य भी इस अनुराग से ओत-प्रोत है। जापान का एक कवि कहता है, "मनुष्य के हृदय को कभी समझा नहीं जा सकता किन्तु मेरे गांव में पहिले की ही भांति पुष्प अपनी सुरभि विकीर्ण करते हैं।" एक अन्य कवि की उक्ति है, "यदि हम आकाश और पृथ्वी तथा असंख्य उत्पन्न की हुई वस्तुओं के सौन्दर्य की ओर अपना हृदय उन्मुक्त कर दें तो वे हमें असीम सुख प्रदान करेंगी, वह सुख जो रात्रि और प्रभात को, परिपूर्ण तथा बहता हुआ, सदैव हमारे नेत्रों के सम्मुख विद्यमान रहता है।" ये सरल पंक्तियां जापानी साहित्य की सर्वोत्तम पंक्तियां हैं। जापान का एक दार्शनिक कहता है, "जो लोग ऊपर आकाश में और नीचे पृथ्वी पर (फैले हुये) सौन्दर्य का अवलोकन कर सकते हैं, उन्हें धनवानों के धन से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये क्योंकि सबसे अधिक धनाढ्य की अपेक्षा वे ही धनिक हैं।" फिर उसने बताया, "पुष्पों से स्नेह करने के कारण मैं शीघ्र उठ जाता हूँ और शशि से स्नेह करने के कारण मैं देर में सोता हूँ। एक बहते हुये झरने के समान मनुष्य आते हैं और चले जाते हैं लेकिन चन्द्र युग युगों तक रहता है।" जापान के एक प्रसिद्ध कवि ने एक काव्य-संग्रह की भूमिका में लिखा था, "जापान की कविता एक बीज की भांति मनुष्य के हृदय से उत्पन्न होती है और भाषा की असंख्य पत्तियां उत्पन्न करती है।.......वस्तुओं से परिपूर्ण संसार में मनुष्य के चित्त पर दृश्य और ध्वनि का जो प्रभाव पड़ता है उसको वह शब्दों में अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है।....और इस प्रकार मनुष्य का हृदय [illegible] लिये अपने आनन्द, पक्षियों के गीत पर अपने आश्चर्य, नयनगोचर प्रदेश को ढक लेने वाले कुहरे के अपने कोमल स्वागत और साथ ही साथ प्रातःकालीन ओस की लघु बूंदों के प्रति अपनी शोकयुक्त सहानुभूति के भावों को शब्दों में प्रकट करने लगा।.......कविगण तभी कविता रचने के लिये प्रेरित हुये जब उन्होंने बसन्त के प्रभातों में तुषार वृष्टियों के कारण [illegible] फूल की कलियों के गिरने से वसुन्धरा को धवल देखा, अथवा पतझड़ की प्रदोष बेला में गिरती हुई पत्तियों की खड़खड़ाती ध्वनि को सुना अथवा प्रति वर्ष काल के क्रूर थपेड़ों के कारण संसार की दुःखमयी दशा को ध्यान से देखा अथवा जब वे [illegible] घास के ऊपर क्षणिक ओसबिन्दु को गिरते हुये देख कर कम्पित हुये।" जापान के [illegible] ने प्रकृति-जननी के प्रति अपनी प्रभूत श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है लेकिन प्रत्येक साधारण जापानी भी प्रकृति का प्रेमी होता है। "जापान में जितना प्रकृति प्रेम दिखलाई पड़ता है उतना किसी अन्य जाति ने कभी प्रदर्शित नहीं किया है. अन्यत्र किसी स्थान पर भी स्त्रियों और पुरुषों ने पृथ्वी-आकाश और समुद्र की समस्त मुद्राओं को इतनी पूर्णता से स्वीकार नहीं किया है अन्यत्र कहीं भी लोगों ने इतनी सावधानी से उद्यान नहीं लगाये हैं या पौधों का पालन किया है अथवा उन्हें अपने घरों में लगाया है। जापान को यह बतलाने के लिये कि पर्वत महान हैं या फूल सुन्दर हैं, किसी [illegible] या रस्किन की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी।" (आवर ओरियन्टल हेरिटेज पृष्ठ [illegible]) प्रकृति की अनन्त सुषमा के लिये आनन्दमयी भावना और उसके मनोहारी सौन्दर्य की क्षणभंगुरता के लिये करुणामयी सहानुभूति, ये जापानी कविता को आकर्षक और मर्मस्पर्शी बनाती हैं। जापान की कविता का बिल्कुल विशुद्ध अनुवाद असम्भव नहीं तो अति कठिन अवश्य है किन्तु जापानी कवियों ने ही यूरोप के कुछ छन्द को जन्म दिया। आज का विश्व प्राचीन जापान से कलाप्रियता और प्रकृति के प्रति अनुराग की शिक्षा ले सकता है और इन शिक्षाओं के आधार पर अपने संघर्षमय यान्त्रिक जीवन में शान्तिमयता और काव्यात्मकता का संचार कर सकता है।



उन्नीसवाँ अध्याय

मध्य-कालीन भारत

भारतवर्ष में मध्ययुग का प्रारम्भ तो साधारणतया मुसलमानी शासन से प्रारम्भ होता है किन्तु सम्राट हर्ष की मृत्यु के उपरान्त अनेक स्वतन्त्र राजपूत राज्यों के युग को भी मध्य-काल ही समझना चाहिये। इस समय देश में सार्वभौम राजनीतिक सत्ता का अभाव था और अनेक स्वतन्त्र राज्य विद्यमान थे जो परस्पर एक दूसरे से लड़ा करते थे। इन स्वतन्त्र राजपूतों में मालवा के परमार, कन्नौज के प्रतिहार, बंगाल के पाल तथा गुजरात के सोलङ्की इत्यादि राज्य उत्तरी भारत में थे। इसके अतिरिक्त दक्षिण पथ में भी राष्ट्रकूटों, पल्लवों, पाण्ड्यों, चोलों और होयसलों के राज्य थे। इन समस्त राज्यों में उत्तरी भारत में प्रतिहारों का राज्य और दक्षिण में चोलों का राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली था। इन दोनों राज्यों ने देश में राजनीतिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया और इस कार्य में उन्हें कुछ सफलता भी मिली किन्तु इनकी विजयों द्वारा स्थापित एकता अल्पकालीन ही रही। विभिन्न राजपूत राज्यों के पारस्परिक संघर्षों की कथा मनोरञ्जक अवश्य है किन्तु विश्व इतिहास में इनके उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। उनके सांस्कृतिक कार्यों के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इन राजपूत राज्यों के शासक कुशल योद्धा होने के साथ गुणग्राही और विद्वानों के आश्रयदाता थे। इन राजाओं में कन्नौज के यशोवर्मन, चन्देल राजा कीर्तिवर्मन और मालवा-नरेश भोज के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। राजपूत-युग में सांस्कृतिक उन्नति की गति बिल्कुल अवरुद्ध नहीं होने पाई। राजनीतिक अशान्ति के बावजूद भी साहित्य में नवीन ग्रन्थों की रचना की गई, नये मन्दिर और भवन बनवाये गये और राजाओं ने लोकहित के भी कार्य किये। यह सत्य है कि भारतीय प्रतिभा की मौलिकता इस समय कुछ कुण्ठित अवश्य हो गई थी किन्तु सुप्रसिद्ध दार्शनिक शंकराचार्य इसी समय उत्पन्न हुये थे। अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन करने वाले शंकर संसार के उन थोड़े से लोगों में से थे जो प्रत्येक काल और प्रत्येक देश को नहीं गौरवान्वित किया करते। ऐसे महान लोग कभी कभी ही अपने जन्म द्वारा वसुधा को अलंकृत किया करते हैं। बत्तीस वर्ष की अल्पायु में ही अपनी मृत्यु से संसार को सूना कर देने वाले इस असाधारण नवयुवक ने अपनी अतिप्रदीप्तप्रज्ञा और [illegible] अन्तर्ज्ञान द्वारा जिस दार्शनिक सिद्धान्त की सृष्टि की वह आज के यन्त्रवादी युग में भी लोगों को प्रभावित कर सकता है।

राजपूत युग अपनी कला के लिये विशेष प्रसिद्ध है। इस समय कला की विभिन्न शैलियाँ प्रचलित थीं। उत्तर भारत में प्रचलित कला की जो शैली थी उसे आर्य शैली और दक्षिण भारत की शैली को द्राविड़ शैली का नाम दिया गया है। इसके अतिरिक्त कला की एक [illegible] शैली भी थी। आर्य शैली के सर्वोत्तम मन्दिर भुवनेश्वर और खजुराहो के मन्दिर हैं। [illegible] शैली में निर्मित काश्मीर के मार्तण्ड मन्दिर और आबू के जैन मन्दिर भी विख्यात हैं। आबू का जैन मन्दिर श्वेत संगमरमर पत्थर का बना हुआ है। इसमें पत्थर की खुदाई का जो काम हुआ है वह निस्सन्देह अत्यन्त उच्चकोटि का है। द्राविड़ शैली के मन्दिर कांची मामल्लपुरम, तंजौर, मदुरा, श्रीरंगम तथा रामेश्वरम आदि स्थानों में मिलते हैं। कला के क्षेत्र में दक्षिणापथ ने उत्तरी भारत को पीछे छोड़ दिया। दक्षिण के प्रायः सभी नरेश कलानुरागी थे जिससे वहाँ कला की उन्नति विशेषरूप से हुई। तंजौर का शिव मन्दिर द्राविड़ शैली का अनुपम नमूना है। एलौरा का जगद्विख्यात मन्दिर भी द्राविड़ कला का प्रतीक है। इस मन्दिर के विषय में विन्सेन्ट स्मिथ लिखते हैं, "यद्यपि एलौरा की कला को हम सर्वोच्चकोटि की नहीं कह सकते तथापि कैलाश मन्दिर संसार की आश्चर्यजनक

वस्तुओं में से एक है। यह एक ऐसी वस्तु है जिसके ऊपर कोई भी राष्ट्र गर्व कर सकता है और जिस राजा के राजाश्रय में इसका निर्माण हुआ उसके लिये यह सम्मान का कारण है।" इन मन्दिरों की उत्कृष्ट कला को देख कर मूर्तिविध्वंसक महमूद गजनवी भी चकित हो गया था। उसके साथ अलबरूनी नामक विद्वान, जिसका उल्लेख हम इस्लामी सभ्यता के अध्याय में कर आये हैं, भारतवर्ष आया था। उसने इन मन्दिरों की भव्यता और कलामयता का वर्णन किया है। उसनेउसने लिखा है, "हमारे देश के लोग उन मन्दिरों को देख कर चकित होते हैं, वे उनका वर्णन करने में भी असमर्थ हैं, उनके समान किसी वस्तु का निर्माण करना तो दूर रहा।"

कला के साथ साथ साहित्य की भी उन्नति हुई। "राजतरंगिणी" "कथासरित्सागर" "भोज प्रबन्ध" "विक्रमांकचरित" "रामचरित" आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना इसी युग में हुई। 'कर्पूरमंजरी' और 'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक नाटक एवं 'नैषधीय चरित्र चर्चा' तथा 'शिशुपालवध' महाकाव्य भी इसी काल में लिखे गये। भास्कराचार्य नामक सुविख्यात वैद्य राजपूत युग में ही उद्भूत हुए। हरिभद्र नाम के जैन लेखकों ने भी अपने कई ग्रन्थ इसी समय लिखे। विद्वान हेमचन्द्र गुजरात के सोलंकी नरेश कुमारपाल की राज सभा में रहता था।

राजपूत युग की सभ्यता का यह संक्षिप्त विवरण जान लेने के बाद हमें राजपूतों के चरित्र का भी विश्लेषण कर लेना चाहिए। भारत के राजपूत की तुलना मध्य योरप के सामन्त और जापान के समुराई से की जाती है। परन्तु वीरता, चारित्रिक दृढ़ता, स्वाभिमान प्रेम और आन पर जान कुर्बान कर देने के गुणों में वह कदाचित् अपने प्रतिद्वन्द्वियों (मध्य योरप के सामन्तों और जापान के समुराई) से आगे बढ़ा हुआ था। किंग आर्थर की कथाओं का सामन्त ही वीरता में राजपूत के सामने खड़ा हो सकता था। वीरता में प्रत्येक राजपूत निर्भीक क्षत्रिय और प्रत्येक राजपूतानी वीर रमणी थी। जैसा कि कर्नल जेम्स टाड ने कहा है कि राजपूत पश्चिम के सामन्त के समस्त गुणों से युक्त था परन्तु मानसिक गुणों में वह उसकी अपेक्षा कहीं आगे था। जब पश्चिम का सामन्त बहुधा अपने आदर्शों से च्युत हो जाया करता था, राजपूत प्राणपणेनापि अपने आदर्शों की रक्षा करता था। यह सत्य है कि राजपूतों के इतिहास में भी हमें षड्यन्त्रों और देशद्रोहिता के प्रमाण प्राप्त होते हैं तथापि ऐसे प्रमाणों की संख्या अत्यन्त थोड़ी ही है। अपने शत्रु को पीठ दिखलाना राजपूत जानता ही न था और अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना वह अपना कर्तव्य मानता था। यदि उसका घोरतम शत्रु भी उसकी शरण में आता था तो वह उसकी रक्षा करता था। लेकिन गुणों के साथ ही साथ राजपूतों के चरित्र में कतिपय गम्भीर दोष थे। पारस्परिक कलह, अहम्मन्यता की भावना, सुरा-सेवन आदि उनके चारित्रिक दोष थे। राष्ट्रीय भावना का उनमें अभाव था। यदि उनकी देश-भक्ति का क्षेत्र विस्तृत हुआ होता और वे अपने कबीले की क्षुद्र सीमा का अतिक्रमण कर सम्पूर्ण जाति के हित का विचार करते तो उनकी पराजय कभी न हुई होती। उनकी कलह-प्रियता तथा उनके उन्माद ने उनको शिथिल कर दिया और मुसलमानों की सैन्य शक्ति के आगे वे न टिक सके।

राजपूत अपनी नारियों का सम्मान करना जानता था। वह प्राण देकर भी उनके सतीत्व की रक्षा करता था। वे स्त्रियाँ अपने प्राणों को पतिव्रत धर्म के आगे तुच्छ समझती थीं। अपने सतीत्व को खतरे में देखकर वह जीवित ही चिता में जल मरती थीं। यह प्रथा हमें आज कुछ विचित्र भले ही प्रतीत हो किन्तु इसका उद्भव एक उच्च नैतिक भावना से हुआ था। राजपूत नारी का यह आत्म बलिदान अद्वितीय है।

भारत में इस्लाम का प्रवेश

अरबों के आक्रमणों से भारत में इस्लाम का प्रवेश हुआ। सिन्ध प्रान्त में अरबों ने अपना अधिकार जमा लिया और इस्लामी शासन स्थापित किया। अरबों की राजनीतिक विजय का कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा किन्तु इस विजय का महत्व इसलिए अवश्य है कि इसके द्वारा अरब लोग भारतीयों के सम्पर्क में आये और उनकी उन्नत संस्कृति से प्रभावित हुये। भारत में अरबों का शासन उदारता और धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्तों पर आधारित था। अरबों ने भारतीय संस्कृति के तत्वों को [illegible]

से ग्रहण करके अपने दृष्टिकोण की विशालता का परिचय दिया। इस बात में तुर्क लोग अरबों से कहीं पीछे थे। यदि तुर्कों ने भी अरबों की ही नीति का अनुसरण किया होता तो जिन कार्यों के कारण इस्लाम का गौरव कम हुआ, वे न हुये होते। अरबों के सांस्कृतिक-समन्वय के प्रयत्नों का अध्ययन हम पीछे कर आये हैं। यहाँ हम यह देखेंगे कि उन्होंने भारत से कौन सी वस्तुयें ग्रहण की।

भारत में प्रवेश करने पर अरब हिन्दुओं की उच्च संस्कृति को देखकर विस्मय में पड़ गये। यहां उन्होंने आकर देखा कि एकेश्वरवाद का सिद्धान्त केवल उन्हीं तक सीमित न था। भारत के सुशिक्षित और बुद्धिमान लोग अनेक देवी देवताओं में एक ही ईश्वर के सामान्य रूप का दर्शन करते थे। हिन्दुओं के गम्भीर दार्शनिक सिद्धान्तों तथा उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने अरबों को चकित कर दिया। मुसलमान उन ललित कलाओं में, जो मनुष्य की आत्मा को ऊँचा उठाती हैं और उसकी गरिमा को सूचित करती हैं, हिन्दुओं से बहुत पीछे थे। "अरबी सभ्यता के अनेक तत्व जिन्होंने बाद में यूरोपीयन सभ्यता पर अत्यन्त प्रभाव डाला, भारतवर्ष से ही लिये गये थे।" अनेक मुसलमानों ने ब्राह्मण पण्डितों से संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त किया तथा ज्योतिष, आयुर्वेद, गणित एवं अन्य विभिन्न शास्त्रों की पुस्तकों का अरबी भाषा में अनुवाद किया। तबारी ने लिखा है कि खलीफा हारून ने दुःसाध्य रोग से मुक्त होने के लिए एक हिन्दू वैद्य को बुलवाया था। उसने खलीफा को चंगा कर दिया और भारत लौट आया। अरबों ने हिन्दुओं से राज नीति तथा शासन के सिद्धान्तों की भी शिक्षा प्राप्त की। ज्योतिष विद्या के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को अरब लोगों ने "ब्रह्म सिद्धान्त" तथा एक अन्य ग्रन्थ से सीखा और इन पुस्तकों का अरबी भाषा में अनुवाद किया। 'पंचतन्त्र' तथा 'हितोपदेश' नामक शिक्षाप्रद ग्रन्थों का अरबी अनुवाद ही योरप में पहुँचा था। अरबों के द्वारा ही भारतीय संस्कृति के तत्व योरप में पहुंचे। इन सब बातों के होते हुए भी हम ई० बी० हेवेल के इस कथन को नहीं मान सकते कि "वह भारत ही था यूनान नहीं जिसने इस्लाम को उसके प्रभावशील यौवन में शिक्षा दी, उसके संस्कार किये हुए धार्मिक आदर्शों तथा दर्शन का निर्माण किया तथा साहित्य, कला एवं वास्तुकला के महत्वपूर्ण प्रकाशनों को प्रोत्साहित किया।" अरबी सभ्यता पर यूनानियों का ऋण अधिक है।

पूर्व-मुगल भारत का राजनीतिक इतिहास

भारत में इस्लामी शासन का संस्थापक मुहम्मद गोरी था किन्तु उसने कुतुबुद्दीन ऐबक के ऊपर शासन भार समर्पित कर दिया। उसके बाद इल्तुतमिश राज सिंहासन पर बैठा। सुल्तान बलबन एक महत्वपूर्ण शासक था जिसका सब से महान कार्य था देश में शान्ति स्थापित करना और मंगोल आक्रमणों से देश की रक्षा करना। उसे भारत में शिशु-मुस्लिम राज्य की मंगोल आक्रमणकारियों से रक्षा करने का श्रेय प्राप्त है। खिल्जी वंश का प्रसिद्ध सुल्तान अलाउद्दीन खिल्जी पहला मुसलमान शासक था जिसने दक्षिणी भारत पर आक्रमण किया और वहां से अपार धन लूट कर लाया। उसने मुल्ला मौलवियों की बात को शासन के क्षेत्र में मानने से इन्कार कर दिया और एक स्वतन्त्र नीति का अनुसरण किया। उसने बड़ी ही कठोरता पूर्वक शासन किया जिसका दुखद परिणाम उसे अपने ही जीवन काल में देखना पड़ा। समकालीन मुसलमान इतिहासकार बरनी का कथन है कि "आत्मघाती [illegible] की ही भांति [illegible] प्रमाणित हुई और [illegible] के लिए निकलने में अपना [illegible] आरम्भ कर लिया। जब शक्तिशाली सम्राट ने अपने जीवन के कार्यों [illegible] नष्ट होते देखा तो उसने [illegible] में आ कर अपना ही मांस चबाना आरम्भ किया।"

भारत के मुस्लिम शासकों में सुल्तान मुहम्मद तुगलक का नाम उल्लेखनीय है। वह [illegible] का [illegible] शासक था। प्रकृति ने उसको तीव्र बुद्धि तथा आश्चर्यजनक स्मरण शक्ति प्रदान की थी। वह ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन करता और उनके द्वारा अपनी मानसिक परिधि का विस्तार करने को उत्सुक था। बरनी ने लिखा है कि वह उत्कृष्ट तथा गम्भीर विद्वान, बुद्धि का यथार्थ कौतूहल था जिसके सम्मुख अरस्तू और [illegible] को भी आश्चर्यचकित होना पड़ता। मुहम्मद तुगलक अपने धर्म का कट्टर अनुयायी था। किन्तु हिन्दुओं के साथ उसका व्यवहार प्रशंसनीय था। उसने धार्मिक पक्षपात की नीति का बहिष्कार किया और हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं

के प्रति उदारता और सहिष्णुता दिखलाई। उसके किसी भी पूर्ववर्ती सुल्तान का दृष्टिकोण इतना विस्तृत और उदार न था और उसके बाद सम्राट अकबर महान ने ही उसकी धार्मिक सहिष्णुता की नीति का पूर्णरूपेण अवलम्बन किया। सुल्तान मुहम्मद तुगलक में व्यावहारिक बुद्धि का अभाव था जिससे कतिपय इतिहासकारों ने उसे 'पागल' और 'विरोधी गुणों का पुंज' कहा है। किन्तु इस मत का खण्डन डा० ईश्वरी प्रसाद ने भली भांति कर दिया है। उसकी मृत्यु के बाद फीरोज तुगलक सिंहासनारूढ़ हुआ। फीरोज एक दुर्बल शासक था। उसने जनता के हित के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये और उसके शासन काल में लोगों की आर्थिक दशा सन्तोषजनक थी। समकालीन इतिहासकार के कथनानुसार कृषक भी सम्पन्न थे। परन्तु फीरोज की धार्मिक असहिष्णुता एवं उसकी दुर्बल शासन-नीति ने उसके साम्राज्य की जड़ खोखली कर दी। उसके बाद शासन सत्ता लोदी वंश के हाथ में चली गई। इब्राहीम लोदी अन्तिम अफगान सम्राट था जिससे सन् १२५६ ईसवी में भारत का राज्य सिंहासन बाबर ने छीन लिया। इस प्रकार दिल्ली सल्तनत या अफगान युग समाप्त हुआ और भारतीय इतिहास का मुगल-युग प्रारम्भ हुआ।

मुस्लिम शासन की विवेचना

शासन की दृष्टि से हम भारत में अफगान सुल्तानों को सफल नहीं कह सकते। अधिकांश शासकों का धार्मिक दृष्टिकोण संकीर्ण था। वे अपनी अधिकांश हिन्दू प्रजा के ऊपर धार्मिक अत्याचार ही करते थे। मुल्ला मौलवियों की सम्मति मानने के कारण वे हिन्दुओं को उच्च पदों से यथासम्भव वञ्चित रखने का ही प्रयास करते थे। अलाउद्दीन ने हिन्दुओं को दबाने के लिए उनको कर भार से लाद दिया। ऐसी स्थिति में बेचारे हिन्दू क्या करते। जहाँ कहीं अवसर मिला उन्होंने विद्रोह किया और अपनी स्वतन्त्रता का दुन्दुभि नाद किया। दक्षिणी भारत, बंगाल और राजस्थान पर मुसलमानों का अधिकार केवल नाममात्र ही था। मुस्लिम शासन के चित्र का यह एक दुर्बल पहलू है। किन्तु इसको देखकर हमें बिल्कुल निराश न होना चाहिए, क्योंकि यह सत्य है कि अधिकतर इस युग में मुस्लिम शासकों ने पार्थक्य की नीति को ही अपनाये रखा और देश की जनता के साथ घुल मिलकर नहीं रह सके। परन्तु दूसरी ओर कुछ ऐसे भी शासक हुए जिन्होंने हिन्दुओं की भावनाओं का आदर किया। मुहम्मद तुगलक ऐसा ही एक शासक था। कुछ प्रान्तीय मुसलमान शासकों ने भी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया। मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी और काश्मीर के सुल्तान जैनुल आबिदीन भी ऐसे ही उदार शासकों में से थे। मुसलमान सुल्तानों ने कृषि, व्यापार, साहित्य और कला इत्यादि के विकास में कोई बाधा नहीं पहुँचाई।

पूर्व मध्य युग की भारतीय संस्कृति

मुसलमानों के आक्रमण के समय हिन्दू भारत शक्ति हीन एवं शक्तिशाली दोनों था। राजनीतिक दृष्टि से यह बिल्कुल शक्तिहीन हो चुका था और मुसलमानी आक्रमणों के तूफान के आगे यह टिक नहीं सका। परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से यह अब भी अजेय था। हिन्दू जाति मुसलमानों को अपने में उस प्रकार पचा न सकी जिस प्रकार उसने हूणों, सीदियनों, शकों और अन्य विदेशी आक्रमणकारियों को आत्मसात कर लिया था। मुसलमानों ने देश पर अपना अधिकार भले ही स्थापित कर लिया, संस्कृति के क्षेत्र में उन्हें विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी। अन्यत्र जहाँ जहाँ भी मुसलमान गये और अपना साम्राज्य स्थापित कर सके वहाँ उन्होंने समाज और संस्कृति का रूप ही नितान्त परिवर्तित कर डाला किन्तु भारत में उनको ऐसी सफलता नहीं मिली। हिन्दुओं ने मुसलमानों की संस्कृति के तत्वों को अपनी प्राचीन संस्कृति में मिला लिया। इस युग में मुस्लिम और हिन्दू संस्कृतियों का समन्वय होना आरम्भ हुआ। धर्मान्ध शासकों की धर्मान्धता के बावजूद भी हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के सम्पर्क में आये और एक मिली जुली संस्कृति का विकास हुआ। सर जान मार्शल का कथन है कि दो परस्पर नितान्त विरोधिनी संस्कृतियों का हिन्दू और मुस्लिम समन्वय और सामञ्जस्य भारत का ही नहीं विश्व इतिहास की एक विलक्षण और शिक्षाप्रद घटना है। इस सांस्कृतिक समन्वय के पवित्र कार्य में दोनों जातियों के सन्तों और महात्माओं ने भाग लिया और हिन्दू-मुसलमान दोनों में पारस्परिक सद्भावना उत्पन्न करने का प्रयास किया।

यद्यपि भारतीय संस्कृति में इस्लामी संस्कृति के अनेक तत्व मिला लिये गये तथापि उसकी आत्मा वैसी ही रही। ताराचन्द ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Influence of Islam on Indian Culture में यह मत व्यक्त किया है कि मुसलमानों के सम्पर्क से न केवल हिन्दू कला, हिन्दू धर्म, हिन्दू आचार विचार में परिवर्तन हुआ अपितु हिन्दू संस्कृति का रूप ही बिल्कुल बदल गया। यह विचार अतिशयोक्तिपूर्ण है। इस मत के ठीक विपरीत ई० वी० हैवेल ने अपनी धारणा प्रकट की है कि मुस्लिम सभ्यता आर्य सभ्यता में बदल गई। किन्तु ऐसा प्रतीत है कि वस्तुस्थिति इन दोनों मतों के बीच में है। दोनों संस्कृतियों में परस्पर आदान-प्रदान हुआ। सांस्कृतिक समन्वय का यह रूप सन्तों के उपदेशों और कलाओं में विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ। मुगलों के शासन काल में इस कार्य को विशेष बल मिला। मुगल शासक अपनी जनता के साथ अपने पूर्ववर्ती मुसलमान शासकों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह से मिल सके। मुगलों की वास्तुकला में हिन्दू और मुस्लिम कलाओं का सुन्दर सामञ्जस्य है। पर्सी ब्राउन ने अपनी पुस्तक "इण्डियन पेन्टिंग" में भी यह दिखलाया है कि चित्रकला के क्षेत्र में हिन्दू और मुस्लिम दोनों चित्रकारों ने एक दूसरे से काफी बातें सीखीं। हिन्दू चित्रकारों ने फारसी के प्रसिद्ध कवि निजामी की कविताओं को चित्रित किया और सम्राट अकबर के आदेश से मुस्लिम कलाकारों ने रामायण एवं महाभारत की घटनाओं के सजीव चित्र उतारे। इस प्रकार हिन्दू और मुस्लिम शैलियों का सम्मिश्रण ही मुगल कला की विशेषता हो गई।

सन्त कबीर, नानक, दादू, चैतन्य, तुकाराम, शेख सलीम चिश्ती, रहीम, रसखान आदि महानुभाव सांस्कृतिक समन्वय के प्रतिनिधि थे। सुसंस्कृत अभिरुचि वाला दारा शिकोह बड़े ही उदार विचार का था। उसने संस्कृत के कई ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया। बाद में इस सांस्कृतिक समन्वय का परिणाम इतना सुखद और वांछनीय हुआ कि हिन्दू और मुसलमान दोनों के सामाजिक रीति रवाज एक दूसरे के सम्पर्क से कुछ बदले। यद्यपि यह परिवर्तन सभी मामलों में सुखदायी न प्रमाणित हो सका तथापि इसने हिन्दूओं और मुसलमानों के पारस्परिक मनोमालिन्य को कम करने में महत्वपूर्ण सहायता प्रदान की।

मध्यकाल की भारती सभ्यता का महत्व एक अन्य बात में भी है। यद्यपि इस युग में जाति प्रथा अपने अतिरंजित रूप में विद्यमान थी तथापि हिन्दू समाज में ऐसे कई प्रतिभाशाली जन उद्भूत हुये जिनका जन्म तो दलित वर्गों में हुआ था किन्तु जिन्होंने अपने चरित्र बल की सहायता से ऊँचा स्थान को अधिकृत किया। प्राचीन भारत में हम किसी शूद्र को महात्मा का पद प्राप्त करते हुए नहीं देखते किन्तु इस युग में रैदास हुये जिनको आज भी हिन्दू जनता आदर के साथ स्मरण करती है। डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने "हिन्दू राजतन्त्र" का उपसंहार इसी रूप में किया है "उसका (हिन्दू का) आधुनिक इतिहास पन्द्रहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है जब वैष्णव सन्तों ने सभी मनुष्यों की समानता का उपदेश दिया, जब शूद्र ने ब्राह्मण के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर उपदेश दिया (और ब्राह्मण ने इसका स्वागत किया और इसको प्रोत्साह प्रदान किया), जब हिन्दू के देवता की आराधना पहले पहले एक मुसलमान द्वारा संचित गीतों में की गई, जब रामदास ने घोषित किया कि मनुष्य स्वतन्त्र है और शक्ति द्वारा वह वशीभूत नहीं किया जा सकता और जब राज्य संस्थापन में ब्राह्मण ने एक शूद्र का नेतृत्व स्वीकार किया।" हमें अब उन सन्त महानुभावों के विषय में कुछ पढ़ लेना चाहिए जिन्होंने भारत की आध्यात्मिक परम्परा को जीवित रखा और भारतीय सभ्यता में नवजीवन का संचार किया।

सन्तों का प्रयास भक्ति-आन्दोलन के नाम से विख्यात है। इस आन्दोलन ने न केवल संस्कृत के 'कूप जल' से सरस्वती को निकाल कर उसे जन-भाषाओं के 'बहते नीर' में स्नान कराया बल्कि इसके भक्तों और संचालकों ने लोगों को पारस्परिक स्नेह, मैत्री, करुणा, सदाचार और आदर्श का उपदेश देकर राष्ट्र को विचार और क्रिया के उन्नत स्तर पर किया। यह आन्दोलन धर्म के बाह्याडम्बरपूर्ण स्वरूप के प्रति विद्रोह था और लोगों के समक्ष सरल तथा उन्नत जीवन का आदर्श रखता था। सन्तों ने चित्त की विशुद्धता और हृदय की भक्ति को ही ईश्वर प्राप्ति का साधन बताया और समस्त बाह्योपचारों की व्यर्थता को प्रतिपादित किया। लोगों के नीरस जीवन में इन सन्तों ने आशा

और उत्साह का संचार किया और उनकी जीवनलता को पुष्पित तथा पल्लवित करने का प्रयास किया। जिस समय मध्यकालीन योरप में चर्च के प्रभाव और शासन शक्ति के प्रभुत्व के कारण लोगों को विचार-प्रकाशन की तनिक भी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी और अपने युग के प्रचलित विश्वासों के विरुद्ध कुछ कहने के कारण लोगों को अपने प्राणों से हाथ तक धो बैठने का भय था, उसी समय भारत में कबीर ने निर्भीकतापूर्वक हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के आडम्बरों की कटु आलोचना की। भक्ति आन्दोलन ने जिस काव्य साहित्य का सृजन किया वह कुछ विषयों में अपना सानी नहीं रखता। भक्ति काव्य अपने युग के जन जीवन के जितने निकट है उतने निकट दूसरे साहित्य कम होते हैं। भक्त कवियों ने प्रान्तीय भाषाओं की तोतली बोलियों को साहित्यिक प्रौढ़ता प्रदान की। इनकी रचनाओं में जो सरसता और मार्मिकता है वह कभी कभी कालिदास की समता करती है। तुलसी और सूर के पद, रसखान के सवैये, कबीर और रहीम के दोहे तथा मीरा के पद हिन्दी की कविता की विभूति हैं। भक्ति काव्य की परम्परा कितनी सजीव थी कि भक्ति के ही भावों को कवियों ने कितने विभिन्न माध्यमों द्वारा और कितने विभिन्न रूपों में प्रकट किया।

भक्ति-आन्दोलन के सर्वप्रथम प्रतिनिधि रामानन्द थे। चौदहवीं शताब्दी में इनका जन्म दक्षिणी भारत में हुआ था। ये जाति के ब्राह्मण थे और राम के परम भक्त थे। जाति-पाँति के भेदभाव को इन्होंने व्यर्थ बताया और प्रतिपादित किया कि भक्ति का द्वार सबके लिए समान रूप से खुला है। उन्होंने जाति-प्रथा को देश के लिए घातक बताया और निम्न जाति के लोगों को भी अपना शिष्यत्व प्रदान किया। उनके बारह प्रमुख शिष्यों में एक शिष्य चमार, एक नाई और एक जुलाहा था। संस्कृत के उद्भट विद्वान होते हुए भी इन्होंने लोकभाषा में उपदेश दिया। आपके उपदेशों का जनता के ऊपर अच्छा प्रभाव पड़ा। उनके शिष्यों में कबीर का नाम अग्रगण्य है।

कबीर का पालन-पोषण एक जुलाहे के घर में हुआ था। उन्होंने न केवल भक्ति-मार्ग के अवलम्बन, हृदय की शुद्धता और ज्ञान की पवित्रता पर जोर दिया वरन धार्मिक अन्धविश्वास, जातिभेद तथा धार्मिक असहिष्णुता का [illegible] किया। [illegible] थे। जो कुछ कहते थे साफ कहते। उन्होंने ज्ञान के स्थान पर प्रेम की आवश्यकता बताई और कहा "पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पण्डित भया न कोय। ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पण्डित होय।" कबीर के दोहों से नैतिक उपदेश प्राप्त होते हैं और उनके पदों में आध्यात्मिक रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। हिन्दी कविता में कबीर का स्थान काफी ऊँचा है और क्रान्तिकारी समाज सुधारक की दृष्टि से उनका महत्व बहुत अधिक है, क्योंकि उनका कोमल हृदय नारी की हीन-दशा को देख कर करुणा-विगलित नहीं हुआ।

पंजाब प्रान्त में भक्तिमार्ग का प्रचार करने वाले गुरु नानक थे। उन्होंने भी कबीर की भाँति जाति-प्रथा का विरोध किया। एकेश्वरवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने बताया कि परमपिता के सामने जाति तथा वर्ण के भेद व्यर्थ हो जाते हैं। गुरु नानक ने इस बात पर विशेष जोर दिया कि इस कलुषित संसार में रहते हुए भी मनुष्य को पवित्र और निष्कलुष जीवन व्यतीत करना चाहिए। हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता पर नानक ने बहुत अधिक बल प्रदान किया। उनके शिष्यों में दोनों जातियों के लोग थे। बंगाल में चैतन्य देव ने कृष्ण की भक्ति का उपदेश दिया। वे एक कुलीन ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुये थे और धनधान्यसम्पन्न होते हुए भी गृह त्याग कर संन्यासी हो गये। वे बड़े ही बुद्धिमान और विद्वान थे किन्तु उन्होंने हृदय की शुद्धता पर जोर दिया और भक्ति को ज्ञान से अधिक महत्वपूर्ण बताया। वे अपने युग के विख्यात संस्कृत पण्डितों में से थे किन्तु अपना उपदेश वे लोक-भाषा में ही दिया करते थे। भक्ति की तरंग में वे बहुधा आत्म-विस्मृत से हो जाते थे और अपनी उत्कट भक्ति द्वारा उन्होंने बंगाल की जनता को बहुत अधिक प्रभावित किया।

श्री वल्लभाचार्य ने भी कृष्ण भक्ति का उपदेश दिया। वे दक्षिण के तैलङ्ग ब्राह्मण थे और अल्पवयस में ही उन्होंने बहुत ज्ञान अधिगत कर लिया था। उन्होंने समर्पण सिद्धान्त, अर्थात अपनी समस्त वस्तु को उपास्य देव की सेवा में अर्पित कर देने का प्रतिपादन किया। उन्होंने अपने मत का प्रचार देश के कई स्थानों में किया। वल्लभाचार्य

ने बतलाया कि गृहस्थ जीवन किसी प्रकार भी भक्ति-मार्ग में बाधक नहीं हो सकता और स्वयं दारापरिग्रहण करके उन्होंने गृहस्थ जीवन व्यतीत किया।

भक्ति-आन्दोलन एक देशव्यापी आन्दोलन था। इस आन्दोलन का भारत जैसे सुविशाल देश के एक भाग से दूसरे भाग में फैल जाना इस बात का द्योतक है कि भारत में इस समय भी एक सुदृढ़ सांस्कृतिक एकता विद्यमान थी। महाराष्ट्र प्रान्त में नामदेव और ज्ञानदेव नाम के दो सन्त महात्माओं ने भक्ति मार्ग का प्रचार किया। धर्म के विषय में नामदेव ने हिन्दू और मुसलमानों दोनों को अन्धा बताया और 'राम' तथा 'रहीम' की एकता पर जोर दिया। उन्होंने भी लोगों को जातिबन्धन से मुक्त होने का उपदेश दिया। अब हमें इस युग के साहित्यिक प्रयास का भी विचार कर लेना चाहिए।

मध्य युग के साहित्यिक विकास की सबसे प्रमुख विशेषता यही है कि इस काल में प्रान्तीय भाषाओं में उच्चकोटि का साहित्य लिखा गया। स्वामी वल्लभाचार्य और उनके शिष्यों ने ब्रजभाषा में एक उत्तम काव्य साहित्य का सृजन किया जिसका विकास आगे चल कर सूर और रसखान जैसे रससिद्ध कवीश्वरों के द्वारा अधिक हुआ। रामानन्द तथा

साहित्य

कबीर के सत्प्रयत्नों द्वारा हिन्दी का काव्य साहित्य काफी समृद्ध हुआ। अमीर खुसरो की प्रसिद्ध पहेलियाँ इसी युग में लिखी गईं और हिन्दी के प्रारम्भिक गद्य लेखक नाथ गोरखनाथ तथा आल्हा खण्ड के रचयिता जगनायक भी पूर्व-मध्य युग में हुये थे। नामदेव ने मराठी के काव्य साहित्य को समृद्ध करने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार चैतन्य महाप्रभु ने बंगला साहित्य की श्रीवृद्धि की। बंगाल के मुस्लिम शासकों ने भी बंग-साहित्य के प्रचार में योग दिया। संस्कृत की रामायण का लोकभाषा में अनुवाद किया गया और हुसेन खाँ के पुत्र नुसरत शाह की राजसभा में महाभारत बंग-भाषा में लिखा गया।

प्रान्तीय भाषाओं के साथ-साथ संस्कृत साहित्य का विकास भी होता रहा। राजकीय सहायता से वंचित रहने पर भी हिन्दू मुसलमानों से साहित्य रचना में पीछे न रहे। रामानुज ने ब्रह्मसूत्र पर टीका लिखी तथा अपने भक्ति सिद्धान्त पर प्रकाश डाला। 'ललित विग्रह राज नाटक', 'हरकेलि नाटक', 'पार्वती परिणय,' 'विदग्ध माधव' तथा 'ललित-माधव' आदि कतिपय साहित्य ग्रन्थों की रचना इसी युग में हुई। फारसी को राजाश्रय प्राप्त था। मुसलमान लेखक इतिहास में अभिरुचि रखते थे। उन्होंने कई ऐतिहासिक ग्रन्थों का प्रणयन किया। जियाउद्दीन बरनी तथा शम्स सिराज अफीफ इस युग के प्रमुख इतिहासकार थे। मुस्लिम इतिहासकारों का दृष्टिकोण पक्षपात शून्य नहीं था और उनके ग्रन्थों से हमें जनसाधारण के जीवन के विषय में कुछ विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं होता फिर भी विवेक से काम लेने पर ये ग्रन्थ हमारी काफी सहायता करते हैं। जौनपुर इस समय कला और साहित्य का केन्द्र था। पन्द्रहवीं शताब्दी में लगभग सौ वर्ष तक यह राज्य-संस्कृति और धार्मिक सहिष्णुता का बड़ा भारी केन्द्र था। यहाँ कई विद्यालय और एक विश्वविद्यालय भी था जहाँ विद्यार्थियों को अरबी और फारसी की उच्चतम शिक्षा प्रदान की जाती थी। साथ ही साथ हिन्दी और बंगला जैसी देशी भाषाओं को भी प्रोत्साहन दिया जाता था। "घोर असहिष्णुता के मध्य जौनपुर का यह छोटा सा अल्पकालीन राज्य विद्वता, संस्कृति और सहिष्णुता के आश्रयस्थान की ओर [illegible] खड़ा हुआ दृष्टिगत होता है।"

मध्यकालीन कला को हैवेल इत्यादि विद्वानों ने हिन्दू कला का ही रूप माना है। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता सर जान मार्शल का भी कथन है कि बहुत से मन्दिर मस्जिदों में बदल गये और विजेताओं ने उनके अनुकरण पर मस्जिदों का निर्माण करवाया। सच बात तो यह प्रतीत होती है कि इस युग की कला में हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों प्रभावों का समन्वय था। इस मिश्रित कला को इण्डो इस्लामिक या इन्डो सारसनिक कला कहते हैं। 'अलाई

कला

दरवाजा' इस काल की कला का सुन्दर नमूना है। चित्तौड़ का विजय स्तम्भ भी वास्तु कला का उत्कृष्ट नमूना है। तुगलकों के शासन काल में वास्तु कला का रूप कुछ विकृत एवं

विशाल हो गया। तुगलक शाह की कब्र इस प्रकार की कला का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करती है। फीरोज एक महान निर्माता था। उसने अनेक नगर बसाये तथा जनसाधारण के हितार्थ अनेक हौजों, उद्यानों और मदरसों का निर्माण कराया। प्रान्तीय राज्यों में जौनपुर कला के क्षेत्र में सबसे आगे था। इब्राहीम शर्की के समय की अटाला मस्जिद, हुसैनशाह के द्वारा बनवाई हुई जामा मस्जिद, लाल दरवाजा मस्जिद तथा जहाँगीर मस्जिद इस युग की भारतीय वास्तु कला के अद्भुत नमूने हैं। कला और सभ्यता की दृष्टि से दक्षिण विजय नगर नामक हिन्दू राज्य भी इस समय काफी उन्नतिशील था अतएव इसके विषय में कुछ जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

दक्षिण का विजय नगर राज्य

विजय नगर राज्य की स्थापना हरिहर और बुक्का नामक दो भाइयों ने की थी। यह राज्य तुङ्गभद्रा नदी के तट पर स्थित था किन्तु कुछ ही दिनों बाद इसकी राज्यसीमा में काफी विस्तार हुआ। विजय नगर राज्य पर कई वंशों के राजाओं ने शासन किया। कृष्णदेवराय तुलुव वंश का सबसे विख्यात शासक था। यह विजय नगर राज्य का सबसे प्रभावशाली राजा था। उसके शासन काल में विजय नगर का हिन्दू राज्य अपने ऐश्वर्य की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। वह एक गुणवान व्यक्ति और उदारचेता शासक था। वह संस्कृत तथा तेलगू के कवियों का आश्रयदाता था। साथ ही साथ वह महान योद्धा और प्रसिद्ध विजेता भी था।

विजय नगर के प्रायः सभी राज्यवंश संस्कृति के पोषक और कला के अनुरागी थे। उन्होंने जलाशय और झील आदि बनवाये और सिंचाई के अन्य साधनों की भी व्यवस्था की। कृष्णदेव राय ने एक बहुत बड़ी झील बनवाई जिसका नाम उसने 'कृष्णसागर' रक्खा। विजयनगर के राजाओं ने वैभवशाली मन्दिरों और भवनों का निर्माण कराया। विट्ठल मन्दिर उत्कृष्ट कला का एक नमूना है। शिल्प कला की भी काफी उन्नति हुई। विद्वानों और कवियों को राजाश्रय प्राप्त हुआ। माधव और सायण जैसे सुप्रसिद्ध विद्वान तथा लेखक विजय नगर राज्य में ही हुये थे। कृष्ण-देवराय की राजसभा में आठ प्रतिष्ठित कवि थे जो अष्ट दिग्गज कहे जाते थे। कुछ विदेशी यात्रियों ने विजय नगर की यात्रा की थी। वे इसके वैभव से बहुत अधिक प्रभावित हुये। उनके यात्रा-विवरणों को पढ़कर हमें विजय नगर राज्य की समृद्धि का पता चलता है।

विजय नगर की सबसे पहले यात्रा करने वाला व्यक्ति फरिश्ता था। उसने इस राज्य के राजाओं की शान शौकत का उल्लेख करते हुये उनकी शक्तिशालिता पर प्रकाश डाला है। सन् १४२० ईसवी में निकोलो कान्टी नामक यूरोपीय यात्री ने राज्य की यात्रा की। उसने विजय नगर के उद्यानों और इसके विपुल विस्तार का वर्णन किया है। उसने विजय नगर के राजा को, जिसे राय कहा जाता था, उस समय भारत का सबसे शक्तिशाली शासक कहा है।

इसके बाद अब्दुर्रज्जाक नामक मुस्लिम यात्री ने भी राज्य की यात्रा की थी। उसने विजय नगर के विषय में लिखा है, "यह नगर ऐसा है कि समस्त संसार में इसकी समानता करने वाला स्थान न तो आँखों ने देखा है और न कानों ने सुना है।" बाजारों के विषय में उसने लिखा है, "बाजार बहुत लम्बे-चौड़े हैं।....सुगन्धिपूर्ण पुष्प इस नगर में सदैव प्राप्त होते हैं और जीवन के आधार समझे जाते हैं, मानों इनके बिना लोग जीवित ही नहीं रह सकते। एक ही जाति या दस्तकारों की दूकानें पास पास हैं। जौहरी लोग अपने माणिक्य, मोती, हीरे और पन्ने बाजार में खुले आम बेचते हैं।" अब्दुर्रज्जाक ने विजय नगर के वैभव का जो वर्णन किया है उसका समर्थन बाद के अन्य यात्रियों द्वारा भी प्राप्त हो जाता है। पेइज नामक पुर्तगाली यात्री ने, जिसने सन् १५२२ में इस नगर की यात्रा की थी, नगर के विस्मयकारी वैभव का वर्णन किया है। उसने लिखा है कि विजय नगर का शहर "रोम के बराबर बड़ा है तथा देखने में बहुत सुन्दर मालूम देता है।" उसने फिर लिखा है, "यह नगर संसार में सबसे अधिक सम्पन्न है क्योंकि इसकी अवस्था वैसी नहीं है जैसी अन्य नगरों की होती है जहाँ प्रायः आवश्यक सामग्रियों और रसद का अभाव पड़ जाया करता है, क्योंकि यहाँ प्रत्येक वस्तु का आधिक्य है।" विजय नगर की इस अपूर्व समृद्धि ने लोगों

के नैतिक आचरण को दुर्बल कर दिया था। समाज के उच्च वर्ग के लोगों का जीवन विलासितापूर्ण था। राजाओं की विलासिता का तो कुछ कहना ही क्या। अब्दुर्रज्जाक ने नगर की वेश्याओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वे अपने मोहक हाव-भावों और विलासचञ्चला दृष्टि से युवकों का मन दूषित करती हैं और उन्हें अपने चंगुल में फँसा लेती हैं। राज्य को वेश्याओं से काफी आमदनी होती थी इसलिये वेश्यावृत्ति पर कोई नियन्त्रण नहीं रक्खा जाता था। निकोलो काण्टी ने भी उच्च वर्ग के लोगों की विलासप्रियता एवं अन्य लोगों के अन्ध विश्वास का वर्णन किया है।

सन् १५६० ई० में विजय नगर का यह समृद्धिशाली राज्य नष्ट कर दिया गया। इधर दक्षिणी भारत में एक विशाल हिन्दू राज्य का विनाश हो रहा था और उत्तरी भारत में एक नवीन राजवंश की स्थापना हो चुकी थी। यह राजवंश मुगल वंश के नाम से भारतीय इतिहास में विख्यात है। हम अब इस काल की सभ्यता के विषय में ही पढ़ेंगे।

मुगल काल का संक्षिप्त राजनीतिक इतिहास

भारत के इतिहास में मुगल वंश के शासनकाल को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस वंश के शासकों ने देश का शासन अधिक बुद्धिमत्ता पूर्वक किया और एक सुव्यवस्थित शासन पद्धति को जन्म दिया जो उनके पूर्ववर्ती मुस्लिम शासकों से पर्याप्त भिन्न थी। मुगल सम्राटों ने जनता का कुछ अधिक हित किया और उन्होंने देश की जनता के साथ घुल मिलने का प्रयास किया। यद्यपि वे सभी उदार, धार्मिक दृष्टिकोण के नहीं थे तथापि इसी राजवंश ने अकबर जैसे सम्राट को जन्म दिया जिसने अपनी सहिष्णुता की नीति से अपनी प्रजा में पारस्परिक सद्भावना उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। दारा जैसा सुसंस्कृत विद्वान इसी वंश में हुआ था। बाबर मुगल वंश का संस्थापक था। वह एक कुशल सेनानायक और योद्धा, प्रकाण्ड विद्वान और भावुक कवि था। वह गद्य और पद्य दोनों सरलता से लिख सकता था। उसने अपनी जीवन कहानी लिखी है जिसमें उसके व्यक्तित्व की छाप दिखाई पड़ती है। उसका पुत्र हुमायूँ विद्वान तो अपने पिता की ही तरह था किन्तु उसमें सेनानायकत्व और दृढ़ता के गुणों का अभाव था। दयालुता और कृतज्ञता उसके विशिष्ट चारित्रिक गुण थे किन्तु उसके अन्दर सुरा तथा सुन्दरी के प्रति अत्यधिक आसक्ति का दोष भी था।

हुमायूँ के हाथ से भारत का राज्य सिंहासन शेरशाह सूरी ने हस्तगत कर लिया। शेरशाह एक चतुर और बुद्धिमान शासक था। उसे अपनी कृषक प्रजा का विशेष ध्यान रहता था क्योंकि वह कृषकों को अपने राज्य का मेरुदण्ड समझता था। धार्मिक सहिष्णुता की नीति और शासन सम्बन्धी अन्य बातों में उसने महान सम्राट अकबर का पथ-प्रदर्शन किया।

अकबर महान भारत के ही नहीं अपितु संसार के सबसे महान शासकों में से गिना जाता है। जिस युग में धार्मिक कट्टरता नियम नहीं परम आचार थी उस युग में उसने राजसिंहासन से धार्मिक सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया। उसने मुल्ला और मौलवियों के विरोध का विचार न करते हुये अपनी समस्त प्रजा के साथ न्याय और उदारता प्रदर्शित की। वह स्वयं एक प्रतिभाशाली सम्राट था और विद्वानों तथा गुणियों का आश्रयदाता था। उसने सर्वप्रथम सभी देशवासियों के मध्य 'सुलहकुल' स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसकी धार्मिक उदारता से प्रभावित होकर अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध कवि एल्फ्रेड टेनीसन ने उसके ऊपर एक सुन्दर कविता लिखी है। अपनी न्यायप्रियता, कला-पोषण और धार्मिक उदारता के कारण अकबर संसार के महान शासकों की पंक्ति में अपना गौरवपूर्ण स्थान रखता है। अकबर का पुत्र जहाँगीर सुशिक्षित विद्वान, कुशल चित्रकार किन्तु सुरासेवी सम्राट था। न्यायप्रियता उसका विशिष्ट गुण था। उसके पुत्र शाहजहाँ के शासनकाल को मुगल भारत का स्वर्णयुग कहा जाता है। यह कथन विवादास्पद है किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि शाहजहाँ के समय में मुगलों का वैभव और ऐश्वर्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। लेकिन मुगल साम्राज्य के पतन के बीज भी इस समय विद्यमान थे। शाहजहाँ ने सर्वप्रथम अकबर की धार्मिक सहिष्णुता की नीति का त्याग कर दिया। औरंगजेब के शासनकाल में धार्मिक कट्टरता का बीज पूर्ण रूप से

प्रस्फुटित हुआ। देश में चारों ओर साम्राज्य के शत्रु खड़े हो गये। दक्षिण में मरहठे प्रबल हो गये, पञ्जाब में शान्तिप्रिय सिक्ख रणबांकुरे सैनिक हो गये और राजपूत औरङ्गजेब की अन्यायपूर्ण नीति का विरोध करने के लिये बद्धपरिकर हो गये। छत्रपति शिवाजी के अधीन मरहठों ने अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया जिसकी शक्ति निरन्तर बढ़ती ही गई। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य की शक्ति का दिनोदिन ह्रास होने लगा और अन्त में अंग्रेजों का देश पर अधिकार हो जाने के बाद मुगलसत्ता का नाम-निशान भी मिट गया।

मुगलों का वैभव और उनका राजनीतिक इतिहास विश्व इतिहास के विद्यार्थी को अधिक आकर्षित नहीं कर सकता किन्तु उनके शासनकाल में देश की सांस्कृतिक अवस्था का अध्ययन कर के वह अवश्य सन्तुष्ट होगा। इस में कोई सन्देह नहीं कि मुगलों के समय में साहित्य, कला, और अन्य क्षेत्रों में महत्वपूर्ण उन्नति हुई। कुछ दृष्टियों से

मुगलों के समय में सांस्कृतिक अवस्था

हम मुगलों के समय को रचनात्मक युग कह सकते हैं। पश्चिमी जगत से सम्पर्क बढ़ा और देश से बहुत सी वस्तुयें योरप में जाने लगीं। यह व्यापार प्राचीन भारत में जिस अवस्था में था उसका अध्ययन हम भारत की प्राचीन सभ्यता के साथ कर चुके हैं किन्तु बाद में यह मन्द हो गया था। मुगलों के वैभव को देखकर यूरोपीय यात्री बड़े चकित हुये और उन्होंने शासकों से व्यापार करने की अनुमति प्राप्त कर ली। मुगल भारत में एक महत्वपूर्ण वस्तु का अभाव था। वह वस्तु थी विज्ञान जिसका कि योरप में तेजी से विकास हो रहा था। योरप के लोग पुनर्जागरण (रिनेसां) के बाद साहसपूर्ण कार्य करने और खोज की भावना से भर गये जिससे वे सागर संसार को नाप लेने का प्रयत्न करने लगे। विज्ञान का अभाव होने पर भी भारत अन्य बातों में योरप से पिछड़ा नहीं था। सबसे पहिले हम साहित्य का ही विवेचन करें।

मुगलों के समय में साहित्य की बहुत अधिक उन्नति हुई। बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहांगीर, शाहजहां, सभी साहित्य-रसिक और कवियों के आश्रयदाता थे। कट्टर मनोवृत्ति वाला औरंगजेब भी एक साहित्यिक व्यक्ति था। परवर्ती

साहित्यिक प्रगति

मुगल सम्राट भी साहित्य से अनुराग रखते थे। हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं की उन्नति के साथ-साथ फारसी साहित्य का भी विकास हुआ और उर्दू का जन्म हुआ। मुगलों के समय में भारत ने जो साहित्यिक प्रगति किया हम केवल उसका संक्षिप्त अध्ययन ही कर सकते हैं।

शेरशाह के शासन काल में मलिक मुहम्मद जायसी ने अवधी में अपना प्रसिद्ध महाकाव्य 'पद्मावत' लिखा। इस काव्य में चित्तौड़ की महारानी पद्मिनी का वर्णन है और ग्रन्थ में कहीं कहीं पर कवि की रहस्यवादी दार्शनिक विचारधाराओं के दर्शन होते हैं। जायसी के साथ-साथ हमें कुतबन तथा मंझन आदि सूफी कवियों का स्मरण आता है जिन्होंने हिन्दुओं की लोक कथाओं को अवधी ही बोली में लिखकर बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में इन कवियों की बहुत अधिक प्रशंसा की है। अकबर का शासन-काल हिन्दी कविता का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। इसी समय में हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास उत्पन्न हुये जिनकी पवित्र भारती के पुण्य प्रसाद से आज भी सहस्रों जन अपने को कृतार्थ कर सकते हैं। अपने महाकाव्य "रामचरित मानस" में गोस्वामी जी ने मानव-जीवन के प्रत्येक अंग की व्याख्या की है। तुलसीदास सर्वतोन्मुखी प्रतिभा वाले महाकवि थे। आपने अपने समय की समस्त प्रचलित काव्य शैलियों पर रचना करके अपनी काव्य निपुणता का परिचय दिया है। भाषा पर आपका पूर्ण अधिकार था। जहां आपने एक ओर संस्कृत शब्दों के प्रयोग द्वारा भाषा को साहित्यिक प्रौढ़ता प्रदान की है वहां दूसरी ओर लोकोक्तियों और मुहावरों की सृष्टि करके आपने साधारण जनता के प्रति अपने स्नेह को अभिव्यक्त किया है। 'रामनाम सुभाव' रचना करके भी गोस्वामी जी ने लोकोपकार का बहुत महान कार्य किया है। सर जार्ज ग्रियर्सन ने गोस्वामी जी को हिन्दी कविता कानन का सबसे बड़ा वृक्ष और डा० विन्सेन्ट स्मिथ ने उनको अपने समय का सबसे महान व्यक्ति—अकबर से भी महान—कहा है। सूरदास भी सम्राट अकबर के समकालीन थे। आपने वात्सल्य और शृंगार में अपनी अद्भुत कवित्व शक्ति का परिचय दिया है। इन दोनों

क्षेत्रों में संसार का कोई भी कवि सूर की समता नहीं कर सकता। बाल-क्रीड़ा का चित्रण करने और मातृ-हृदय की भावनाओं का वर्णन करने इस अन्ध महाकवि ने जिस सूक्ष्मता, सजीवता और स्वाभाविकता का परिचय दिया है वह निस्सन्देह विस्मयोत्पादक है। कुम्भनदास, रसखान, नन्ददास और कितने ही भक्त कवियों का संक्षिप्त परिचय भी देना इस पुस्तक की सीमा में सम्भव नहीं। हम केवल उनकी पुण्य स्मृति में आदर से अपना शीश नवा सकते हैं। रहीम के दोहों में सांसारिक ज्ञान और अनुभव अति मधुर एवं सरस भाषा में वर्णित है।

भक्ति काव्य के बाद हिन्दी कविता का रीतिकाल आरम्भ होता है। शाहजहाँ के राजकवि सुन्दर ने ब्रजभाषा में 'सुन्दर शृंगार' की रचना किया। इस काल के अन्य प्रसिद्ध कवियों में देव, बिहारी तथा मतिराम के नाम उल्लेखनीय हैं। केशव ने काव्य-शास्त्र (Poetics) पर कई ग्रन्थ लिखे जिनमें 'कवि-प्रिया' और 'रसिक प्रिया' प्रसिद्ध हैं। रीति कालीन कविता का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित था। कवियों का ध्यान अधिकतर रमणियों के रूप वर्णन की ओर ही था। वे जीवन के मंगलमय पक्ष की ओर देख न सके। महाकवि भूषण और लाल ने अपने युग की प्रचलित काव्य प्रवृत्ति शृंगार के विरुद्ध वीर रस में कविता की। हम राजस्थान की प्रसिद्ध कवयित्री मीरा को भी भक्ति युग के साहित्यिक प्रयास के अन्तर्गत ही रख सकते हैं। उनके सरस और सरल पद नास्तिक के हृदय को भी हिला देने की क्षमता रखते हैं क्योंकि उनमें सच्ची भक्ति का अक्षय कोष वर्तमान है।

हिन्दी के साथ-साथ अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य की भी काफी उन्नति हुई। बंगाल में मिर्जा हुसैनअली ने काली की भक्ति में कवितायें लिखीं। बंगाल में कई कवि हुये जिनमें से रघुनन्दन भरतचन्द्र और मुकुन्दराम के नाम प्रसिद्ध हैं। भरतचन्द्र ने 'आनन्द मंगल' नामक पुस्तक की रचना की। सोलहवीं शताब्दी में नदिया के एक ब्राह्मण कृत्तिवास ने संस्कृत रामायण का बंगला में अनुवाद किया। सत्रहवीं शताब्दी में बर्दवान के कवि काशी रामदास ने महाभारत का अनुवाद किया। महाराष्ट्र में सोलहवीं शताब्दी में श्रीधर नाम के एक सुप्रसिद्ध कवि तथा विद्वान हुये। सत्रहवीं शताब्दी में सन्त तुकाराम के द्वारा मराठी कविता का चरम विकास हुआ। स्वामी रामदास ने, रघुपतेश्वरों ने भी मराठी काव्य के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। श्रीधर ने रामायण और महाभारत का मराठी भाषा में अनुवाद किया। उर्दू भाषा की भी मुगलों के समय में काफी उन्नति हुई।

मुगलों के शासन काल में फारसी साहित्य का बहुत अधिक विकास हुआ। अकबर के शासन काल में अबुलफजल के भाई फैजी ने फारसी में कविता की। इस कवि की कविता में सूफी विचारधारा स्पष्ट परिलक्षित होती है। अकबर की इच्छा से विद्वानों ने वाल्मीकीय रामायण, महाभारत, अथर्ववेद तथा लीलावती की अंक गणित का फारसी में अनुवाद किया। इसके अलावा फारसी भाषा में इतिहास के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये। गुलबदन बेगम, जौहर, अबुलफजल, निजामुद्दीन अहमद, बदायूनी, अब्बास सरवानी, फिरिश्ता, अब्दुल हमीद लाहौरी और खाफी खाँ मुगल काल के प्रसिद्ध इतिहासलेखक थे। ईश्वरदास नागर, सुजानराय भत्री और भीमसेन आदि हिन्दुओं ने भी इतिहास की पुस्तकें लिखीं।

मुगलों के शासनकाल में वास्तु-कला की बहुत ही अधिक उन्नति हुई। इस युग की कलायें हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय की अधिक स्पष्टता प्रगट करती हैं। मुगल वास्तु-कला में भारतीय और ईरानी तत्वों का सम्मिश्रण है। फारसी शैली की विशेषता है, ऊँचे चबूतरे, बाग बगीचों के मध्य में इमारतों का निर्माण कराना और बनावट की सुन्दरता और सादगी। भारतीय वास्तु-कला के विशेष तत्व हैं सपाट छतें, कड़ी मेहराबें, पच्चीकारी का काम तथा अलंकरण की विशिष्ट योजना। इन दोनों शैलियों का समन्वय हमें मुगल कला में दिखाई पड़ता है। सम्राट अकबर के समय में बनाई गई इमारतें इस समन्वयात्मक प्रवृत्ति की द्योतक हैं। इसके शासन काल में बुलन्द दरवाजा, शेख सलीम चिश्ती का मकबरा, जामा मस्जिद, दीवाने खास, पंचमहल और मरियम-जमानी का महल तथा इलाहाबाद एवं आगरा के दुर्ग आदि इमारतें बनाई गईं। शाहजहाँ

वास्तु-कला

का शासनकाल वास्तु-कला का स्वर्णयुग था। उसके समय में रंगीन पत्थरों का प्रयोग, पत्थरों की सजावट और भवनों के अलंकरण आदि कार्य पराकाष्ठा पर पहुँच गये। इस समय की प्रसिद्ध इमारतों में दीवान-आम, दीवान-खास, जामा मस्जिद, मोती मस्जिद तथा ताजमहल सर्वप्रसिद्ध हैं।

चित्रकला

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि मुगल काल की चित्रकला में फारसी और भारतीय तत्वों का सम्मिश्रण है। अकबर ने अपनी राजसभा के चित्रकारों से चंगेजनामा, रज्मनामा, महाभारत, रामायण, नलदमन और कालियादमन आदि ग्रन्थों को चित्रांकित कराया। जहाँगीर चित्रकला का अनन्य प्रेमी तथा पूर्ण मर्मज्ञ था। उसके समय के प्रसिद्ध चित्रकार मुहम्मद नासिर, मुहम्मद मुराद, आकारजा, मनोहर और तुलसी आदि थे। इन सब चित्रकारों ने अपनी तूलिकाओं द्वारा प्रकृति के रमणीक दृश्यों को चित्रित किया। जहाँगीर के बाद चित्रकला का ह्रास प्रारम्भ हुआ। शाहजहाँ को इस कला से कोई अनुराग न था। औरंगजेब ने चित्रकला को कोई प्रोत्साहन तो नहीं दिया किन्तु उसके समय में इसका प्रचार था। जब औरंगजेब का पुत्र मुहम्मद सुल्तान कारावास में व्यस्त था तब उसके स्वास्थ्य का हाल जानने के लिए वह समय-समय पर उसका चित्र बनवाकर मँगाता था। मुगल काल में राजपूत कला का स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ जो अपनी प्रमुख विशिष्टताओं से युक्त थी। राजपूत चित्रकला में हिन्दुओं की पौराणिक गाथाओं का चित्रण किया गया है। इस कला की एक अनुपम विशेषता यह है कि इसमें साधारण ग्रामवासी, उनकी जीवनलीलायें तथा उनके आस-पास के जीवन का चित्रण है। इस कला में धार्मिक तथा आध्यात्मिक भावों का प्रभाव पूरी तरह से परिलक्षित होता है। जन-साधारण के चित्रण में हिन्दू कलाकारों ने यथार्थवादिता तथा कलात्मकता को सुन्दर रीति से समन्वित किया है।

संगीत

मुगल काल में संगीत की भी काफी उन्नति हुई। औरंगजेब को छोड़कर अन्य सभी मुगल शासक संगीत से अनुराग रखते थे। बाबर संगीत का बड़ा अनुरागी था और स्वयं कई वाद्य यन्त्रों को बड़ी ही कुशलतापूर्वक बजाता था। हुमायूँ गान विद्या को ईश्वर प्राप्ति का साधन मानता था। अकबर की राजसभा को सुप्रसिद्ध गायक तानसेन समलंकृत करता था। उसके दरबारी भी गान विद्या के अनुरागी थे। फैजी के पुस्तकालय में संगीत शास्त्र पर अनेक बहुमूल्य पुस्तकें थीं। जहाँगीर और शाहजहाँ दोनों गान सुनने के बड़े शौकीन थे। शाहजहाँ स्वयं एक सुन्दर गवैया था और गीतों की रचना भी करता था। उसकी राजसभा में हिन्दू संगीतज्ञों का सम्मान किया जाता था और जगन्नाथ तथा बीकानेर के जनार्दन भट्ट प्रमुख संगीतज्ञ थे। औरंगजेब के समय में गान-विद्या की उन्नति रुक गई क्योंकि उसने अपनी एक राजकीय घोषणा द्वारा संगीत को निषिद्ध ठहरा दिया। मध्य युग में गान-विद्या केवल राजसभाओं तक ही सीमित नहीं रही बल्कि जनसाधारण में भी इसका प्रचार हुआ। महाकवि सूरदास, मीरा तथा दक्षिण में सन्त तुकाराम तथा समर्थ गुरु रामदास के पदों ने गान-विद्या को आध्यात्मिकता से परिपूर्ण कर दिया और अपने सरस तथा सरल पदों से जो सुधा-धारा प्रवाहित की उसमें निमज्जित हो समस्त भारतीय जनता कृतकृत्य हो गई।

—:o:—

बीसवाँ अध्याय

मध्यकालीन चर्च और ईसाईयों के धर्म-युद्ध

हम पीछे इस बात का उल्लेख कर आये हैं कि चर्च की शक्ति पर्याप्त बढ़ने लगी थी। रोमन कैथोलिक चर्च ने योरप के एक विशाल मानव समुदाय के जीवन पर आशातीत प्रभाव डाला है। उतना कदाचित किसी भी मानवीय संस्था ने लोगों को प्रभावित नहीं किया है। हम बीसवीं शताब्दी के इस वैज्ञानिक युग में इस बात की कल्पना कठिनता से ही कर सकते हैं कि आज से एक हजार वर्षों पूर्व चर्च का लोगों के मस्तिष्क पर कितना गहरा प्रभाव था। योरप के धार्मिक जीवन पर इसकी सत्ता पूर्ण और असंदिग्ध थी। तीसरी शताब्दी में सेन्ट साइप्रियन ने यह कहा था, "जो अपने को चर्च से पृथक रखता है वह अपने को चर्च की आशाओं और प्रतिज्ञाओं से वंचित रखता है। वह एक विदेशी है, अधार्मिक है, शत्रु है, यदि वह चर्च को अपनी माता नहीं समझता तो वह ईश्वर को किसी प्रकार भी पिता नहीं समझ सकता।" यही मनोवृत्ति लगभग सम्पूर्ण मध्य-काल में लोगों के चित्त में घर किये हुये थी। फल यह हुआ कि योरप में धर्म और चर्च का अर्थ एक ही समझा जाने लगा और यदि कोई भी व्यक्ति चर्च की आज्ञाओं या इसके सिद्धान्तों के औचित्य में सन्देह प्रकट करता था तो उसे अपराधी स्वीकार किया जाता था और उसे ईश्वर तथा मनुष्य का विरोधी करार कर दिया जाता था। बारहवीं शताब्दी में योरप के सिविल कानून में चर्च में अविश्वास करना ऐसा अपराध समझा जाता था जिसका दण्ड केवल प्राणदण्ड ही हो सकता था। सभी ईसाई देशों से चर्च को बराबर कर प्राप्त होता था और उसके अधिकार में जो भूमि होती थी उसके द्वारा भी बहुत अधिक आय होती थी। इसके अतिरिक्त लोग स्वेच्छापूर्वक भी चर्च को विपुल दान दिया करते थे। जिससे चर्च के पास धन पर्याप्त हो गया था।

लेकिन हमें चर्च के प्रभुत्व और प्रभाव को पूर्ण अधिकार विस्तार से जानने के पूर्व यह जानने की चेष्टा करनी चाहिये कि इसके दिनोंदिन बढ़ते हुए प्रभाव का रहस्य क्या हो सकता है। रोमन साम्राज्य के पतन के बाद योरप की अशान्ति पूर्ण राजनीतिक स्थिति से चर्च को बहुत अधिक लाभ हुआ होगा। लेकिन इससे पहले भी चर्च का प्रभाव काफी अधिक था। हम पहले ही देख चुके हैं कि बर्बर आक्रमणकारी चर्च और मठों में घुसते या आक्रमण नहीं कर पाते थे। सेन्ट एम्ब्रोस ने मिलान के कैथेड्रल में सम्राट थियोडोसियस से सार्वजनिक रूप में तप कराया और जब पोप लियो महान ने हूणों के नेता एटिला से अपना संघर्ष चर्च के द्वार से हटा लेने की याचना की और उसकी आज्ञा मान ली गई तब से बहुत से लोग रोम के बिशप को बर्बर आक्रमणकारियों के विरुद्ध अपना रक्षक मानने लगे। निस्संदेह इसका एक प्रमुख कारण था भावी जीवन के विषय में चर्च की आशाजनक सान्त्वना। यूनान और रोम वालों के मत पर विचार करते हुये हमने देखा कि मृत्योपरान्त जीवन के विषय में उनकी धारणा कितनी अनिश्चित और अस्पष्ट थी। वे जब कभी भविष्य जीवन की कल्पना करते थे तो उनकी दृष्टि में वह नितान्त दुःखपूर्ण और सुख तथा आनन्द की सम्भावनाओं से रहित ही प्रतीत होता था। इसीलिए रोमन और यूनानी लोग अपने इहलौकिक जीवन का ही पूरा पूरा आनन्द और लाभ उठा लेना चाहते थे! वे भावी जीवन की निराशाजनक कल्पना से अपने मस्तिष्क को आक्रान्त करना ही नहीं चाहते थे और अपने सुखोपभोग में निरन्तर निमग्न रहते थे। लेकिन दूसरी ओर ईसाई धर्म ने यह बताया कि मनुष्य का अल्पकालीन यह लौकिक जीवन अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण और कम आनन्ददायक है और मृत्यु के उपरान्त उसे एक ऐसा जीवन व्यतीत करना होगा जिसमें उसे आत्मिक आनन्द और भौतिक सुख दोनों प्रचुर

परिमाण में प्राप्त होंगे। कुछ लोगों के ऊपर तो इस विचारधारा ने इतना अधिक प्रभाव डाला कि वे अपने पापों के दण्ड से बचने के लिये और अपने पारलौकिक जीवन को सुधारने के लिये स्थायी रूप से मठों में रहने लगे और अपने इहलौकिक कर्तव्यों के प्रति उदासीन रहने लगे। बर्बर आक्रमणकारियों को बताया गया कि चर्च के प्रसाद पर ही उनके भावी जीवन का सुख अवलम्बित है। चर्च के अधिकारी लोगों को सदैव यही समझाया करते थे कि मनुष्य के सम्मुख दो पथ हैं। पहला पथ है स्वर्ग में चिरन्तन आनन्द के उपभोग करने का और दूसरा पथ है नर्क में निरन्तर कष्टों को भोगना। केवल जिन लोगों ने ईसाई धर्म ग्रहण किया है वे ही स्वर्ग पहुँचने की आशा कर सकते हैं। नामकरण संस्कार (Baptism) मनुष्य के पुराने पापों को तो विनष्ट कर देता है किन्तु उसके इस जन्म के पापों से केवल चर्च बचा सकता है। इसलिए मनुष्यों को चाहिये, चर्च के अधिकारियों ने कहा, कि वे अपने को सदैव चर्च के सम्पर्क में रक्खें और समय समय पर अपने दानों उपहारों से इसके अधिकारियों को सन्तुष्ट रक्खें। इन सब बातों का मध्यकाल की अशिक्षित जनता पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा और चर्च में खूब धन एकत्र होने लगा। उधर राजाओं की शक्ति इस समय तक काफी क्षीण हो गई थी इसलिए चर्च के प्रभाव को रोकने की कोई शक्ति ही नहीं थी।

फलस्वरूप चर्च केवल एक धार्मिक संगठन के रूप में ही न रहा वरन् इसने राज्य के अनेक कर्तव्यों को करना आरम्भ किया। चर्च का सर्वोच्च अधिकारी पोप था और अपने अधीनस्थ कर्मचारियों द्वारा वह अपना पूरा अधिकार जमा लेता था। चर्च के अलग न्यायालय और कानून थे। इन न्यायालयों में पादरियों, विधवाओं और अनाथों से सम्बन्धित सभी मुकदमों का निर्णय किया जाता था और विवाह तथा धर्माभिकता आदि प्रश्नों पर विचार किया जाता था। पोप के पास अपने प्रतिनिधि भी थे जो विभिन्न राज्यों में जाकर रहते थे और वहां से रोम को समाचार भेजते थे। अब चर्च की शक्ति इतनी बढ़ गई कि राज्य के ऊपर भी यह अपनी प्रभुता जमाने के प्रयत्न करने लगी। राजाओं को पोप का अधीनस्थ समझा जाने लगा और यह कहा गया कि वे उसके प्रति उत्तरदायी हैं। चर्च के अधिकारियों को राज्यों में उच्च पद प्राप्त होने लगे।

किन्तु शक्ति का शक्ति से सदैव विरोध देखा गया है। एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। जब तक शासकों की शक्ति कम थी तब तक उन्होंने इस स्थिति को सहन किया लेकिन जहाँ किसी महत्त्वाकांक्षी शासक ने शक्ति ग्रहण की, उसने पोप की प्रभुता को चुनौती दी। यही कारण था कि पोप सदैव इस बात का प्रयत्न करते थे कि राजाओं की शक्ति बढ़ने न पाये। लेकिन उधर राजाओं ने भी अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न किया। बहुत से राजाओं ने बिशपों और Abbots को चुनना आरम्भ कर दिया। बिशपों की नियुक्ति चुनाव द्वारा की जाती थी। यदि राजाओं के ही मनोनीत लोग नहीं चुने जाते थे तो वे बिशप या एबट को वह भूमि नहीं देते थे जो उसके अधिकार में होनी चाहिये थी। अपनी नियुक्ति के बाद बिशप या एबट को अपने स्वामी (राजा) का अपना आदर भाव प्रदर्शित करना पड़ता था और बहुधा वह अपनी आध्यात्मिक शक्तियों की प्रतीक स्वरूप वस्तुओं, अंगूठी तथा छड़ी को भी उससे ही प्राप्त करता था। इस प्रकार से राजाओं ने अपनी प्रभुता काफी बढ़ा ली; लेकिन अनेक बिशपों और एबटों ने इस प्रकार की नीति को अपने लिये हीनताजनक समझा। उन्होंने यह कहा कि चर्च को अपने अधिकारियों के चुनाव में पूरा अधिकार अपने ही हाथों में रखना चाहिये और अपनी सम्पत्ति के वितरण तथा विक्रय में पूरी तरह से स्वतन्त्र रहना चाहिये। इस विषय में किसी लौकिक शक्ति अर्थात शासकों को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं रहना चाहिये। यह शर्त राजाओं को मान्य नहीं हो सकती थी क्योंकि उनके राज्यों की काफी भूमि पर चर्च के अधिकारियों का आधिपत्य था और राजाओं का यह विश्वास था कि यदि उनके ऊपर शासन शक्ति का कोई नियन्त्रण नहीं रहेगा तो वे जब चाहेंगे राज्य के प्रति विद्रोह कर देंगे। इस प्रकार की दो परस्पर विरोधिनी विचारधाराओं ने एक सुदीर्घ और कटु संघर्ष को जन्म दिया जिसको इन्वेस्टीच्यूर स्ट्रगिल की संज्ञा दी गई। यह इन्वेस्टीच्यूर संघर्ष बहुत दिनों तक चलता रहता किन्तु लम्बे विवाद के बाद यह तय

किया गया कि सम्राट को बिशपों तथा एबटों की नियुक्ति का अधिकार चर्च को ही सौंप देना चाहिए और छड़ी तथा अंगूठी प्रदान करने का अपना अधिकार भी त्याग देना चाहिये। लेकिन अन्य एक क्रिया द्वारा सम्राट नवनिर्वाचित चर्च अधिकारियों को इहलोकपरक अधिकार प्रदान करता था। इस प्रकार आध्यात्मिक अधिकार तो चर्च प्रदान करता था और सांसारिक अधिकार राज्य द्वारा ही प्राप्त हो सकते थे।

लेकिन उपर्युक्त निर्णय द्वारा भी चर्च और राज्य के पारस्परिक झगड़ों का कोई अन्त नहीं हो सका। जर्मनी के राजा फ्रेडरिक प्रथम (११५२-११९०) ने पोप की प्रभुता को चुनौती दी। उसने राजा के दैवी अधिकार की घोषणा करते हुये पोप से बताया कि साम्राज्य की अध्यक्षता और उसके स्वामित्व का अधिकार उसे ईश्वर ने प्रदान किया है और उसे पोप की आज्ञाओं अथवा उसके निर्णयों की कोई आवश्यकता नहीं है। इन्नोसेन्ट तृतीय (११९८-१२१६) ने चर्च के मामलों में राज्य की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने का प्रयास किया और इसमें उसे सफलता भी मिली। अपने समय में वही योरप का प्रमुख निर्णायक था। जर्मनी में एक राजा के निर्वाचन में उसने हस्तक्षेप किया, इंगलैण्ड के जॉन को अपनी शक्ति मानने के लिए विवश किया और लेटेरन सभा (Lateran Council) में उसने प्रमुख शासकों, बिशपों और एबटों को धार्मिक तथा राजनीतिक प्रश्नों पर विचार करने के लिए बुलाया। इन्नोसेन्ट तृतीय के प्रयत्नों के बावजूद भी चर्च को राज्य से हारना ही पड़ा। उसके मरने के बाद फिर कभी चर्च शक्ति प्राप्त न कर सकी। परन्तु फिर बाद में धर्माधिकारियों ने सम्राट की शक्ति को कम करने में काफी सफलता प्राप्त की। जर्मनी की एकता को उसने नष्ट करके अपनी प्रतिष्ठा में अभिवृद्धि की।

लेकिन चर्च की यह प्रतिष्ठा और शक्ति चिरस्थायी न हो सकी। इन्नोसेन्ट तृतीय के ही समय में चर्च सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से पराकाष्ठा पर थी। इसके बाद चर्च में दोष और दुर्गुण घुस गये और धर्माधिकारियों का दृष्टिकोण नितान्त इहलोकपरक हो गया। धन और वैभव की अधिकता ने उनके जीवन की सादगी, उच्चता और आदर्शमयता का अन्त कर दिया। स्वयं पोप भी अपना चरित्र विशुद्ध और उन्नत न रख सके। पोप एलेक्जेन्डर अपने दुर्गुणों को छिपाने का भी कोई प्रयत्न नहीं करता था क्योंकि उसका अनाचार सीमा का अतिक्रमण कर चुका था। वे ही लोग अधिकांशतः बिशप नियुक्त किये जाते थे जिनकी मनोवृत्ति धार्मिक न थी वरन् जो अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के ही लिए अधिक प्रयत्नशील रहते थे। मठों में अनाचार और दुराचार का प्रवेश हो गया और जिन सन्यासियों का जीवन अपनी पवित्रता, निस्पृहता और सरलता आदि गुणों के कारण प्रशंसनीय था, वे ही अब विलासिता का जीवन व्यतीत करने लगे। बौद्ध विहारों में रहने वाले भिक्षुओं के जीवन में भी इसी प्रकार के दोष आ गये थे जिससे भारतवर्ष से बौद्ध धर्म का लोप हो गया और जापान में इसकी प्रतिष्ठा कम हो गई। इन्हीं दोषों के कारण ईसाई मठों के सन्यासी जनता में श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न न कर सके। बिशप और एबट अपने प्रभुत्व का दुरुपयोग करते थे और अपनी विलास सम्बन्धिनी आवश्यकताओं पर रुपये को पानी की तरह बहाते थे। चर्च की ये आन्तरिक दुर्बलतायें थीं जिनके कारण इसका गौरव कम हो गया।

किन्तु कुछ अन्य बाह्य कारणों ने भी चर्च को दुर्बल और प्रभावहीन बना दिया। व्यक्तिवाद और राष्ट्रीयता के उदय ने चर्च की शक्ति को कम कर दिया। लोग चर्च के प्रभुत्व को मानने के लिए तैयार न थे, यद्यपि उसके सिद्धान्तों में वे अब भी विश्वास रखते थे। रोमन कैथोलिक चर्च का स्वरूप कुछ बदला नहीं, यद्यपि उसकी शक्ति काफी कम हो गई थी। लेकिन अब भी बहुत से लोग धार्मिक मनोवृत्ति के थे और उनके हृदय पर चर्च का प्रभाव काफी था। इसलिए यह न समझना चाहिए कि चर्च की शक्ति बिल्कुल नहीं रह गई थी। अपने पतन काल में भी चर्च के अधिकारियों ने समस्त ईसाई जगत को सेल्जुक तुर्कों के विरुद्ध धर्मयुद्ध करने के लिए प्रोत्साहित किया। ये धर्मयुद्ध यह स्पष्ट तथा सूचित करते हैं कि मध्यकालीन चर्च का प्रभाव लोगों पर कितना अधिक था। इन धर्म युद्धों को क्रूसेड (Crusade) कहा गया। हम अब इन क्रूसेडों का ही अध्ययन करेंगे।

क्रूसेड का पहला कारण जेरूसेलम पर सेल्जुक तुर्कों का आधिपत्य था। अरबों ने भी जेरूसेलम पर अधिकार किया था किन्तु उन लोगों ने ईसाई यात्रियों के साथ धार्मिक सहिष्णुता प्रदर्शित की थी। लेकिन सन् १०७६ ईसवी के बाद जब सेल्जुक तुर्कों ने जेरूसेलम पर अधिकार कर लिया तो ईसाई धर्मयात्रियों पर भांति-भांति के अत्याचार किये जाने लगे। तुर्क लोग धर्मान्ध थे। वे ईसाई यात्रियों को उनका बाल खिचवा कर सड़क पर घुमवाते थे, उनको जेल में डलवा देते थे और जब तक उससे गहरी रकम वसूल नहीं करते थे तब तक उसे मुक्त नहीं करते थे। जो तीर्थयात्री लौट कर योरप आते थे वे तुर्कों की निर्दयता और धर्मान्धता की कथायें ईसाइयों को सुनाते थे और उनको उत्तेजित करने का प्रयत्न करते थे। पीटर नामक यात्री ने अपनी अपूर्व वक्तृता द्वारा लोगों को खूब उत्तेजित किया। गिबन के शब्दों में, "उसने चर्चों में असंख्य लोगों की भीड़ में, सड़कों पर, राजमार्गों पर उपदेश दिया, सन्यासी कुटीर और भवन दोनों में समान विश्वास के साथ प्रवेश करता था और लोग उसके शाप ग्रहण तथा प्रतीकार के आह्वान से उत्तेजित और प्रभावित हुये। जब उसने पैलेस्टाइन के निवासियों और तीर्थयात्रियों के कष्टों का चित्रण किया तब प्रत्येक व्यक्ति का हृदय करुणा से द्रवित हो गया और रोष से परिपूर्ण हो गया। जब उसने युग के योद्धाओं को अपने बन्धुओं की रक्षा करने और अपने रक्षक को बचाने की चुनौती दी।" इस ओजमयी वक्तृता से ईसाईयों के अन्दर अपने पवित्र तीर्थ स्थान की रक्षा करने का दृढ़ संकल्प जगा।

क्रूसेड के कारण

क्रूसेड का दूसरा कारण था बाइजेन्टिया के साम्राज्य का बुरी तरह से दुर्बल हो जाना। सात शताब्दियों तक बाइजेन्टिया का साम्राज्य एशिया और योरप महाद्वीपों का चौमुहाना था। एशिया की सेनाओं और स्टेप के खानाबदोशों को वह योरप में घुसने नहीं देता था। लेकिन अब इस साम्राज्य में इतनी शक्ति नहीं रह गई थी कि वह इस महान कार्य को कर सके। एक ओर बल्गार, पतजिनक, क्यूमन और रूसी जाति के लोग इस के योरपीय द्वार को गिराने में लगे हुये थे तो दूसरी ओर तुर्क इसके एशियाई प्रान्तों को विजित करने का प्रयत्न कर रहे थे। १०७१ ई० में तुर्कों ने बाइजेन्टिया की सेना को बुरी तरह से पराजित करके कई नगरों पर अधिकार जमा लिया। सम्राट अलेक्सियस ने एक लज्जाजनक सन्धि द्वारा एशिया माइनर के कुछ भाग को बचा लिया लेकिन अन्य आक्रमणों का सामना करने के लिए उसके पास सैन्य व्यवस्था न थी। उसने सोचा कि यदि कुस्तुन्तुनिया का पतन हो जायगा तो समस्त पूर्वी योरप पर तुर्कों का आधिपत्य हो जायगा इसलिए उसने धार्मिक मतभेदों का विचार न करके पश्चिमी योरप से सहायता मांगी। उसने यह कहा कि तुर्कों से एशिया की भूमि पर ही लड़ना अधिक उचित होगा। उनके पश्चिमी योरप में घुस आने पर उनका सामना करने में कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। उसकी बातों पर ध्यान दिया गया। क्रूसेड के लिए ईसाइयों को दूसरा कारण मिल भी गया।

इटली के नगरों, पिसा, जेनोआ, वेनिस आदि महत्त्वाकांक्षा ने क्रूसेड का तीसरा कारण प्रस्तुत किया। जब नारमन लोगों ने सिसली पर अपना अधिकार जमा लिया और स्पेन में ईसाइयों ने मुसलमानी शासन का अन्त कर दिया तो लोगों को व्यापारिक सुविधायें बहुत बड़े परिमाण में प्राप्त हुईं। इन सुविधाओं के फलस्वरूप इटली के नगर बड़े शक्तिशाली और धनी हो गये। अब वे पूर्वीय भूमध्यसागर में मुसलमानों की प्रभुता समाप्त करने का विचार करने लगे जिससे वे अपना माल निकट पूर्व के देशों में पहुँचा सकें।

उपर्युक्त कारणों ने क्रूसेडों की पृष्ठभूमि पूरी तरह से तैयार कर दी थी। अरबन ने फ्रान्स में एक सभा की जिसमें उसने जेरूसेलम से तुर्कों को भगा देने का लोगों के हृदयों में उत्साह उत्पन्न करने के लिए इतना ओजपूर्ण व्याख्यान दिया कि लोग उत्तेजित होकर चिल्ला उठे 'डियू लो वोल्ट' ईश्वर की यही इच्छा है। जो लोग क्रूसेड में सम्मिलित होने के लिए तैयार थे उनको क्रास का चिह्न छाती पर पहनने की आज्ञा दी। एक प्रत्यक्षदर्शी का कथन है कि "तुरन्त कुछ सरदारों ने पोप के चरणों पर गिरकर धन को और अपनी सम्पत्ति को ईश्वर की सेवा में समर्पित कर दिया।" सरदारों की संख्या में अन्य लोगों ने भी इस प्रकार की प्रतिज्ञायें कीं और सन्यासियों ने अपने मठों को त्याग

दिया। अरबन ने विभिन्न नगरों का भ्रमण करके लोगों को क्रूसेड के लिए ललकारा और लोगों को कर मुक्ति, स्वर्ग के अनन्त आनन्द, और उनकी अनुपस्थिति में उनकी सम्पत्ति की रक्षा का वचन दिया। एक बार उसने समस्त योरप को एक सामान्य भावना से अनुप्राणित कर के एकता के सूत्र में बाँध दिया और सम्पूर्ण ईसाई जगत को पवित्र युद्ध के लिए तैयार कर दिया।

प्रथम क्रूसेड (१०९६-९९) में ईसाइयों को काफी सफलता प्राप्त हुई। इस क्रूसेड में किसी राजा ने भाग नहीं लिया किन्तु बड़े-बड़े सामन्तों ने इसमें सक्रिय सहयोग प्रदान किया। सेना में कृषकों और साधारण लोगों की संख्या अधिक थी। वे नियन्त्रित और सैन्य कार्यों में दक्ष भी न थे। फिर भी शत्रु की असावधानी और दुर्बलता ने उनको मार्ग में एन्टियोक नगर पर विजय दिलाई और वे लोग जेरूसेलम तक पहुँच गये। ईसाइयों का जेरूसेलम पर अधिकार हो गया और तुरन्त एक ईसाई राज्य की स्थापना की गई। तीन अन्य अधीनस्थ राज्य भी स्थापित हुये जो बहुधा परस्पर एक दूसरे से लड़ा करते थे और जेरूसेलम के राज्य से भी उनकी शत्रुता रहती थी इस आपसी द्वेष का लाभ उठाकर तुर्कों ने एडेसा नामक राज्य पर अधिकार जमा लिया। और ३०००० ईसाईयों का सार्वजनिक रूप से वध करा दिया। इस घटना के फलस्वरूप द्वितीय क्रूसेड छेड़ा गया जिसमें ईसाइयों को कुछ भी सफलता नहीं प्राप्त हुई। ईसाइयों की इस असफलता ने उनकी दुर्बलता को अच्छी प्रकार से प्रदर्शित कर दिया जिससे प्रोत्साहित और आशावान होकर सलादीन के नेतृत्व में मुसलमानों ने फिर जेरूसेलम पर आक्रमण कर दिया और इसे अपने अधिकार में कर लिया। अब तृतीय क्रूसेड की बारी आई। यह क्रूसेड काफी महत्वपूर्ण था क्योंकि इसमें सम्राट फ्रेडरिक बारबेरोसा, फिलीप द्वितीय और इंग्लैण्ड के राजा रिचर्ड प्रथम ने भाग लिया था सम्राट फ्रेडरिक पैलेस्टाइन जाने के पहिले डूब कर मर गये और फ्रान्स के फ्रेडरिक द्वितीय और रिचर्ड प्रथम आपस में लड़ पड़े। रिचर्ड अकेला आगे ही जेरूसेलम पहुँचा और यद्यपि रणभूमि में उसने अनुपम वीरता प्रदर्शित की तथापि उसे विजय नहीं मिल सकी। उसकी सेना में ज्वर फैल गया। अन्त में निराश हो कर ईसाई लोग लौट आये।

चौथे क्रूसेड द्वारा ईसाई सैनिकों की नियन्त्रण हीनता और मूर्खता भलीभाँति प्रकट हो गई। जब सैनिकों ने प्रस्थान तो जेरूसेलम के लिए किया परन्तु वे कुस्तुन्तुनिया से आगे न बढ़े। वे आपस में ही लड़ पड़े और कुस्तुन्तुनिया को जीत कर तीन दिनों तक लगातार वहाँ लूटपाट मचाई। कुस्तुन्तुनिया के गिर्जों को भी लूटा गया और अनेक बहुमूल्य कलाकृतियाँ नष्ट की गईं। एक लैटिन साम्राज्य की स्थापना फिर से हो गई किन्तु वह बिल्कुल अल्पकालीन प्रमाणित हुआ। कुछ ही दिनों बाद यूनानियों ने इस पर पुनः अपना अधिकार जमा लिया। लेकिन तब तक समय तक कुस्तुन्तुनिया के सम्राटों की शक्ति का काफी ह्रास हो चुका था। और अन्त में तुर्कों ने १४५३ ई० में इस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। इन चार क्रूसेडों के अतिरिक्त अन्य भी कई क्रूसेड छेड़े गये किन्तु वे इतने असफल रहे कि उनका उल्लेख करना भी अनावश्यक प्रतीत होता है।

बच्चों के क्रूसेड का वर्णन करना आवश्यक है क्योंकि यह बात बच्चों और उनके संरक्षकों दोनों के लिए असाधारण थी। दीन और अशिक्षित जनता के मनोभावों को उभाड़कर इसे उत्तेजित किया गया। बच्चों ने जो क्रूसेड किया उसे हम एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना ही कह सकते हैं क्योंकि इसके द्वारा हजारों अबोध बच्चों की जानें गईं और कुछ परिणाम भी न निकला। जब योद्धाओं और सैनिकों ने बार-बार आक्रमण करने पर भी केवल विफलता ही पाई तो कुछ लोगों ने सोचा कि मुसलमानों के विरुद्ध बच्चों को एक क्रूसेड करना चाहिए और बच्चों की एक सेना जेरूसेलम को भेजनी चाहिए। क्योंकि जो कार्य प्रौढ़ और युवक नहीं कर सके उसे बच्चे कदाचित कर सकें। बाइबिल की एक पंक्ति ही उनके इस विश्वास का आधार थी "एक छोटा बच्चा उनका नेतृत्व करेगा" फ्रान्स के एक गड़ेरिये बालक ने तीस सहस्र बालकों का एकत्र किया। निकोलस ने भी बीस सहस्र बालकों की एक टुकड़ी का नेतृत्व किया। इन दोनों प्रयत्नों का परिणाम नितान्त अमांगलिक हुआ। बहुत से बालक मार्ग में ही मर गये और जो बचे वे दास बना कर बेच दिये जाते थे।

क्रूसेड के परिणाम

क्रूसेड के परिणामों और प्रभावों का ठीक-ठीक निर्णय करने के पूर्व हमें यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये कि क्रूसेडों के द्वारा बहुत सी परिस्थितियां केवल बदल ही गईं उनको क्रूसेडों ने जन्म नहीं दिया। जिस उद्देश्य से अनुप्राणित होकर क्रूसेड किये गये थे वे पूरे नहीं हुये किन्तु अन्य विषयों में उनके परिणाम काफी महत्वपूर्ण हैं। सभ्यता की दृष्टि से क्रूसेडों का महत्व इस बात में है कि उन्होंने ही अन्धकार में पड़े हुये ईसाइयों को अरब की उन्नत सभ्यता का परिचय कराया। मुस्लिम सभ्यता क्रूसेडों के द्वारा योरप में प्रवेश पा गई। ईसाईयों ने मुस्लिम देशों में जाकर स्वयं इस बात को देखा कि अन्य धर्मावलम्बी उनसे अधिक सभ्य हैं। दूसरे देशों की यात्रा करने से ईसाइयों की कूपमण्डूकता काफी अंशों में नष्ट हो गई और उनका मानसिक धरातल कुछ अधिक विस्तृत हुआ। "पश्चिम में लोग अभी भी असभ्य जीवन व्यतीत कर रहे थे। घरों में सभी विलास-सामग्रियों का और उन वस्तुओं का भी अधिकतर अभाव था जिनको हम जीवन की आवश्यकतायें कह सकते हैं। यूरोपियन लोग, जिनका अनुभव वस्तुतः अत्यन्त सीमित था, जब क्रूसेड के लिये उन्होंने प्रस्थान किया तो वे एक अभिनव संसार में प्रविष्ट हुये। उसने नयी जलवायु, नयी प्राकृतिक उपज, विचित्र वेशभूषा, मकान और रीति-रिवाज को देखा। घरों में उसने सुविधा और विलास की नयी वस्तुयें देखीं जैसे दीवान, सोफा, ताखा, तोशक, शीशे की सुराहियां, भाण्ड और बहुमूल्य पत्थर इत्यादि। टैलिसमेन, एमुलेट, कैरेट और बहुत से पत्थरों के नाम अरबी भाषा के हैं। पश्चिम का भौगोलिक ज्ञान बहुत सीमित था, लेकिन क्रूसेडों ने यात्रा में अनुभव प्रदान किया और विशाल राज्यों का एक व्यावहारिक ज्ञान दिया। भूगोल के अध्ययन में लोगों की बहुत अधिक अभिरुचि हुई। भूमध्यसागर तथा एशिया और अफ्रीका के विशाल भागों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया गया। नये प्रदेशों ने जो जिज्ञासा उत्पन्न की उसने और बहुत से भागों में लोगों के व्यापारिक तथा धन सम्बन्धी हितों ने यूरोपियनों को अनुसंधान के लिये लम्बी यात्रायें करने के लिये प्रोत्साहित किया। मध्य युग के सबसे अधिक ख्यातनामा यात्रियों में मार्कोपोलो भी एक था। जिसने मध्य एशिया का भ्रमण किया और उस प्रदेश के सब देशों की यात्रा किया, और अन्त में वो प्रशान्त महासागर तक पहुँच गया। कुछ कम विख्यात यात्री थे प्लान कारपिनि और लानब्रुमी के एड्रयू। अपने यात्रा-विवरणों को जब उन्होंने प्रकाशित किया तो उनको लोगों ने पढ़ा और ज्ञान प्रदान करने के साथ-साथ उनके द्वारा यूरोप की विदेशों के प्रति अभिरुचि बढ़ी। इस दिशा में क्रूसेडों के प्रभावों का मूल्यांकन अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं हो सकता। उनके बिना पुनरुज्जीवन वैसा नहीं हो सकता था जैसा कि वह था।"[1]

जैसा कि बताया जा चुका है कि क्रूसेडों के कई कारणों में से व्यापारिक कारण भी प्रमुख था। क्रूसेड के इस उद्देश्य की पूर्ति हुई चाहे उसके वास्तविक उद्देश्य अप्राप्य ही रहे हों। यद्यपि क्रूसेडों के पहिले भी पूर्व से थोड़ा बहुत व्यापार हुआ करता था तथापि व्यापारियों में कोई निकट का सम्पर्क नहीं स्थापित हो पाया था। क्रूसेडों ने इस व्यापार को बहुत अधिक बढ़ा दिया। रेशम, चीनी, मसाले, गोलमिर्च, सोंठ, लौंग, दालचीनी, इत्यादि वस्तुयें जो ग्यारहवीं शताब्दी में दुर्लभ थीं वे ही अब प्रचुर परिमाण में सुलभ होने लगीं। पौधे, फसलें और वृक्ष जिनमें मक्का, चावल, तिल, नीबू, खुबानी और खजूर तथा अन्य बहुत से फल मुख्य थे, पूर्व से पश्चिम में ले आये गये। क्रूसेडों के द्वारा मुसलमानों के सम्पर्क में आने पर ही ईसाइयों ने बूटेदार वस्त्र, मखमल, मलमल, साटन, कम्बल, पाउडर, सुगन्धित पदार्थ, और रत्नों इत्यादि का प्रयोग करना सीखा। इन वस्तुओं का मध्यकालीन योरप के सामन्त प्रचुर परिमाण में प्रयोग करने लगे। पहले चांदी और तांबे के दर्पण प्रयुक्त किये जाते थे लेकिन अब उनके स्थान पर शीशे के दर्पणों का प्रयोग होने लगा। शीशे का निर्माण योरप वालों ने मुसलमानों से ही सीखा। इस व्यापार ने नगरों के विकास और मध्य वर्ग की उत्पत्ति को जन्म दिया। बाइजेन्टियम और इस्लामी प्रदेशों के सम्पर्क से पश्चिमी योरप के ईसाई लोगों ने बैंक-प्रथा, ऋण-पद्धति और धन के विषय में नये विचार ग्रहण किये। जिस समय क्रूसेड आरम्भ किये गये थे उस समय योरप में कृषि पर अवलम्बित सामन्त-प्रथा पूर्ण रूप से प्रचलित थी किन्तु क्रूसेडों के समाप्त होने पर वहां उद्योगों का उदय हुआ। एक औद्योगिक क्रान्ति और व्यापार के विस्तार ने पुनरुज्जीवन का बीजवपन किया जिसका पूर्ण

प्रस्फुटन पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से होना आरम्भ हुआ।

क्रूसेडों के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रभाव भी कम महत्वपूर्ण न थे। सामाजिक दृष्टि से उन्होंने सामन्तवाद का अन्त करने में योग दिया क्योंकि बहुत सामन्तों ने क्रूसेड पर जाने को धन प्राप्त करने के लिये अपनी भूमि और अधिकार बेच दिया था। क्रूसेडों के फलस्वरूप निम्नवर्ग के बहुत थोड़े ही लोग सामन्तों की संरक्षता में रह गये और श्रमिकों का कार्य करने लगे। व्यापार और उद्योग धन्धों की प्रधानता ने मजदूरों की मांग बहुत अधिक बढ़ा दी। इस प्रकार सामन्तों की सेवा रूप में जो लोग कृषि कार्य करते थे और रात दिन परिश्रम करते रहने पर भी जो परभाग्योपजीवी ही थे, उनको शोषक सामन्तों के चंगुल से छुटकारा मिला। धार्मिक दृष्टि से क्रूसेडों के प्रभाव स्वरूप ईसाई धर्म के प्रति लोगों के विश्वास को एक गहरा धक्का लगा और चर्च का प्रभाव कम हो गया। कुछ लोगों ने यहां तक कहा कि क्रूसेडों की असफलता इस बात को सिद्ध करती है कि पोप पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं है। लेकिन सामन्तों ने अपनी सम्पत्तियों मठों और चर्चों के हाथ ही बेची थीं इसलिये चर्च के पास रुपया बहुत अधिक हो गया।

नये सामन्तवादी राज्य उत्पन्न हो गये और राजाओं तथा नगरों की शक्ति काफी बढ़ गई। क्रूसेडों ने योरपनिवासियों के बौद्धिक क्षितिज को अधिक विस्तृत कर दिया। कुतुबनुमा की क्रिया, बारूद और मुद्रण यन्त्र का योरप में प्रचार क्रूसेडों के फलस्वरूप ही हुआ। ज्ञान के इच्छुक लोगों ने अरबों के विज्ञान, दर्शन तथा कविता का अध्ययन करना शुरू किया किन्तु इन सब विषयों के अध्ययन के लिये योरप क्रूसेडों का नहीं अपितु स्पेनवासियों का कृतज्ञ है। फिर भी क्रूसेडों ने योरप में नव-युग का प्रभात लाने के लिये काफी प्रयत्न किया और भयंकर युद्धों से भी सभ्यता के प्रसार में काफी सहायता मिली।

[1] Europe in the Middle Age, By (Thatcher and Schevill)

इक्कीसवाँ अध्याय

रोम के पतनोपरान्त पश्चिमी योरप

रोम के विशाल साम्राज्य का पतन इतिहास की सब से अधिक महत्वपूर्ण घटनाओं में से है। रोम के पतन से ही योरप में प्राचीन युग का अन्त और मध्य-युग का प्रारम्भ होता है। पश्चिमी योरप में रोमन शासन-व्यवस्था का अन्त हो जाने के कारण चारों ओर अराजकता सी फैल गई। रोम के विजेताओं-बर्बरों ने अपने अपने राज्य स्थापित कर लिए किन्तु पश्चिमी योरप में उस सार्वभौम एकता की स्मृति ही अवशिष्ट रह गई जो रोमन साम्राज्य ने प्रदान की थी। यद्यपि पूर्वीय योरप में रोमन साम्राज्य का अस्तित्व था तथापि वस्तुस्थिति तो यह थी कि सम्पूर्ण योरप विशृंखलित, शिथिल और प्राणहीन हो गया था। योरप की दुर्बलता के ही कारण मुसलमान लोगों ने भूमध्यसागरीय प्रदेश में अपने को सब से शक्तिशाली जाति प्रमाणित किया। पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार क्रूसेडों ने योरप की दुर्बलता का प्रमाण प्रस्तुत किया। किन्तु इसके पहिले ही सन् ७३२ ईसवी में टुअर्स और सन् ७१७ में कुस्तुन्तुनिया नामक स्थानों में अरबों को यूरोपियन लोगों ने लोहे के चने चबवा दिये थे। इन प्रबल प्रतिरोधों से यह स्पष्ट विदित होता है कि योरप में अभी कुछ शक्ति बची थी। इस शक्ति को बचाये रखने वाले वे लोग थे जो 'बर्बर' कहे जाते हैं और कालान्तर में जिन्होंने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। बर्बरों ने जिन राज्यों की स्थापना की थी उनमें फ्रैन्कों का राज्य सब से अधिक महत्वपूर्ण था। रोमन साम्राज्य के अनुकरण पर फ्रैन्कों ने एक विशाल साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया था। और मध्य युग के इतिहास में इस साम्राज्य को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, इसलिए हमें इसके विषय में कुछ विस्तार के साथ जान लेना चाहिए।

क्लोविस के नेतृत्व में फ्रैंक लोगों ने राइन नदी को पार कर के योरप में प्रवेश किया और ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया। फ्रैन्कों का ईसाई धर्म स्वीकार कर लेना योरप और ईसाई धर्म के इतिहास में एक महत्त्वकारी घटना है।

फ्रैंक विशाल राज्य स्थापना।

क्लोविस पांचवीं शताब्दी के अन्त में अकेला महत्त्वपूर्ण जर्मन शासक था। उसने गाल पर आक्रमण कर के उसके अधिकांश प्रदेश को अपने अधिकार में कर लिया और उसे शासन-व्यवस्था को संगठित करने का गौरव प्राप्त है। यद्यपि उसके उत्तराधिकारियों में से कोई भी योग्य और शक्तिशाली न था तथापि शासन की व्यवस्था इतनी मजबूत थी कि वह विनष्ट न हो सकी। राजभवन के 'मेयर' लोगों ने इसी शासन-व्यवस्था के आधार पर नये राजवंश की स्थापना की। मध्य काल में फ्रैन्कों का राज्य ही सब से विशाल था। इस राज्य में लगभग सम्पूर्ण मध्य और पश्चिमी योरप सम्मिलित था और आधुनिक जर्मनी, आस्ट्रिया तथा फ्रान्स के प्रदेश इसके भाग थे। फ्रैन्कों ने रोमन साम्राज्य से एकता और सुगठित शासन की जो परम्परा ग्रहण की उसे मध्य योरप को प्रदान किया। उनके इस राज्य के भागों को उस समय फ्रान्स और जर्मनी के नाम से नहीं जाना जाता था वरन् पश्चिमी फ्रैन्क और पूर्वी फ्रैन्क साम्राज्य कहा जाता था।

फ्रैंकों के नवीन राजवंश का एक प्रसिद्ध शासक था चार्ल्स मार्टेल। ऊपर सन् ७३२ ई० की टुअर्स घटना का जो उल्लेख किया है, उसका विजेता चार्ल्स मार्टेल ही था। उसी ने मुसलमानों को पराजित करके उनकी लूट पाट से योरप की रक्षा की। सन् ७४१ ई० में चार्ल्स मार्टेल की मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र पेपिन का राज्याभिषेक हुआ और स्वयं पोप ने ही उसे फ्रैन्कों का राजा स्वीकार कर लिया। उसने लोम्बार्ड लोगों से चर्च को बचाया और उसमें धर्माधिकारी वर्ग को रेवेना के राज्य को दान में दे दिया। इस भू-भाग को प्राप्त कर लेने पर पोप सांसारिक शासक भी हो

गया, अभी तक वह केवल आध्यात्मिक अध्यक्ष ही था। उसका पुत्र-चार्ल्स महान, जिसे बहुधा शार्लमेन कहा जाता है, मध्यकालीन योरप का सबसे विख्यात और महत्त्वपूर्ण शासक था।

शार्लमेन प्रभावशाली और आकर्षक व्यक्तित्व का सम्राट था। उसका कद लम्बा और शरीर शक्तिशाली था। उसकी बुद्धि प्रखर थी। योरप के इतिहास में उसकी गणना कुछ चुने हुये सम्राटों में की जाती है। दूसरे युगों पर और

शार्लमेन (७६८-८१४ ई०)

अपने ही समकालीन लोगों पर प्रभाव की दृष्टि से शार्लमेन योरप के ही नहीं संसार के सम्राटों में अपना गौरवपूर्ण स्थान रखता है। प्रोफेसर एमर्टन का कथन है "वह एक युग के अन्त और दूसरे युग के प्रादुर्भाव के बीच में उपस्थित होता है और उसने जो कुछ भी किया है वह समस्त भावी यूरोप के इतिहास की आधारशिला थी।" एक अन्य लेखक का भी विचार है कि "शार्लमेन से ही आधुनिक विश्व का निर्माण होता है। उसने अराजकता, बर्बरता और अव्यवस्था का अन्त करके पश्चिमी योरप में सुव्यवस्था, शान्ति और सभ्यता की स्थापना की। हम उसकी विजयों और उसकी राजनीतिक सफलताओं के विषय में आगे पढ़ेंगे पहले हमें उसके चरित्र के विषय में कुछ बातें जान लेनी चाहिये।

यद्यपि शार्लमेन के चरित्र में विलासिता और कामुकता के दोष थे तथापि वह अपनी प्रजा में लोकप्रिय ही था। उसके अन्दर एक कुशल राजनीतिज्ञ और शासक के गुण विद्यमान थे। उसकी स्मरण शक्ति तीव्र, इच्छा शक्ति दृढ़ और विचारशक्ति सूक्ष्म तथा दूरदर्शिणी थी। उसका दृष्टिकोण संकुचित नहीं था और व्यावहारिक प्रतिभा का प्रचुर मात्रा में होना ही उसके चरित्र का विशिष्ट गुण और उसकी सफलता का रहस्य था। वह स्वयं अल्कुइन की भाँति बहुश्रुत नहीं था और न वह विद्वान ही था। वह विद्वानों का सम्मान करता था। उसकी प्रशंसा और प्रसिद्धि का सबसे महान कारण यही है कि उसने विद्वानों को प्रोत्साहन दिया और विद्या कि उन्नति के लिये यथेष्ठ प्रयत्न किया। एक इतिहास के विचार में तो शार्लमेन को मानवता के हितकर्ताओं और शुभचिन्तकों में स्थान मिलना चाहिये क्योंकि शासन की विविध चिन्ताओं से ग्रसित रहने पर भी उसने ज्ञान के संरक्षण और विकास की आवश्यकता का अनुभव किया। यह उसके ही प्रोत्साहन का फल था कि प्राचीन रोम और यूनान का ज्ञान अपने मौलिक रूप में विनष्ट नहीं हो पाया। प्राचीन काल की कतिपय सर्वोत्तम पुस्तकें नवीं शताब्दी में लिपिबद्ध की हुई मिली हैं और शार्लमेन तथा उसके विद्वान सभासदों के प्रोत्साहन द्वारा ही यूनानी तथा लैटिन भाषाओं के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ तैयार की गईं।

शार्लमेन की विद्यानुरागिता बड़ी प्रसिद्ध है। उसने अपने समय में नवयुवकों को अपना अधिकांश समय विद्याध्ययन करने में व्यय करने के लिये कहा और उन सुन्दर युवकों की तीव्र भर्त्सना की जो साहित्य के पठन की ओर से उदासीन रहकर विलासिता या अकर्मण्यता का जीवन व्यतीत करते थे अथवा अपना बहुमूल्य समय व्यर्थ की क्रीड़ाओं या 'मूर्खतापूर्ण'' शारीरिक व्यायामों और कलाबाजियों में व्यतीत करते थे। उसने इन युवकों से स्पष्ट शब्दों में कहा, "यह निश्चय जानो कि जब तक तुम लोग अपने अध्ययन के प्रति सावधान नहीं रहते और अपनी असावधानी के कारण तुम जो कुछ पिछड़ गये हो उसे परिश्रम द्वारा फिर से प्राप्त नहीं कर लेते। तब तक तुम राजा चार्ल्स का अनुग्रह नहीं प्राप्त कर सकते।" शार्लमेन विदेशी विद्वानों को भी अपनी राजसभा में स्थान देता और पुस्तकों को संग्रह करने का उसे व्यसन सा था। अपने प्रयत्नों द्वारा उसने मध्यकालीन योरप में प्राचीन विद्याओं को पुनर्जीवन सा प्रदान किया और 'केरोलिन्जियन पुनरुज्जीवन' को जन्म दिया। यद्यपि डा० डुरेन्ट की सम्मति में चार्लमेन का पुनर्जीवन कुस्तुन्तुनिया, बगदाद और कारडोवा की परिपक्व संस्कृतियों की तुलना में "बच्चों का जागरण था" तथापि सभ्यता के संरक्षण की दृष्टि से इसका महत्त्व कम नहीं है। जिस समय योरप में चारों ओर अविद्या का अन्धकार फैला हुआ था उस समय भी विद्या का प्रदीप शार्लमेन की राजसभा में प्रज्वलित हो रहा था, यद्यपि इसका आलोक क्षीण और हतप्रभ था।

शार्लमेन अपनी धार्मिकता और चर्च के प्रति अनुराग के लिये भी इतिहास में प्रसिद्ध है, लेकिन इस विषय में

सम्राट अशोक अथवा अकबर महान से उसकी तुलना करना व्यर्थ है। उसने चर्च को अपने राजनीतिक विचारों का वाहन और अपने शासन सम्बन्धी कार्यों का साधन बना या। परन्तु फिर भी उसके धर्मानुराग को हम केवल राजनीतिक चाल नहीं कह सकते। उसने दुश्चरित्र धर्माधिकारियों के आचरण को सुधारने का भरसक प्रयत्न किया और विदेशों में भी उत्पीड़ित ईसाईयों की सहायता के लिए रुपये भेजे। उसने अपने समकालीन मुसलिम शासकों के पास पत्र लिख कर यह अनुरोध किया कि वे अपनी ईसाई प्रजाओं के साथ सद्व्यवहार करें। उसने धर्म के मामलों में हस्तक्षेप करना आवश्यक समझा और यद्यपि वह प्रायः धर्माधिकारियों की सेवा में उपहार भेजा करता था तथापि उनके पास वह धार्मिक संस्कारों के सम्बन्ध में अपने निर्देश भी भेजा करता था। मठों पर उसने दृष्टि रखने का आदेश दिया जिससे उनमें व्यभिचार, लोभ अथवा मादक द्रव्यों का सेवन आदि दोष उत्पन्न न हो सकें। उसने मूर्ति-पूजा की निन्दा भी की और इस बात का कोई विचार नहीं किया कि पोप मूर्तिपूजा का समर्थक था। शार्लमेन ज्ञान के प्रति उतना ही जिज्ञासु तथा धर्म के प्रति श्रद्धालु था जितना वह साम्राज्य निर्माण के लिए सजग। वह विजय-प्राप्त के लिए उत्सुक और शासन करने में कुशल था। उसकी ज्ञान-पिपासा तथा धार्मिकता का अध्ययन कर चुकने के बाद हमें स्वाभाविक रूप से उसके साम्राज्य निर्माण तथा उसकी शासन-कुशलता का अध्ययन करना चाहिए।

शार्लमेन के साम्राज्य निर्माण के लिए प्रयत्न

शार्लमेन एक वीर सैनिक तथा कुशल विजेता था। उसने अपने राज्य में आन्तरिक विद्रोहों का बड़ी ही दृढ़ता पूर्वक दमन किया और अपने पड़ोसी राजाओं को युद्ध में पराजित कर के उनके राज्यों को अपने साम्राज्य में मिला लिया। उसने सारसन लोगों को सुदूर दक्षिणी स्पेन में खदेड़ दिया और काफी भयङ्कर तथा लम्बे संघर्ष के बाद उसने सैक्सनों का दमन किया। सैक्सनों का दमन करना कोई साधारण बात न थी क्योंकि वे लोग काफी शक्तिशाली थे। उनको पराजित करके शार्लमेन ने उन्हें ईसाई बना लिया। इटली में उसने लोम्बार्डों को पराजित किया और उनका राज्य छीन लिया। उसने वेनिस और ट्रीस्टे के मध्यवर्ती प्रदेश, एड्रियाटिक के उत्तरी तट को भी अपने अधिकार में कर लिया और कार्सिका के द्वीप को भी उसने जीता। लगभग सम्पूर्ण पश्चिमी योरप पर अपना एकाधिपत्य प्रभुत्व स्थापित करके उसने शासन-व्यवस्था संगठित करने की ओर ध्यान दिया।

शार्लमेन का राजनीतिक संगठन

अपने विशाल साम्राज्य को एकता के सूत्र में आबद्ध करने के लिए शार्लमेन ने कई महत्वपूर्ण सुधार किये। उसने संगठन के लिए शक्ति के केन्द्रीकरण के साथ स्थानीय स्वतन्त्रता की आवश्यकता और उपयोगिता भी समझी। सम्पूर्ण राज्य को उसने काउन्टियों में विभाजित कर दिया। काउन्टी का अध्यक्ष, जिसे काउन्ट या अर्ल कहते थे, अपने जिले में न्याय और सुव्यवस्था के लिए उत्तरदायी था। आवश्यकता पड़ने पर राजा के लिए अपने जिले में सैन्य-संगठन करना भी उसी का कर्तव्य था। स्थानीय भूमिपतियों को ये पद प्रदान किये जाते थे और वे आजीवन अपने पदों पर बने रहते थे। राजा उनको पदच्युत भी कर सकता था। ये अफसर सदैव इस बात का प्रयत्न करते थे कि उनके पद उनके उत्तराधिकारियों को मिलें। वे अपने पदों को प्रायः अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझते थे। वे पर्याप्त शक्ति सम्पन्न बनकर और नियन्त्रणहीन होने पर वे अपने को स्वतन्त्र कर सकते थे। इसलिए इस आशंका का निराकरण करने के लिए शार्लमेन ने कुछ चुने हुए अफसरों को नियुक्त किया जो मिसी डोमिनिसी कहे जाते थे। ये अफसर विभिन्न काउन्टों पर नियन्त्रण रखते थे और उनके कार्यों का निरीक्षण करते थे। ये भिन्न-भिन्न काउन्टियों में घूमा करते थे और समय-समय पर अपने निरीक्षणों को राजा के पास लिखित रूप में भेजा करते थे। मिसी डोमिनिसी नामक अफसर मुकदमों का फैसला कर सकते थे और असन्तुष्ट लोगों की अभियोगाओं को सुन कर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करते थे। सुदूर प्रान्तों का शासन मारक्विस करते थे और उनको काउन्टियों की अपेक्षा अधिक अधिकार थे। अपनी शासन-व्यवस्था के गुणदोषों को जानने के लिए शार्लमेन स्वयं अपने राज्य का दौरा किया करता था। अन्ततः शासन व्यवस्था में शार्लमेन ने रोम और जर्मन शासन प्रणालियों का संगठन किया।

शार्लमेन ने कुछ कानून जारी किये थे जिनके कुछ भाग आज भी हमें मिलते हैं। मध्य-युग में शासन-पद्धति क्या थी, यह जानने के लिये हमें इन कानूनों का संक्षिप्त परिचय जान लेना चाहिए। शार्लमेन के इन कानूनों में कुछ तो उसके शासन सम्बन्धी आदेश थे, कुछ नीति विषयक परामर्श थे और कुछ उसके द्वारा अपने अफसरों से पूछे गये प्रश्न थे इत्यादि। शार्लमेन के कानून एक लिखित न्याय विधान के रूप में न थे। इनमें 'बर्बर' जातियों के उन नियमों का भी समावेश था जिनको नयी आवश्यकताओं और नये अवसरों के अनुकूल कुछ परिवर्तित कर दिया गया था। ये कानून उदारता और धार्मिक सहिष्णुता का संकेत नहीं करते। पुनः मूर्ति पूजक हो जाने पर ये कानून प्राणदण्ड की व्यवस्था करते थे। इस दोष के होते हुए भी इनमें यह एक विशेषता थी कि इनके द्वारा नैतिक नियमों को पुनः प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया गया। शार्लमेन ने लोगों के आचरण को सुधारने का प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त उसने कृषि, उद्योग और धर्म आदि विषयों के सम्बन्ध में कानून बनाये। उसने स्वतंत्र कृषकों का एक समाज निर्मित करना चाहा किन्तु मध्य युग की परिस्थितियों ने उसके प्रयत्नों को विफल कर दिया। अपने राज्य की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए उसने कानूनों द्वारा यह घोषित कर दिया कि वन, अनुर्वर भूमि, राजमार्ग, बन्दरगाह और धातुओं तथा अन्य वस्तुओं की खानें राजा की सम्पत्ति हैं। उसने व्यापार को प्रोत्साहन दिया। मेलों की रक्षा की जाती थी और इनकी उन्नति के लिए राज्य की ओर से प्रयत्न किये जाते थे। माप, तौल और वस्तुओं के मूल्य पर राजकीय नियन्त्रण रहता था। उसने व्यापार की उन्नति के लिए ही यहूदियों को अपने राज्य में रहने की आज्ञा दे दी। लियन्स, आग्जबर्ग और वोर्म्स में बहुत से यहूदी सम्पन्न हो गये।

शार्लमेन ने अपनी दीन-हीन प्रजा को सुख सुविधायें प्रदान करने के लिए कुछ नियम बनाये और अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए उसने सरदारों और धनिकों पर कर लगाये। अपने युग की निरक्षरता को नष्ट करने के लिए उसने भरसक प्रयत्न किया और पुस्तकों के संग्रह की ओर विशेष अभिरुचि दिखाई। शार्लमेन की शासन प्रणाली उसके समय तक तो सुचारु रूप से चलती रही किन्तु उसकी मृत्यु के बाद यह अधिक दिनों तक टिक न सकी। शार्लमेन के पुत्र की मृत्यु के बाद उसके साम्राज्य का विभाजन होने लगा। वरदून की सन्धि के द्वारा सारे राज्य को तीन भागों में विभक्त कर दिया गया। धीरे धीरे फ्रैंकों का साम्राज्य नष्ट होने लगा और ८८७ ईसवी में यहाँ तो राज्य में एकता के कोई चिह्न ही न अवशिष्ट रहे। इस साम्राज्य के विनष्ट होने पर योरप में सामन्तवाद का उदय हुआ और कुछ नये राष्ट्रीय राज्य उत्पन्न हुये। इनके विषय में हम अगले अध्याय में पढ़ेंगे पहले हमें मध्य युग के एक विशिष्ट राजनीतिक संगठन, पवित्र रोमन साम्राज्य, के विषय में कुछ ज्ञान लेना चाहिए।

हम देख चुके हैं कि शार्लमेन चर्च के प्रति कितना आस्थावान, उदार और दानशील था। उसकी धर्मशीलता और उदारता के फलस्वरूप चर्च और राज्य में मित्रता का एक सम्बन्ध स्थापित हो गया। इसी सम्बन्ध ने पवित्र रोमन साम्राज्य की कल्पना को जन्म दिया। इस साम्राज्य में साम्राज्यवादी रोम और पोप के सम्मान, प्रतिष्ठा और वैभव का समन्वय था। एक इतिहासकार ने कहा है कि यह न तो पवित्र था, न रोमन था और न साम्राज्य था किन्तु कम से कम अपने नाम के रूप में यह एक हजार वर्षों तक टिका रहा। यह एक ऐसी कल्पना थी जिसने काफी दिनों तक योरप के लोगों को प्रभावित और अनुप्राणित किया। शार्लमेन

पवित्र रोमन साम्राज्य

के समय में चर्च और राज्य एक दूसरे के ऊपर परस्पर आधारित थे। शार्लमेन ने सोचा कि इस पवित्र रोमन साम्राज्य की कल्पना उसके राज्य को संयुक्त करेगी और रोम के प्राचीन गौरव और वैभव को पुनर्जीवित करेगी। इस समय चर्च का सर्वोच्च अधिकारी पोप भी अपनी स्थिति और अपने पद को सुरक्षित नहीं समझ रहा था इसलिए उसने सम्राट से गठबन्धन करके अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया। चर्च लोम्बार्डों की अनुकम्पा पर आधारित थी और पोप लियो ने अपने अनेक शत्रु बना लिये। ऐसे परिस्थितियों में दोनों ओर से यह पारस्परिक गठबन्धन होने की सामग्री प्रस्तुत थी। सन् ८०० ईसवी में क्रिसमस के दिन शार्लमेन का अभिषेक किया गया। इसके फलस्वरूप वह इस लोक का अध्यक्ष बना दिया गया। प्रारम्भ से ही सम्राट और पोप में इस बात के लिए मतभेद था कि पोप अधिक

महान है अथवा सम्राट। शार्लमेन ने अपने को चर्च का नौकर ही स्वीकार किया परन्तु उसका विश्वास था कि शक्ति-सम्पन्न होने पर ही वह चर्च की सेवा कर सकता है। इस प्रकार वह अपनी शक्ति को कभी किसी के हाथों समर्पित करने के लिए तैयार नहीं था। उधर दूसरी ओर पोप भी अपनी उन्नतावस्था से जरा भी झुकने के लिए प्रस्तुत न था। इन दोनों विरोधिनी शक्तियों के संघर्ष ने बाद में बड़ी कटुता उत्पन्न कर दी।

पवित्र रोमन साम्राज्य में साम्राज्य की शक्ति बहुत ही कम थी। शार्लमेन जैसे प्रतापी और सुयोग्य सम्राट ही अपनी शक्ति और वैभव का सिक्का लोगों के ऊपर जमा सकते थे। उसके बाद जितने भी सम्राट हुये वे सब प्रायः नाम के ही सम्राट थे। वास्तविक सत्ता राजकुमारों और सामन्तों के हाथों में केन्द्रित थी जो स्वेच्छानुसार परस्पर सन्धि अथवा विग्रह कर सकते थे और जिन्होंने सम्राट की ज्योति को धूमिल कर दिया था। मध्य काल के सम्राटों की अवस्था बड़ी ही दयनीय थी। उनका स्थान तो सीजर और आगस्टस की कोटि में था किन्तु उनकी शक्ति बिल्कुल क्षीण हो गई थी। मध्य युग का सम्राट अपने ही सामन्तों तथा सभासदों के उपहास का पात्र हो गया था। और कभी-कभी तो वह अपने व्यक्तिगत तथा पारिवारिक जीवन की सामग्रियों को खरीदने के लिए पर्याप्त धन भी नहीं प्राप्त कर सकता था। उसकी शक्ति को कम करने वाली व्यवस्था थी सामन्त-प्रथा। वरन हमें यह कहना चाहिए कि सम्राट की दुर्बलता ने ही सामन्त-वाद को बढ़ाया और सशक्त किया। हम अब सामन्तवाद के ही रूपों पर विचार करेंगे।

— १०१ —

बाईसवाँ अध्याय

मध्यकाल में सामन्तवादी योरप

सामन्तवाद की प्रणाली कोई नयी वस्तु न थी। यद्यपि योरप में इसका प्रचुरता के साथ प्रचलन मध्य काल में ही हुआ। प्राचीन चीन में हम सामन्तवादी युग देख चुके हैं और जापान की सामन्त प्रणाली का भी परिचय प्राप्त कर चुके हैं। प्राचीन मिस्र में भी जब लगभग २५०० ईसवी पूर्व पिरेमिड युग की समाप्ति होने पर सम्राटों की शक्ति क्षीण हो गई तो सामन्त-प्रणाली का उदय हुआ। होमर के समय में नगर राज्यों में भी एक प्रकार के सामन्तवाद का ही प्रचलन था। सामन्तवाद के उदय के पीछे हम सर्वत्र सम्राट अथवा शासक की सार्वभौम सत्ता का ह्रास होते हुए और इसके परिणामस्वरूप अव्यवस्था, गड़बड़ी तथा अशान्ति फैलते हुये देखते हैं। इन्हीं परिस्थितियों ने योरप में भी सामन्त-प्रणाली को जन्म दिया। रोमन साम्राज्य ने पश्चिमी योरप के अधिकांश भाग को अपने अधिकार में करके बर्बर आक्रमणों से इसकी रक्षा की थी और बहुत कुछ अंशों में शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित की थी। परन्तु रोमन साम्राज्य के पतनोपरान्त योरप में सर्वत्र अराजकता, अरक्षा, अशान्ति और अव्यवस्था फैल गई थी। इसे हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। पिछले अध्यायों में हम यह भी देख चुके हैं कि 'बर्बर' जातियों के आक्रमणों ने उपद्रव और अशान्ति का द्वार पूर्ण रूप से उन्मुक्त कर दिया था। चारों ओर लूट-खसोट का बाजार गर्म था। रोमन साम्राज्य के [illegible] अपने-अपने ग्रामों में चले गये जहाँ उनके दुर्ग होते थे। और जहाँ पर वे भूमि के स्वामी थे। उनके किलों के निकट किसान और श्रमिक भी रहने लगे जिससे अपने युग की अव्यवस्था और अराजकता से वे त्राण पा सकें। कोई भी अकेला व्यक्ति सुरक्षित न था। इसलिए सब लोग मिल कर ऐसे व्यक्ति की खोज में थे जो उनसे अधिक शक्ति-सम्पन्न हो और उनकी सम्पत्ति और उनके प्राण की रक्षा कर सके। उनकी दृष्टि में सामन्त ही ऐसा व्यक्ति दिखाई पड़ा क्योंकि उसके पास किले और शस्त्रास्त्र थे। इस प्रकार अनेक छोटे छोटे सामन्त आप से आप बनते गये। फिर ये सामन्त भी अपने को अरक्षित ही पाते थे इसलिए इन्होंने अपने को किसी बड़े सामन्त की सेवा में समर्पित कर दिया। छोटे छोटे अनेक सामन्तों के मिलने से बड़े सामन्त की शक्ति काफी बढ़ जाती थी। इस तरह छोटे बड़े सामन्तों की कई कोटियाँ बन गईं। और एक नयी सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था उत्पन्न हो गई। कालान्तर में इसे सामन्तवाद के नाम से कहा जाने लगा।

ऊपर हमने जिस सामन्तवाद का उल्लेख किया है वह रोमन साम्राज्य के पतनोपरान्त उत्पन्न हुआ था। राजा कोई नाम भी न था और सामन्त अपने जागीर राज्य में आंशिक अथवा पूर्ण तरीके से स्वतन्त्र होने की चेष्टा करता था। यह प्रणाली तीसरी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक जारी रही। बाद में शार्लमेन के शासन के अधीन एकतन्त्र शासन का विकास हुआ और सामन्तों की शक्ति कम हो गई। किन्तु उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों की शक्ति कम हो गई और वे ही परिस्थितियाँ पुनः उत्पन्न हो गईं जो रोमन साम्राज्य का पतन हो जाने पर पश्चिमी योरप में उत्पन्न हुई थीं। कैरोलिंजियन शासक अपने सेनापतियों और अनुचरों को भूमि प्रदान किया करते थे। बाद में इन्हीं भूमियों पर अधिकार कर लेने वाले लोगों ने अपने इस अधिकार को उत्तराधिकार की प्रथा का रूप दे दिया और उनकी सन्तानें इन्हें अपनी पैतृक सम्पत्ति समझने लगीं। परवर्ती कैरोलिंजियन शासकों की दुर्बलता के फलस्वरूप ये [illegible] भी हो गये। जिस प्रकार जर्मन आक्रमणों ने रोमन साम्राज्य के बाद अव्यवस्था पैदा कर दी थी उसी प्रकार सारसन और मग्यार आदि जातियों के आक्रमणों ने [illegible], [illegible] और

दसवीं शताब्दियों में भी वही स्थिति उत्पन्न कर दी। केन्द्रीय शक्ति का ह्रास हो गया और स्थानीय सामन्तों ने अपनी रक्षा के प्रयत्न किये। उनके पास एक सेना और सभा होती थी। अपनी शक्ति उन्होंने बढ़ा ली बल्कि इस कार्य में परिस्थितियों ने उनका साथ दिया। इस समय आक्रमणों की आशङ्का प्रति समय बनी रहती थी और लोग भयत्रस्त रहा करते थे इसलिए वे अपने घर सामन्त के दुर्ग के सन्निकट ही बनाने लगे। लोगों ने इस शक्तिशाली मनुष्य यानी सामन्त को उसके द्वारा सुरक्षा प्राप्त करने के बदले में अपनी भूमि समर्पित कर दी और उसका दासत्व स्वीकार कर लिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामन्तवाद का जन्म और विकास स्वाभाविक रूप से हुआ। इसका निर्माण नहीं किया गया था। यह एक प्रकार का पारस्परिक समझौता था जो युग की परिस्थितियों के लिए अनुकूल था।

ऊपर सामन्तवाद की उत्पत्ति को समझाने की चेष्टा की गई है परन्तु इसकी परिभाषा देना अतीव कठिन है क्योंकि इसका स्वरूप विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न था। इसकी उत्पत्ति तो इटली और जर्मनी में हुई थी किन्तु इसका पूर्ण विकास फ्रान्स में हुआ। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि सामन्तवाद में कुछ तत्त्व जर्मन थे और कुछ रोमन। लेकिन हम सामन्तवाद के संगठन पर जो विचार करेंगे वह ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों के इङ्गलैण्ड तथा फ्रान्स के सामन्तवाद पर आधारित होगा।

सामन्त-प्रणाली का संगठन

सामन्त-प्रणाली के संगठन में किन तत्त्वों की प्रधानता थी इस विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद है। लेकिन भूमि का होना सब से अधिक आवश्यक था। भूमि पर ही सामन्त और उसके आसामी के सम्बन्ध आधारित थे। इस समय सामाजिक और राजनीतिक रचना की आधारशिला भूमि-व्यवस्था ही थी। सुरक्षा चाहने के लिए दास (आसामी) अपनी सम्पूर्ण भूमि अपने सामन्त को समर्पित कर देता था। छोटे-छोटे सामन्तों के लिए प्रायः यह असम्भव सा था कि वे अपनी रक्षा स्वयं कर सकें, अतएव वे अपने अधिकार की भूमि अपने से अधिक शक्तिशाली सामन्त को दे डालते थे। भूमि को खेती के कार्य में प्रयुक्त करने का अधिकार बाद में वह अपने सामन्त से प्राप्त कर लेता था। सामन्त-प्रथा में भूमि-तत्त्व जर्मनों की देन न थी बल्कि रोमनों की देन थी क्योंकि जर्मनों के समाज में भूमि को एक सामान्य सम्पत्ति के रूप में देखा जाता था। हमें अब सामाजिक रचना के विषय में जान लेना चाहिए। सामन्तवाद की रचना इन लोगों के द्वारा होती थी :—(१) दास, (२) कृषक दास, (serf) और (३) सामन्त। प्राचीन मानव-समाज में दास किसी न किसी रूप में और ही रहे हैं। कहीं पर उनकी अवस्था शोचनीय थी, कहीं सन्तोषजनक। मध्यकाल में भी दासों की संख्या बहुत अधिक थी। स्वयं चर्च के पास भी बहुत से दास होते थे और कभी-कभी चर्च की सम्पत्ति का अनुमान रुपये-पैसों से नहीं वरन् दासों की संख्या से किया जाता था। बाद में दासों का स्थान उन लोगों ने ग्रहण कर लिया जो थे तो दास ही किन्तु वे खेती करते थे। इनको (serf) कृषकदास कहा जाता था। मध्यकाल में लोगों का आहार उत्पन्न करने वाले ये कृषकदास ही थे।

कृषक उस भूमि को जोतता-बोता था जिस पर अधिकार तो किसी सामन्त या सरदार का होता था किन्तु जिसको वह [illegible] कर या लगान देकर खेती के काम में लाता था। जब कभी उसका स्वामी चाहता, उससे भूमि छीन सकता था और कृषक-दास की मृत्यु के बाद उसके [illegible] को उसी भूमि को जोतने-बोने का अधिकार प्राप्त हो सकता था जब वे अपने स्वामी से इसकी स्वीकृति प्राप्त कर लेते थे। कृषक दास को अपना परिश्रम भी सामन्त की सेवा में समर्पित करना पड़ता था। उसे अपने स्वामी के प्रति [illegible] ऐसे कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता था। इन सबको याद रखना भी कोई साधारण बात नहीं है, इन्हें आखिर कृषक दास कैसे करता था। यह कल्पना करना भी कठिन है। उसके कुछ कर्त्तव्यों का उल्लेख किया जाता है। (१) कृषक-दास साल में तीन कर अपने स्वामी को देता था। (अ) एक छोटा कर राज्य को, सामन्त के द्वारा (ब) एक छोटा लगान (स) वह कर जो भूमिपति अपनी इच्छा से डालता था जैसे भी लगा देता था (२) उसे अपनी फसल का १/१० वां भाग अपने स्वामी को देना पड़ता था। (३) उसे बहुत दिनों तक स्वामी की सेवा में परिश्रम करना पड़ता था जिसका उसे कोई भी पुरस्कार नहीं प्राप्त

होता था। (४) कृषक-दास अपने स्वामी का अन्न पीसने, उसकी रोटी पकाने, उसके लिए मदिरा तैयार करने और इसी प्रकार के अन्य कार्य करने के लिए बाध्य था। तथा इसके लिए उसे कुछ शुल्क भी देनी पड़ती थी। वह काम भी करता था और फीस भी देता था। (५) अपने स्वामी की भूमि पर अपने पशुओं को चराने तथा पशुओं का आखेट करने के लिए उसे एक अतिरिक्त कर देना पड़ता था। (६) अपने सरदार की उसे युद्ध में सहायता करनी पड़ती थी (७) बाजार या मेलों में जो वस्तुयें वह बेचने के लिए ले जाता था उन पर उसे अपने स्वामी को कर देना पड़ता था। (८) यदि कृषक-दास का स्वामी शत्रु द्वारा पकड़ लिया जाता था। तो उसे छुड़ाने के लिए वह कुछ धन देता था। जब उसके स्वामी का पुत्र नाइट (knight) होता था तो उसे काफी उपहार भेंट में देने पड़ते थे। (९) यदि कृषक-दास अपने पुत्र को उच्च शिक्षा दिलाता था। या चर्च में भरती करा देता था तो उसे दण्ड कर देना पड़ता था। (१०) यदि उसका पुत्र किसी दूसरी जमींदारी (manor) में रहने वाली कन्या से विवाह करता था तो उसे दण्ड कर देना पड़ता था और अपने स्वामी की स्वीकृति प्राप्त करनी पड़ती थी। (११) सामन्त को यह अधिकार होता था कि वह कृषक-दास की नवपरिणीता पत्नी के साथ "प्रथम रात्रि के अधिकार" का उपभोग करे। किन्तु प्रायः एक लम्बा दण्ड-कर दे कर कृषक-दास अपनी पत्नी के सतीत्व की रक्षा करता था। (१२) यदि कृषक-दास उत्तराधिकार हीन ही मरता था तो उसका घर और भूमि छीन ली जाती थी।

यदि हम ऊपर कृषक-दास के कर्तव्यों की विवेचना करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि उसका जीवन प्रायः सुखी नहीं था। इतने अधिक कर्तव्यों के भार से उसकी कमर झुकी रहती थी। उसके लिये सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करना प्रायः एक असम्भव कल्पना ही थी। उसके परिश्रम द्वारा अर्जित धन का अधिकांश भाग उसके स्वामी की सेवा में चला जाता था। लेकिन स्वामी की उदारता और कृपाशीलता कभी-कभी उसके जीवन में मनोहरता और आनन्द का संचार कर देती थी। मध्य युग के कृषक-दास की स्थिति उतनी शोचनीय नहीं थी जितनी रोम के एक किसान की थी। जिस समय आगस्टस के शासनकाल में रोमन साम्राज्य अपने उत्कर्ष की सीमा पर था उस समय भी उसकी [illegible] सन्तोषजनक नहीं थी। इस बात को ध्यान में रखने पर हमें मध्य-युग के कृषक-दास का जीवन बहुत [illegible] नहीं मालूम पड़ता। उसका दैनिक भोजन पुष्टिकर होता था और उसमें दुग्ध, अण्डे, आमिष और शाक-भाजियों का उचित मात्रा में समावेश रहता था उसके वास-स्थान की व्यवस्था भी उचित थी। प्रायः वह उत्पीड़न और शोषण [illegible] शासित व्यक्ति की भाँति निराश, दुःखी और अकर्मण्य नहीं रहता था अपितु अपने [illegible] और मनोरंजन के साधनों की सहायता से अपने जीवन को [illegible] रखता था। औद्योगिक नगरों के श्रमजीवियों और कई आधुनिक देशों के [illegible] की भाँति [illegible] और [illegible] नहीं था।

सामन्तवादी प्रथा में [illegible] का सामाजिक स्तर [illegible] से ऊँचा था। राजा के बाद उसका स्थान था किन्तु वास्तव में प्रभाव [illegible] की दृष्टि से [illegible] का स्थान राजा से अधिक महत्वपूर्ण था। उसके तीन कार्य थे—(१) अपने प्रदेश और उसके निवासियों की रक्षा करना। (२) अपने प्रदेश में कृषि, उद्योग और व्यापार का प्रबन्ध करना और अपने से अधिक ऊँचे सामन्त की [illegible] तथा युद्धादि में सहायता करना। सामन्त के पास जागीर होना अनिवार्य था। उसके पास युद्ध में काम [illegible] के लिये सुसज्जित [illegible] होते थे। दुर्ग और [illegible] उसकी रक्षा के लिये होते थे और उसकी [illegible] अनेक अवसरों [illegible] दुर्ग और उसके [illegible] में सन्निहित था। दुर्ग उसकी स्थानीय स्वतन्त्रता और शासन के प्रतीक थे। [illegible] आसामियों पर [illegible] अधिकार [illegible] पीट सकता था और कभी भी उनका वध भी कर सकता था और इन कार्यों के लिये [illegible] [illegible] ऐसा करना [illegible] [illegible] [illegible] पूर्ण अवसर पर वह निर्धन दासों के लिये अपने दुर्ग के द्वार खोल देता था। [illegible] युद्धों और

नहरों का निर्माण कराता था और व्यापार तथा गमनागमन के साधनों की व्यवस्था करता था। वह एक स्थानीय न्यायालय का प्रबन्ध भी करता था जिसमें वह मुकदमों का स्वयं निर्णय करता था। जो दण्ड कर लगाये जाते थे वे सामन्त की आय में वृद्धि करते थे।

सामन्त के पास धन की प्रचुरता थी। उसके भवन और विशाल दुर्ग उसके वैभव का ही द्योतन करते थे। उसके पास भोग-विलास के सभी साधन उपलब्ध होते थे। यदि वह चाहता तो विलासमय जीवन व्यतीत कर सकता था किन्तु मध्य युग का सामन्त परान्नभोजी न था। वह बड़ा ही व्यस्त रहता था और अपने अधीनस्थ लोगों की रक्षा के लिये वह सदैव चिन्तित रहता था। सम्पत्ति और प्रभुत्व से सम्पन्न होने पर भी उसके चरित्र में आलस्य तथा अकर्मण्यता के दोष न थे। व्यक्तिगत वीरता उसके चरित्र और व्यवहार को विभूषित करती थी और एक उदात्त आत्म-गौरव तथा स्वाभिमान के भाव उसको प्रभावित रखते थे। लेकिन उसके अन्दर स्वतन्त्रता की भावनायें हिलोरें नहीं ले सकती थीं क्योंकि वह स्वयं अपने को अपने से बड़े सामन्त का अधीनस्थ दास या अनुचर समझता था।

सामन्तवाद की सामाजिक रचना को समझ बूझने के बाद उसके आर्थिक स्वरूप पर भी कुछ विस्तार के साथ विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। मध्य युग में सरदार के निकट ही गाँव बसाये जाते थे। सुरक्षा के दृष्टिकोण से लोग बहुत पास पास रहा करते थे। प्रायः गाँव किसी एक या अधिक जमींदारी का भाग होता था। प्रत्येक गाँव आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र होता था। सामन्त की आय का प्रमुख स्रोत भूमि कर और कृषि की उपज था। भूमि को मध्य युग की आर्थिक रचना की आधारशिला कहा जा सकता है। मध्यकालीन योरप में ग्राम शासन की इकाई था और सरदार को शासन का सर्वोच्च अधिकार प्राप्त था। सामन्तवादी प्रथा में कृषि का महत्व आर्थिक दृष्टि से सबसे अधिक था किन्तु कृषि की व्यवस्था सन्तोषजनक न थी। कृषि-प्रणाली अत्यन्त प्राथमिक [illegible] थी। पशु-पालन में भी वैज्ञानिक प्रणाली व्यवहृत नहीं की जाती थी। उपज बढ़ाने की आवश्यकता का इस समय कोई अनुभव ही नहीं किया जाता था, अतएव इसके उपायों का अवलम्बन भी नहीं किया जाता था। लेकिन किसान प्राकृतिक उपायों द्वारा भूमि की उर्वरा शक्ति को अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न करता था। लगभग एक तिहाई भूमि को प्रति वर्ष परती छोड़ दिया जाता था जिससे उसकी उत्पादन शक्ति कम न होने पाये। कृषि योग्य जोती हुई भूमि को तीन प्रकार के खेतों में विभाजित किया जाता था। पहले प्रकार के खेत में गेहूँ या राई, और दूसरे में जौ अथवा कोई अनाज बोयी जाती थी और तीसरे खेत को परती छोड़ दिया जाता था। यह प्रबन्ध बारी-बारी होता था। सारा ग्राम-समुदाय एक सुनिश्चित योजना के अनुसार फसलों के हेर-फेर की प्रणाली का अनुसरण करता था और ग्रामाधिकारी इस बात के लिये अनेक कृषक भी नियुक्त करते थे। खेतों का पृथक्करण सूचित करने के लिये सीमायें होती थीं। ग्रामीण लोगों को सब खेत मिलजुलकर जोतते थे और खेतों का विभाजन होने पर साम्यवाद की प्रथा का अनुसरण किया जाता था। पारस्परिक सहयोग इस प्रथा का आधार था। ग्राम का कुछ भाग चरागाह और घास उत्पन्न करने के लिये छोड़ दिया जाता था। सभी कृषक समान रूप से इस चरागाह का उपयोग करते थे और अपने पशुओं के लिये भूसा घास लेते थे। कुछ भाग में ग्राम को वन-प्रदेश के रूप में रखा जाता था। ईंधन की लकड़ियाँ जलाने के काम में लायी जाती थीं।

ग्राम की आर्थिक आत्मनिर्भरता को समझने के लिये उसके उद्योग-धन्धों का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। गाँव में हाटों की व्यवस्था होती थी जहाँ पर वस्तुयें खरीदी बेची जाती थीं। क्रय विक्रय का माध्यम वस्तु-विनिमय ही था। गाँव में ही कपड़े (सूती और ऊनी) बुनने का प्रबन्ध होता था और लगभग सारा वस्त्र ग्राम के अन्दर तैयार कर लिया जाता था। लोहार पशुओं के औजार बनाता था और गाड़ियाँ बनाने का काम बढ़ई करता था। चमड़ा कमाने वाले लोग भी थे जो चमड़े की वस्तुयें तैयार करते थे। मोची, रंगरेज, साबुन बनाने वाले, राजगीर आदि कारीगर या तो ग्राम में रहते थे अथवा समय समय पर वहाँ आया करते थे। गाड़ियों को भी बनवाने के लिये ग्रामवासी

को अपने गांव से बाहर कहीं नहीं जाना पड़ता था। ग्राम में एक कसाई होता था जो लोगों के मांसाहार की व्यवस्था करता था।

मध्य युग में व्यापार की अवस्था भी सन्तोषजनक न थी। गमनागमन के साधनों और सुरक्षित राजमार्गों की कोई समुचित सामूहिक व्यवस्था न होने के कारण व्यापारियों को अनेक असुविधाओं का सामना करना पड़ता था। यह अशान्ति और अव्यवस्था का युग था इसलिये व्यापार की उन्नति न हो सकी। सिक्कों की भी कोई उचित व्यवस्था न थी और असंख्य असह्य करों के कारण व्यापारी निराश तथा खिन्नचित्त रहता था। प्रत्येक ग्राम की आर्थिक स्वावलम्बिता के कारण भी व्यापार में बाधा पड़ी। ईसाई धर्म के निर्लोभ वृत्ति वाले उपदेश ने भी लोगों को आर्थिक उन्नति के प्रति पराङ्मुख कर दिया।

सामन्त प्रथा और चर्च

ऐसा प्रतीत होता है कि चर्च और सामन्तों में एक प्रकार का षड्यन्त्र सा था क्योंकि चर्च के अधिकारी बेचारे अशिक्षित कृषकों को यह बतलाते थे कि भूमि पर सामन्तों का अधिकार दैवी कृपा के कारण था। चर्च के पास स्वयं बहुत विशाल भूसम्पत्ति होती थी। किसी-किसी जमींदार का आधिपत्य बिशप या एबट के अधीन था। बिशप और एबट सामन्तों का भी कर्तव्य सम्पादन करते थे। उनको रोम के परवर्ती सम्राटों और फ्रैन्क शासकों से जो विशेषाधिकार प्राप्त हुये थे उनके कारण सामन्त प्रथा की जटिलता और अधिक बढ़ गई। चर्च के पास योरप की सबसे अधिक भूमि होती थी। सामन्तवाद की प्रथा के उत्तराधिकार पर जो कर लगाया जाता था उससे भी चर्च मुक्त रहती थी जिससे उसकी सम्पत्ति और अधिक बढ़ जाती थी।

यद्यपि चर्च ने मध्य युग की जटिलता को अधिक कर दिया था तथापि इसका प्रभाव लोगों पर कुछ हितकर था। चर्च अधिकारियों ने युग के संघर्षों को कम करने का प्रयास किया। मध्ययुग में चर्च से ही शान्ति और सद्भावना के उपदेश प्राप्त होते थे अन्यत्र युद्ध के गगनभेदी निर्घोष ही सुनाई पड़ते थे। लेकिन चर्च का यह हितकर प्रभाव प्रायः क्षीण ही था। चर्च का उपदेश अरण्य रोदन के ही रूप में था।

सामन्तवाद और राज्य

सामन्तवाद ने राज्य की शक्ति को बिल्कुल कम कर दिया। राजा केवल नाम से ही सामन्तवादी सामाजिक रचना का अध्यक्ष था। वास्तव में उसकी शक्ति इस बात पर निर्भर थी कि उसके सामन्तों की संख्या कितनी अधिक थी। वह राजा की भांति लोगों द्वारा अभिनन्दित नहीं किया जाता था वरन् एक सामन्त के रूप में ही लोग उसका सम्मान करते थे। फ्रान्स में सामन्तों की शक्ति राजा से कहीं अधिक थी। जिस प्रकार प्रारम्भ में राजाओं की दुर्बलता के कारण सामन्तों की शक्ति बढ़ गई थी उसी प्रकार बाद में सामन्तों की दुर्बलता ने राजाओं की शक्ति को सुदृढ़ कर दिया। जब सामन्तगण अपने प्रदेश में शान्ति की स्थापना अथवा व्यापार की व्यवस्था न कर सके तो लोगों का ध्यान स्वाभाविक रूप से राजा की ओर गया। जब मध्य यूरोप में व्यापार की उन्नति हुई और व्यापारियों का एक धनिक वर्ग निर्मित हो गया तो सरदारों की शक्ति कम हो गई और व्यापारियों तथा राजाओं में एक गठबन्धन सा हो गया। जिन लोगों को सामन्तों से किसी प्रकार का कष्ट प्राप्त हुआ था वे सब राजा की ही ओर आशापूर्ण नेत्रों से देखने लगे और सामन्ती सरदारों के प्रति बिल्कुल असन्तुष्ट हो गये। इन्हीं कारणों से कालान्तर में राजा की शक्ति ही बढ़ गई और सामन्तवाद का धीरे धीरे पतन होने लगा।

सामन्त प्रथा में कानून और न्याय

सामन्त अपनी अधिकार सीमा में एक न्यायालय की व्यवस्था करता था जिसमें वह स्वयं मुकदमों का निर्णय करता था। बड़े-बड़े सामन्त दो न्यायालयों का प्रबन्ध करते थे। एक न्यायालय में तो वे अपने अधीन सामन्तों के मुकदमों का फैसला करते थे और दूसरी कचहरी में कृषक दासों के पारस्परिक अभियोगों का निर्णय होता था। इन दोनों न्यायालयों से सामन्त आय काफी अधिक हो जाती थी क्योंकि जो दण्ड कर लगाये जाते थे वे सब सामन्त का ही जेब में जाते थे।

मध्य युग के सामन्तवाद में शिष्ट व्यवहार और जीवन का एक आदर्श था जिसका पालन करना प्रत्येक सरदार का कर्तव्य था। फ्रान्सीसी भाषा के Shevel (शेवेल) शब्द से ही Chivalry शौर्य की उत्पत्ति हुई है। Shevel का अर्थ होता है 'अश्व'। प्रत्येक सरदार के पास वाहन और रण के लिए 'अश्व' होता था अतएव सामन्तों के

सामन्त प्रथा में शौर्य (Chivalry)

शिष्टाचार का प्रतीक 'अश्व' ही मान लिया गया। सिद्धान्ततः सामन्त के जीवन का आदर्श अत्यन्त उन्नत था। उससे यह आशा की जाती थी कि उसे वीर, सज्जन और चरित्र में सन्तों की भांति शुद्ध होना चाहिये। सरदार को इस बात की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वह सत्य बोलेगा, चर्च की रक्षा करेगा, निर्धनों और दुर्बलों की सहायता करेगा, अपने प्रदेश में शान्ति स्थापित करेगा और धर्मविरोधियों के विरुद्ध युद्ध करेगा। वह अपने स्वामी का सच्चा अनुचर और नारियों का संरक्षक होता था। उनके सतीत्व की रक्षा करना उसका पवित्र कर्तव्य था। युद्ध में दूसरे सरदारों को बन्दी बना लेने के बाद वह उनके साथ मित्र और अतिथि का व्यवहार करता था। सामन्तवादी जीवन के आदर्श में पुरुषत्व के गुणों का प्राधान्य था परन्तु वीरता, निर्भीकता और साहस के साथ करुणा तथा सहानुभूति के गुणों का रहना भी आवश्यक और वांछनीय था। यह आदर्श निस्सन्देह श्रेष्ठ, पवित्र और उदात्त था किन्तु इसका परिपालन बहुधा कम ही किया जाता था। सिद्धान्त रूप में चरित्र में सन्तों की तरह विशुद्ध चरित्र वाले सरदार नारियों के साथ व्यभिचार कर बैठते थे और अपने विरोधी सरदार के साथ विश्वासघात द्वारा उसका वध करने में हिचकिचाते न थे। सामन्त के सम्मुख न्याय और स्वामिभक्ति का आदर्श रहता था किन्तु उसका जीवन विश्वासघात और हिंसा से परिपूर्ण रहता था। दयालुता और सहानुभूति केवल मौखिक आदर्श थे, जीवन के व्यवहार में क्रूरता और रक्तपात में अभिरुचि की ही प्रधानता थी। जो सरदार अपने नाम पहिले से लिखाये रहते थे वे अलग अलग दो समूहों में बँट कर परस्पर युद्ध करते थे। ये दोनों समूह पहले से ही एक दूसरे के विरोधी या शत्रु होते थे। दोनों समूहों में घोर युद्ध होता था और यद्यपि शस्त्रों की धार नुकीली नहीं होती थी तथापि कभी-कभी अनेक सामन्त मार डाले जाते थे। जो लोग बन्दी बना लिये जाते थे उनके शस्त्रास्त्र और घोड़े छीन लिये जाते थे और उनके समूह वालों से उन्हें मुक्त करने के लिए रुपये लिए जाते थे। इस प्रकार [illegible] हो जाने पर सभी सामन्त साथ बैठकर दावतें खाते थे और नृत्य तथा संगीत का आनन्द लूटते थे। विजेता सामन्तों के सम्मान में कवितायें पढ़ी जाती थीं।

नारी का संसर्ग, शीतल और मधुर प्रभाव तथा ईसाई धर्म की शान्तिप्रवर्धिनी शिक्षायें मध्यकालीन सामन्त की हिंसावृत्ति को कम करती थीं। यद्यपि सामन्त बहुधा अपने जीवन के आदर्शों से च्युत होता जाता था तथापि उसके चरित्र में उन दोषों का समावेश न था जो जनसाधारण व्यक्तियों में होता है। विलासिता और सुख के लिए वह उतना प्रयत्नशील न था जितना साहसपूर्ण कार्यों और यशोपार्जन के लिये मृत्यु वा नर्क का भय उसके मस्तिष्क को आक्रान्त नहीं करता था। हम आदर्शों की समीक्षा आदर्शों से ही करते हैं। मनुष्य की निसर्गगत पाशविकता उसके उच्चतम आदर्शों को दूषित कर देती है। इस दृष्टि से मध्य युग के शौर्य का आदर्श अनूठा ही कहा जायगा, यद्यपि अनेक सामन्तों ने इस आदर्श का पालन बिल्कुल नहीं किया।

प्रतियोगितायें सामन्तों के जीवन की केन्द्रबिन्दु थीं। इनके द्वारा उनकी वीरता, कष्टसहिष्णुता तथा उनके साहस की परीक्षा होती थी। कभी कभी प्रतियोगितायें एक सप्ताह तक चलती थीं, यद्यपि अधिकतर वे एक दिन में समाप्त हो जाती थीं। इन प्रतियोगिताओं में खूब आनन्द प्रमोद हुआ करते थे और दावतें उड़ाई जाती थीं किन्तु अन्त में युद्ध भी हो जाया करते थे। किसी निश्चित स्थान पर दो प्रतिद्वन्दी सामन्त द्वन्द्व-युद्ध करते थे। पहले वे घोड़े पर चढ़ कर एक दूसरे के विरुद्ध तलवार या भाले लेकर दौड़ पड़ते थे और यदि कोई भी घोड़े से गिर पड़ता था दूसरा भी घोड़े से उतर पड़ता था और फिर दोनों में जमकर लड़ाई होती थी। वे दोनों तब तक लड़ते रहते थे जब तक कि उनमें से कोई पूरी तरह आहत होकर गिर न पड़ता या निर्णायक लोग द्वन्द्व-युद्ध को रोक देने का आदेश न देते। विजेता तब निर्णायक के पास जाता और उससे अथवा किसी सुन्दरी के कोमल कर-कमलों द्वारा पारितोषिक प्राप्त

करता था। मध्यकाल का सामन्त अपने प्राण को हथेली पर रक्खे रहता था किन्तु उसका जीवन प्रायः रंगीला होता था। कविता, संगीत, सुरा और सुन्दरी के द्वारा वह अपने हिंसापूर्ण जीवन को अवांछनीयता को कुछ कम करता था किन्तु उसके जीवन में फिर भी युद्ध का महत्व ही अधिक था। मध्यकालीन सामन्तों के शौर्यपूर्ण कार्यों ने अनेक उच्च कोटि की कविताओं को लिखने के लिए प्रेरणा प्रदान की। अंगरेजी में हमें कीट्स की "ईव आव सेन्ट एग्नीज" में सामन्तों के जीवन का पर्याप्त विवरण प्राप्त होता है।

सामन्त प्रथा की समीक्षा

सामन्त प्रथा की समीक्षा करने में हमें इस बात को न भूलना चाहिए कि इसकी उत्पत्ति किसी शासक के कानूनों द्वारा नहीं अपितु इस काल के मनुष्यों के पारस्परिक समझौते द्वारा हुई थी। असभ्य जातियों के विध्वंसात्मक आक्रमणों के फलस्वरूप यूरोप में जो अराजकता उत्पन्न हो गई थी उसका अन्त कर के एक सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करने का महत्वपूर्ण कार्य सामन्तवाद द्वारा ही सम्पादित हुआ। आज की दृष्टि से भले ही यह व्यवस्था अनुचित और असंगत प्रतीत हो किन्तु अपने युग की परिस्थितियों के यह काफी अनुकूल थी। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अपने युग में सामन्तवाद ने स्थानीय सुरक्षा के लिए सैन्य-संगठन किया, आर्थिक दृष्टि से इसने कृषि-कार्य को जारी रक्खा और राजनीतिक दृष्टि से इसने न्याय शासन के लिए स्थानीय न्यायालयों का प्रबन्ध किया। डा० विल डुरेन्ट ने सत्य ही कहा है कि "इतिहास की अधिकांश आर्थिक और सामाजिक रचनाओं के समान सामन्त-प्रथा भी स्थान, समय और मानव स्वभाव की आवश्यकताओं के अनुकूल थी।" (एज आफ फेथ पृष्ठ ५५६)। सामन्तवाद के नैतिक और सांस्कृतिक प्रभाव भी कुछ कम महत्वपूर्ण न थे। इसने सामन्त लोगों में जिस साहस का संचार किया उसके द्वारा उन्होंने इंगलैण्ड में किंग जान को मैग्ना कार्टा (Magna Carta) को स्वीकृति प्रदान करने के लिए बाध्य किया। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, सामन्तवाद की प्रणय और शौर्य की परम्पराओं ने कितने ही कवियों और उपन्यासकारों को सरस और उच्च साहित्य की रचना के लिए प्रोत्साहित किया। सामन्त प्रथा ने मध्य काल में नारी की स्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयास किया। ईसाई धर्म के उपदेशकों ने नारी के स्थान को नीचा करने का प्रयत्न किया था किन्तु सामन्तों ने उसके रूप और यौवन की आराधना करके उसका स्थान ऊँचा कर दिया। कितने ही सामन्तों की प्रणय-कल्पनाओं की वे प्रेरणा थीं और उन्हें अपने चरणों पर नतमस्तक होते देखकर गौरवान्वित होती थीं। कभी कभी वे भी किसी सामन्त के शौर्य अथवा सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उससे प्रणय-याचना करती थीं। गृहदेवियों का स्थान भी सन्तोषदायक था। अपने पति के युद्ध में चले जाने पर सामन्त की पत्नी उसकी सम्पत्ति पर निरीक्षण करती थी और राज्य का प्रबन्ध करती थी। यदि उसका पति पुत्रहीन ही मर जाता था तो वह उसकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी बनती थी और शीघ्र ही उसे दूसरे सामन्त से विवाह करने का भी अधिकार प्राप्त था। अपने पति के जीवन काल में भी वह उसकी अनुचरी न थी वरन् सच्ची जीवन सहचरी थी और उसके ऊपर काफी प्रभाव डालती थी।

आर्थिक दृष्टि से सामन्त प्रथा का योगदान कुछ अधिक महत्वपूर्ण था। यद्यपि व्यापार को इसने कोई सुविधा प्रदान नहीं की और जिस कृषि प्रणाली को इसने जन्म दिया और विकास किया वह नितान्त प्रारम्भिक थी, तथापि मध्य-युग के कृषकों ने अपने अथक परिश्रम द्वारा योरप की बहुत अधिक भूमि-भाग को कृषि योग्य बना दिया। उन्होंने दलदली प्रदेशों को सुखाया, बाँध बनवाये, वनों को साफ किया और नहरों का निर्माण किया, सड़कें बनवाईं, पुलों का निर्माण किया और कृषि योग्य भूमि का विस्तार किया। "आधुनिक योरप उनकी उत्पत्ति है।" स्त्रियों ने भी इस कार्य में भाग लिया और सन्यासियों ने अपने कठोर परिश्रम द्वारा वन प्रदेशों में अपने मठ तथा गाँव बसाये। मध्य युग के प्रारम्भ में योरप का अधिकांश भूभाग बिना जुता हुआ था और निर्जन अरण्य था किन्तु उसके अन्त में महाद्वीप सभ्यता के लिए उपयुक्त बना दिया गया था। कदाचित मध्य युग की यही सबसे बड़ी विजय और सफलता थी।[1]

[1] Age of Faith—559-560

यह सत्य है कि मध्य युग का सामन्तवाद अपने युग के अनुकूल था किन्तु उसमें कतिपय गम्भीर दोष विद्यमान थे। यह प्रथा असंख्य निस्सहाय प्राणियों के रक्तशोषण पर आधारित थी परन्तु कदाचित आज के पूंजीवाद की अपेक्षा इसके द्वारा शोषण कम होता था। हम आज के मापदण्ड से सामन्तवाद को तौलते हैं तो हमें बिल्कुल निराश होना पड़ता है क्योंकि सामन्तवाद की आधारशिला ही विषमता थी। आज यह बात सुनकर हमें विस्मय और आश्चर्य होता है किन्तु वस्तुस्थिति यही थी। दास वर्ग के लोग और कृषक-दास, जिनकी संख्या सम्पूर्ण जनसंख्या का एक बहुत बड़ा अंश थी, अंग्रेजी के एक मुहावरे के अनुसार, कुत्तों का जीवन व्यतीत करते थे। जिस स्वतन्त्रता के लिए संवेदनशील मानव ही नहीं, मूक प्राणी भी तड़पते हैं वह सामन्त-प्रथा में पूर्ण रूप से अज्ञात और अदृश्य थी। मानवता पराजिता और आक्रान्ता थी और सभी मनस्विता पराधीनता के कारण हता थी। लेकिन न मालूम इस लघुकाय मनुष्य में कौन सी आत्मा निवास करती है जो उसे सदैव अपने बन्धनों को तोड़ फेंकने के लिए प्रोत्साहित और प्रेरित करती है। जैसा कि महाकवि शेक्सपीयर ने कहा है कि "पाषाण के बने हुये दुर्ग, पीतल की दीवालें, वायुरहित कारागृह अथवा लोहे की कठोर शृंखलायें आत्मा की शक्ति को अवरुद्ध नहीं कर सकतीं।" फलतः अन्त में सामन्तों के उत्पीड़न और अपनी पराधीनता के विरुद्ध मनुष्य की आत्मा विद्रोह कर ही बैठी। यह विद्रोह कोई आकस्मिक घटना न थी वरन् इसने प्रतिदिन धीरे धीरे सुलगती हुई चिनगारी का कार्य किया। परिस्थितियों ने मनुष्य का साथ दिया और वह सामन्तवाद के बन्धन से मुक्त हुआ। उसने पुनरुज्जीवन काल के मनुष्य की स्वतन्त्र आत्मा को मध्य युग में ही जन्म देने का प्रयत्न किया और इसमें उसे कुछ सफलता भी प्राप्त हुई।

सामन्तवाद की सर्वव्यापिनी हिंसा भी इस प्रथा की एक प्रमुख बुराई थी। ईसाई धर्म की स्नेह, अनुकम्पा और करुणा की सरल शिक्षाओं का स्थान वैमनस्य, रक्तपात और द्वन्द्व युद्धों ने ले लिया। कदाचित यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं कि सामन्तवादी युग में युद्ध ही कानून था। प्रायः भाई अपने सगे भाइयों के विरुद्ध और पुत्र अपने पिता के विरुद्ध युद्ध करने में जरा भी हिचकिचाते नहीं थे। ऊपर हमने प्रतिद्वन्द्विताओं में जिन द्वन्द्व और सामूहिक युद्धों का उल्लेख किया है उनका भी उद्देश्य सामन्तों को युद्ध के लिए तैयार करना था। रक्तपात और युद्ध में सामन्तों की रुचि होती थी। चर्च ने इस हिंसा को कम करने का प्रयास किया था। ट्रूस आफ गाड Truce of God नामक नियम द्वारा पुरोहितों, कृषकों, व्यापारियों, तीर्थ यात्रियों तथा स्त्रियों को युद्ध से कोई हानि नहीं पहुँचाई जाती थी। उन्हें यथासम्भव युद्ध के दूषित प्रभावों से मुक्त रखने का ध्यान रक्खा जाता था। प्रत्येक सप्ताह के गुरुवार, शुक्रवार, शनिवार और रविवार को युद्ध करना अनुचित समझा जाता था और जो लोग ऐसा करते थे उन्हें अपराधी समझा जाता था एवं उनको चर्च विधर्मी करार कर देती थी। ऐसे लोग चर्च के सन्तोषप्रदायी आश्वासनों से वंचित हो जाते थे और अपने भावी जीवन में स्वर्ग-प्राप्ति की आशा भी खो बैठते थे। किन्तु चर्च के शान्ति स्थापना के ये प्रयत्न कोई प्रभावपूर्ण समाधान न हुये। सामन्तों की हिंसात्मक मनोवृत्ति में कोई विशेष सुधारजनक अन्तर न उत्पन्न हो सका।

किसी भी राजनीतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक व्यवस्था का सार्वकालीन या चिरन्तन होना अतीव दुष्कर है। फिर सामन्त प्रथा में, जो वैषम्य भावना पर समाधारित थी विनाश के बीज आरम्भ में ही विद्यमान थे। जो व्यवस्था सहस्रों की उपेक्षा और लाखों की वेदना पर फलती फूलती है उसका विनाश अवश्यम्भावी होता है। इसके अतिरिक्त

सामन्तवाद का अन्त

सामन्तवाद का इस लिये जन्म हुआ था कि इसके द्वारा निस्सहाय लोगों को सुरक्षा प्राप्त हो सके। शस्त्रास्त्रों और अपने दुर्गों के कारण सामन्त बड़े शक्तिशाली हो गये थे लेकिन बारूद के आविष्कार ने उनके दुर्गों की दीवालों को तोड़ना शुरू किया। अब उनकी सैन्य-शक्ति का ह्रास हो चला। उनके विरोध में नगरों में धनवान व्यापारियों का एक वर्ग तैयार हो गया जिसने कालान्तर में सामन्तों की शक्ति को बिल्कुल कम कर दिया। सामन्तों की दुर्बलता के कारण राजा सुदृढ़ और शक्तिशाली हो गये और अन्त में कई राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई। इन राज्यों के उदय ने सामन्त प्रथा का अन्त कर दिया। हम अगले अध्याय में मध्यकाल की आर्थिक क्रान्ति के विषय में पढ़ेंगे जिसने स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों के जन्म और विकास में महत्वपूर्ण योग दिया।

मध्ययुग की आर्थिक क्रान्ति

सभ्यता और संस्कृतियों का उदय तो ग्रामों में हुआ है किन्तु उनका विकास नगरों में हुआ है। सभ्यता के विकास के लिए नगर जीवन की परिस्थितियों का निर्माण करना अतीव आवश्यक होता है। नगरों के व्यस्त जीवन में सभ्यता विकसित होती है। इतिहास के प्रारम्भ से ही नगर सभ्यताओं के केन्द्र रहे हैं। नगरों ही में विशाल और प्रभावशाली भवन बनवाये जाते हैं, नगरों में कलाकारों, कवियों और वैज्ञानिकों का जमघट रहता है और व्यापार तथा उद्योगों की उन्नति भी नगरों में ही होती है। योरप में मध्य काल के प्रारम्भ में सभ्यता ने कोई महत्वपूर्ण उन्नति नहीं की, इसका मूल कारण यही था कि इस युग में नगरों की संख्या अत्यन्त नगण्य हो गई थी और मनुष्य का नगर-जीवन ह्रासोन्मुख हो गया था। रोमन साम्राज्य के पतन और बर्बर जातियों के आक्रमणों के फलस्वरूप पश्चिमी योरप के विख्यात नगर पूर्णतया विनष्ट हो गये अथवा उनका गौरव और वैभव विलुप्त हो गया। रोम की जनसंख्या, जो पहले दस लाख से अधिक थी, अब घटकर पचास हजार ही रह गई। इंग्लैण्ड में बाथ और फ्रान्स में निमेज पहले महत्वपूर्ण नगर थे किन्तु रोमन साम्राज्य का पतन हो जाने पर ये नगर बिलकुल विध्वस्त हो गये और इनके केवल ध्वंसावशेष ही रह गये। लेकिन दसवीं शताब्दी के बाद योरप में व्यापार की उन्नति होने लगी और नगर जीवन का पुनरुत्थान हुआ। एक आर्थिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ जिसने योरप के पुनरुज्जीवन को सम्भव बनाया और इसी कारण वश सभ्यता के इतिहास में जिसका महत्व बहुत अधिक है। इस आर्थिक क्रान्ति और नगरों की स्थापना के कई कारण थे।

क्रूसेडों ने पश्चिम के ईसाई जगत को निकट पूर्व के अनेक पदार्थों से परिचित कराया। इन वस्तुओं की योरप में माँग बहुत बढ़ गई और व्यापार को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इटली में अनेक नगरों की उन्नति हुई और पश्चिमी भूमध्य-सागर के तट पर बहुत से नगरों का उदय हुआ। पहले आन्तरिक व्यापार पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये थे और सामन्तवाद के कारण भी व्यापार अवरुद्ध था। किन्तु राजाओं की शक्ति बढ़ने पर व्यापार की उन्नति प्रारम्भ हुई। राजाओं ने व्यापार से सभी कर उठा लिये और मार्गों में शान्ति तथा सुरक्षा स्थापित करके व्यापार की उन्नति के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न कीं। उन्होंने नाप और तौल के एक सामान्य माप की व्यवस्था करके व्यापारियों को अधिक सुविधा प्रदान की। बाह्य व्यापार की उन्नति के लिए मार्ग भी खुल गये। लोगों को कुतुबनुमा की क्रिया (दिशासूचक यन्त्र) का ज्ञान हो जाने पर जहाजरानी में उन्नति हुई। अनेक बन्दरगाहों का उदय हुआ और जलमार्गों द्वारा भी व्यापार होना आरम्भ हुआ। इटली की भौगोलिक स्थिति व्यापारिक उन्नति के अनुकूल थी जिससे यहाँ कई समृद्ध बन्दरगाहों और नगरों का उत्थान हुआ। लोगों को मानवीय शक्ति के अतिरिक्त जल शक्ति, अश्व शक्ति तथा पानी के द्वारा चलनेवाली मिलों के प्रयोग का ज्ञान हुआ और उन्होंने श्रम बचाने वाले यन्त्रों को भी बनाना सीख लिया। इस कारण-वश उद्योग-धन्धों की बहुत अधिक उन्नति हुई और आर्थिक क्रान्ति के लिए रास्ता खुल गया। एक नये सामाजिक वर्ग की उत्पत्ति हुई जो अपने धन के कारण काफी समृद्ध हो गया था और सुरक्षा चाहता था। इस समय केन्द्रीय सरकारों की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गयी न थी जो व्यापारियों और कारीगरों को सुरक्षा प्रदान कर सकती। अतएव सब व्यापारी और कारीगर मिल कर एक स्थान पर रहने लगे और अपने हितों की रक्षा के लिए उन्होंने राजतन्त्र की व्यवस्था को पसन्द किया। इन परिस्थितियों और व्यापारियों की इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप नये नगरों की स्थापना हुई और नगर-जीवन का विकास हुआ।

जिन स्थानों पर प्राचीन सभ्यताओं के काल में नगर अवस्थित थे वहाँ पर कुछ नगर बस गये। गिरजाघरों व दुर्गों के निकट भी नगरों की स्थापना हुई और जिस ग्राम की जनसंख्या बहुत अधिक थी और जिसे व्यापार की कोई सुविधा उपलब्ध थी वह ग्राम भी नगर में परिणत हो गया। इनके अतिरिक्त भी कुछ नगरों की स्थापना हुई। जिन स्थानों में मेले लगते थे वहाँ पर भी नगर बस गये। किन्तु भौगोलिक परिस्थितियों ने नगरों के बसाने में महत्वपूर्ण

भाग लिया। नदियों और व्यापारिक राजमार्गों के निकट बहुत से नगर बस गये। उत्तरी इटली में वेनिस, जेनोग्रा, पीसा, क्रेमोना, बोलोगना, मिलान और फ्लोरेन्स नाम के समृद्ध नगरों का उत्थान हुआ। दक्षिणी फ्रान्स में टोलूज, मारसेली और नारबोन्ने, राइन नदी की घाटी में कोलोग्ने, मेन्ज और स्ट्रेसबर्ग, उत्तरी तथा बाल्टिक सागरों के तटों पर हम्बर्ग, ब्रेमेन और ल्यूबेक तथा इंग्लैण्ड में लन्दन ये सब ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक काफी घने बसे, समृद्ध और विशाल नगर बस गये। भूमध्य सागर द्वारा पूर्वीय देशों से जो व्यापार होता था उस पर वेनिस और जेनोग्रा नगरों ने अपना अधिकार सा स्थापित कर लिया। मुस्लिम प्रदेशों से जो वस्तुयें मँगाई जाती थीं उनके बदले में वेनिस और जेनोग्रा के व्यापारी ऊनी और मलमल के वस्त्रों का निर्यात करते थे।

नगर शासन

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि नगर के व्यापारियों की प्रवृत्ति नगर शासन की ही थी। वे अपने नगरों की डाकुओं और लुटेरों से रक्षा करने के लिए राज्य की पुलीस के ऊपर निर्भर न रहे अपितु इसके लिए वे स्वयंप्रयत्न शील हो गये। उन्होंने अपने नगर का शासन अपने ही हाथों में लिया और अपने को एक (commune) कम्यून अथवा समूह कहना आरम्भ किया। नगर निवासियों और व्यापारियों ने एक सुदीर्घकालीन संघर्ष के बाद ही राज्याधिकारियों से नगर शासन की स्वतन्त्रता ग्रहण की। बारहवीं शताब्दी के अन्त तक लोगों ने अपनी नगर शासन की स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी। किसी नगर में सरदारों ने कम्यून में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया किन्तु अधिकांश नगरों के कम्यूनों पर व्यापारी वर्ग का ही अधिकार रहा। उत्तरी फ्रान्स के नगरों में कम्यूनों की स्थापना सामन्तों के विरुद्ध जन-विद्रोह के कारण हुई। इन नगरों की शासन-पद्धति जनतन्त्रात्मक आधारों पर थी। इसने प्रजातन्त्र के विकास का मार्ग प्रदर्शित किया। गरीब लोगों को भी नगर राज्य की सदस्यता और नागरिकता प्रदान की गई लेकिन वेनिस में शासन कुछ अभिजातवर्गीय लोगों के हाथों में ही केन्द्रित रहा। अधिकांश नगरों में नागरिक एवं आर्थिक जीवन पर धनाढ्य व्यापारियों का प्रभुत्व और प्राधान्य था। सभी कम्यूनों में व्यापारी संघों या श्रेणियों को स्वतन्त्र समझा जाता था और उनके प्रबन्ध में कम्यून कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। कहीं कहीं पर व्यापारी संघ और कम्यून एक ही संगठन के रूप में थे, वैसे साधारणतया ये दो विभिन्न संस्थायें थीं। आर्थिक क्रान्ति के इस युग में धनवान व्यापारियों की शक्ति और प्रभुता सामन्तों की अपेक्षा कहीं अधिक थी।

मध्य युग के अधिकांश नगरों की शासन-व्यवस्था समता के सिद्धान्तों पर आधारित नहीं थी। इसमें निम्न वर्ग के निर्धन कारीगरों को कोई अधिकार प्राप्त न था। अधिक धनवान व्यापारी सारी शक्ति अपने हाथों में रखते थे। वे बहुधा एक दूसरे से ईर्ष्या करते थे जिसके कारण नगर-शासन में बाधा पहुँचती थी। निवासियों पर कर अधिक लगाये जाते थे। और आय का अधिकांश भाग स्वार्थी शासनाधिकारियों के वैभव-प्रदर्शन तथा आन्तरिक युद्धों में ही व्यय होता था। विभिन्न नगरों में भी व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता सदैव चलती ही रहती थी जिससे उनमें परस्पर युद्ध छिड़ जाते थे। इन युद्धों में सीमित धन पानी की तरह बहाया जाता था। धनी व्यापारी अपने प्रभाव को स्थापित रखने के लिये अनुचित उपायों का अवलम्बन भी करते थे। वे इस बात का सतत प्रयत्न करते थे कि कारीगर अपने संघ न बनाने पायें और वे उन बेचारों का रक्त शोषण कर सकें। नगर के अधिकारी मूल्यों का जो निर्धारण करते अथवा श्रम पर जो नियन्त्रण रखते थे उससे व्यापारियों का ही हित होता था और गरीब कारीगर पीसा जाता था। सामन्तों की शक्ति का ह्रास हो जाने पर सम्पूर्ण शक्ति एक नूतन वर्ग के हाथों में चली गई और साधारण जन उसी प्रकार उत्पीड़ित और परतन्त्र था।

इन दोषों के होते हुये भी नगर शासनों के कम्यूनों में कुछ अच्छे तत्त्व विद्यमान थे। नागरिक लोग बड़े उत्साहपूर्वक अपने शासकों को चुनते थे। यद्यपि नगर शासनों में सब लोगों को समान अधिकार प्राप्त न थे, तथापि इनको प्रतिनिधि शासन की संज्ञा देने में कोई हर्ज नहीं है। कम्यूनों की प्रारम्भिक अवस्था, जो

सामन्त प्रथा की एक मुख्य बुराई थी, उसका नगर शासनों में निराकरण किया गया और नये कानूनों का निर्माण किया गया। न्याय की व्यवस्था को अधिक व्यापक और प्रभावशालिनी बनाने का प्रयत्न किया गया। नगर-शासन समिति एक स्वतन्त्र राज्य की भांति थी और प्रायः उन्हीं कार्यों को करती थी जिन्हें एक राज्य करता था। कम्यून के अलग सिक्के होते थे। ये सार्वजनिक हित की इमारतों का निर्माण कराते थे और व्यापार की सुविधा के लिये अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य करते थे। कम्यूनों के शासन की अधीनता में यूरोप में जो आर्थिक समृद्धि उत्पन्न हुई वह रोमन साम्राज्य के बाद अन्य किसी भी शताब्दी में दिखाई नहीं पड़ी। इस आर्थिक समृद्धि ने सांस्कृतिक उन्नति के लिए समुचित पृष्ठभूमि तैयार की।

मध्यकाल के नगर

हमें मध्यकाल के नगरों और उनके निवासियों के जीवन का भी कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये। रक्षा के लिए नगर चारों ओर से दीवाल द्वारा घिरे रहते थे। नगरों की जनसंख्या प्रायः बहुत घनी होती थी। भौतिक वैभव में आजकल के नगरों से मध्यकाल के नगरों की तुलना नहीं हो सकती। मध्यकाल के नगर आधुनिक गांवों की तरह थे। उनकी सड़कें संकीर्ण और कष्टप्रद होती थीं। उन प्रकाश का भी कोई प्रबन्ध नहीं होता था। इसलिए सारा व्यापार और अन्य सभी कार्य दिनान्त के पूर्व ही समाप्त कर दिये जाते थे। इन नगरों का बाह्य संसार से कोई सम्पर्क न था। नगरों की सड़कें कच्ची थीं जिससे लोगों को बरसात में बहुत कष्ट होता था। लोग सुअर पालते थे और नगरों में ही ये सुअर घूमा करते थे। नगर निवासियों की स्थिति सामन्तवाद के कृषक दासों की स्थिति से कोई अच्छी न थी। उनको भांति भांति के कर देने पड़ते थे। यदि वे बाजार में दूकान रखना चाहते या पुल द्वारा अपना सामान ले जाना चाहते या किसी ग्राम से हो कर अपने सामानों सहित जाना चाहते तो एक बड़ा कर देना पड़ता था। नगरों में न जलाशय थे और न थियेटर-भवन और लोगों के कोई मनोरंजन की कोई समुचित व्यवस्था न थी। उनके घर कच्चे होते थे जिनमें खिड़कियां नहीं होती थीं। घरों में सुख-सुविधा की वस्तुओं का बहुधा अभाव रहता था। इन भौतिक असुविधाओं के होते हुये भी नगर-निवासियों के जीवन में आनन्द का अभाव नहीं था। बाजारों में बड़ी चहल-पहल रहती थी जहां लोग एक दूसरे से मिलकर परस्पर वार्तालाप किया करते थे। फेरी वाले घूम-घूम कर अपने सौदे बेचते और कारीगर सानन्द अपना कार्य करते। लोगों के वस्त्र [illegible] बड़े सुन्दर और भड़कीले होते थे। जादूगर की रहस्यमयी क्रीड़ाओं, तथा धार्मिक जुलूसों को देखकर नगर निवासी आनन्दित होते थे। वे परस्पर एक दूसरे को प्रतिभोजों में आमन्त्रित किया करते थे तथा उत्सवादि में सम्मिलित रूप से भाग लेते थे। इससे सिद्ध होता है कि मध्यकालीन नगरों में रहने वालों का सामाजिक जीवन शिथिल नहीं हो गया था वरन् यह गतिमान था। मनोरंजन के अनेक साधन थे जिनमें सबसे उल्लेखनीय है नाटकों का प्रदर्शन। प्राचीन यूनान की भांति मध्यकाल के नगरों में नाटक दिखाये जाते थे जिनको देखने के लिये लोग सहस्रों की संख्या में एकत्र होते थे। मुर्गों की लड़ाइयां देखकर भी मनोरंजन प्राप्त करते थे।

व्यापार की अवस्था

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि क्रूसेडों के फलस्वरूप व्यापार की काफी उन्नति हुई। आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के व्यापारों की अवस्था उन्नति पर थी। आन्तरिक व्यापार के लिये स्थान स्थान पर मेले लगा करते थे। मध्यकाल के व्यापारी को अपनी वस्तुयें बेचने में पहले काफी कठिनाई का अनुभव होता था किन्तु मेलों के द्वारा उन्हें माल बेचने में सुविधा होती थी। पश्चिमी योरप के प्रमुख नगर में शासनाधिकारियों की अनुमति प्राप्त कर लेने के बाद वर्ष के किसी निश्चित भाग में [illegible] जाते थे। दूर दूर से व्यापारी इन मेलों में अपनी वस्तुओं का प्रचार और विक्रय करने के लिये आते थे। मेलों का प्रबन्ध और निरीक्षण राज्याधिकारी या स्वयं व्यापारी संघ के सदस्य करते थे। व्यापारियों को [illegible] प्रतियोगिता की पूरी सुविधा दी जाती थी किन्तु किसी भी व्यापारी को सम्पूर्ण बाजार पर अपना [illegible] नहीं करने दिया जाता था। अपराधों का निर्णय करने और अपराधियों को दण्ड देने के लिये [illegible] की व्यवस्था की जाती थी। यदि कोई व्यापारी वस्तुओं के विक्रय में असावधानी या बेईमानी दिखलाता तो उसे मेले से [illegible] व्यापार करने का अधि-

कार छीन लिया जाता था। इन मेलों से अनेक लाभ थे। विभिन्न स्थानों के व्यापारियों के सम्पर्क में आकर लोगों की कूपमण्डूकता दूर होती थी और उन्हें बाह्य जगत का ज्ञान प्राप्त होता था। व्यापारियों के अन्दर देशाटन की प्रवृत्ति और व्यापार के प्रति उत्साह की भावना उत्पन्न होती थी।

बाह्य व्यापार के लिए अनेक बन्दरगाह बस गये थे। मार्सलीज़ का बन्दरगाह उत्तरी अफ्रीका में मोरक्को नामक स्थान के नमक के व्यापारार्थ विख्यात बन्दरगाह था। बाल्टिक और उत्तरी सागरों से हेरिंग मछली प्राप्त होती थी जिसे लोग बड़े चाव से खाते थे। ह्वेल मछली का भी शिकार और व्यापार बहुत बड़े परिमाण में होता था। मुस्लिम प्रदेशों से जिन वस्तुओं का आयात-निर्यात किया जाता था उनका उल्लेख हम क्रूसेडों के सम्बन्ध में कर चुके हैं। क्रूसेडों के बाद उन वस्तुओं के व्यापार में और अधिक अभिवृद्धि हुई। हमें अब उन व्यापारी-संघों के विषय में कुछ जान लेना चाहिए जिनके द्वारा ये व्यापार किये जाते थे और जिन पर ये अपना नियन्त्रण रखते थे।

मध्य काल के आर्थिक जीवन की विशेषता इस बात में है कि इस काल में श्रेणी व्यवस्था (Guild System) का प्रचलन बहुत बड़े पैमाने पर हुआ। व्यापारियों और कारीगरों ने अपने आप को श्रेणियों में संगठित करना प्रारम्भ किया। कदाचित् सुरक्षा और सुविधा की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने श्रेणी-व्यवस्था को अपनाया। प्रत्येक व्यापारी, व्यापारी संघ का सदस्य होता था। उसे अपने संघ के नियमों का पूर्ण रूप से पालन करना पड़ता था। ग्यारहवीं शताब्दी में केवल व्यापारियों के ही संघ थे और उनके सदस्य वे ही लोग बन सकते थे जो स्वतन्त्र व्यापारी अथवा स्वतन्त्र कारीगर या उद्योगपति होते थे। जो कारीगर दूसरों के ऊपर निर्भर होते थे अथवा किसी उद्योगपति की नौकरी करते थे वे इन संघों के सदस्य नहीं हो सकते थे। व्यापारियों की श्रेणियाँ शनैः शनैः अधिकार प्राप्त करने लगीं और तेरहवीं शताब्दी तक उन्होंने पर्याप्त अधिकार अधिगत कर लिया। उनका संगठन भी आधुनिक म्युनिसिपल बोर्डों अथवा कारपोरेशन की भाँति ही था।

व्यापारी संघ

बड़े बड़े व्यापारी संघों को काफी स्वतन्त्रता प्राप्त थी। वे कच्चे माल को थोक भाव से खरीद लेते थे और कारीगरों को संघ के लिए ही सामान बनाने के लिए बाध्य करते थे। व्यापारी-संघ सड़कों का निर्माण कराते, बन्दरगाहों को गहरा करने का प्रयत्न करते, मार्गों में पुलिस के सिपाहियों को नियुक्त करते, बाजारों का निरीक्षण करते और वस्तुओं का दाम निश्चित करते थे। वे साल में तीन चार बार प्रत्येक वस्तु का "उचित मूल्य" निर्धारित कर देते थे जिस पर सौदा बेचना प्रत्येक व्यापारी के लिए अनिवार्य था। कारीगरों का पारिश्रमिक और उनके कार्य करने का समय भी व्यापारी संघों द्वारा ही निश्चित किये जाते थे। समय समय पर वे व्यापारियों के बटखरों की तौल लिया करते थे जिससे वे बेईमानी न कर सकें। संघ के अधिकारी इस बात का सदा प्रयत्न करते थे कि बाजार में घटिया और रद्दी माल बिकने न पावे। वे अपने युग की राजनीति में सक्रिय भाग लेते थे और कभी कभी सरकारों का विरोध करते थे। राजाओं, सामन्तों और चर्च के अधिकारियों की शक्ति को कम करने का सदैव प्रयत्न करते थे और इन व्यापारी संघों ने कालान्तर में धनवान बैंकरों और व्यापारियों के, एक नये सुदृढ़ सामाजिक वर्ग का संगठन कर लिया।

प्रत्येक संघ का एक विशाल कक्ष (hall) या भवन होता था। यह एक अलंकृत इमारत होती थी। इसमें संघ का दफ्तर लगता था और सभी अफसर बैठते थे। संघ के अलग न्यायालय होते थे और सभी सदस्यों को यह आज्ञा दी गई थी कि वे अपने पारस्परिक झगड़ों का निपटारा पहले संघ के न्यायालय में ही करें और यदि वहाँ फैसला न हो सके तभी राजकीय न्यायालय की शरण लें। वे सदस्यों को पारस्परिक सहयोग की शिक्षा देते थे। प्रत्येक सदस्य को इस बात का ध्यान रखना पड़ता था कि अपने आपत्तिग्रस्त भाइयों की वह सहायता करे। व्यापारी संघ अपने सदस्यों की वेशभूषा, शिष्टाचार और नैतिक चरित्र पर भी ध्यान रखते थे। अपराध करते हुये पकड़े जाने पर सदस्यों को दण्डकर (fine) देना पड़ता था। सदस्यों को इन्श्योरेन्स की सुविधा भी संघों द्वारा प्राप्त होती थी और

चिकित्सालयों, अनाथालयों, भिक्षागृहों और विद्यालयों का निर्माण भी संघों की ओर से किया जाता था। इन व्यापारिक संघों ने मध्यकालीन योरप की वास्तुकला के विकास में महत्वपूर्ण सहायता प्रदान की।

पहले तो उद्योग-श्रेणियाँ व्यापार-श्रेणियों में ही सम्मिलित होती थीं और उनका ही एक अन्य रूप प्रकट करती थीं। किन्तु तेरहवीं शताब्दी में उद्योग-श्रेणियाँ अलग से उत्पन्न हुईं। कारीगर बेचारे वस्तुओं के उत्पादक होते हुए भी व्यापारियों की तुलना में निर्धन होते थे इसलिए उनके संघों की शक्ति भी कम होते थे व्यापारी-संघों की राजनीतिक शक्ति और उनके आर्थिक नियमों को मानने के लिए उद्योग-श्रेणियों के सदस्य बाध्य होते थे। प्रत्येक नगर में विभिन्न उद्योग-श्रेणियां होती थीं और कोई कोई नगर अपने किसी उद्योग विशेष के लिए प्रसिद्ध होते थे। जुलाहों की श्रेणियों के लिए इङ्गलैण्ड के लन्दन, लिंकन और आक्सफर्ड नामक नगर विख्यात थे और बाद में यहां पर सुनारों, कसाइयों तथा चमड़ा कमाने वालों ने अपने-अपने उद्योग संगठित कर लिये। समय पाकर छोटे से छोटे उद्योगों ने भी अपने अपने संगठनों का निर्माण कर लिया। प्रत्येक कारीगर को अपने उद्योग-संघ का अनिवार्यतः सदस्य होना पड़ता था। प्रत्येक कारीगर को पहले कुछ दिनों तक संघ के निरीक्षण में अवैतनिक रूप से काम सीखना पड़ता था और काम सीख जाने पर वह संघ का सदस्य हो जाता था। उसे कुछ दिनों तक बहुत थोड़े वेतन पर संघ की सेवा करनी पड़ती थी। एक स्वतन्त्र कारीगर होने के लिए उसे अपनी योग्यता का प्रमाण पत्र प्रस्तुत करना पड़ता था इसके लिए वह अपनी कुशलता की परीक्षा देनी पड़ती थी। संघ का एक स्वतन्त्र कारीगर की हैसियत से सदस्य होने के लिए कारीगर को कुछ रुपये आदि भी देने पड़ते थे।

उद्योग-श्रेणियाँ

उद्योग-श्रेणियाँ अपने क्षेत्र में वे ही कार्य करती थीं जो व्यापार संघ करते थे। इन श्रेणियों का संगठन इतना पूर्ण होता था। कि कोई भी कारीगर बिना अपने संघ का सदस्य हुये अपने उद्योग को चला नहीं सकता था। प्रति वर्ष उद्योग श्रेणियों के अधिकारियों का निर्वाचन किया जाता था। श्रेणी के सभी सदस्य मिलकर व्यक्ति की कार्य-निपुणता और धनाढ्यता को ध्यान में रखकर अपने अफसरों को चुनते थे। व्यापारी संघों की भांति उद्योग-श्रेणियाँ भी कारीगरों के पारश्रमिक और कार्य का समय निश्चित करती थीं और उत्पादित सामग्री का मूल्य निर्धारण भी वे ही करती थीं। अधिक काम लेने पर या खराब वस्तु तैयार करने पर ये श्रेणियाँ कारीगरों को दण्ड देती थीं। इनके पास अपने उद्योगों की सील मुहरें होती थीं जिनको ये अपनी वस्तुओं पर लगा देती थीं जिससे कोई कारीगर नकली वस्तु बनाकर दूसरों को धोखा न दे सके। श्रेणी के सदस्य जिन अधिकारियों का निर्वाचन करते थे उनमें से कुछ लोग वार्डन होते थे। ये वार्डन तैयार की हुई वस्तुओं का सब निरीक्षण कर लेते थे तभी वे बाजार में विक्रयार्थ रक्खी जा सकती थीं खराब वस्तुओं को वे छीन लेते थे और कभी कभी उनको जलवा दिया करते थे। उद्योग श्रेणियाँ अपने सदस्यों के पारस्परिक झगड़ों का निर्णय भी किया करती थीं। रुग्ण, निर्बल और वृद्ध कारीगरों की रक्षा का ध्यान रक्खा जाता था और श्रेणियों की ओर से उनको सहायता दी जाती थी। चिकित्सालय, स्कूल और सार्वजनिक हित की वस्तुओं का निर्माण कराया जाता था। मध्य युग में ये श्रेणियां काफी उपयोगिनी संस्थायें थीं किन्तु अपने कुछ मूल दोषों के कारण ये चिरस्थायिनी न हो सकीं।

व्यापारी संघ और उद्योग श्रेणियों के संगठन की आधारशिला पूर्ण समता की भावना नहीं थी। इनमें धन-सम्पन्न व्यापारियों और उद्योगपतियों का प्रभुत्व रहता था और वे छोटे व्यापारियों और कारीगरों का शोषण करने का प्रयत्न करते थे। छोटे कारीगरों को काम बहुत करना पड़ता था। किन्तु पारिश्रमिक बहुत कम मिलता था और उनको स्वतन्त्र कारीगर बन जाने की आशा भी बहुत ही कम होती थी। संघों के प्रमुख अधिकारियों द्वारा सारे आर्थिक कार्यों पर नियन्त्रण स्थापित कर लेने से राजाओं को काफी हानि होने लगी। अतएव वे इनके विनाश की सोचने लगे। राजाओं की शक्ति बढ़ जाने पर इन संघों और श्रेणियों की स्वतन्त्रता और शक्ति का ह्रास होने लगा और आधुनिक युग की प्रसिद्ध औद्योगिक क्रान्ति ने इनका अन्त कर दिया।

सामन्त युग का अधिकांश व्यापार प्रायः विनिमय के माध्यम से होता था किन्तु दसवीं शताब्दी के उपरान्त व्यापार की अभिवृद्धि होने पर क्रय-विक्रय का माध्यम विनिमय हो ही नहीं सकता था। व्यापार की उन्नति के लिए सिक्कों का प्रचलन आवश्यक था। हम इस युग में सिक्कों का प्रचलन एक विस्तृत पैमाने पर होता हुआ देखते हैं यद्यपि सिक्कों का रूप काफी दोषपूर्ण था। व्यापार की उन्नति के लिए ऋण व्यवस्था का होना भी अनिवार्य होता है किन्तु ईसाई जगत में ऋण देना और ब्याज लेना धार्मिक आधार पर निन्द्य समझा जाता था। धर्माधिकारी ईसाइयों को ऋण व्यवस्था की बुराइयाँ बतलाते थे इसलिए इसका अवलम्बन करना वे पाप समझते थे। यही कारण था कि पश्चिमी योरप में यहूदी लोग ऋण देने का कार्य करते थे। यहूदी महाजन सूद की एक लम्बी दर रखते थे और ऋण लेने वाले से ब्याज की गहरी रकम प्राप्त करते थे। तेरहवीं शताब्दी तक ऐसे अनेक ईसाइयों ने काफी धन इकट्ठा कर लिया जो अपने धन को गरीबों में वितरित करना या चर्च को समर्पित करना नहीं चाहते थे। इस धन का प्रयोग वे अपने व्यापार में करने लगे। वे ऊन खरीद लाते थे और जुलाहों से कपड़े बुनवा कर स्वयं बेचते थे। जब ऊन काफी सस्ता रहता था तभी वे खरीदते थे और कम मजूरी देकर वे जुलाहों से ऊनी वस्त्र बुनवा लेते थे। इस प्रकार लाभ का एक बहुत बड़ा अंश वे अपनी जेब में रखते थे। इन व्यापारियों की वस्तुओं का मूल्य निश्चित करना भी सरल न था क्योंकि ये कच्चा माल खरीदते कहीं थे, वस्तुयें दूसरे नगर में बनवाते थे और सामान बेचते कहीं और थे।

बैंक, ऋण-प्रथा और सिक्के इत्यादि

धीरे धीरे व्यापारियों के इन कार्यों ने ब्याज-प्रथा का भी प्रचार किया। योरप के कुछ देशों जैसे इटली और फ्रान्स में ईसाइयों ने लेन देन का काम बड़े वेग से प्रारम्भ किया और कुछ समय बाद वहाँ पर ईसाई महाजनों की संख्या यहूदियों से अधिक हो गयी। बाद में चर्च ने भी कुछ परिवर्तित रूप में ऋण-व्यवस्था का समर्थन कर दिया। इटली में बारहवीं शताब्दी में वेनिस के कुछ लोगों ने एक ऋण समिति कायम की जहाँ से लोग आवश्यकता पड़ने पर रुपये उधार ले जाते थे। फ्रान्स में सेन्ट एन्ड्री के एबी के द्वारा बैंक-कार्य इतनी कुशलता से किया जाता था कि शीघ्र ही इसका कार्य बहुत विस्तृत हो गया और प्रबन्धादि के लिए यहूदियों को नौकर रक्खा जाने लगा। नाइटस टेम्पलर नामक संस्था राजाओं तथा राजकुमारों, सामन्तों और सरदारों तक को ब्याज पर रुपये उधार देती थी। इटली में बैंकिंग की प्रणाली का सबसे अधिक विकास हुआ। इटली के बैंकों ने लाभ तो बहुत अधिक उठाया किन्तु साथ ही साथ उन्होंने व्यापार की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। क्रेडिट, डेबिट, बैंक आदि शब्दों की उत्पत्ति, जिनका प्रयोग लगभग सभी योरपीय भाषायें व्यापारिक कार्यों में करती हैं, इटालियन भाषा के इन शब्दों (credito), (debito) और (banco) आदि द्वारा हुई है। तेरहवीं शताब्दी तक ये बैंक वे ही कार्य करने लगे थे जिन्हें आधुनिक बैंक करते हैं। शीघ्र ही फ्लोरेन्स और सिवना के नगरों में भी ऐसे बैंक स्थापित हो गये जहाँ लोग अपनी वस्तुयें जमा कर सकते थे। पोप की आय को फ्लोरेन्स और सिवना के बैंकर ही एकत्र करते थे। वे एक निश्चित रकम चर्च को देते थे और बाकी भाग खुद रखते थे। ये बैंकर "पोप का धन वसूल करने वाले" कहे जाने लगे। व्यापार की काफी उन्नति हो जाने पर सोने के सिक्के, जिनका प्रचलन बहुत पहले ही बन्द हो चुका था, फिर से चलाये गये। फ्लोरेन्स नगर में फ्लोरिन और वेनिस में डकेट नामक सिक्के चलाये।

तेरहवीं शताब्दी में बीमा का प्रचलन भी हुआ। जैसा कि व्यापार संघों के कर्तव्यों का वर्णन करते हुए संकेत किया जा चुका है कि ये संघ अपने सदस्यों को बीमा की सुविधा प्रदान किया करते थे। ऊपर हमने मध्यकाल की इस औद्योगिक क्रान्ति पर जो विचार किया है उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इसने आधुनिक योरप को जन्म दिया। पुनर्जीवन के बाद की व्यापारिक सभ्यता (Mercantile Civilization) की नींव मध्य युग में ही डाली जा चुकी थी। इसने सामन्तवाद का अन्त करके और राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना में सहायता प्रदान करके पन्द्रहवीं सदी तथा बाद के योरपीय व्यापार को प्रोत्साहन प्रदान किया। व्यापार और उद्योग की उन्नति ने योरप के धन और शक्ति तथा ज्ञान में अभिवृद्धि की और सभ्यता के प्रसार को सम्भव बनाया। आर्थिक समृद्धि और व्यापारिक उन्नति का ऐसा

स्रोत प्रवाहित हुआ कि उसके प्रबल प्रवाह में वे सब बाधायें और रुकावटें बह गईं जो मानव सभ्यता के विकास-पथ को अवरुद्ध कर लेती हैं। व्यापार के बहाने लोगों को विदेश-भ्रमण का जो सुअवसर प्राप्त हुआ उससे उनके ज्ञान में बहुत अधिक अभिवृद्धि हुई। मध्य युग की आर्थिक क्रान्ति इस महत्वपूर्ण तथ्य का समर्थन करती है कि सभ्यता के विकास का एक क्रम होता है, यह एक ही दिन या वर्ष में ही उन्नति पर नहीं पहुँच जाती। योरप में आधुनिक युग को प्रारम्भ करने वाले पुनरुज्जीवन के उदय में इस क्रान्ति का कोई कम महत्वपूर्ण योग नहीं था।

—:०:—

तेईसवाँ अध्याय

मध्यकाल में राष्ट्रीय राज्यों का उदय

रोमन साम्राज्य के अधीनस्थ लगभग सम्पूर्ण पश्चिमी योरप एक ही शासनसूत्र में रहा किन्तु इसके बाद अनेक छोटे छोटे राजनीतिक भाग उत्पन्न हो गये जिनको हम सामन्तवाद के सम्बन्ध में पढ़ चुके हैं। सामन्तवाद का प्रचलन कई शताब्दियों तक रहा और राजाओं की शक्ति केवल नाम के ही लिये थी। किन्तु मध्य युगों की समाप्ति के कुछ पूर्व पश्चिमी योरप में कई राष्ट्रीय राज्यों का उद्‌भव हुआ और लोगों में एक राष्ट्रीय चेतना की लहर उत्पन्न हुई। जर्मन आक्रमणकारी विभिन्न देशों में बस गये और वहां के निवासियों से घुल मिल गये। कालान्तर में इन्हीं देशों में राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई। इटली और जर्मनी की स्थिति राष्ट्रीयता के विकास के लिये अनुकूल न थी। इटली में बड़े बड़े व्यापारिक नगर अपने स्वशासन की रक्षा के लिये प्रयत्न करते थे और राजाओं की शक्ति का समर्थन करने को तैयार न थे और पोप तथा सम्राट में भी अधिकार के लिये द्वन्द हुआ करता था। इन कारणों के फलस्वरूप इटली में मध्य युग में किसी राष्ट्रीय राज्य की उत्पत्ति न हो सकी। जर्मनी में सम्राट अपने सामन्तों के ऊपर कोई प्रभावशाली नियन्त्रण नहीं स्थापित कर सका, फलतः वहाँ वास्तविक शक्ति सामन्तों के ही हाथों में रही। अन्य देशों में जैसे फ्रांस और इंगलैण्ड राजाओं ने अपनी शक्ति काफी बढ़ा ली और राज्यों की स्थापना की। इंगलैण्ड और फ्रांस के लोग अलग अलग राष्ट्र हो गये जबकि इटली और जर्मनी में राष्ट्रीयता का नाम भी न था। मध्य युग में स्पेन, पुर्तगाल और स्विट्जरलैण्ड में भी राष्ट्रीयता का उद्‌भव हुआ। हम इन सब देशों में राष्ट्रीय राज्यों की उत्पत्ति के कारणों और उनकी परिस्थितियों के ऊपर अलग अलग विचार करेंगे।

इंगलैण्ड

इंगलैण्ड में विभिन्न आक्रमणकारियों के सामञ्जस्य से एक राष्ट्रीय राज्य की उत्पत्ति हुई। इन आक्रमणकारियों में ऐंग्लो-सैक्सन, नार्मन और डेनीज प्रमुख थे। इंगलैण्ड के इतिहास में नार्मन लोगों की विजय महान् महत्व रखती है क्योंकि इसने ब्रिटेन के एकीकरण का मार्ग प्रदर्शित किया। यद्यपि कई शताब्दियों बाद ही इंगलैण्ड के साथ वेल्स, स्काटलैण्ड और आयरलैण्ड का एकीकरण हो सका तथापि इसकी भावना नार्मन विजयों के फलस्वरूप उत्पन्न हुई। पहले तो नार्मन आक्रमणकारियों ने इंगलैण्ड के निवासियों को विभिन्न प्रकार से अपमानित किया। वे उनको उपेक्षित करते थे और उनकी भाषा का तिरस्कार करते थे। अंग्रेजी भाषा का व्यवहार केवल साधारणजन ही किया करते थे, विद्वानों के व्यवहार की भाषा लैटिन थी और शिष्ट लोगों की भाषा फ्रान्सीसी थी। किन्तु धीरे धीरे इस प्रकार की विद्वेषमयी मनोवृत्ति का अन्त हो गया और नार्मन आक्रमणकारियों और इंगलैण्ड के मूलनिवासियों में परस्पर सामञ्जस्य उत्पन्न हुआ। दोनों जातियों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुये और नार्मन फ्रान्सीसी तथा इंगलैण्ड की भाषा के परस्पर सम्मिश्रण से ही अंग्रेजी के वर्तमान स्वरूप का विकास हुआ। चासर ने अपनी प्रख्यात पुस्तक कैन्टरबरी टेल्स की रचना इसी भाषा में की और वाइक्लिफ ने इस भाषा में ही बाइबिल का अनुवाद प्रस्तुत किया। इंगलैण्ड में विलियम विजेता William, the Conqueror का शासन उल्लेखनीय है। उसने बड़ी ही बुद्धिमतापूर्वक देश का शासन किया। देश में कुछ प्रचलित नियमों के ही आधार पर उसने अपनी शासन-व्यवस्था का संगठन किया। इस शासक ने एक शक्तिशालिनी केन्द्रीय सरकार की स्थापना करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की। उसने दमन किया। यद्यपि शासन-संगठन में सामन्त-प्रथा का आश्रय ग्रहण किया गया था तथापि इस बात का विशेष ध्यान रक्खा गया कि सभी सामन्त राजा के प्रति ही उत्तरदायी हों। इस प्रकार राजा की शक्ति को सुदृढ़

रखने का प्रयत्न किया गया। विलियम विजेता ने अपनी सम्पूर्ण प्रजा की सम्पत्ति का लेखा तैयार करने का आदेश दिया जिससे वह कर की उचित व्यवस्था कर सके।

हेनरी द्वितीय का शासन काल

कानून के विकास की दृष्टि से हेनरी द्वितीय (११५४-११८९) का शासन काल इंग्लैण्ड के इतिहास में महत्वपूर्ण युग है। इंग्लैण्ड की न्याय व्यवस्था उसके पहले काफी गड़बड़ थी। उसने 'असाइजेज' नामक घोषणाओं द्वारा इंग्लैण्ड की न्याय प्रणाली को जन्म दिया। जूरी-प्रथा का उद्भव उसी के समय में हुआ। आज भी ग्रेट ब्रिटेन में कानूनी व्यवस्था की मूलभूत विशेषता जूरी प्रथा ही है। उसी की एजाइजी आफ क्लेरेन्डोन में इंग्लैण्ड की ग्रैन्ड जूरी का स्रोत खोजा जा सकता है। लोगों को इस बात के लिए चुना जाता था कि वे जिन अपराधों को दण्डय समझते हैं उनकी सूचना जूरी को दें।

कामन लॉ के विकास का भी श्रेय हेनरी द्वितीय को ही दिया जा सकता है। इंग्लैण्ड के कानून को लिखित रूप प्रदान नहीं किया गया। इस कानून का आधार सामाजिक नियमादि थे। इंग्लैण्ड में पार्लियामेन्ट का जन्म भी मध्य युग में ही हुआ। मैग्ना कार्टा को सन १२१५ में राजा ने स्वीकृति प्रदान की जिससे शासन में लोकतन्त्रात्मक तत्वों का उद्भव होने लगा। इन सब बातों से लोगों में अपने देश के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ। इस देशानुराग की भावना को महाकवि शेक्सपीयर ने अपने नाटक किंग रिचर्ड में अभिव्यक्ति प्रदान किया है।

फ्रान्स

बारहवीं शताब्दी के पहिले फ्रान्स में राष्ट्रीयता का उदय न हो सका। संयुक्त फ्रान्स का प्रथम राजा फिलिप आगस्टस था। सन ११८० ई० में उसने जब राज्य सिंहासन पर अधिकार किया था उस समय फ्रान्स में सामन्तों की शक्ति बहुत अधिक थी और इंग्लैण्ड का विदेशी नरेश फिलिप आगस्टस से अधिक शक्तिशाली था। परन्तु उसने अपनी मृत्यु के पूर्व यह प्रमाणित कर दिया कि उसकी शक्ति समस्त सामन्तों से कहीं अधिक थी। उसने फ्रान्स के सुदूर भागों में भी अपना प्रभाव जमाया। उसने उन रिवाजों को विनष्ट कर दिया जो सामन्तवादी समाज के लिए अनुकूल थे किन्तु राजा की शक्ति के विरुद्ध थे। [illegible] प्रणाली का प्रचलन किया और एक राष्ट्रीय सैन्य का संगठन किया। उसने अपनी प्रजाओं [illegible] पूर्वक दमन किया और उनको कुछ सम्पन्न जिले देने के लिए बाध्य किया। उसने इंगलैण्ड के राजा जान को नार्मन्डी, आंजोव, टूरेन और पाइटो पर से अपना अधिकार छोड़ने के लिए विवश किया। फिलिप राजा के राज्य की सीमा का दूना विस्तार हुआ और देश की अधिकांश भूमि पर उसका अधिकार हो गया। फ्रान्स के इतिहास में यह प्रथम अवसर था जब कि एक राजा की शक्ति समस्त सामन्तों की अपेक्षा अधिक हो गई।

फिलिप के बाद की तीन शताब्दियों में राष्ट्रीयता के विकास का कार्य अधिक वेग के साथ सम्पन्न हुआ। राजा की शक्ति में दिनोदिन अभिवृद्धि होती गई और एक एक करके बड़े बड़े सामन्तों को राजा के सामने आत्म समर्पण करना पड़ा। उनके द्वारा अधिकृत भूभाग को राजा अपने अधिकार में करने लगे। नवम लुई को सामन्तों की शक्ति का दमन करने का श्रेय प्राप्त है। उसने नगर के धनी व्यापारियों को प्रोत्साहन दिया और उनसे अपने पक्ष में कर के अपनी शक्ति को बढ़ाया। उसने सामन्तों को इस बात के लिए विवश किया कि वे राजकीय न्यायालयों में ही अपने मामलों का निर्णय करायें और अन्तिम निर्णय राजकीय न्यायालय का ही मान्य होगा। इस प्रकार लुई नवम ने फ्रान्स में सामन्तों के भिन्न भिन्न अनेक न्यायालयों की शक्ति को कम कर दिया। फिलिप चतुर्थ ने राजा की [illegible] अभिवृद्धि की। उसने पोप बोनिफेस अष्टम को भी एक प्रश्न पर पराजित कर दिया। फ्रान्स में राष्ट्रीय भावों के विकास में सौ वर्षों के युद्ध (Hundred years war) से काफी सहायता मिली यद्यपि इस युद्ध से फ्रान्स के निवासियों को काफी कष्ट हुआ। इस युद्ध के फलस्वरूप फ्रान्सीसियों के हृदयों में [illegible] राष्ट्रीयता के भाव [illegible] कि जहाँ जहाँ उनका अधिकार था वहाँ से अंग्रेज भगा दिये गये। केलेस पर सन १५५८ तक अंग्रेजों का अधिकार रहा। फ्रान्स में शनैः शनैः बढ़ती हुई राजा की शक्ति निरंकुश हो गई।

अन्य देशों में राष्ट्रीयता का उद्भव

स्पेन में मूरों के आधिपत्य के विषय में हम पीछे पढ़ चुके हैं। सन् १२३८ तक मुसलमानों को स्पेन के बाहर खदेर दिया गया। इस समय स्पेन के प्रायद्वीप में तीन राज्य थे, आरगन, केस्टाइल और पुर्तगाल। पहले पुर्तगाल केस्टाइल का अधीनस्थ राज्य था किन्तु सन् ११४० में पुर्तगाल के शासक ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। उसने राजा की उपाधि ग्रहण कर ली। केस्टाइल और आरागान में परस्पर युद्ध हुआ करते थे किन्तु सन् १४७६ में आरागन के फर्डिनेन्ड और केस्टाइल की उत्तराधिकारिणी आइजावेला में परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने से दोनों राज्यों में एकता हो गई और जब ग्रेनेडा को विजित कर लिया गया तो समस्त स्पेन को एक ही शासन व्यवस्था के अधीन किया गया। अब स्पेन एक राष्ट्र हो गया। फर्डिनेन्ड और आइजावेला ने स्पेन में निरंकुश राजतन्त्र स्थापित करने में काफी सफलता प्राप्त की। उन्होंने चर्च न्यायालयों की कुछ शक्तियाँ छीन लीं और सामन्तों की शक्ति को कम कर दिया। उन्होंने यह घोषित किया कि उनके राज्य में जितने भी यहूदी हैं वे या तो ईसाई धर्म स्वीकार कर लें या स्पेन को छोड़ कर बाहर चले जाय। सेना की शक्ति को भी उन्होंने सुदृढ़ किया। इन दोनों के प्रयत्नों ने स्पेन की शक्ति में इतनी अधिक अभिवृद्धि की कि बाद में चलकर अट्ठारहवीं शताब्दी में पश्चिमी जगत में स्पेन ही सर्व शक्तिशाली राष्ट्र हो गया।

मध्य युग की समाप्ति के समय योरप में पोलैण्ड सब से बड़ा राज्य था परन्तु किन्तु यह न तो सब से अधिक शक्तिशाली था और न सब से अधिक समृद्ध। सन् १३८६ ईसवी में पोलैण्ड और लिथुनिया नामक राज्य एक वैवाहिक सम्बन्ध के द्वारा परस्पर संयुक्त हो गये। पोलैण्ड में सामन्तों की शक्ति इतनी अधिक हो गई कि राजा केवल नाममात्र ही रह गया। वे लोगों को सताते थे और विविध प्रकार से उनको अपमानित करते थे। सामन्तों के अन्याय और उत्पीड़न ने पोलैण्ड की शक्ति को इतनी खोखली कर दिया कि अट्ठारहवीं शताब्दी में तीन शक्तिशाली राज्यों ने मिलकर देश का विभाजन कर दिया। पोलैण्ड का विभाजन योरपीय राजनीति की स्वार्थपरता और अन्याय-नीति को सूचित करता है किन्तु इसके लिए समस्त दोष हम इन राज्यों के ही गले नहीं मढ़ सकते क्योंकि पोलैण्ड की आन्तरिक दुर्बलता ने उनको इस बात का आमन्त्रण दिया कि वे हस्तक्षेप द्वारा अपनी स्वार्थ सिद्धि करें।

स्विट्जरलैण्ड के राष्ट्र-निर्माण [illegible] है। स्विट्जरलैण्ड के निवासी स्वतन्त्रताप्रिय और वीर थे और उन्होंने अपने को [illegible]। उन्होंने राजाओं, सेनानायकों और सामन्तों का डटकर विरोध किया और इस [illegible] दिनों के बाद स्विट्जरलैण्ड वालों ने अपने देश में गणतन्त्रात्मक सरकार स्थापित की। तेरहवीं शताब्दी में स्विट्जरलैण्ड की तरह योरप में कोई अन्य देश नहीं था। स्विट्जरलैण्ड के सभी प्रान्तों (cantons) ने आपस में मिलकर जर्मनी, इटली और फ्रान्स से आये हुये [illegible] के नेतृत्व में स्विट्जरलैण्ड पर आक्रमण करने के लिए आये थे, पराजित कर दिया। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त समय में स्विट्जरलैण्ड साम्राज्य से बिल्कुल पृथक हो गया और वहां एक प्रजातन्त्रात्मक शासन पद्धति स्थापित की गई।

योरप में राष्ट्रीय राज्यों के उदय का राजनैतिक महत्व विशेष है किन्तु इसका पूर्ण प्रस्फुटन मध्य युग में न हो सका। पवित्र रोमन साम्राज्य के कारण राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना सम्पूर्ण योरप में नहीं हो सकी और न राष्ट्रीयता के भावों का समुचित प्रसार ही। पुनर्जागरण काल के बाद राष्ट्रीयता और देशभक्ति की एक लहर सी दौड़ पड़ी। इसके विषय में हम आगे पढ़ेंगे। अब हम मध्य युग की संस्कृति का अध्ययन करेंगे।

—:o:—

चौबीसवाँ अध्याय

मध्य युग की योरपीय सभ्यता और संस्कृति

मानव-सभ्यता का इतिहास जानने के लिए हमें सभी कालों की सांस्कृतिक अवस्था से अपने को अवगत कराना पड़ता है। प्राचीन मिस्र, यूनान अथवा रोम की सभ्यता का आकर्षण और जादू जिन पाठकों के मस्तिष्क पर जम चुका है वे मध्य-कालीन सभ्यता की अवहेलना की दृष्टि से देखना चाहेंगे किन्तु यह बात सर्वथा अनुचित है। मध्य-काल की योरपीय सभ्यता सांस्कृति आदान-प्रदान तथा समन्वय का द्योतक करती है और इस महत्वपूर्ण तथ्य की पुष्टि करती है कि सभ्यता के लिए कूपमण्डूकता से अधिक हानिकारिणी कोई दूसरी वस्तु नहीं है और अराजकता तथा अव्यवस्था भले ही सभ्यता के विकास-क्रम को कुछ काल के लिये अवरुद्ध कर दें किन्तु अन्ततोगत्वा मनुष्य की जिजीविषा और प्रगति की इच्छा ही विजयिनी सिद्ध होती है। मध्यकाल के अन्त में जिस सभ्यता का विकास हुआ उसने आधुनिक विश्व के निर्माण में बहुमूल्य सहायता प्रदान की इस सभ्यता में अनेक सभ्यताओं का सम्मिश्रण था जिससे अध्ययन की दृष्टि से इनका महत्व बहुत अधिक है। जब हम मध्य युग की सांस्कृतिक देनों का उल्लेख करेंगे तब इस सभ्यता का महत्व बहुत अच्छी तरह से समझ में आ जायगा। इस समय हमें इसके स्वरूप पर विचार कर लेना चाहिये। सर्वप्रथम हम शिक्षा और दर्शन की ही ओर अभिमुख होते हैं।

शिक्षा

मध्ययुगीन योरप में शिक्षा की उन्नति काफी हुई। शार्लमेन ने शिक्षा की आवश्यकता पर जो बल प्रदान किया उसे हम देख चुके हैं। उसने एक विद्यालय स्थापित कराया था और अन्य स्थानों से विख्यात और विद्वान अध्यापकों को बुलाकर उन्हें विद्यालय में अध्यापन कार्य करने के लिये नियुक्त करता था। शार्लमेन की मृत्यु के पश्चात शिक्षा का दायित्व चर्च के ऊपर आ पड़ा। चर्च ने शिक्षा से यूनानी और लैटिन भाषाओं का अध्ययन निकाल दिया क्योंकि इस अध्ययन का चर्च की शिक्षाओं से कोई सम्बन्ध न था बल्कि चर्च की विचारधाराओं से इसका विरोध सा था। चर्च की दृष्टि से शिक्षा का उद्देश्य केवल यही था कि वह लोगों को चर्च के कार्यों का सम्पादन करने की योग्यता प्रदान करे, इसलिए पाठ्य क्रम में प्रार्थना गीतों, स्तोत्रों और व्याकरण लेखन तथा अंकगणित आदि विषय ही थे।

जब आक्रमणकारियों ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया तब चर्च का प्रभुत्व बहुत अधिक बढ़ गया। चर्च के अधिकारियों ने नये अनुयायियों को शिक्षा देने की आवश्यकता का अनुभव किया। पाठशालायें स्थापित की गईं जहाँ पर लोगों को शिक्षा प्रदान की जाती थी। चर्च की शिक्षा में बौद्धिक-विकास की ओर कम और नैतिक उत्थान की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। चर्च द्वारा स्थापित विद्यालयों में इहलौकिक ज्ञान को गौण स्थान प्राप्त था। शायद चर्च के अधिकारी इस ज्ञान को प्रदान करना अपना कर्तव्य ही नहीं समझते थे। जर्मनी में चर्च-पाठशालाओं की संख्या बहुत अधिक थी। इन विद्यालयों में शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी। नवीं शताब्दी की गड़बड़ी के बावजूद भी ये पाठशालायें अपना कार्य करती रहीं और इन्होंने "ओटोनियन रेनासां" को जन्म दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस समय शिक्षा के क्षेत्र में जर्मनी फ्रान्स की अपेक्षा कहीं आगे बढ़ा हुआ था। फ्रान्स के विद्यालयों को कैरोलिंजियन वंश के पतन और नार्मन के आक्रमणकारियों द्वारा गहरा धक्का लगा। चर्च ने जिन पाठशालाओं की व्यवस्था कराई थी उनमें प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने वालों से कोई शुल्क नहीं लिया जाता था किन्तु अन्य छात्रों को कुछ साधारण शुल्क देना पड़ता था। कुछ पाठशालाओं की अवस्था काफी सन्तोषजनक थी। केन्टरबरी के स्कूल में एक [illegible]

पुस्तकालय था जिसका मंत्रित्व पद मध्य युग के प्रसिद्ध विद्वान और दार्शनिक जान आव सेलिसबरी ने भी ग्रहण किया था।

चर्च-पाठशालाओं में शिक्षा का माध्यम लैटिन थी। सात "उदार कलाओं" (Liberal Arts) की शिक्षा पर ध्यान दिया जाता था। इनको दो भागों में विभक्त कर दिया गया था। पहले को ट्रिवियम (trivium) और दूसरे को क्वाड्रियम कहते थे। ट्रिवियम के अन्तर्गत व्याकरण, व्याख्यान कला और तर्क शास्त्र का अध्ययन करना पड़ता था और क्वाड्रियम में अंकगणित, ज्योमिति, ज्योतिष और संगीत—ये चार विषय सम्मिलित थे। इन सातों "कलाओं" का रूप बिलकुल आधुनिक न था बल्कि इनका अर्थ आज के अर्थ से काफी भिन्न था। विद्यार्थियों को अनुशासन और आज्ञापालन पर बहुत ध्यान देना पड़ता था। उनको अध्यापकगण कोड़े से दण्ड देते थे। चर्च के अधीन शिक्षा का स्वरूप अत्यन्त सीमित था किन्तु कुछ शिक्षित यूनानियों और अन्य लोगों के ईसाई धर्म स्वीकार कर लेने पर शिक्षा का विषय और क्षेत्र कुछ विस्तृत हो गया। सिकन्दरिया और एन्टियोक के विद्यालय, जो पहले अपनी दार्शनिक शिक्षा के लिये प्रसिद्ध थे। इस समय ईसाइयों के अधिकार में आ गये और यहाँ पर ईसाई धर्म के सिद्धान्तों की शिक्षा दी जाती थी किन्तु अन्य प्रकार की विद्या की उपेक्षा नहीं की जाती थी। इन विद्यालयों में यूनान और रोम के इहलोक-परक साहित्य का भी पठन-पाठन होता था। लेकिन इस प्रकार की पाठशालायें अधिक दिन तक उन्नति न कर सकीं। चर्च के धार्मिक दृष्टिकोण की संकीर्णता के कारण अईसाई शिक्षा को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था। शिक्षा में बौद्धिक और तार्किक आलोचना-वृत्ति का प्रायः बिलकुल अभाव था।

व्यापारिक क्रान्ति ने शिक्षा के स्वरूप में महान परिवर्तन उपस्थित कर दिया। व्यावसायिक और व्यापारिक नगरों में ऐसे शिक्षालय खोले गये जहां पर बालकों और युवकों को उद्योग-धन्धों की शिक्षा दी जाती थी। विभिन्न औद्योगिक श्रेणियाँ लोगों को अपने अपने धन्धों में कुशलता प्रदान करने के लिए पाठशालाओं की व्यवस्था करती थीं। यहाँ पर लोग शिक्षा प्राप्त कर अनुभवी और कुशल कारीगर हो जाते थे। इस प्रकार की शिक्षा के प्रारम्भ हो जाने पर ऐसी पाठशालायें खोली गईं जहाँ पर इहलोक परक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। यद्यपि चर्च के अधिकारियों ने इस शिक्षा का बहुत विरोध किया तथापि इन पाठशालाओं की उन्नति में रुकावट नहीं उत्पन्न हो सकी। इन विद्यालयों में विद्यार्थियों को शुल्क देना पड़ता था। कुछ अध्यापकों ने व्यक्तिगत रूप से पाठशालायें स्थापित की थीं जहाँ पर वे विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे और उनसे कुछ शुल्क प्राप्त करते थे। सामन्तों के बालकों की शिक्षा का भी प्रबन्ध होता था किन्तु इस शिक्षा के पाठ्य-क्रम में लिखने पढ़ने का कोई स्थान नहीं था। बालकों को राजसभाओं और सामन्तवर्ग के शिष्टाचार की शिक्षा दी जाती थी और अश्वारोहण तथा शस्त्राभ्यास ये ही शिक्षा के प्रमुख विषय थे। जिस बालक को आगे चलकर सामन्त बनना होता था उसे उसका पिता किसी सामन्त के घर भेज दिया करता था जहाँ पर बालक अपने गुरु की सेवा करता था और उनसे आचरण-सम्बन्धी शिक्षा ग्रहण किया करता था। इक्कीस वर्ष की आयु-पर्यन्त वह अपने सामन्त गुरु के यहाँ रहता था बाद में वह भी सामन्त हो जाता था। मध्य युग की शिक्षा के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण देन है- विश्वविद्यालयों की स्थापना। इसलिए हमें अब मध्य युग के विश्वविद्यालयों का भी कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए।

मध्य युग में विश्व-विद्यालयों की स्थापना एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक घटना है। विश्वविद्यालयों के उदय के दो प्रमुख कारण थे। पहला कारण तो था यूनान के दर्शन और विज्ञान तथा रोम के कानून का पुनरनुसन्धान। तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही लोगों की अभिरुचि उच्च शिक्षा की ओर हुई। इसके अतिरिक्त सुयोग्य व्यक्तियों की माँग भी इस युग में बढ़ गई। राज्य और चर्च को योग्य और सुशिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता थी। शिक्षा ही चर्च और राज्य के उच्च पदों को प्राप्त करने का साधन थी। विद्यार्थियों की संख्या बहुत बढ़ जाने पर अध्यापकों की

विश्व-विद्यालयों का उदय

आवश्यकता पड़ी। जिससे अध्यापन-कार्य भी एक प्रमुख व्यवसाय हो गया। महत्त्वाकांक्षी नवयुवक कानून का अध्ययन करने के लिए बोलोगना के विश्वविद्यालय, चिकित्सा शास्त्र

के लिए सालेरनो विश्वविद्यालय और धार्मिक शिक्षा के अध्ययन के लिए पेरिस के विश्वविद्यालय के द्वार खटखटाने लगे। दूसरा कारण यह था कि आर्थिक क्रान्ति के फलस्वरूप जो समृद्धि उत्पन्न हुई उससे लोगों को विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा प्राप्त करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। तेरहवीं शताब्दी में कम से कम उन्नीस विश्वविद्यालय थे किन्तु पुनरुज्जीवन काल के समय तक उनकी संख्या पश्चिमी योरप में सत्तर से भी अधिक हो गई।

मध्य युग के विद्यालयों का संगठन आधुनिक विश्वविद्यालयों से काफी भिन्न था। किन्तु इसके पहले प्राचीन रोम अथवा यूनान में मध्य युग के विश्वविद्यालयों जैसी कोई संस्था न थी। "यूनीवर्सिटी" शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द यूनीवर्सिटास से हुई है। इस शब्द का अर्थ होता है "सहयोग संस्था" (Carporation) मध्य युग के विश्व विद्यालयों का संगठन व्यापारी संघों के आधार पर होता था। अध्यापकों का एक समूह भी यूनीवर्सिटी कहा जा सकता था। यूनीवर्सिटी अध्यापकों और छात्रों की एक संस्था थी। विद्यार्थियों और अध्यापकों का एक व्यवसाय था। यह व्यवसाय था-विद्या की कारीगरी। विद्यार्थियों की स्थिति ठीक व्यापारी-संघ और औद्योगिक श्रेणियों के उन लोगों से मिलती-जुलती थी जो अपने उद्योग-धन्धे और व्यापार की शिक्षा प्राप्त करते थे। अध्यापक इस कारीगरी के ज्ञाता थे

विश्व विद्यालयों का संगठन

और जो लोग इसमें निपुणता प्राप्त करना चाहते थे उनकी योग्यता की वे जाँच करते थे और उन्हें आवश्यक शिक्षा प्रदान करते थे। कुछ दिनों की शिक्षा प्राप्त कर लेने के उपरान्त विद्यार्थी को परीक्षा देनी पड़ती थी। परीक्षा में सफलता प्राप्त कर लेने पर वे "Bachelor" हो जाते थे। तब वह पढ़ाना प्रारम्भ करता था। यह स्थिति व्यापारी संघ के Journeyman की स्थिति से बहुत मिलती थी। अन्त में और अधिक अध्ययन तथा अन्य कई परीक्षाओं के द्वारा वह अध्यापकों के वर्ग में सम्मिलित हो जाता था। विश्वविद्यालयों में न तो रजिस्टर होते थे और न भवन ही विशाल या आकर्षक होते थे। कमरों में बिना किसी मेज-कुर्सी आदि के विद्यार्थी अपने अध्यापक के साथ एकत्र होते थे और अध्ययन कार्य करते थे।

तेरहवीं शताब्दी में पेरिस के विश्वविद्यालय में चार प्रमुख विभाग थे, (१) कला-विभाग (२) कानून शास्त्र, (३) चिकित्सा विज्ञान और (४) धर्म शास्त्र। इस विभाग को फेकल्टी (faculty) कहा जाता था। प्रत्येक फेकल्टी का एक अध्यक्ष होता था जिसे डीन (dean) कहा जाता था। आर्ट्स फेकल्टी को राष्ट्रीयता के आधार पर चार वर्गों में बाँट दिया गया था (१) फ्रान्सीसी, (२) नार्मन, (३) पिकार्ड और (४) अंग्रेज। प्रत्येक वर्ग के शासन के लिए एक प्राक्टर होता था जिसको विद्यार्थी स्वयं चुनते थे। अपनी सुविधाओं के उद्देश्य से विद्यार्थी अपने नियम बना लेते थे। वे पारस्परिक सहयोग के आधार पर अपने संगठन का निर्माण करते थे। वे एक दूसरे की सहायता किया करते थे और अपने अपमान का प्रतिकार करते थे। पेरिस का विश्वविद्यालय शीघ्र ही सम्पूर्ण योरप में विख्यात हो गया और राज्य तथा चर्च की ओर से उसको सुविधायें प्राप्त होने लगीं।

मध्य युग में प्रारम्भ में "उदार कलाओं" का अध्ययन ही काफी समझा जाता था किन्तु बाद में यह अध्ययन विश्व-विद्यालय की उच्च शिक्षा के लिए पृष्ठभूमि हो गया। ट्रिवियम और क्वाड्रिवियम को उत्तीर्ण कर लेने के उपरान्त विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुसार चिकित्सा विज्ञान, धर्म-शास्त्र अथवा कानून का अध्ययन करने के लिए विश्वविद्यालय में प्रवेश करता था। विश्व-विद्यालय में प्रवेश चाहने वाले छात्रों को पहले एक परीक्षा देनी पड़ती थी जिससे यह

विश्व-विद्यालयों की शिक्षा का पाठ्य क्रम

निर्णय किया जाता था कि उसमें उच्च शिक्षा प्राप्त करने की योग्यता है अथवा नहीं। इस परीक्षा के बावजूद भी बहुत से अयोग्य और अनुत्सुक छात्र भी विश्वविद्यालय में प्रवेश प्राप्त कर लेते थे। 'मास्टर' (master's degree) की उपाधि को प्राप्त करने के लिए छः वर्षों का कोर्स पूरा करना पड़ता था। शिक्षा मौखिक रूप में दी जाती थी। मुद्रण यन्त्र का आविष्कार अभी न होने के कारण पाठ्य-पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ अपने ही हाथों से तैयार करते थे और अध्यापक के साथ उन्हें कक्षा में पढ़ते थे। विद्यार्थी अध्यापक के व्याख्यानों (lectures) के नोट्स तैयार करते थे।

कभी कभी अध्यापकों, मेधावी छात्रों और अन्य विद्वानों के पारस्परिक शास्त्रार्थ होते थे। ये शास्त्रार्थ बड़े मनोरंजक होते थे। अधिकतर शास्त्रार्थ धार्मिक विषयों पर ही हुआ करते थे जिनमें शास्त्रार्थ करने वाले विद्वान धर्म ग्रन्थों से लम्बे लम्बे उद्धरण द्वारा अपने पाण्डित्य सूचित करते थे। कुछ लोगों में तो इन शास्त्रार्थों द्वारा विचार स्वातन्त्र्य और विचार शक्ति का प्रादुर्भाव होता था किन्तु अधिकांश लोगों में शब्द जाल के प्रति अनुराग और छोटी छोटी बातों पर आवश्यकता से अधिक विवाद करने की इच्छा उत्पन्न होती थी।

मध्य काल में किसी भी आयु का व्यक्ति विद्यार्थी हो सकता था। विद्यार्थी अपने को जीविकोपार्जन के योग्य बनाने के लिए विश्वविद्यालय में प्रविष्ट होता था। विद्यार्थी को कोई विशिष्ट वेश-भूषा नहीं धारण करना पड़ता था लेकिन उसे शिष्टाचार पर ध्यान अवश्य देना पड़ता था। विश्वविद्यालय में बहुत से निर्धन छात्र भी होते थे जिनके भरण पोषण का भार उनके धनी साथी उठाते थे अथवा उन्हें अन्यत्र कहीं से सहायता प्राप्त होती थी। दीन छात्रों का जीवन काफी यन्त्रणामय होता था। वे घोड़ों के अस्तबल में रहते थे और अपने सहायकों की कृपा पर अवलम्बित रहते थे। लेकिन दूसरी ओर सम्पन्न छात्रों का जीवन बहुत अनैतिक और विलासमय होता था। पेरिस के विश्वविद्यालय में धर्म शास्त्र की शिक्षा दी जाती थी किन्तु वहाँ के विद्यार्थियों का चरित्र सबसे अधिक दूषित था। वे प्रायः वेश्यागमन करते थे और व्यभिचार उनका सबसे प्रमुख दुर्गुण था। इसके अतिरिक्त विभिन्न राष्ट्रों के विद्यार्थियों में प्रायः पारस्परिक झगड़े हुआ करते थे और एक दूसरे को वे घृणा की दृष्टि से देखा करते थे। कभी कभी विश्वविद्यालय के छात्रों और नगर निवासियों में लड़ाइयाँ हो जाया करती थीं जिनमें लोगों की सम्पत्ति बर्बाद हो जाती थी और अनेक लोग आहत हो जाते थे। सुरापान भी विद्यार्थियों का एक चारित्रिक दोष था और जुआ खेलना तथा चोरी करना भी वे अनुचित नहीं समझते थे। लेकिन हमें यह न समझना चाहिए कि मध्य युग के समस्त विद्यार्थी दुश्चरित्र, सुस्त और अध्ययन के प्रति पराङ्मुख होते थे। अध्ययनशील विद्यार्थी बड़े परिश्रम और अध्यवसाय द्वारा शिक्षा प्राप्त करते थे। कानून के विश्वविद्यालय को छोड़कर अन्य विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों को कठोर परिश्रम करना पड़ता था।

विद्यार्थियों का जीवन

आज के मापदण्ड से मध्यकालीन शिक्षा में हमें दोष ही अधिक दिखाई पड़ेंगे। सबसे पहला दोष तो यही था कि इस शिक्षा द्वारा विद्यार्थी की स्वतन्त्र मौलिक शक्ति का ह्रास हो जाता था। उसे अपने ज्ञान के लिए अपने अध्यापक पर ही निर्भर रहना पड़ता था। वह जो कुछ ज्ञान अर्जित करता था वह स्मरण शक्ति पर ही आधारित होता था। समालोचना शक्ति का विद्यार्थी में विकास नहीं हो पाता था और उसका दृष्टिकोण संकीर्ण रहता था। शिक्षा में तर्कशास्त्र को बहुत अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होने के कारण और अरस्तू के कथनों को ब्रह्मवाक्य समझने के कारण विद्यार्थी स्वतन्त्र निरीक्षण पद्धति का अवलम्बन करने की आवश्यकता ही नहीं समझता था। यही कारण है कि विश्वविद्यालयों ने मध्ययुग में वैज्ञानिक विकास में कोई महत्वपूर्ण योग नहीं दिया। विद्यार्थी समझते थे कि वे प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन तर्क पद्धति का आश्रय ग्रहण करके कर सकते हैं। विद्यार्थियों में बाल की खाल निकालने की शक्ति तो आ जाती थी किन्तु उसे स्वतन्त्र निरीक्षण शक्ति से वंचित रहना पड़ता था।

मध्यकालीन शिक्षा की विवेचना

लेकिन हमारी उपर्युक्त विवेचना आधुनिक दृष्टिकोण द्वारा प्रेरित है। मध्य युग में इसी शिक्षा पद्धति ने प्राचीन ज्ञान को सुरक्षित रखा और उसे हमें प्रदान किया। विश्वविद्यालयों से ही उस युग के अधिकांश चर्च अधिकारी, शासनाधिकारी, वकील और चिकित्सक निकलते थे। युग के सांस्कृतिक विकास में विश्वविद्यालयों ने महत्वपूर्ण भाग लिया। उन्होंने विद्या और बुद्धि के प्रति लोगों में सम्मान की भावना उत्पन्न की। विश्वविद्यालय के स्नातकों ने भावी युग के सृजन में बहुमूल्य सहायता प्रदान की। हमें इस बात के लिए ही मध्यकाल के लोगों का कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने विश्वविद्यालयों को जन्म दिया। हम मध्ययुग की अनेक देनों को अब कुछ कम महत्वकारी समझने लगे हैं किन्तु विश्वविद्यालय आज भी हमारे सांस्कृतिक जीवन के महत्वपूर्ण अंग बने हुए हैं।

विज्ञान

प्रायः आज अनेक लोगों की यह धारणा है कि आधुनिक विज्ञान की उत्पत्ति यूनान में हुई थी और पुनरुज्जीवन काल के बाद उसका तीव्र गति से विकास होने लगा। मध्ययुग ने वैज्ञानिक प्रगति में कोई योग नहीं दिया। किन्तु यह विचारधारा भ्रान्तिमयी है। आधुनिक विज्ञान प्राचीन विज्ञान की ही उत्पत्ति नहीं है वरन इसके विकास में मध्य काल के वैज्ञानिकों का भी हाथ है। परवर्ती मध्ययुग में वैज्ञानिक विचार-धारा की उन्नति हुई। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि योरप में अरबों के सम्पर्क के पहिले विज्ञान उन्नति की बहुत कम हुई। क्रूसेडों के बाद ही वैज्ञानिक प्रगति का एक झोंका आया। अरबों का वैज्ञानिक ज्ञान पश्चिमी योरप के निवासियों को क्रूसेडों द्वारा प्राप्त होने पर ईसाईयों में विज्ञान के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हुई। इस बात के लिए यूरोप वालों को अरबों का ऋण स्वीकार करना चाहिए।

अरबों के वैज्ञानिक ज्ञान में अभिरुचि प्रदर्शित करने वाले विद्वानों में गेरार्ड का नाम अग्रगण्य है। उसी ने सर्वप्रथम पश्चिमी योरप में यूनान के वैज्ञानिक ज्ञान का प्रचलन किया। उसने टोलमी नामक सुविख्यात विद्वान के प्रसिद्ध ग्रन्थ एलमेजेस्ट (Almagest) का और अरबी भाषा की सत्तर पुस्तकों का अनुवाद किया। मध्य युग में विज्ञान की लगभग समस्त शाखाओं में उन्नति की गई। गणित में लियोनार्ड आफ पिसा ने ईसाईयों को हिन्दू संख्या-पद्धति से परिचित कराया। उसने ही सबसे पहले समीकरण को संक्षिप्त करने में संख्या के स्थान पर अक्षरों का प्रयोग करना प्रारम्भ किया और उसी ने कदाचित योरप में सबसे पहले ज्योमिति सम्बन्धी प्रश्नों के हल में बीजगणित के तरीकों का प्रयोग किया। रोजर बेकन ने इस बात का उल्लेख किया है कि उसके समय में लोग गणित के अध्ययन में दस या बीस दिन व्यतीत करते थे। थामस ब्राडवारडाइन ने "स्पेकुलेटिव जीओमेट्री" लिखी। खगोल विद्या की काफी उन्नति हुई। यद्यपि मध्यकाल में अन्धविश्वासों का प्रचार बहुत अधिक था तथापि बाद में इस विद्या के अध्ययन में प्रत्यक्ष निरीक्षण की प्रवृत्ति प्रयोग में आने लगी। खगोल विद्या के विद्वान आकाश और उसके ग्रहों तथा नक्षत्रों का निरीक्षण करते थे। पीटर पेरीग्रिनस के कार्य को 'मध्ययुग में प्रायोगिक शोध कार्य के सर्वमहान प्रतीकों में से एक" कहा गया। यद्यपि यन्त्रों के अभाव में वैज्ञानिकों के सारे निष्कर्ष बिल्कुल ठीक नहीं उतरते थे, तथापि खगोल विद्या के क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण कार्य किये गये।

भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में Vacuums, Syphoning, perspective, और optics आदि विषयों में ज्ञान की काफी अभिवृद्धि हुई। तेरहवीं शताब्दी में जारडेनस नेमोरेरियस ने भार और गिरने वाले पदार्थों पर एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी। अरस्तू को भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में अत्यन्त सीमित ज्ञान था। इस युग के वैज्ञानिक उससे संतुष्ट नहीं रहे बल्कि उन्होंने उससे आगे बढ़ने का प्रयत्न किया। इन्द्रधनुष का लैटिन भाषा में डीट्रिक वान फ्रीबर्ग ने बड़ा सुन्दर विवरण लिखा। अरस्तू के सिद्धान्तों की इस युग के वैज्ञानिकों ने आलोचना भी की। Optics के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया गया। अरबी भाषा में लिखे हुए अल-हेजन नामक विद्वान के ग्रन्थों के लैटिन अनुवाद ने विद्वानों को बहुत अधिक सहायता दी। आँख के विषय में भी गहन अध्ययन किया गया उसके फलस्वरूप चश्मे का आविष्कार किया गया।

मध्य युग के अन्तिम समय में मनुष्य के भौगोलिक ज्ञान में काफी अभिवृद्धि हुई लोगों ने सुदूर देशों की यात्रा की और वहाँ की प्रकृति तथा निवासियों के रहन-सहन का ज्ञान प्राप्त किया। अरब के व्यापारियों ने अपनी यात्राओं के जो विवरण लिखे थे उनके द्वारा भी पश्चिमी योरप के निवासियों को भूगोल के विषय में अधिक ज्ञान प्राप्त हुआ। मार्को पोलो के यात्रा-विवरण को पढ़कर लोगों का मानसिक क्षितिज भी विस्तृत हुआ और उनकी कूपमण्डूकता का निराकरण हुआ। चीन का हाल जानकर योरप के लोग बहुत अधिक प्रभावित हुये।

अन्धविश्वासों के प्राधान्य के बावजूद भी चिकित्सा विज्ञान की उन्नति हुई। सलेरनो, मान्टपेलियर और पडुआ के विश्वविद्यालयों में चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन किया जाता था। विभिन्न रोगों पर पुस्तकों की रचना की गई।

सिर के दर्द, बाल झरने, वात रोग, मूत्रेन्द्रिय-रोग, नाड़ी, स्नान, भोजन, चीरा-फाड़ी और शरीर-रचना शास्त्र पर विद्वानों ने अपने प्रयोगों और निरीक्षणों को लिखित रूप प्रदान किया। सालेरनो के विश्वविद्यालय से चिकित्सा विज्ञान की समस्त शाखाओं पर महत्त्वपूर्ण वस्तुयें उपलब्ध हुई हैं। आरकीमेथियस (Archimatheus) ने शय्याग्रस्त रोगी के उपचार के विषय में कुछ हिदायतें दी हैं। उसने बताया है कि चिकित्सक को रोगी की स्थिति सदैव गम्भीर और चिन्ताजनक समझना और बताना चाहिये जिससे रोगी की मृत्यु हो जाने पर उसके ऊपर आरोप न लगाया जा सके और उसके रोगमुक्त हो जाने पर उसके कार्य को आश्चर्यजनक समझा जाय। उसे अपना चरित्र बिल्कुल विशुद्ध रखना चाहिये और रोगी की पत्नी, पुत्री अथवा नौकरानी के साथ दुराचार नहीं करना चाहिये। यदि किसी औषधि की आवश्यकता न भी हो तो भी उसे आवश्यक काढ़ा इत्यादि रोगी के सेवन के लिये बता देना चाहिये। कई नगरों में चिकित्सा शास्त्र के लिये विद्यालय स्थापित कराये गये जहाँ पर यूनानी, अरबी और जूडा के चिकित्सा शास्त्रों का समन्वित रूप से अध्ययन किया जाता था। प्राचीन चिकित्सा विधियाँ अब भी प्रयुक्त की जाती थीं और प्रत्येक रोग की चिकित्सा में आहार की समुचित व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया जाता था। रोग-निवारणार्थ चिकित्सा पद्धति का अवलम्बन किया जाता था और केवल जादू टोने पर निर्भर रहने की प्रथा को लोग धीरे धीरे छोड़ने का प्रयत्न करने लगे। प्रत्येक नगर में चिकित्सक नियुक्त किये जाते थे जो रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा करते थे। स्पेन में म्युनिसिपल बोर्ड की ओर से एक अनुभवी चिकित्सक नगर निवासियों के स्वास्थ्य की देख-रेख करता था और समय-समय पर नगर का भ्रमण करके लोगों को उनके स्वास्थ्य के विषय में परामर्श दिया करता था। मध्य युग में चीरा फाड़ी के ऊपर कुछ प्रतिबन्ध थे फिर भी इसकी उन्नति काफी जल्दी हुई। चीराफाड़ी पर पुस्तकें लिखी गईं और प्रायोगिक कार्य भी किया गया।

मध्य युग के तीन वैज्ञानिकों का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है—(१) बाथ के एडेलार्ड (२) एलबर्ट द ग्रेट और (३) रोजर बेकन। एडेलार्ड का दृष्टिकोण संकीर्ण नहीं था। उसने ईसाइयों के विज्ञान को मुसलमानों के विज्ञान से अधिक पसन्द किया और तर्क का आश्रय ग्रहण करने पर विशेष बल प्रदान किया। उसने अपनी शिक्षा के सम्बन्ध में स्पेन की यात्रा भी की थी। वह पेरिस में अध्यापन कार्य करता था। उसने यूक्लिड द्वारा लिखे गये एक ग्रन्थ का अरबी से अनुवाद किया। उसने गणित पर अनेक पुस्तकें लिखीं। पश्चिमी योरप के बौद्धिक जागरण में एडेलार्ड का महत्वपूर्ण योग है। एलबर्ट मैगनस में एडेलार्ड की अपेक्षा वैज्ञानिक प्रवृत्ति कम थी परन्तु उसके अन्दर जिज्ञासा बहुत अधिक थी। उसने विज्ञान के क्षेत्र में इतना वृहत कार्य किया कि उसको महान की पदवी दी गई। एलबर्ट ने दर्शन और विज्ञान के ग्रंथों से टीका सम्बन्धी पुस्तकें लिखीं। उसने यूनानी, अरबी और जूडा के प्राचीन विद्वानों के मतों को विस्तृत पैमाने पर उद्धृत किया है और कहीं कहीं उसने अपने ग्रन्थों में इतने अधिक उद्धरण दिये हैं कि विषय बहुत बोझिल हो गया है। किन्तु उद्धरणों के बीच बीच में उसने मौलिक विचारधारा का भी परिचय दिया है। उसने अपने स्वतन्त्र निरीक्षण का उल्लेख किया है। अरस्तू के प्रति अपनी अन्धश्रद्धा के कारण वह अपने निरीक्षणों को कोई विशेष महत्व नहीं प्रदान करता। इसी प्रकार उसने प्लिनी के प्रति भी अपना अन्धविश्वास प्रकट किया है। उसका ज्योतिष और जादू में विश्वास है। उसने माना है कि जादू गहन और यथार्थ होते हैं तथा दानव लोग इन्हें करते हैं। स्वप्नों द्वारा भावी घटनाओं का पूर्वाभास प्राप्त होता है ऐसा उसका विश्वास है। एलबर्ट द ग्रेट ने वनस्पति विज्ञान में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया। थियोफेस्टस के पश्चात् वह प्रथम वैज्ञानिक था जिसने पौधों का अध्ययन केवल पौधों की दृष्टि से किया है। उसके इस अध्ययन का आधार वैज्ञानिक शोध का विचार है कृषि अथवा औषधि के सम्बन्ध में पौधों को अपने लाभ के लिये प्रयुक्त करने की भावना नहीं। यद्यपि इस विज्ञान में भी उसने अरस्तू का बहुत अधिक अवलम्बन किया है तथापि उसने अपने व्यक्तिगत निरीक्षण के आधार पर पौधों के विषय में जो कुछ लिखा है वह आश्चर्यजनक रूप से ठीक उतरा है। आज की विस्तृत वैज्ञानिक उन्नति की तुला पर रख कर तौलने पर हमें एलबर्ट का कार्य बहुधा त्रुटिपूर्ण प्रतीत होगा किन्तु मध्य युग में उसके ग्रन्थों का बहुत अधिक सम्मान किया जाता था।

रोजर बेकन अपने समय का सबसे प्रसिद्ध वैज्ञानिक था। पहले उसने आत्मज्ञान का अध्ययन किया परन्तु शीघ्र ही ऊब कर उसने अपने आपको गणित, प्राकृतिक विज्ञान और भाषा विज्ञान के अध्ययन में लगा दिया। न्यूटन के समान रोजर बेकन भी विनम्रता की भावना से अभिभूत रहता था और उसने अपने पूर्ववर्ती विद्वानों का कृतज्ञतापूर्वक ऋण स्वीकार किया है। वह यूनान और हिब्रू भाषाओं को बड़ी सरलता से लिख सकता था और कदाचित उसने अरबी का भी अध्ययन किया था। गणित के प्रति उसके हृदय में अनुराग और उत्साह था। उसने प्रयोग को विज्ञान की कसौटी और उसका साधन माना है। उसने बताया कि प्राकृतिक विज्ञानों का प्रयोग ही प्रमाण है और तर्क की deductive पद्धति द्वारा ठीक निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता। उसके विचारों में कहीं कहीं विस्मयकारिणी अर्वाचीनता है। कदाचित वह बारूद का निर्माण और उसकी प्रयोग-विधि जानता था। एक विख्यात वैज्ञानिक होते हुए भी वह विज्ञान की कमियों से भली भांति अवगत था। उसने नीति-विज्ञान और धर्म को मनुष्य के लिये नितान्त आवश्यक बताया। उसने अपने युग की नैतिक दुर्बलताओं की तीव्र शब्दों में आलोचना किया है।

मध्य युग की वैज्ञानिक प्रगति, जिसका अध्ययन हमने ऊपर किया है, सन्तोषजनक है। यद्यपि धार्मिक अन्ध-विश्वासों के कारण अनेक वैज्ञानिकों को अपने कार्यों में विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई तथापि प्रयोग और निरीक्षण का बिल्कुल अभाव नहीं था। कुछ ऐसे वैज्ञानिक हुये जिन्होंने तर्क और प्रयोग को विज्ञान के अध्ययन के लिये आवश्यक बतलाया। जब हमें यह ज्ञात होता है कि यह वैज्ञानिक उन्नति मध्य युग के अन्त की तीन शताब्दियों में ही अधिकांशतया की गई थी तो हमें आश्चर्य होता है। मानव मस्तिष्क के ऊपर धार्मिक विचारों और अन्धविश्वासों का बन्धन था और वह स्वतन्त्र रूप से चिन्तन और मनन नहीं कर सकता था। किन्तु यह बन्धन जरा सा भी ढीला पड़ने पर विज्ञान और दर्शन की भूयसी और महीयसी ज्योति से युग के अज्ञान रूपी तमस का नाश होने लगा और मध्य युग का "अन्ध युग" ज्ञान के आलोक से प्रोद्भासित हो उठा। यदि मनुष्य को पूर्ण मानसिक स्वाधीनता प्राप्त होती तो ज्ञान विज्ञान की कितनी अधिक उन्नति हुई होती, इसकी कल्पना करना कुछ कठिन है। युग की वैज्ञानिक उन्नति का प्रभाव विभिन्न आविष्कारों में दिखाई पड़ती है इसलिये उनका भी संक्षिप्त अध्ययन कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

मध्य युग के आविष्कार

मध्य युग में आविष्कारों और यन्त्र विज्ञान की काफी उन्नति हुई। इस युग में लोग प्राचीन युग के औजारों और यन्त्रों से ही सन्तुष्ट नहीं रहे बल्कि उन्होंने नूतन यन्त्रों और वस्तुओं के आविष्कार भी किये। यदि हम [illegible] होकर और अपने युग के मोह से दूर रह कर मध्य युग के यन्त्र विज्ञान का अध्ययन करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इसने हमारे आधुनिक यन्त्र विज्ञान के विकास का मार्ग प्रशस्त और सुगम कर दिया। कुतुबनुमा डिबिया, बारूद तथा मुद्रण-यन्त्र के युगपरिवर्तनकारी आविष्कारों का योरप में मध्य युग में ही प्रचलन हुआ। आज के योरप-निवासी को इन वस्तुओं के लिए चीन वालों का ऋण स्वीकार करना पड़ता है। पहले तो उसे मूल रूप में इनके आविष्कारी चीनियों का ऋणी होना पड़ेगा और फिर अरबों का, जिन्हें इन वस्तुओं के प्रचार का श्रेय प्राप्त है और अपने मध्यकालीन पूर्वजों का, जिन्होंने इनका प्रयोग करके अपने आने वाली पीढ़ी को ये वस्तुयें प्रदान कर दीं। अरबों की [illegible] का भी [illegible] में बहुत पहले से प्रयोग किया जाता था। मध्यकाल में ही योरप निवासियों ने [illegible] का आविष्कार किया। कागज का भी निर्माण लोगों ने करना आरम्भ किया और मुद्रण-यन्त्र का आविष्कार हो चुका ही था जिससे अब पुस्तकें बहुत अधिक संख्या में छपने लगीं और खूब सस्ती बिकने लगीं। यह एक महत्वपूर्ण आविष्कार था जिसने हमारे आधुनिक युग के निर्माण में महत्वपूर्ण सहायता प्रदान की।

मध्य युग में कदाचित दर्शन की उन्नति सबसे अधिक हुई। मध्यकालीन योरप में दर्शन की परम्परा विज्ञान की अपेक्षा अधिक प्राचीन थी। नवीं शताब्दी में आयरलैण्ड निवासी जॉन स्कॉटस [illegible] दार्शनिक हो चुका है। इसने शार्लमेन द्वारा स्थापित स्कूल में यूनानी भाषा का अध्ययन किया और अपने समय की शिक्षा में

आचार्य-पद प्राप्त किया। उसके दर्शन पर प्लेटो की स्पष्ट छाप है। उसने कहा कि "ईश्वर ही समस्त वस्तुओं का सारतत्व है क्योंकि केवल उसी का अस्तित्व है।" सभी वस्तुयें एक निश्चित रूप में ईश्वर से ही निकलती हैं और उसी में मिल जाती हैं। स्कोटस बड़ी ही तीक्ष्ण बुद्धि वाला था और मौलिक प्रतिभासम्पन्न था। यद्यपि वह अरस्तू इत्यादि के विषय में बहुत थोड़ा ही जानता था तथापि उसके विचारों में यूनानी दार्शनिकों के विचारों से आश्चर्यजनक साम्य दृष्टिगत होता है। कुछ लोगों ने काफी पहले ही अरब की दार्शनिक विचारधारा का अध्ययन करना प्रारम्भ कर दिया था। गरबर्ट ने स्पेन की यात्रा करके अरबी विद्या का अर्जन किया। वह प्रथम ईसाई लेखक था जिसने हिन्दू संख्या पद्धति को योरपवासियों को समझाया। उसका गणित ज्ञान अत्यन्त विस्तृत था जिससे लोग उसे जादू की शक्ति से सम्पन्न समझते थे। गरबर्ट एक साहित्यिक व्यक्ति भी था। उसने जो पत्र लिखे हैं उनसे उसके समय के पश्चिमी योरप की स्थिति पर काफी प्रकाश पड़ता है। ग्यारहवीं शताब्दी में सेन्ट अन्सेलम सबसे महान दार्शनिक था। वह अपने साधुतापूर्ण चरित्र के लिए विख्यात था। उसने अपनी दार्शनिक युक्तियों से यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि ईश्वर का अस्तित्व है।

दर्शन

मध्य युग का दर्शन स्कालिस्टिक (scholastic) कहा जाता है। इसका आधार अरस्तू का तर्क शास्त्र और सेन्ट आगस्टाइन का तत्व ज्ञान था। इस दार्शनिक विचारधारा में धार्मिक विश्वास और तर्क दोनों का समन्वय था। एबेलार्ड मध्य युग का एक प्रसिद्ध दार्शनिक था। उसने अपने समय के बौद्धिक जीवन पर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डाला। वह पेरिस के निकट एक विद्यालय में अध्यापक था। उसके व्याख्यानों को सुनने के लिए दूर दूर से विद्यार्थी आते थे। उसका मस्तिष्क निर्भीक था और वह अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के विचारों को तुरन्त मान नहीं लेता था वरन उनको तर्क की तुला पर तौलता था और उनकी वास्तविकता का निर्णय करता था। उसने लिखा है कि "जिज्ञासा के द्वारा ही हम सत्य की खोज करते हैं।" उसने ज्ञान के प्रकाश को एक ऐसा वरदान बताया जो ईश्वर को प्राप्त करने से भी अधिक महत्वपूर्ण है। उसने दूसरे लोगों को भी तर्क का ही अनुसरण करने का आदेश दिया। लेकिन अपने तार्किक उत्साह के प्रवाह में वह इतनी दूर बह गया कि उसने धर्म की शिक्षाओं का भी कुछ विरोध किया। इस कारण से उसकी विचारधारा कतिपय लोगों को अनुचित जान पड़ी, परन्तु वह अपने विरोधियों की कुछ भी चिन्ता नहीं करता था। उसके विचारों का खण्डन टामस एक्विनास ने किया था। मध्यकाल के बौद्धिक जीवन में टामस एक्विनास का अतिशय महत्वपूर्ण स्थान था। स्कालिस्टिक दार्शनिकों के प्रतिनिधि एक्विनास ने अरस्तू के तर्क शास्त्र और अपने युग के तत्वज्ञान का समन्वय किया। उसने उस विश्वास को उचित बताया जो तर्क की सहायता से प्राप्त किया जाता है। वस्तुतः वह धार्मिक विचारों वाला दार्शनिक था। एबेलार्ड ने तर्क के उत्साह में आप्त वाक्य की उपेक्षा की थी किन्तु एक्विनास ने तर्क की आवश्यकता मानते हुए, और अपने विचारों के प्रतिपादन में इसकी यथोचित सहायता लेते हुए, आप्तवचन को अधिक प्रतिष्ठा दी। उसने (Summa theologica) नामक ग्रन्थ में अपने दार्शनिक विचारों को व्यक्त किया है। उसके विचार केवल धर्म और तत्व ज्ञान तक ही सीमित न थे वरन उसने मनोविज्ञान, आचार शास्त्र, धर्म, राजनीति और तर्क शास्त्र आदि विषयों पर भी शिक्षायें दीं। उसने ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए, बड़े ही मनोरंजक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। उसके अन्दर अपने पूर्ववर्ती विचारकों के ऋण को स्वीकार कर लेने की बौद्धिक ईमानदारी थी। उसके सिद्धान्तों का प्रभाव बहुत अधिक था। आज भी उसके विचारों का अध्ययन लोग रुचिपूर्वक करते हैं। उसने कितनी ही ऐसी समस्याओं का पूर्वाभास दिया है जिनके समाधान के लिए आधुनिक दार्शनिक भी व्यग्र रहते हैं। सभी कालों और समस्त देशों के विचारकों में टामस एक्विनास का गौरवपूर्ण स्थान है।

मध्य युग के तत्वज्ञान के विषय में कुछ जानना अत्यन्त आवश्यक है। इसी युग में ईसाई धर्म के तत्व ज्ञान की रचना हुई। आगस्टाइन का तत्व ज्ञान के क्षेत्र में बहुत अधिक प्रभाव था। उसने बाद की दार्शनिक विचारधारा पर भी अपना प्रभाव डाला। एक लेखक का विश्वास है कि "आगस्टाइन के दर्शन का मूलस्रोत कुछ भी हो, इसने एक सहस्र वर्षों तक के दार्शनिकों की व्याख्याओं और कुछ सीमा तक उनके निष्कर्षों को प्रभावित किया है।" गिलबर्ट

भी मध्य युग का प्रसिद्ध दार्शनिक और तत्वज्ञानी था। उसने बताया कि ईश्वर का अस्तित्व मानव मस्तिष्क द्वारा अचिन्त्य है, अतः ईश्वर की सत्ता के विषय में जो कुछ भी कहा जाय उसे सहसा स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसका शिष्य जान भी एक प्रसिद्ध दार्शनिक था। पीटर द लोम्बार्ड ने ईसाई धर्म की शिक्षाओं पर धर्माधिकारियों की सम्मतियों का संकलन किया। उसकी पुस्तक "फोर बुक्स आफ सेन्टेन्सेज" एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अन्य विद्वानों ने इस संकलन कार्य को और आगे बढ़ाया और टामस एक्विनास ने उन सब को एक समन्वित रूप प्रदान किया।

स्कालिस्टिक दर्शन अधिक दिनों तक प्रधानरूपेण प्रचलित न रह सका। यह दर्शन बौद्धिक-तत्व-प्रधान था इसलिए अनेक लोगों की आत्माओं को यह शान्ति प्रदान न कर सका। स्वयं टामस एक्विनास को भी ईसाई धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या करने में रहस्यवादिता का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। मध्य युग में ही ऐसे कई दार्शनिक हुए जिन्होंने मानव मस्तिष्क की चिन्तन-शक्ति को ही परम सत्य का साक्षात्कार करने के लिए अलम् न समझा। उन्होंने चिन्तन की सीमितता का अनुभव किया। उन्होंने समाधि द्वारा ईश्वरीय सहायता प्राप्त करने की आवश्यकता पर जोर दिया। ह्यू ग आफ सन्ट पीटर इस प्रकार के दार्शनिकों में सबसे प्रसिद्ध थे। उन्होंने बताया कि धर्म के सूक्ष्म तत्वों को केवल तर्क की सहायता से ही बिना दैवी सहायता के नहीं समझा जा सकता। मनुष्य को दार्शनिक बुद्धि के साथ रहस्यवादी चिन्तन शक्ति की भी आवश्यकता है। कुछ समय बाद उस दार्शनिक विचारधारा का प्रारम्भ हुआ जो सृष्टि-कर्ता ईश्वर को उसकी सृष्टि में संयुक्त करती है। इस विचारधारा के अनुसार न केवल ईश्वर सब वस्तुओं में विद्यमान है अपितु सभी वस्तुयें ईश्वर के रूपों का ही द्योतन करती हैं। इस दार्शनिक विचाराधारा पर कदाचित् अरब के दार्शनिकों और सूफी सन्तों का काफी प्रभाव था।

अन्त में हमें मध्य युग के स्कालिस्टिक दर्शन की विवेचना कर लेनी चाहिए। अपने युग के अधिकांश विचारकों को इसने प्रभावित किया था और इसने विचार की भावी वैज्ञानिक पद्धति की नींव डाली। यह निस्सन्देह मानव विचार-धारा के विकास में एक क्रान्तिकारी और महत्वपूर्ण कदम था क्योंकि इसने इस बात को प्रतिपादित किया कि मनुष्य को बिना किसी भय के सृष्टि और ईश्वर के स्वरूप पर विचार करने का अधिकार है। दो [illegible] ने जिस विचार स्वातन्त्र्य और [illegible] का परिचय दिया वह अवश्य महत्वपूर्ण है। इस [illegible] पश्चिम के सम्पूर्ण दार्शनिक वाङ्मय में मिलना कठिन है। तर्क शास्त्र, [illegible] शास्त्र और [illegible] में स्कालिस्टिक दर्शन ने जो सूक्ष्मता उत्पन्न की वह प्राचीन यूनान के दार्शनिकों के लिए अज्ञात थी।

लेकिन इस दार्शनिक विचारधारा में कुछ गम्भीर और स्पष्ट दोष वर्तमान थे। तर्क की पद्धति को इसने उचित सीमा के बाहर पहुँचा दिया इसलिए स्कालिस्टिक दार्शनिक अपनी "बाल की खाल निकालने" वाली प्रवृत्ति के कारण आधुनिक युग के लोगों के व्यंग और विद्रूप के भाजन बनते हैं। डन्स स्कोटस स्वयं एक स्कालिस्टिक दार्शनिक था किन्तु उसने स्कालिस्टिक दर्शन की कमियों और गलतियों का उल्लेख किया है। उसने अपने साथियों की तर्कशास्त्र वाली पद्धति की [illegible] प्रकट कर दी और उनकी अनुमान पद्धति के निष्कर्षों को गलत प्रमाणित कर दिया। इसके अलावा मध्य युग के स्कालिस्टिक दार्शनिक अरस्तू के कथनों को ही वेद वाक्य मानते थे जिससे उनकी स्वतन्त्र चिन्तन शक्ति का [illegible] हुआ। इन सब कारणों से यह दर्शन कुछ दिनों बाद ह्रासोन्मुख हो गया।

मध्य युग में भाषायें और साहित्य

मध्य युग के साहित्यिक आन्दोलन की यह एक विशेषता है कि इसके अन्तर्गत देशी भाषाओं में भी साहित्य रचना की गई। पहले तो लैटिन का प्रयोग धर्म शास्त्रों के अध्ययन और अध्यापन में होता था किन्तु बाद में योरप के देशों में उनकी मातृभाषाओं में साहित्य के सृजन का प्रयत्न किया जाने लगा और बाद में देशी भाषाओं की इतनी अधिक उन्नति हुई कि उन्होंने लैटिन का स्थान ग्रहण कर लिया। हम दोनों प्रकार के साहित्यिक विकास की चर्चा करेंगे।

मध्य युग में लैटिन के अध्ययन को अति महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। यही भाषा विचारों के आदान प्रदान का कार्य करती

थी। चर्च और शिक्षित लोगों की भाषा लैटिन थी। लैटिन भाषा में दर्शन तथा विज्ञान आदि रचनायें की गईं। मध्य युग के देशी भाषा-साहित्य पर लैटिन साहित्य की काफी छाप है। मध्य काल के प्रारम्भ में हमें लैटिन का स्तोत्र साहित्य दिखाई पड़ता है जो अत्यन्त उत्कृष्ट है। ये पूजा गीत वस्तुतः सुन्दर हैं और पाठकों अथवा स्तोताओं के हृदयों को अपूर्व आनन्द प्रदान करते हैं। सेन्ट एम्ब्रोस द्वारा रचित स्तोत्र बड़े मर्मस्पर्शी और लोकप्रिय हैं। यद्यपि मध्य कालीन

लैटिन साहित्य

लैटिन साहित्य में गद्य ग्रन्थों का अभाव नहीं है तथापि इसका गौरव प्रमुखतया काव्य में ही सन्निहित है। लैटिन भाषा में कुछ इतिहास ग्रन्थों का प्रणयन किया गया जिनका ऐतिहासिक दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं है। कहीं कहीं पर इतिहासकारों ने अपने वर्णनों में घटनाओं और परिस्थितियों पर प्रकाश डाला है अन्यथा अधिकांश रूप में उनका दृष्टिकोण एकांगी ही था। लेकिन इतिहास लेखन के विकास की दृष्टि से हमें इनके विषय में कुछ जान लेना चाहिए। ग्रेगोरी आफ टूवर्स ने मेरोविन्जियन वंश का इतिहास लिखा। उसकी पुस्तक का नाम है "टेन बुक्स आफ फ्रैन्किश हिस्ट्री।" ईनहर्ड ने अपने आश्रयदाता शार्लमैन का जीवन वृत्त लिखा और जोनविले ने भी सेन्ट लुइस का जीवन चरित लिखा। बीडी ने लैटिन भाषा में इंग्लैण्ड का एक इतिहास लिखा। बीडी ने अपने स्रोतों का पूर्ण विवरण दिया है। उसका ग्रन्थ काफी महत्वपूर्ण था।

पहले मध्य युग में काव्य रचना अधिकांशतया गीतों के रूप में हुई लेकिन कुछ ही दिनों बाद महाकाव्य भी लिखे गये। सॉंग आफ रोलेन्ड एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। अपने युग के लोगों की मनोभावनाओं, अभिरुचियों और उनके जीवन पर यह महाकाव्य प्रभूत प्रकाश डालता है। कुछ समालोचकों का विश्वास है कि साहित्यिक ग्रन्थ की दृष्टि से यह ग्रन्थ होमर के 'इलियड' की तुलना कर सकता है। इसका साहित्यिक मूल्यांकन चाहे कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि

महाकाव्य

युग की दशाओं को पूर्ण रूप से प्रदर्शित करने वाला यह एक विशिष्ट महाकाव्य है। यह एक सामन्तवादी ग्रन्थ है और सामन्तवाद के आदर्शों का यह उल्लेख करता है। इस महाकाव्य की रचना फ्रान्स में हुई थी अतः इसमें फ्रान्स की भूमि और प्रकृति का सुन्दर तथा सजीव वर्णन है। जिस व्यक्ति ने फ्रान्स का भ्रमण किया है वह इस काव्य का रसास्वादन अधिक उत्तमता के साथ कर सकता है। स्पेन में सॉंग आफ रोलेन्ड की भांति द ले आफ द सिड (TheLay of the Cid) लिखा गया। यह ग्रन्थ भी सामन्तवादी आदर्शों का उदात्तीकरण करता है। इसकी भाषा सजीव और वर्णन शैली चुस्त तथा प्रवाहमयी है।

उत्तरी फ्रान्स में अनेक कवियों ने प्रणय और युद्ध की घटनाओं को कविता का रूप प्रदान किया। इस प्रकार के कवियों के लिए नारी एक अधिष्ठात्री देवी थी। नारी के सौन्दर्य का गान और प्रणय सम्बन्धों का कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन कवियों का मुख्य कार्य हो गया। युद्ध वर्णन भी यथास्थान मिलता है। किंग आर्थर और राउन्ड टेबिल की कथाओं का उद्भव वेल्स और ब्रिटेन में हुआ था। ये कथायें मध्य युग में तो लोकप्रिय थीं ही बाद में भी इनकी लोक

प्रणय (Romance)

प्रियता बनी रही। आज भी कितने ही पाठक इनको बड़ी ही अभिरुचि से पढ़ते हैं। एल्फ्रेड टेनीसन ने अपने "Idylls of the King" में इन्हीं कथाओं का आधार ग्रहण किया था। किंग आर्थर की कथाओं में हमें सरदारों का अपूर्व शौर्य तथा साहस, उनका वीरत्वपूर्ण प्रणय सम्बन्ध, उनके पारस्परिक द्वन्द्व और युद्ध तथा उनकी उच्च नैतिकता आदि के दर्शन होते हैं। एकेसिन और निकोलेटी नामक पुस्तक एक अमर कृति है। इसमें एक नवयुवक और नवयुवती के प्रेम का बड़ा ही सजीव वर्णन किया गया है। एकेसिन एक सरदार की दत्तक पुत्री निकोलेटी के प्रेम में पड़ जाता है और उससे विवाह करने की इच्छा रखता है। किन्तु एकेसिन का पिता उसका विवाह किसी दूसरी जगह करना चाहता है और एकेसिन का निकोलेटी से ब्याह करने का दृढ़ संकल्प देख कर उसे कारागृह में डाल देता है। निकोलेटी का भी यही हाल होता है और प्रेमी तथा प्रेमिका दोनों को अपने संरक्षकों की हृदयहीनता के कारण एक दूसरे से अलग होना पड़ता है। दोनों फिर किसी प्रकार एक दूसरे से मिलते हैं और कारागार से निकल भागते हैं। वे अपने देश को छोड़ कर दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। कुछ दिनों

के सुखमय जीवन के बाद उन्हें फिर तीन वर्षों तक वियोगाग्नि में जलना पड़ता है। लेकिन उनका प्रेम तीव्र और सच्चा होने के कारण कम नहीं होने पाता और समस्त बाधाओं के बावजूद जब प्रेमिका निकोलेटी अपने प्रेमी एकैसिन से मिल जाती है तो हमारा हृदय आनन्दित होता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ का सार यही है कि सच्चे प्रेम का पथ यद्यपि कंटकाकीर्ण होता है तथापि अन्त में वह विजयी होता है। फ्रांस के साहित्य की यह एक अनुपम और अनमोल कृति है।

चारण गीत

बारहवीं शताब्दी में कुछ ऐसे गीतों की रचना हुई जिन्हें कविगण (lyre) की ध्वनि के साथ गाते थे। इन गीतों में प्रणय-भावना प्रधान होती थी। ये गीत स्थानीय बोलियों में गाये जाते थे। इन गीतों में से अधिकांश की रचना फ्रांस और स्पेन में की गई थी। इन गीतों में कवियों ने अपने प्रणय-भावों को व्यक्त किया है। कहीं कहीं पर उनका प्रेम बिल्कुल इन्द्रियजन्य प्रतीत होता है परन्तु अधिकांश कवियों को अपनी प्रियाओं के विरहानल में दग्ध होना पड़ता था जिससे उनके प्रेम में एक आध्यात्मिक पवित्रता का संचार हो जाता था। इन गीतों में विप्रलम्भ शृंगार को संयोग शृंगार की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। कवि विरह-वियोग को सहन करना श्रेयस्कर समझते थे और प्रिया से संयोग हो जाना वे अपने इन गीतों की परम्परा के विरुद्ध समझते थे। ड्यूक विलियम नवम एक प्रसिद्ध चारण था। इसने दक्षिणी फ्रांस की बोली प्रावेन्सल में अपने गीतों की रचना किया। इसके गीतों में जीवन के आनन्दों का उल्लासपूर्ण उल्लेख है। सुन्दर वस्तुओं के प्रति कवि का हार्दिक अनुराग अभिव्यञ्जित हुआ है। चारण गीतों में नारी के सौन्दर्य वर्णन के साथ साथ प्राकृतिक सौन्दर्य के भी अनुपम वर्णन दृष्टिगत होते हैं। फ्रांस में थोड़े ही दिनों बाद चारण गीतों की परम्परा समाप्त हो गई किन्तु इनका प्रभाव बाद की साहित्यधारा पर काफी पड़ा।

जर्मनी में भी चारण गीतों की परम्परा प्रारम्भ हुई। दक्षिणी जर्मनी में इसका प्रचार अधिक था। जर्मनी में अन्य स्थानों की अपेक्षा परिष्कार और संस्कृति कम न थी किन्तु इन गीतों ने नारी के स्थान को उन्नत करके एक सुरुचिपूर्ण वातावरण की सृष्टि किया। जर्मनी में शिलर और गेटे के पूर्व कभी ऐसी सुरुचिपूर्ण संस्कृति का विकास नहीं हुआ। वाल्थर नामक सरदार जर्मनी का प्रसिद्ध चारण कवि था। उसने जर्मनी की नारियों की ईश्वर की विभूति बताया और उनके सौन्दर्य के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। जर्मनी में भी फ्रांस की ही भांति शीघ्र ही यह गीत परम्परा समाप्त हो गई।

मध्ययुग में देशी भाषाओं का साहित्य भी समृद्ध था। इसी समय यूरोप में कई देशी भाषाओं में साहित्यिक रचना की गई। अंग्रेजी का सर्वप्रथम प्रमुख कवि चासर था। उसकी अमर कृति कैन्टरबरी टेल्स है। इस पुस्तक में चासर ने अंग्रेज तीर्थयात्रियों के सादे और भोले जीवन का बड़ी ही सरल भाषा में वर्णन किया है। कवि ने अपने युग के विश्वासों, विचारों और आदर्शों तथा संस्थाओं एवं लोक भावनाओं को बड़ी ही सहानुभूति के साथ चित्रित किया है। अपने युग की सांस्कृतिक अवस्था का निदर्शन कराने के लिये यह ग्रन्थ बड़ी ही उपयोगी है। मध्यकाल का सबसे प्रसिद्ध कवि दान्ते था। एक महान कवि की भांति वह अपने युग का प्रतिनिधि कवि था और साथ ही उसकी कविता में शाश्वत आनन्द भी है। उसका सबसे प्रमुख ग्रन्थ है "डिवाइन कामेडी" इस ग्रन्थ के संक्षिप्त परिचय से हम इसके सौन्दर्य का अनुमान नहीं कर सकते क्योंकि इसको पढ़ते समय स्थल स्थल पर हमें गम्भीर विचार में डूब जाना पड़ता है। यदि हम मध्ययुग के लौकिक जीवन, धार्मिक विचार और कवि की आध्यात्मिक अनुभूति को एक साथ देखना चाहें तो हमें दान्ते के "डिवाइन कामेडी" का अध्ययन करना चाहिये। जिस प्रकार से मध्यकालीन भारत में गोस्वामी तुलसीदास जी ने हिन्दी भाषा को प्रौढ़ता और साहित्यिक श्रेष्ठता की सीमा पर पहुँचा दिया उसी प्रकार डिवाइन कामेडी के रचयिता ने अपनी मातृभाषा को इस योग्य बनाया कि वह गम्भीरतम विचारों को व्यक्त कर सके। कवि ने स्वप्न का आश्रय ग्रहण कर के नर्क, पाप को नष्ट करने वाले स्थान तथा स्वर्ग की यात्रा। दान्ते ने इन्फर्नो (नर्क) में पीड़ित जन समुदाय का वेदनामय चित्र खींचने में अपनी विशिष्टता का परिचय दिया है और नर्क के वातावरण

की सृष्टि करने में उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। अपने महाकाव्य की कथा को आगे बढ़ाने के साथ साथ कवि की दृष्टि अपने समय के दोषों पर भी संलग्न है। वह युग की बुराइयों का उल्लेख करता है और जो लोग इसके लिए उत्तरदायी हैं उनकी वह निन्दा और भर्त्सना करता है। लेकिन कहीं कहीं पर कवि अपने अपने आवेश में इतना बह चला है कि उसका ध्यान मुख्य विषय से हटकर उन्हीं दोषों पर केन्द्रित हो जाता है और वह अपना रोष प्रकट करने लगता है, फलस्वरूप कथा का प्रवाह अव्याहत नहीं होने पाया है। साथ ही साथ कहीं कहीं पर पाण्डित्य-प्रदर्शन और उपदेश देने की प्रवृत्ति के कारण कला का ह्रास हुआ है। परन्तु इन सब दोषों के होते हुए भी दांते एक महान कवि है। मनुष्य की चारित्रिक दुर्बलताओं के प्रति उसके हृदय में सहानुभूति है और कलाकारों तथा कवियों के दोषों की उपेक्षा करता हुआ वह उनकी प्रशंसा करता है। कवि के हृदय की सच्चाई महाकाव्य में सर्वत्र व्यक्त हुई है। कवि आदि से अन्त तक सच्चा है, आडम्बरशून्य, निर्भीक, दृढ़ और उग्र। इसके अतिरिक्त भूतल से गगन को चूमने वाली कल्पना में दांते संसार के सर्वमहान कवियों की बराबरी करता है और अपनी अद्वितीय वर्णन शैली द्वारा वह विश्व के कुछ थोड़े से कवियों को छोड़कर और सभी को पीछे छोड़ जाता है। दांते उदात्त और महान है और संसार के कुछ चुने हुये कवियों में उसका स्थान है।

मध्यकालीन साहित्य बहुत उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता किन्तु दांते का नाम सभी कालों के महान कवियों के साथ लिया जाता है। इसी प्रकार एकेसिन और निकोलेट की प्रणय-कथा का रचयिता एक महान कवि था यद्यपि इसका नाम हमें नहीं मालूम है। मध्य काल के योरपीय साहित्य की उपयोगिता इस बात में तो अवश्य है कि वह अपने युग का दर्पण है। इस काल के धार्मिक साहित्य ने परवर्ती युगों में अनेक साहित्यकारों और अन्य लोगों को प्रभावित किया है। इस काल के इहलोकपरक साहित्य का प्रभाव भी योरप के कवियों और कथाकारों पर देखा जा सकता है। अब हम मध्यकालीन संस्कृति के एक महत्वपूर्ण अङ्ग की ओर ध्यान देते हैं। यह अङ्ग है कला।

मध्यकालीन कला

इस कला को मध्यकालीन योरपीय संस्कृति की अंतरतम अभिव्यक्ति कह सकते हैं। इसकी महत्ता और इसका गौरव उस युग को ध्यान में रखते हुए असन्दिग्ध प्रतीत होता है। जैसा कि हमने अरबों की कला के सम्बन्ध में या है कि प्रत्येक कारीगर अपने उद्योग को अपनी कुशलता द्वारा कला का रूप प्रदान करना चाहता था वही बात हमें मध्यकालीन योरप में भी दिखाई पड़ती है। यदि हम इन सभी कलाओं का अध्ययन करना चाहें तो हमें अनेक कलापूर्ण चित्रों की आवश्यकता पड़ेगी। इसके अतिरिक्त इस पाठ्य ग्रन्थ में इन सबका अति संक्षिप्त विवरण भी कोई विशेष आवश्यक नहीं प्रतीत होता। उपयुक्त चित्रों के अभाव के कारण हम वास्तु, स्थापत्य और चित्र कला का भी विवेचन विशेष विस्तार के साथ नहीं कर सकते। मध्यकाल में इन कलाओं की क्या विशेषता थी इसे संक्षेप में बतलाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

वास्तु कला

मध्यकालीन धार्मिक क्रान्ति और लोगों की धार्मिक भावना ने वास्तु कला के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। मध्य काल में कला की विभिन्न शैलियां थीं। मध्य युग की प्रारम्भिक शताब्दियों से ही, जिन्हें इतिहासकार "अन्ध युग" कहते हैं, वास्तु कला का इतिहास प्रारम्भ होता है। रोमन साम्राज्य के पतन के बाद ईसाइयों ने विशाल कक्षों "(basilicas)" का निर्माण कराना प्रारम्भ किया। लेकिन इस कला में मौलिकता का अभाव है। गोथ और जर्मन आक्रमणकारियों ने जिन भवनों का निर्माण कराया उनमें रोमन वास्तु कला की अनुकृति ही प्रधान है। सामन्तवाद के उदय के बाद कला की कुछ नवीन शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ। दसवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक की वास्तु कला का निर्माण जिस शैली में हुआ उसे रोमेनेस्क (Romanesque) शैली कहते हैं। इस नवीन शैली में रोम, बाइजेन्टिया और प्रारम्भ की ईसाई वास्तु कला के रूपों का सम्मिश्रण है। इसमें रोमन मेहराब का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से होता था अतएव इसका नाम रोमेनेस्क पड़ा। रोम के basilica के आधार पर इस शैली के देवालयों का निर्माण होता था। इमारतों की बाहरी दीवालें काफी मोटी

होती थीं जिनमें छोटी-छोटी खिड़कियां होती थीं। बाइजेन्टिया की कला की भांति रोमेनेस्क कला में भी आन्तरिक भाग के अलङ्करण पर विशेष ध्यान दिया जाता था। मिलान में सेन एम्ब्रोगिओ की चर्च रोमेनेस्क कला का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करती है। पिसा (Pisa) का केथेड्रल भी इसका एक सुन्दर नमूना है। अभी तक कुछ ऐसा नियम सा था कि लोग रोमेनेस्क वास्तुकला की ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान देते थे और समझते थे कि मध्य युग में केवल गोथिक वास्तुकला ही अध्ययन के योग्य है किन्तु अब इसके सौन्दर्य और महत्व को समझा जाने लगा है।

रोमेनेस्क कला में मध्य युग की कला-प्रवृत्ति का पूर्ण प्रस्फुटन नहीं हुआ। लोगों की धार्मिक भावना का अभिव्यक्तीकरण गोथिक कला में अधिक पूर्णता के साथ हुआ। इस कला में रोमेनेस्क शैली से आधार और आकार ग्रहण किये गये थे किन्तु इसमें अलंकरण अधिक प्रभावपूर्ण होता था। नोकदार मेहराब इस वास्तु की प्रमुख विशेषता थी और यह तत्व इसे रोमेनेस्क से पृथक करता था। गोथिक शैली के कुछ तत्व ऐसे थे कि उनके द्वारा उत्तुंग शिखर वाले चर्चों का निर्माण कराया जा सका। इस शैली की प्रायः सभी इमारतें काफी ऊँची हैं। इनके निर्माण में काफी कुशलता की आवश्यकता पड़ी होगी। आज इनको बने हुये सात शताब्दियां व्यतीत हो चुकीं किन्तु इनका सौन्दर्य अब भी वैसा ही है। गोथिक शैली के अधिकांश चर्च और भवन फ्रान्स में बनवाये गये। लेकिन इसके माने यह नहीं कि अन्य स्थानों में इन शैलियों की इमारतों का निर्माण हुआ ही नहीं। विभिन्न स्थानों में इस शैली की इमारतों में अपनी-अपनी कुछ विशेषतायें हैं, यद्यपि उनमें एक ही सामान्य तत्व भी विद्यमान हैं। कुछ समालोचकों की धारणा है कि गोथिक वास्तु कला यूनान की वास्तु कला से कहीं अधिक उत्कृष्ट है किन्तु यह निर्णय सबको मान्य नहीं हो सकता। हाँ इतना अवश्य निःसंशय कहा जा सकता है कि गोथिक वास्तु का कला स्थान मानव की श्रेष्ठतम कलाओं में है।

स्थापत्य

मध्य काल में स्थापत्य की उन्नति को धार्मिक भावना से प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। ईसा मसीह के पुनर्जन्म, ईसा के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं और उनके गौरवशाली व्यक्तित्व को सूचित करने के लिए मूर्तियों का निर्माण किया गया। पहले की स्थापत्य कृतियों में सजीवता और कलात्मकता का अभाव है क्योंकि कलाकार कुछ नमूने रखकर ही इनका निर्माण करता था, फलतः इनमें मौलिकता नहीं आने पाई है। यह स्थापत्य स्वाभाविक नहीं है। किन्तु बाद का स्थापत्य, जिसे गोथिक शैली का नाम दिया गया है, स्वाभाविक और सुन्दर है। कलाकारों ने इस शैली की मूर्तियों के निर्माण में सन्तुलन और शरीर के विभिन्न अवयवों की सम्पूर्णता और यथार्थता के साथ प्रदर्शित करने का ध्यान रखा है। 'इस गोथिक वास्तु कला में भावों की गहराई है, जीवन की विविधता और शक्ति है, पशु और वनस्पति जगत के साथ एक सहानुभूति है, एक कोमलता, गम्भीरता और सुन्दरता है। यह पाषाण में उत्पन्न किया हुआ ऐसा आश्चर्य है जो शरीर को नहीं वरन् आत्मा को प्रकट करता है, जो हमें प्रभावित और सन्तुष्ट करता है।' बाद में मध्य काल का मूर्ति कलाकार इहलौकिक जीवन के चित्रों को भी पाषाण प्रतिमाओं में मूर्तिमान करने लगा। यहां से पुनरुज्जीवन काल के स्थापत्य काल का सूत्रपात होता है। इटली में हमें स्थापत्य कला स्वतन्त्र रूप से विकसित होती हुई दिखाई पड़ती है। यहां के कलाकारों ने अपनी कृतियों में अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ी है।

यद्यपि कला के सभी अङ्गों की भांति चित्रकला का भी प्रयोग धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया तथापि स्थापत्य की अपेक्षा इसका स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ। इटली में चित्रकला की विशेष रूप से उन्नति हुई।

चित्रकला

यद्यपि चित्रकला में धार्मिक विषयों की उपेक्षा नहीं की गई तथापि विशेष बल इहलौकिक जीवन के दृश्यों को चित्रांकित करने पर दिया गया। सिमाब्यू, डूसियो (Duccio) और गियटो प्रमुख चित्रकार थे। इन चित्रकारों ने चित्रकला की जिस शैली को जन्म दिया उसका पूर्ण प्रस्फुटन पुनरुज्जीवन काल में ही हुआ। गियटो उन प्रतिभाशाली कलाकारों में से था जो अपने ऊपर परम्परा का बोझ कभी नहीं सहन कर सकते। उसने मौलिक चित्रों को अपनी तूलिका से अङ्कित किया और पुनरुज्जीवन काल के चित्रकारों का मार्ग प्रशस्त किया।

मध्य युग में पहले धर्म ने संगीत को निषिद्ध बताया किन्तु संगीत का उद्‌भव और विकास रुक न सका। बाद में धर्माधिकारियों ने भी संगीत की उपयोगिता और महत्व का अनुभव किया। सेन्ट एम्ब्रोस ने संगीत को प्रार्थना के लिए अतीव आवश्यक समझा और उसने स्तोत्रों को सस्वर गाने का प्रचलन किया। पहले मध्यकालीन संगीत केवल गीतों तक ही सीमित था और वादन तथा नर्तन इसमें सम्मिलित न थे किन्तु कुछ ही दिनों बाद वाद्य यन्त्रों का आविष्कार हुआ। तुरही, बिगुल, बाँसुरी और तुरही की ही तरह एक अन्य बाजा प्रमुख वाद्य यन्त्र थे।

संगीत

हमें मध्य युग को केवल एक ऐसा युग न समझना चाहिए जिसमें चारों ओर बर्बरता, घृणा, अज्ञान और शोषण का साम्राज्य था और लोग एक असभ्य जीवन व्यतीत कर रहे थे। पिछले पृष्ठों में मध्यकाल की सभ्यता का जो वर्णन किया गया है उससे न तो यही सिद्ध होता है कि यह काल "अन्ध युग" था अथवा यह सभ्यता के दृष्टिकोण से महत्व शून्य था। जीवन के सभी क्षेत्र में मध्य युग की देन है। डा० डुरेन्ट ने मध्य युग को विश्वास का युग' कहा है जिससे स्पष्ट है कि इस युग में धर्म ही प्रधान था। धर्म के क्षेत्र में मध्य युग की देन अति महान है। आज के ईसाई धर्म का स्वरूप बहुत कुछ अंशों में मध्य युग में ही निर्मित हो चुका था। आचार के लिए भी योरप का आधुनिक निवासी मध्य युग की ओर देखता है और मध्यकालीन ईसाई दर्शन ही उसे मृदुता तथा स्नेह की शिक्षा देता है। 'जेन्टिलमैन' की धारणा मध्य युग में ही उत्पन्न हुई। सामन्त का शिष्टाचार इसका मूल स्रोत था।

मध्य युग की देन

मध्य युग की बौद्धिक देन तुच्छ नहीं है। आज के विश्वविद्यालयों की उत्पत्ति मध्य युग में ही हुई थी। देशी भाषाओं का विकास इसी युग में हुआ और तेरहवीं शताब्दी में विज्ञान और दर्शन की जो उन्नति हुई उसकी तुलना कदाचित पुनर्जीवन काल का बौद्धिक जीवन नहीं कर सकता। विज्ञान और दर्शन के अनेक पारिभाषिक शब्दों के लिए हम मध्य युग के ऋणी हैं। आबेलर्ड, टॉमस एक्विनास, दांते, रोजर बेकन, एबेलार्ड आदि नाम भी लोगों के हृदयों में श्रद्धा उत्पन्न कर सकते हैं। यद्यपि मध्य युग की वैज्ञानिक देन अत्यन्त स्वल्प है तथापि इसी युग में पाश्चात्य जगत हिन्दुओं की संख्या पद्धति और दशमलव पद्धति से परिचित हुआ। भूगोल, गणित और खगोल में मध्य युग की देन काफी महान रही है। कागज, नक्शे, कुतुबनुमा की डिबिया, मुद्रण यन्त्र, पेन्डुलम घड़ी आदि का प्रचार प्राचीन योरप में न था। मध्यकालीन योरप में ही इनका प्रचार हुआ। रोम ने चिकित्सालय निर्माण करना सिखाया था किन्तु रोमन सम्राट के अधीन जो अस्पताल स्थापित किये गये थे वे आज नष्ट हो चुके हैं लेकिन योरप में आज जो चिकित्सालय विद्यमान हैं उनमें से अधिकांश की स्थापना मध्ययुग में हुई थी। आधुनिक विज्ञान अन्तर्राष्ट्रीय है किन्तु इसकी अन्तर्राष्ट्रीयता का स्वरूप मध्य काल में ही स्थिर हुआ था क्योंकि इसी समय भारत की संख्या दशमलव पद्धति, यूनान की ज्यामिति तथा अन्य सिद्धान्तों, चीन के दिशासूचक एवं मुद्रण यन्त्र और अरब के अलजबरा आदि का प्रयोग पश्चिम के विद्वान ने बिना किसी द्वेष भाव के किया और उन सबका एकत्र समन्वय करके अपनी भावी सन्तान के लिए उसे छोड़ गये। इस कार्य में अरबों ने योरप का पथ प्रदर्शन किया किन्तु यह भी कोई कम महत्व की बात नहीं है कि इस पथ का योरप निवासियों ने भली प्रकार अनुगमन किया।

मध्यकालीन योरप ने अनेक अंशों में अर्वाचीन युग का निर्माण किया। सब से पहिले हम आर्थिक क्षेत्र को ही लें। सामन्तवाद के अधीन परिश्रमी किसानों ने योरप के वन प्रदेश को अपने परिश्रम से कृषि योग्य भूमि में बदलने का प्रयत्न किया और इस प्रयत्न में वे सफल भी हुये। मध्य युग की आर्थिक क्रान्ति और उसके महत्व का वर्णन किया जा चुका है। वास्तव में आज की आर्थिक व्यवस्था का ढाँचा मध्य युग में ही तैयार हो चुका था। राजनीतिक क्षेत्र में मध्य युगों ने राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना की और योरप में राष्ट्रीय भावों का संचार किया। मध्य युग की इस देन को हमें कभी भूलना नहीं चाहिए। योरप के बहुत आधुनिक राज्यों का जन्म इसी समय हुआ। योरप के कुछ राजनीतिक सिद्धान्तों का उद्‌भव भी इसी युग में हो चुका था।

कलाओं में मध्य युग की देन अति महान है। मध्य युग के रोमेनेस्क और गोथिक शैली में बने हुए विशाल और भव्य देवालय और भवन दर्शकों के हृदय में यह भाव उत्पन्न करते हैं कि मध्य काल सांस्कृतिक समृद्धि का युग था। उनको देखने पर यह बात भूल सी जाती है कि मध्य युग में दरिद्रता, शोषण और बर्बरता का साम्राज्य था। चित्रकला में हम गियटो के प्रभाव को देख ही चुके हैं और आधुनिक योरपीय संगीत की उत्पत्ति मध्य काल में ही हुई थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि योरप की आधुनिक सभ्यता के बीज मध्य काल में ही वर्तमान थे। योरप के सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन को हमें मध्यकालीन सभ्यता का पूर्ण प्रस्फुटन ही समझना चाहिए।

—:०:—